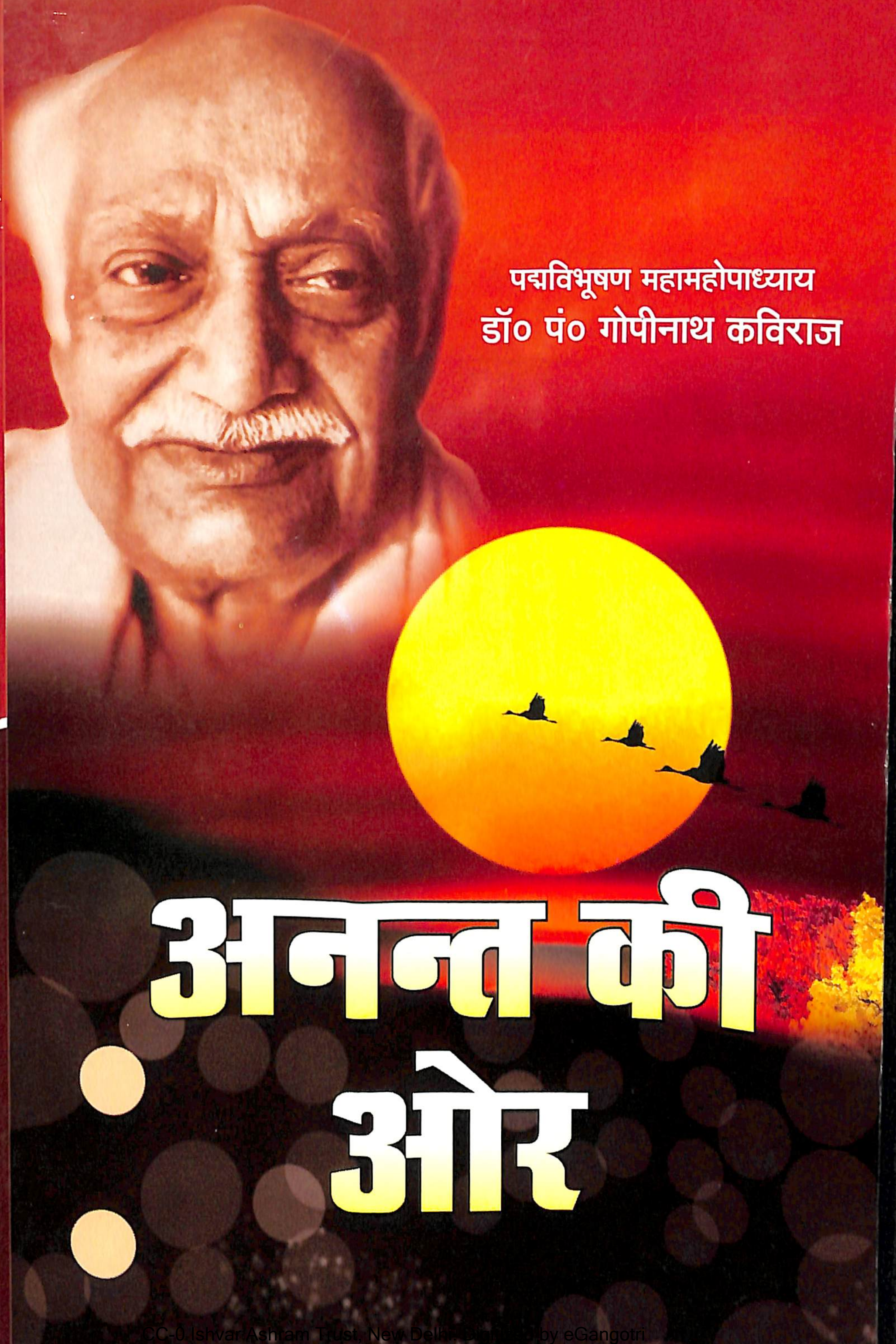


पद्मविभूषण महामहोपाध्याय
डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनन्त की ओर

अनन्त की ओर
पद्मविभूषण महामहोपाध्याय
डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज



अनन्त की ओर

म०म० डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनन्त की ओर

लेखक
म०म० डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक
एस०एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

ANANTA KĪ ORE

[*Category* : Spiritual & Religious Literature]

Translated by
S. N. Khandelwal

ISBN : 978-93-5146-072-5

प्रथम संस्करण : 2015 ई०

[1st Edition : 2015]

मूल्य : तीन सौ पचास रुपये (Rs. 350.00)

Publisher	प्रकाशक
VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN	विश्वविद्यालय प्रकाशन
Post Box No. 1149, Vishalakshi Building,	पोस्ट बॉक्स नं० 1149, विशालाक्षी भवन,
Chowk, Varanasi - 221001	चौक, वाराणसी-221 001
[U.P. INDIA]	[उत्तर प्रदेश, भारत]

Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
E-mail : sales@vvpbooks.com ● vvpbooks@gmail.com
Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
चौक, वाराणसी-221 001

निवेदन

स्वनामधन्य महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज के स्वानुभूत अध्यात्म पथ का जो वर्णन उनकी लेखनी द्वारा यत्र-तत्र व्यक्त किया गया था, उसी का संग्रहात्मक प्रयास हिन्दीभाषा के जिज्ञासुओं की सुविधा के लिए प्रस्तुत किया गया है। मुझे बीस वर्षों तक इन महापुरुष के दर्शन का सौभाग्य इनकी कृपा तथा प्राक्तन कर्मों के फलस्वरूप मिलता रहता था। इनके ही सान्निध्य में आते-जाते रहने के कारण महान् साधक चन्द्रशेखर स्वामी हिरेमठ, डॉ० हरिश्चन्द्र शुक्ल, महान् तांत्रिक डॉ० ब्रजगोपाल भादुड़ी, शिवकल्प योगी, आचार्य रामेश्वर झा, गोपाल शास्त्री 'दर्शनकेशरी', दादा सीतारामजी, ठाकुर जयदेव सिंह आदि महान् विद्वानों से भी वहीं सम्पर्क हो सका था। यह इन महान् मनीषी की ही कृपा थी कि वहाँ कितने अनजाने विद्वानों से परिचय हो सका। न जाने कितने ग्रन्थों का आश्रय मिला, जो निकट बन्धु थे, सम्बन्धी थे, तथापि परमार्थपथिक नहीं थे, उनसे मैं दूर होता गया तथा जो पराये थे तथापि इस अगम पथ के पथिक थे, वे ही मेरे चिरबन्धु हो गये। यही सत्संग का चमत्कार है।

यह सत्संग मैंने जिस रूप में पाया था, भले ही उस रूप में अब उपलब्ध नहीं है, तथापि उन महापुरुष का साहित्यरूपी जो कृतित्व उपलब्ध हो रहा है, वह मूर्त्तरूप धारण करके अर्थात् वाङ्मयरूप में सतत विद्यमान है। इसका पठन-चिन्तन तथा अनुशीलन भी उनका ही सत्संग है। इस वाङ्मयरूप के विद्यमान रहने के कारण उन महामनीषी का अभाव भी उतना नहीं खटकता। इस रूप में उन्होंने यथार्थ जिज्ञासुओं के लिए मानो एक सम्बल तथा पथप्रदीप तो छोड़ दिया है। यही उनकी यशःकाया है, जो काल के कराल झंझावात में भी यथावत् विद्यमान है।

यहाँ महापुरुष के वाक् तथा अर्थ की अलौकिकता का भी सन्धान प्राप्त होता है। भवभूति कहते हैं जो लौकिक साधु हैं वे वाक् के अर्थ का अनुसरण करते हैं, उसे खोजते दौड़ते हैं, परन्तु जो ऋषि हैं अर्थ तो उनके पीछे दौड़ता रहता है। उनकी वाणी का अर्थ ढूँढ़ना नहीं पड़ता, उस वाणी के पठन-मात्र से जो जैसा अधिकारी है, उसके अधिकार के अनुसार, उसके स्तर के अनुसार, उस वाणी का अर्थ प्रतिभात होने लगता है अर्थात् एक ही वाणी का अर्थ पाठक के अपने स्तर के क्रमानुसार तत्तद् प्रकार का प्रतिभात होने लगता है। 'जाकी रही भावना जैसी' उसे वैसे ही अर्थ का प्रतिफलन होता है। तदनन्तर जैसे-जैसे भावना की उन्नीत अवस्था आती-जाती है, उसी तारतम्य से उस व्यक्ति की उन्नति के अनुसार नवीन-नवीन अर्थ (उसी

वाक्य का) प्रतिभात होने लगता है। यही महापुरुष की वाणी की अलौकिकता है 'प्रतिक्षणंयन्नवतामुपैति'।

महापुरुष की वाणी आपाततः क्लिष्ट तथा दुरूह प्रतीयमान होने पर भी यथार्थतः वैसी अगम नहीं होती। यह क्लिष्टता हमें अपनी हृदयहीनता तथा संस्कारों से आबद्धता के कारण अनुभूत होती है। हृदय में हृदयत्व कहाँ है? उसमें तो स्वार्थ, कुटिलता तथा मात्र अपने प्रति ममत्व भरा है। उसमें उन्मुक्तता कहाँ है? परदुःखकातरता कहाँ है? सर्वजन हित-कामना कहाँ है? ऐसे कुटिल तथा प्रस्तरवत् हृदय के रहते महापुरुष की वाणी दुरूह तो प्रतीत होगी ही। महापुरुष जो भी लिख गये हैं, वह उन्होंने लोकहितार्थ लिखा है। अपने उद्देश्य से एक शब्द भी नहीं लिखा है। उसका यथार्थ तात्पर्य समझने के लिए हमें सहृदय बनना होगा। शापित (हृदयरूपी) प्रस्तर-मूर्त्ति अहल्या को प्रभु प्रेमरूपी चरणाग्र के स्पर्श से पुनः चेतनवत् बनाना होगा। तभी शास्त्रों का तथा महापुरुषों की वाणी का यथार्थ तात्पर्य ज्ञात हो सकेगा। कविराजजी तथा अन्य महात्माओं के साहित्य के प्रकाशन में विश्वविद्यालय प्रकाशन का अपूर्व योगदान रहा है। इसके लिए इस प्रकाशन के अधिष्ठातागण धन्यवाद के पात्र हैं।

दीपावली, 2014 ई० —**एस०एन० खण्डेलवाल**

बी० 31/32, लंका, वाराणसी

विषय-क्रम

		पृष्ठ
1.	आरोह एवं अवरोह क्रम में चक्र विज्ञान	1
2.	संशयों का नाम	13
3.	मुक्तावस्था	17
4.	कर्मदहन	22
5.	अध्यात्म पथ—निर्धारण	26
6.	गुरुतत्त्व	37
7.	गुरु-साक्षात्कार	47
8.	ज्योति-दर्शन	55
9.	कुण्डलिनी तथा बिन्दु	57
10.	ध्यान-रहस्य	61
11.	अन्तराकाश	63
12.	दृश्य रहस्य तथा प्रकाश	65
13.	प्रत्यक्ष दर्शन	67
14.	श्रोता तथा वक्ता	68
15.	प्रकाश तथा ज्योति	69
16.	चरम लक्ष्य	75
17.	मधुर साधना	83
18.	देवतातत्व	112
19.	दृश्य रहस्य	115
20.	प्रकाशतत्व	117
21.	दर्शनतत्व तथा ध्यान आदि	119
22.	क्रम	129
23.	देवता का आविर्भाव	130
24.	ज्योति का द्वन्द्व भाव	132
25.	स्थूल तथा सूक्ष्म एवं आनन्द	136
26.	लीला	139
27.	महायात्रा	141
28.	क्षण का सूक्ष्मतत्व	147

29. सृष्ट तथा तांत्रिक आयाम	155
30. योगत्रयानन्दजी का उपदेश	161
31. यंत्रोपासना	180
32. प्रकृति तथा माया	183
33. तत्व तथा उसका साक्षात्कार	189
34. अपने आपमें प्रगति	222
35. जपतत्व	247
36. गायत्री तथा ॐकार	250
37. योग—यात्रा	258
38. जपाध्यान समन्वय	260
39. महाविज्ञान का उदय	264
40. आत्मा तथा ब्रह्म	266
41. अखण्ड महायोग की दृष्टि में त्रिकाल	268
42. योग एवं बोध	270
43. गुरु-राज्य	272
44. मार्गतत्व	277
45. शरणागति	284
46. साधक तत्त्व	287
47. साधक दीक्षा तत्त्व	303
48. यथार्थ यात्रा	308
49. तत्त्व निर्णय	312
50. काम-कला	332
51. योग-साधना	336
52. परकायागमन	340
53. अलौकिक वृत्तान्त	346
54. ऊर्ध्वयोग	353
55. शून्य विहार	356
56. आनन्द	358
57. बौद्धगण का तान्त्रिक योग	359
58. पथ चिन्तन	374
59. गन्तव्य	391
60. शब्द-महिमा	397

●

।।श्री:।।

अनन्त की ओर

आरोह एवं अवरोह क्रम में चक्र विज्ञान

चक्र विज्ञान के सम्बन्ध में यह सर्वज्ञात तथ्य है कि मूलाधार चतुर्दल, स्वाधिष्ठान षट्दल, मणिपूर दशदल, अनाहत द्वादश दल, विशुद्धाख्य षोडशदल तथा आज्ञाचक्र द्विदल है। सर्वान्त में सहस्रदल की सत्ता है। सहस्र का तात्पर्य एक सहस्र कदापि नहीं है। सहस्रदल ही अनन्तदल चक्र है। इसी का आधार लेकर महाशक्ति सृष्टि- विस्तार करती है। यह अवतरण की स्थिति है, तथापि तिरोधान स्थिति में इसी आधार को केन्द्र बनाकर सृष्टिलय भी होता है। जिस प्रकार से नरदेह में इन चक्रों की सत्ता है, तदनुसार ब्रह्माण्ड भी इसी क्रम में इन्हीं चक्रों का समष्टि रूप है। इसी प्रकार मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा शक्त्यण्ड पर्यन्त इन चक्रों की सत्ता विद्यमान रहती है। कारण, शक्त्यण्ड पर्यन्त शक्ति का विस्तार रहता है, अतः चक्रों की सत्ता भी यथोक्त प्रकार से कार्यरत रहती है। जहाँ शक्ति शिव में अन्तर्लीन है, वहाँ चक्रों की सत्ता विगलित हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक क्रम है, वहाँ तक चक्रों की स्थिति है और जहाँ क्रम की अक्रम में परिसमाप्ति हो गयी है वहाँ चक्रों की सत्ता को खोज कर भी पा सकना दुष्कर है। वास्तव में बाह्य तथा अन्तर्जगत् की सन्धि पर ही चक्रों की स्थिति रहती है। नरदेह में बाह्य तथा अन्तर्जगत् की सन्धि पर ही चक्रों की स्थिति रहती है, ब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डाभिमानी समष्टि देवता तथा ब्रह्माण्ड की सन्धि पर ब्रह्माण्ड षट्चक्र विद्यमान है। प्रकृत्यण्ड में प्रकृत्यण्डाभिमानी समष्टि देवता तथा प्रकृत्यण्ड की सन्धि पर प्रकृत्यण्ड षट्चक्र की सत्ता अनुभूत होती है। मायाण्ड में मायाण्डाभिमानी देवता तथा मायाण्ड की सन्धि पर मायाण्ड षट्चक्र विद्यमान है। इसी प्रकार शक्त्यण्ड में शक्त्यण्डाभिमानी देवता तथा शक्त्यण्ड की सन्धि पर शक्त्यण्ड षट्चक्र की सत्ता है। शिवस्थिति चक्रविहीन है, किंवा समस्त व्यष्टि एवं समष्टि षट्चक्र उसी में समाहित है तथा उसी से स्फुलिङ्गवत् निर्गत होता रहता है। शिवचक्र रूप से शक्ति की अन्तर्लीन युगनद्ध स्थिति रहती है। यह भाषा का विषय नहीं है। यह शिवचक्र ही आद्यशिवलिङ्ग है, जिसके ओर-छोर का सन्धान ब्रह्मा तथा विष्णु अनेक कल्पों के चक्रमण के पश्चात्

भी नहीं प्राप्त कर सके थे। यह आद्यन्तविहीन, स्थूल-सूक्ष्म विहीन अनन्तात्मक स्थिति है। यही वास्तविक सहस्रार है। इसी की बिन्दु-मात्र कणिका से समस्त विश्व संचालित होता रहता है।

जगत् प्रत्येक स्तर में कार्य कारणात्मक है। क्रम एवं स्तर ही इसका स्वरूप है। यहाँ तक कि सृष्टि क्रम में परमशिव रूप महादेव भी असंख्य देवी-देवताओं के रूप में क्रमात्मक देव सृष्टि करता है। वह अविभक्त होते हुए भी असंख्य देवी-देवताओं के रूप में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक देवता स्वयं में एक चक्ररूप है। वह नराकृति कदापि नहीं है। चक्र ही उसका स्वरूप है। प्रत्येक देवता के चक्र में उसकी शक्ति का ही क्रियारूप में नर्त्तन होता रहता है। दृष्टिविशेष के अनुसार देवता आधाररूप पड़ा रहता है, और उसी आधार पर उस देवता की पूँजीभूत शक्ति ही सक्रिय रहती है। इस दृष्टि के अनुसार शिव भी सृष्टिकाल में पञ्चमहाभूतरूप में परिवर्तित हो जाता है और शक्ति ही समस्त विश्वप्रपञ्च का विस्तार पञ्चमहाभूत को आधार बनाकर करती है। इसी का प्रतीक है शिव का स्वरूप (पञ्चमहाभूत रूप) में परिणत होना, जिसके वक्षस्थल पर शक्ति की नृत्यमुद्रा प्रदर्शित की जाती है। यह सृष्टिअवस्था का प्रतीक है। यही अवतरण है। सृष्टि के अवसान-काल में, तिरोधान-काल में, शिव पञ्चमहाभूतात्मक शवरूप को त्याग कर अर्थात् समस्त पञ्चमहाभूतात्मक स्थिति को प्रविलीन करके प्रबोधित हो उठता है। (वास्तव में इसे प्रबोधन नहीं कहा जा सकता, कारण, शिव स्वेच्छा से अपने अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण ही पञ्चभूतों का रूप धारण करता है।) वह किसी नियम से प्रतिबद्ध होकर पञ्चभूतात्मक आधार में परिवर्तित नहीं होता। अंतः उसकी कोई अप्रबोधित अवस्था होती ही नहीं, तब प्रबोधन कैसा? शिव का प्रबोधन अर्थात् शक्ति की अन्तर्लीनावस्था। जो शक्ति सृष्टिकाल में बाह्यतः क्रीड़ा कर रही थी, वह शिव के अन्तर्गत विश्रान्त हो जाती है। इस अवस्था में शिव शवतारूपी पञ्चमहा-भूतात्मक स्थिति को प्रविलीन करके, शक्ति सातत्य में मानो उद्दाम नृत्यरत् हो जाता है। यह है शिव का ताण्डव। केन्द्रापसारिणी शक्ति का अन्तःकेन्द्र में समाहित होना।

यहाँ यह स्मरणीय है कि शिव का यह ताण्डव किसी बाह्य देश में नहीं होता। शक्ति के अन्तर्लीन होने के साथ ही बाह्य अनुभूति, बाह्यसत्ता तथा देश-काल आदि का बोध भी अन्तर्लीन हो जाता है। कारण, यह सब शिवकृत् न होकर शक्तिकृत् ही है। शक्ति की स्तिमितावस्था अथवा अन्तर्लीनावस्था में उनकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं रह जाती। अतएव शिव का ताण्डव अपने आपमें, अपने आपके चिदाकाश में ही होता है। इस अवस्था तक उन्नीत हुए बिना ताण्डव का अनुभव होना ही असम्भव है। बाह्यता, देश तथा काल आदि के अनुभव के मूल में मात्र एक ही कारण है। आत्मस्पन्द की विस्मृति होते ही बाह्य देश तथा काल आदि का उदय होने लगता है। पुनः आत्मस्पन्द

की स्मृति अथवा प्रत्यभिज्ञा के साथ-साथ देश-काल तथा बाह्यता का तत्काल ही तिरोधान हो जाता है। अध्यात्म पक्ष से इनकी कोई भी सत्ता नहीं है। मात्र विस्मृति ही उनके उदय का एकमात्र कारण है। आत्मस्पन्द में आरूढ़ होने के साथ ही चक्रात्मक स्थिति का विलोप हो जाता है। अतः समस्त चक्र, षट्चक्र आदि आत्मस्थिति का द्योतन नहीं कराते। उनसे आत्मातिरिक्त स्थिति का ही आभास प्राप्त होता है, तथापि क्रम मार्ग में चक्र समूह सोपान (सीढ़ी) का कार्य करते हैं, जिन पर आरूढ़ होकर साधक विस्मृति का विनाश करके उसे स्मृतिरूप में परिणत करने में समर्थ हो सकता है। सत्य तो यह है कि किसी भी प्रकार की साधना आत्मस्वरूप शिवस्थिति की प्राप्ति नहीं करा सकती। साधना का एकमात्र उद्देश्य है विस्मृति का विनाश अथवा देश, काल आदि में, पञ्चमहाभूत में, अर्थात् अनात्म में आत्मभाव का विनाश!

षट्चक्र तथा चक्रात्मक यन्त्रों में समानता होने पर भी समानता नहीं है। कारण, षट्चक्र सृष्टि की समग्र रचना का प्रतीक ही नहीं, यथार्थ है। जहाँ तक सृष्टि है, जहाँ तक भेद, भेदाभेदरूप सत्ता विद्यमान है वहाँ तक षट्चक्र की सत्ता अनुभत होती है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक शक्ति शिव के वक्षस्थल पर क्रीड़ारत है, अर्थात् जहाँ तक शिव अप्रधान तथा शक्ति प्रधान है, वहाँ तक षट्चक्र की सत्ता विद्यमान है। षट्चक्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसकी इयन्ता जीवदृष्टि से अनुभूत हो ही नहीं सकती। यहाँ तक की समष्टि दृष्टि से देखने पर भी षट्चक्र सभी स्तरात्मक सृष्टियों में विद्यमान रहता है। एतद् विपरीत देवताओं से सम्बन्धित यन्त्ररूपी चक्र का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण नहीं है। प्रत्येक देवता सीमाबद्ध है। अपरिमेय शक्तिधारी होने पर भी देवता की सत्ता में एक सीमाबद्धता है। वहाँ देश तथा काल भी विद्यमान है। देवता से सम्बन्धित चक्र का किसी निश्चित देश तथा काल में ही आराधन अथवा प्रकाशन हो सकता है, परन्तु षट्चक्र सर्वकालिक है। सभी स्तरों में तथा स्थिति में, सभी लोकों में इसका आराधन एवं प्रकाशन होता रहता है। देवता से सम्बन्धित चक्र एवं यन्त्रों का आराध्य उस चक्र एवं यन्त्र से सम्बन्धित देवता ही होता है। देवसत्ता आराधक के द्वैत भाव में प्रकाशित होती है। देवता आराध्य तथा साधक आराधक होता है। इन दोनों, अर्थात् आराध्य एवं आराधक के द्वैतभाव के अभाव में देवयन्त्र अथवा देवचक्र की आराधना कदापि सम्भव नहीं है, परन्तु षट्चक्र की स्थिति अद्वय भावनारूपी सामरस्य का उदय कराती है। यहाँ आत्मदेव ही आराध्य है, जो साधना की परिणति में साधक की निज आत्मा के रूप में अद्वयरूप से प्रकाशित होता रहता है। षट्चक्र की साधना द्वारा जीवबोध शिवबोध रूप में परिणत होता है, जबकि देवयन्त्र अथवा देवचक्र की आराधना से साधक देवबोध अन्तर्गत ही अनुभव प्राप्त करता रहता है। शिवबोधरूपी शिवतादात्म्य की स्थिति उससे दूर रह जाती है।

यद्यपि समस्त देववर्ग आत्मदेव शिव की सत्ता से सत्तान्वित हैं, तथापि यह

शिव का अवरोह है। अर्थात् शिव जैसे स्वेच्छा से परिमितप्रमातृत्व का वरण करके जीव बन जाता है, वैसे ही शिव ही भिन्न-भिन्न देववर्ग के रूप में प्रकाशित होता है। इस स्थिति में अवरोह के कारण उस-उस देवता में शिव की पूर्ण शक्ति प्रकाशित न होकर आंशिक शक्ति ही प्रकाशित होती है। अतः देववर्ग द्वारा पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए साधना का आश्रय लेने की अनेक कथायें शास्त्रों में वर्णित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि उच्चस्तरीय देवताओं का भी साधना द्वारा ही परमपद पर्यन्त उन्नीत होने का प्रमाण प्राप्त होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश को पञ्चमहाभूत कहा गया है। सृष्टि-अवस्था में शिव ही पञ्चमहाभूत रूप में परिणत हो जाता है। इस स्थिति में मूलाधार चक्र पृथ्वीतत्त्व, स्वाधिष्ठान जलतत्त्व, मणिपूर अग्नितत्त्व, अनाहत वायुतत्त्व, तथा विशुद्ध आकाशतत्त्व है। यह शिव का ही पञ्चरूप है। आज्ञाचक्र में इन पाँचों का चेतन स्वरूप तैजस स्थिति में प्रकाशित होता है। सृष्टि की ओर उन्मुख होते समय सहस्रार से होते हुए शिव आज्ञाचक्र पर्यन्त अवरोह क्रम से उतरते हैं। आज्ञाचक्र विश्व एवं विश्वातीत की सन्धि है। विश्वातीत शिव आरोह क्रम से आज्ञाचक्र में स्थित होकर विश्व एवं विश्वातीत की सन्धि का अवलोकन करता है। आज्ञाचक्र में आते ही शिव की अन्तर्लीन शक्ति शक्तिचक्र का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। फलस्वरूप खेचरी, गोचरी, भूचरी, दिक्चरी, गगनचरी रूप शक्तिचक्र का प्राकट्य होता है। शक्ति जब इस प्रकार शक्तिचक्र का रूप धारण करती है, तब विश्वातीत शिव शक्ति की प्रधानता से तथा शिवता की अप्रधानता होने के कारण आकाशतत्वरूप विशुद्ध चक्र का स्वरूप धारण कर लेता है। तदन्तर उत्तरोत्तर शक्तिचक्र की प्रधानता होती जाती है और विशुद्ध चक्रस्थ आकाश तत्त्वरूप शिव वायुतत्त्वरूप अनाहत चक्र का स्वरूप धारण कर लेता है। आकाशतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, व्यापकत्त्व धर्म विशिष्ट है परन्तु अनाहतरूप वायुतत्त्व अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में सूक्ष्म है। तदन्तर शक्तिचक्र की प्रबलता के कारण वायुतत्त्व रूप शिवतत्त्व जडांश बहुत होते-होते अग्नितत्त्व युक्त मणिपूर चक्ररूप में परिणत हो जाता है। अग्नि में वायुतत्त्व से भी न्यून मात्रा में सूक्ष्मत्व गुण है। इसी प्रकार शक्तिचक्र की प्रबलता घटित होने के कारण अग्निरूप शिवतत्त्व क्रमशः जलतत्त्वरूप स्वाधिष्ठानचक्र एवं सर्वान्त में पृथ्वीतत्त्वरूप मूलाधारचक्र में परिणत हो जाता है। यही शिव का अवरोह क्रम है। मूलाधारचक्र का उदय होते ही शिव की परिणति जीवरूप में सम्पादित हो जाती है।

जीव का गुण जन्म, स्थिति तथा मृत्युरूप परिणाम। इसके साथ ही जीव में स्वरूपबोध के स्थान पर देहात्मबोध की आच्छन्नता प्रधान गुण के रूप में परिलक्षित होती है। जीव प्रकृति सत्त्व, रज तथा तमस् का मिलित स्वरूप है। उसमें जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप त्रिदशा का भी आविर्भाव होता है। यह समस्त त्रयी काल का ही परिणाम है।

यह कहा जा चुका है कि शिव का अवरोह क्रम ही पञ्चमहाभूत की जागतिक सत्ता तथा उसके विकास का मूल कारण है। शिवता से पञ्चमहाभूत के आविर्भाव-क्रम पर्यन्त षट्चक्र की ही क्रियाशीलता विदित होती है। साथ ही आरोह क्रम में पञ्चमहाभूत से लेकर शिवत्व पर्यन्त का क्रम भी षट्चक्र विकास पर ही आधारित है। सृष्टि में आने तथा पुनः असृष्टि पर्यन्त उपनीत हो सकने के लिए शिव भी इसी का अवलम्बन लेता है। आलोचना प्रसंग में हम ब्रह्माण्ड की यथार्थ धारणा नहीं कर सकते। ब्रह्माण्ड की सीमा तक हमारी धारणा शक्ति वर्तमान स्थिति में नहीं पहुँच सकती। इस परिस्थिति में ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म अनुकृति इस मानव देह को आधार बनाकर षट्चक्र की स्थिति को किंचित् परिमाण में समझा जा सकता है। वास्तव में सहस्रार ब्रह्माण्ड की सीमा से, उसकी परिधि से, परे की स्थिति है। इसी प्रकार सहस्रार भी मानव देह के अन्तर्गत कदापि नहीं है। कारण यह देहात्मबोध से परे की स्थिति है। अतएव इसे मानव देह के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसी कारण बुद्ध तथा महावीर की प्रस्तर प्रतिमाओं में सहस्राररूपी विकास को सिर के ऊपर घुँघराले केशों के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मानव-देह के सिर के ऊपर स्थित शून्य में इसकी स्थिति है। यह शून्य अनन्त का प्रतीक है अतः सहस्रार मृत्यु से परे अमरत्व का स्थल है। यहाँ शिवता से विच्छिन्न न रहकर पूर्णाहंभाव में लीन रहता है।

सहस्रार के अनन्तर आज्ञाचक्र की सत्ता कही जाती है। आज्ञाचक्र की स्थिति देहान्तर्गत ही है, तथापि यह देह के ऊर्ध्वतन स्तर में स्थित है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योग की दृष्टि से आज्ञाचक्र भ्रूमध्य में स्थित कहा जाता है। यह मत भी एक प्रकार से उचित है। योगदृष्टि से सहस्रार शिर में स्थित है। अर्थात् वह भी मानव देह के ही अन्तर्गत माना गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि योग की भित्ति ही शरीर है। अतः योगीगण स्थूल देहान्तर्गत षट्चक्र की जो भावना करते हैं तथा जिस-जिस स्थान पर उसकी स्थिति को प्रतिपादित करते हैं, वह उनके दृष्टिकोण से उचित है। पहले कहा जा चुका है कि षट्चक्र की सत्ता प्रत्येक स्तर में विद्यमान है। इस सिद्धान्त के अनुसार योगियों द्वारा वर्णित स्थूल देहस्थ षट्चक्र की भी सत्ता यथार्थ है, परन्तु सूक्ष्म ही स्थूल का कारण है, इस सिद्धान्त की भी अवहेलना करना उचित नहीं। अतएव स्थूल षट्चक्र की पृष्ठभूमि में सूक्ष्म षट्चक्र की सत्ता को मानना ही पड़ेगा। योगी के लिए योगमार्ग द्वारा परिभाषित षट्चक्र ही उपादेय है, परन्तु महायोग मार्ग के पथिक के लिए सूक्ष्म षट्चक्र का अवलम्बन आवश्यक एवं उपादेय है। महायोग-पथ में शरीररूपी ब्रह्माण्ड के उत्स से साधना प्रारम्भ की जाती है। महायोगी की साधना ब्रह्माण्ड भेद पर्यन्त ही सीमित नहीं रहती। उसे ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायादण्ड, शक्त्यण्ड प्रभृति में व्याप्त प्रत्येक षट्चक्र का भेदन करना पड़ता है। उत्तरोत्तर षट्चक्र की स्थिति सूक्ष्म होती जाती है। सर्वान्त में शक्त्यण्ड भेद के साथ-साथ

सूक्ष्मातिसूक्ष्म षट्चक्र की सत्ता भी शिवपद में विलीन हो जाती है। उस स्थिति में न तो साधक ही अवशिष्ट रहता है, न षट्चक्र। शेष रह जाता है एकमेव शिवपद!

सूक्ष्म षट्चक्र साधन-मार्ग में आज्ञाचक्र वहाँ स्थित है, जिसे योगीगण सहस्रार का स्थान बतलाते हैं। योगमार्ग के अनुसार सिर के अन्दर जो मस्तिष्क का स्थान है, वही सहस्रार है। परन्तु सूक्ष्म षट्चक्र साधना के अनुसार यह सहस्रार न होकर आज्ञा- चक्र है। यहीं से आज्ञा अर्थात् निर्णय का कार्य होता है। मस्तिष्क ही निर्णय लेता है। और तदनुसार क्रिया अधःस्थ अंग–प्रत्यंगों को संचालित करती है। यही यथार्थ आज्ञाचक्र है। गायत्री मन्त्र में 'धियो यो नः प्रयोदयात्' के द्वारा इसी स्थान पर बुद्धि में प्रकाश हेतु प्रार्थना की जाती है। यही तृतीय नेत्र का भी स्थान है। तृतीय नेत्र का स्वरूप आँखों के समान आँखें नहीं होतीं। वे इसी तृतीय नेत्र अर्थात् उद्भासित प्रज्ञा द्वारा ही निरीक्षण करते हैं। इसके मन और बुद्धि रूप दो दल हैं। आज्ञाचक्र के द्विदलत्व का यही रहस्य है। मस्तिष्क ही बुद्धि और मन का स्थान है। यद्यपि योगीगण भ्रूमध्य में मन की स्थिति का संकेत देते हैं, तथापि भ्रूमध्य में ऐसा कोई यन्त्र अथवा अवयव नहीं है। वस्तुतः मस्तिष्क ही बुद्धि और मन, दोनों का धारक होने के कारण यथार्थ द्विदल रूप है और यही प्रकृत आज्ञाचक्र सिद्ध होता है। बुद्धि तथा मन, दोनों आज्ञारूपी निर्णय का संचार करते हैं। इस कारण यही प्रकृत आज्ञाचक्र है।

आज्ञाचक्र के अनन्तर विशुद्ध चक्र की स्थिति है। विशुद्धचक्र आकाशरूप है। पञ्चमहाभूत के अन्तर्गत आकाशतत्त्व सर्वोपरि तत्त्व है, यह सूक्ष्माति सूक्ष्म है। वास्तव में पृथ्वी तत्त्व स्थूलातिस्थूल है। पृथ्वी की तुलना में आकाशतत्त्व सूक्ष्मतम है। इसमें स्थूलत्व प्रायः परिसमाप्त हो जाता है। इसीलिए इसे पञ्चमहाभूत की चरमसीमा भी कह सकते हैं, तथापि जह जड़ाकाश है। चेतनाकाश नहीं है। चेतनाकाश की सत्ता आज्ञाचक्र से प्रारम्भ होकर सहस्रार में अनन्तरूप हो जाती है। अतएव इस जड़ाकाश में जड़त्वरूपी स्थूलत्व रहने से विशुद्धचक्र पर्यन्त देहात्मबोध विद्यमान रहता है। विशुद्ध चक्र षोडशदल युक्त है। योगीगण इसे कण्ठदेशस्थ कहते हैं, परन्तु महायोग धारा के अनुसार यह कण्ठदेशस्थ कदापि नहीं है। चेतन आकाश का गुण है अनाहत नाद, परन्तु जड़ाकाश का गुण है शब्द। शब्द अनाहत नहीं होता। वह आहत होता है। अर्थात् वह प्रहारगत प्रक्रिया से उद्भूत होता है अतएव यह कर्णकुहरस्थ सिद्ध होता है। अनाहत नाद चेतन आकाश का गुण है। चेतन आकाश की ही छाया है जड़ाकाश। इस कारण कर्ण कुहर को उँगलियों द्वारा बन्द करने पर, अर्थात् बाह्यजगत् से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने के उपरान्त चेतन आकाश से उठ रहे अनाहत नाद का किंचित् प्रकम्प अथवा स्पन्दन कर्ण कुहरों में भी सागर गर्जना के समान श्रवणगोचर होने लगता है। जड़ाकाशरूपी विशुद्ध चक्र में उठ रहे इस नाद का कारण है चेतनाकाश में अनुगुंजित अनाहत नाद। अतएव

विशुद्ध चक्र ही मन्त्रस्थल है। यथार्थ मन्त्रस्थल आकाश ही है। यही कारण है कि गुरु भी दीक्षा-काल में कानों में ही दीक्षामन्त्र का उच्चारण करता है। अर्थात् उस समय गुरु शिवभाव युक्त होकर, शिवसमावेशस्थ होकर चेतनाकाशरूप से मन्त्र का उच्चारण शिष्य के जड़ाकाश में करता है। इससे शिष्य का विशुद्ध चक्रस्थ जड़ाकाश स्पन्दित होने लगता है। कालक्रम में वह पूर्ण चेतनाकाश का रूप ग्रहण कर लेता है। इससे ही शिष्य का प्रबोधन करते हैं। इस आलोचना से यह सिद्ध हो जाता है कि यथार्थ विशुद्ध चक्र कर्ण देशस्थ है।

विशुद्ध चक्र षोडशदल युक्त है। षोडश स्वर ही षोडश दल है। अ स अः पर्यन्त षोडश स्वर का समवेत उच्चारण ही नाद है। यह नाद वैखरी रूप नहीं है। मध्यमा भूमि से एक अखण्ड स्वर का सोलह रूपों में विभाजन होता है। यह विभाजन ही वैखरी है।

यह वैखरीरूप विभाजन वायु के कारण होता है। जैसे वायु अपने वेग से बादल को छिन्न-भिन्न कर देती है, इसे भी वैसा ही जानना चाहिए। सोलह स्वरों का यह वायुजनित विभाजन व्यञ्जनों के रूप में अनुभूत होने लगता है। इसी कारण वायु भी 49 है। वायु सर्वव्यापक है। यहाँ तक कि जड़ाकाशरूपी अवकाश में भी वायु की सत्ता रहती है। अर्थात् विशुद्ध चक्र में भी वायु की सत्ता रहती है, तथापि विशुद्धचक्रस्थ वायु अविभक्त वायु है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में वायु अपने जनक आकाश से विविक्त नहीं होता। आकाश में अन्तर्लीन-सा रहता है। यही कारण है कि विशुद्ध चक्रस्थ षोडशस्वर विभक्तावस्था में विद्यमान न रह कर नादरूप में स्थित रहते हैं। विशुद्ध चक्र से वायु का उदय होता है और वह अनाहत चक्र में अपना पूर्णरूप प्राप्त करता है। इसकी संज्ञा अनाहत क्यों है? यह प्रश्न उत्थित होना स्वाभाविक है। इसका समाधान यह है कि वायु अपने पूर्वरूप में आकाश में अन्तर्लीन रहता है। आकाश शून्यरूप है। शून्य में कौन किसे आहत करेगा? अतः उस भूमिका में आविर्भूत वायु में भी अनाहत तत्त्व विद्यमान है। वह किसी आहननरूप प्रक्रिया से आविर्भूत नहीं है, वरन् उसमें यह सामर्थ्य है कि अपने से निम्नस्तरीय तत्त्व यथा अग्नि, जल तथा पृथ्वी का आहनन करने में समर्थ है और उसे चलनशील बना सकता है। आकाशतत्त्व विशुद्ध चक्र से जीवसृष्टि की सूचना नहीं मिलती। आकाशतत्त्व भावी जीवसृष्टि के लिए अवकाश (स्थान) प्रदान करता है। उस स्थान (अवकाश) में वायु आकर उसमें गति प्रदान करता है। समस्त जीवजगतस्थ गतिशक्ति का कारण वायु है। अतएव अनाहत चक्र से ही जीवसृष्टि की सूचना का संकेत प्राप्त होता है। वायु सर्वव्यापक है। इतनी व्यापकता मात्र आकाश में है, परन्तु आकाश का अनुभव शक्य नहीं है। अनुभव का प्रारम्भ होता है वायु से। बुद्धि में भी जिस विचार तरंग का प्रवाह होता रहता है, वह भी वायु द्वारा ही

प्रवाहित है। यह एक प्रकार का स्पर्श है। शरीरगत अवयव, नस, नाड़ी प्रभृति स्पर्श प्रधान हैं। स्पर्श शक्ति समस्त जीव-देहों में प्रवाहित होती रहती है। शरीर के बाहर विश्व में भी सब कुछ स्पर्श शक्ति से ही अनुभूत होता है। नेत्र भी वस्तु का स्पर्श करते हैं। अर्थात् वस्तु से हो रहा प्रकाश परावर्त्तन नेत्रों का स्पर्श करता है। वह स्पर्श संवेदन मस्तिष्क केन्द्र तक पहुँच कर वस्तु के आकार आदि का ज्ञान कराता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्पर्शशक्ति ही विश्व क्रीड़ा के संचालन का मूल कारण है। चन्द्र-सूर्य की किरणें भी इस विश्व का स्पर्श करके उसे जीवनदान देती हैं। अन्तरिक्षगत् नानाशक्ति समूह, किरणें आदि स्पर्श द्वारा ही जीवजगत् को प्रभावित करती रहती है। अतएव वायु स्पर्शशक्ति के रूप में व्यापकतम क्षेत्र में उपस्थित है।

इस परिस्थिति में यह सिद्ध होता है कि व्यष्टिदेह तथा समष्टिजगत् की गतिमयता में अनाहत ही कारण है। यह अनाहत 'योग' की दृष्टि से हृदय देशस्थ है, परन्तु महायोग की दृष्टि से अनाहत की सत्ता शरीरव्यापी है। अनाहत द्वादश दल युक्त है। वायु का विभेद दस माना गया है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, कूर्म, देवदत्त, कृकल, धनञ्जय, प्रभृति दश वायु (प्रधानवायु) तथा उसके दो गुण संकुचन तथा प्रसारण यह मिलाकर अनाहत का द्वादशदलत्व हैं। रोम-रोम से वायु की संकुचन तथा प्रसारण क्रिया चल रही है, परन्तु इनका अनुभव नहीं होता। महाशक्ति की इस महाक्रिया का सम्पूर्ण शरीरव्यापी अनुभव ही अनाहत चक्र की सिद्धि है। यह महाक्रिया स्पर्शरूप से अनुभूत होती है। शरीरस्थ त्वचा में यह स्पर्शगुण सन्निविष्ट है, अतः समग्र शरीर का बाह्य आवरण ही अनाहत चक्ररूप अनुभूत होता है। वायु जिस प्रकार ब्रह्माण्डव्यापी है, उसी प्रकार शरीरव्यापी भी है। इसी कारण इसे केवल हृदय प्रदेश (भौतिक हृदय) पर्यन्त सीमित करके उसे ही अनाहतचक्र की संज्ञा प्रदान करना महायोग के दृष्टिकोण से कथमपि उचित नहीं है। वायु व्यापक है तथा वह स्पर्श गुण युक्त है। स्पर्श शक्ति के अभाव में विश्व तथा देह, दोनों का ही अस्तित्व विलीन होकर आकाश में निमज्जित हो जाता है। यही कारण है कि योगीगण प्राणादि वायु का ही आश्रय लेकर आप्तकाम होते हैं। यहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि योगी का आश्रय प्राणादि वायु है, परन्तु महायोगी वायु का आश्रय नहीं लेता। वह वायु के गुण स्पर्शरूपी स्पन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है। स्पर्श का स्पन्द ही आनन्दोन्मेष का कारण है। वायुचक्र-अनाहत की यथार्थ सिद्ध से ही आनन्दोन्मेष होता है। विशुद्ध चक्र आनन्दोन्मेष से परे की, पूर्णानन्द की अनुभूति है। कारण आकाश पूर्णरूप है। आज्ञाचक्र निरालम्ब एवं निरानन्द रूप है। सहस्रार है निरानन्द एवं निरालम्ब स्थिति भी अन्तर्लीन हो जाती है। यही चरम स्थिति है।

अवरोह क्रम में अनाहत के अनन्तर मणिपूरचक्र की स्थिति है। योगधारा के अनुसार मानव देह में यह नाभिस्थ चक्र है। महायोग धारा का सिद्धान्त है कि

मणिपूर-चक्र तेजगुण युक्त है। रूपदर्शन तेजगुण के प्रभाव से ही होता है। महायोग की दृष्टि से नाभिचक्र में तेजतत्त्व का स्थूलरूप ही विद्यमान है परन्तु उसका सूक्ष्म एवं क्रियात्मक रूप नेत्रों में विद्यमान है। नेत्र ही तेजगुण की सत्ता से रूपदर्शन करते हैं। नाभि से रूपदर्शन नहीं होता। नेत्र ही साधना से ज्योतित होते हैं। नेत्र की दृष्टिशक्ति को नेत्रज्योति कहा जाता है। इस प्रकार नेत्रों का तेजतत्त्व प्रधान होना सिद्ध हो जाता है। नेत्रद्वय और मणिपूरचक्र की सत्ता एक ही है। यहाँ यह विशेष रूप से उपलब्धि होती है कि जैसे मणिपूरचक्र दशदल युक्त है, वैसे ही नेत्र भी दसो-दिशाओं का अवलोकन कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं, और यही मणिपूरचक्र का दशदलत्व है। वायु मात्र स्पर्श गुणयुक्त है, परन्तु मणिपूरचक्र तक आते-आते वह तेजतत्त्व के रूप में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में नेत्र रश्मि वस्तु का स्पर्श करके जहाँ एक ओर अपने कारणभूत वायु के गुण को धारण करती है, वहीं नेत्रद्वय उस स्पर्शानुभूति को साकार दृश्य रूप में अनुभूत करने लगते हैं। अनाहत स्थिति में आकाशरूप विशुद्ध चक्र अपने गुण शब्द को धनीभूत करके स्पर्शरूप से अनुभूत कराता है। मणिपूरचक्र स्थिति में स्पर्श को घूनीभूत करके रूप सत्तात्मक दृश्यानुभूति में परिणत कर देता है। शिव ही विशुद्ध चक्र में शब्दात्मक, आकाशरूप में अवतीर्ण होकर क्रमशः अनाहत तथा तेजरूप मणिपूर का स्वरूप धारण करता है।

इस प्रकार अवरोहक्रम से उतरते-उतरते शिव मणिपूरचक्र में तेजरूपता द्वारा दृष्टिशक्ति का विकास करने के उपरान्त आस्वादन प्रधान जलतत्त्वरूपी स्वाधिष्ठान का रूप ग्रहण करता है। विषय-वस्तु के दर्शनोपरान्त उसके आस्वादन की इच्छा जागृत होती है। यदि द्रष्टा बना रहे, उस अवस्था में अवरोह-क्रम भंग हो जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे निर्वात दीपक की ज्वाला ऊपर ही उठती है, उसी प्रकार तेज तत्त्व का आश्रय लेने से, अर्थात् निरेपक्ष द्रष्टा रूप में दृश्यावलोकन करते रहने से व्यष्टि सत्ता का बोध ऊर्ध्वगामी होने लगता है। बोध की ऊर्ध्वगामिता के साथ-साथ अवरोह क्रम का भंग होना स्वाभाविक है। अब बोध स्वाधिष्ठान चक्र की सृष्टि करके विषयरस का आस्वादन नहीं कर सकता। वह मणिपूर से ऊपर की ओर, अनाहत की ओर, आरोहण करने लगता है। सृष्टि-काल में आस्वादन की आवश्यकता मानी गयी है। अतः अवरोह क्रम में मणिपूरचक्रस्थ रूपदर्शन की स्थिति निरपेक्ष द्रष्टा की स्थिति न हो सके, इस अभिप्राय से स्वाधिष्ठानचक्र का आविर्भाव होता है। यद्यपि योगधारा के अनुसार स्वाधिष्ठानचक्र को नाभिप्रदेश के नीचे जननेन्द्रिय स्थान के निकट माना गया है, तथापि महायोग धारा के अनुसार इसका स्थूल एवं सूक्ष्म दो भेद मानते हुए, इसकी अन्यत्र स्थिति को प्रमाणित किया गया है। इस प्रसंग में यह तथ्य अंकित करना आवश्यक है कि जलतत्त्व के प्रादुर्भाव के साथ-साथ चित्त विषयाकार होने लगता है। चित्त का विषयाकार होना और सृष्टि में

जीवाविर्भाव होना, एक प्रकार की ही क्रिया तथा एकरूपतामय स्थिति है। सृष्टि के आदि में यह पृथ्वी भी तेजतत्त्व से ओत-प्रोत थी। वह लाल अंगारे के समान थी। तदुपरान्त दीर्घकालीन वर्षा की स्थिति उत्पन्न होने के पश्चात् इस धरा पर उद्भिज, वनस्पतिरूप जीवन का आविर्भाव हो सका था। इससे यह तथ्य सम्पुष्ट होता है कि जीवन के आविर्भाव एवं उन्मेष में जलतत्त्व ही प्रधान कारण है। जीव का स्वरूप है, विषय-वस्तु के आस्वादन की इच्छा। जो विषय-वस्तु का आस्वादन न करके उसका निरपेक्ष द्रष्टा रहता है, वह जीव नहीं अपितु योगी है। यह स्थिति तेजतत्त्व में ओत-प्रोत होने से प्राप्त होती है। एतद्विपरीत जिस समय तेजतत्त्व अवरोह की स्थिति में निम्नगामी होकर क्षरणावस्था में जलतत्त्व रूप हो जाता है, उसी समय आस्वादन की क्षमता प्रारम्भ होने लगती है। यही स्वाधिष्ठानचक्र का स्वरूप है। शास्त्रों के अनुसार स्वाधिष्ठान षट्दल है। स्वाद भी छह प्रकार के होते हैं। आस्वादन के छह रूप ही इसके छह दल हैं। ये ही देह रस के कारक है। आयुर्वेद के अनुसार रस से इन्द्रिय पुष्ट होती है और रस द्वारा पुष्ट अवयव ही विषय-वस्तु का आस्वादन करने में समर्थ होते हैं। इस स्थिति में शिव ही आकाश, वायु, अग्नितत्त्व रूप होते-होते जलतत्त्व में परिणत हो जाता है। आरोह क्रम में जलतत्त्व के गुणों को गौण करने के लिए जप का आश्रय लेना आवश्यक है। जप से तेजतत्त्व की वृद्धि होने लगती है, और स्वाधिष्ठान का आभास विगलित होकर मणिपूररूपी तैजस् में समाहित हो जाता है। 'जापात् सिद्धिः' उक्ति वस्तुतः सत्य है। सिद्धि का यथार्थ तात्पर्य है चेतना का ऊर्ध्वगमन। जप के प्रभाव से चेतना स्वाधिष्ठान की सत्ता का विगलन करते हुए ऊर्ध्वस्तरीय। एवं तैजसरूप मणिपूर की ओर अग्रसर होने लगती है। उसमें निम्नगामिता के स्थान पर ऊर्ध्वगामिता का आकर्षण सन्निविष्ट हो जाता है। यहाँ ऊर्ध्व एवं निम्न का तात्पर्य ऊपर एवं नीचे नहीं है। ऊर्ध्व का तात्पर्य है सूक्ष्मत्व तथा निम्न का तात्पर्य है स्थूलत्व। आकाश की तुलना में वायु स्थूल है, वायु की तुलना में अग्नि अपेक्षाकृत अधिक स्थूल है। अग्नि से जल का स्थूलत्व और भी अधिक है तथा पृथ्वी सर्वापेक्षा पूर्णतः स्थूल है। यह यात्रा, अर्थात् आकाश से पृथ्वी की ओर, उत्तरोत्तर स्थूलत्व की ओर की यात्रा निम्नगामिता है और पृथ्वी से आकाश की ओर की यात्रा को ही ऊर्ध्वगामिता की संज्ञा प्रदान की गयी है।

आकाश का न तो अनुभव है न ही उसका दर्शन स्पर्शादिक सम्भव है। अचेता-वस्था में वही जड़रूप है। द्रष्टा की स्थिति के तारतम्य से वह भी तद्रूप हो जाता है। इस कारण आकाश को सूक्ष्मता की चरम सीमा कहते हैं। वायु का दर्शन सम्भव नहीं है। उसका स्पर्शानुभव मात्र होता है वह तदपेक्षा स्थूल है। तदनन्तर अग्नि से, तैजस से ही दृश्यता का प्रारम्भ होता है। इसी कारण यही रूप का कारण है। जल रसरूप है। यही स्वाधिष्ठान है। विषय के साथ प्रत्यगात्मा का सम्पर्क एवं तद्रूपता

यही से प्रारम्भ होती है। रसयुक्त में ही जीवात्मा रमण करता है। रसहीन प्रतीत होने वाली स्थिति से जीवात्मा दूर भागती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जलतत्त्व रूप स्वाधिष्ठान ही संसक्ति, आसक्ति का कारण है। जलतत्त्व को एक आधार की आवश्यकता पड़ती है। आधाररहित जलतत्त्व की कोई स्थिति ही नहीं है। जैसे अग्नि की ज्वाला सर्वदा ऊपर की ओर उठती है, वैसे ही जल की धारा सदैव नीचे की ओर प्रवाहित होती है। अतः मणिपूरचक्र की धारा ऊर्ध्वधारा है और स्वाधिष्ठान की धारा निम्नधारा- रूप सिद्ध हो जाती है। जल स्वतः ऊर्ध्वोस्थित नहीं हो सकता। वह निम्नगामी ही रहता है, परन्तु अग्नि सदा ऊर्ध्वोन्मुखी रहती है। वह स्वतः निम्नोन्मुखी नहीं हो सकती। यही कारण है कि ऋग्वेद की प्रथम ऋचा में अग्नि की महिमा का गायन करते हुए उसे 'पुरोहित' (आगे चलने वाला) कहा गया है। यह प्रकारान्तर से मणि-पूरचक्र का ही स्तवन है। पुरोहित का तात्पर्य है कि वह यजमान को स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर अग्रसर करने वाला पथ प्रदर्शक है। इस प्रकार मणिपूर ही वह केन्द्र है, जहाँ से दिव्य स्तर की ओर जाने का मार्ग प्राप्त होता है

जल की स्थिति किसी आधार के बिना सम्भव नहीं है। अतएव शिव अवरोह क्रम से जलरूप स्वाधिष्ठान में परिणत होते ही अपने आधाररूप मूलाधार की सृष्टि करता है। यही पृथ्वीतत्त्व है, जो सर्वाधिक स्थूल है, और शिव के अवरोहक्रम की चरम परिणति एवं आधार है। शिव का शास्त्रों ने लिङ्ग स्वरूप भी माना है। 'आकाश लिङ्गभित्याहु पृथ्वी तस्य पीठिका' उक्ति सर्वप्रसिद्ध है। अरूप शिव का साकार विग्रह है शिवलिङ्ग। इसका सर्वोच्च शिखर है आकाश, जो पृथ्वीरूपी पीठिका पर आधारित है। पीठिका ही आधार प्रदान करती है। इसका तात्पर्य यह है कि आकाश से पृथ्वी पर्यन्त के पाँच तत्त्व ही शिवलिङ्गरूपी शिव के साकार विकास के प्रतीक हैं। इसका यह भी अर्थ है कि विशुद्ध चक्र से लेकर मूलाधारचक्र पर्यन्त के पाँच चक्रों से शिवलिङ्ग के तत्त्व को हृदयंगम किया जा सकता है। शिवलिङ्ग विश्व-विकास का यथार्थ प्रतीक है। तथापि यह आद्यशिवलिङ्ग नहीं है। आद्यशिवलिङ्ग का स्वरूप ज्योतिर्लिंग है। वह शिव का अपरूप रूप है। उसे ही शिवचक्र कहते हैं।

इस प्रकार जलतत्त्वरूप स्वाधिष्ठान को स्थितिमता प्रदान करने के लिए मूलाधाररूपी पृथ्वीतत्त्व का आधार निर्मित हुआ है। जिस मूल आधार से जीवसत्ता को पार्थिवांश प्राप्त होता है,वही मूलाधार है। मूलाधार के गठन के साथ-साथ व्यष्टि देह का तथा समष्टि में ब्रह्माण्डस्य आधाररूप पृथ्वीतत्त्व का गठन पूर्ण हो जाता है। समष्टि जहाँ-जहाँ 'भू' आधारतत्त्व विद्यमान है, उसमें पृथ्वीतत्त्व का ही समावेश है। व्यष्टिरूपी नरदेह में भी चतुर्दल मूलाधार की स्थिति को योगियों ने स्वीकृति प्रदान की है। योगशास्त्र के अनुसार यह चतुर्दल में मेरुदण्ड के निम्नस्थ प्रदेश में स्थित है, परन्तु महायोग के दृष्टि कोणानुसार इसकी स्थिति अन्यत्र है। कारण, पृथ्वीतत्त्व

का गुण है गन्ध। गन्धग्रहण कार्य इस शरीर में नासिका द्वारा ही होता है। गन्धरूप सत्ता ही मूल पृथ्वी-तत्त्व है।

अतः वाम एवं दक्षिण नासापुट का अग्रभाग ही यथार्थ मूलाधार कहा जा सकता है। दोनों नासापुटों से श्वास का गमन एवं आगमन, इसकी संख्या 4 होती है। यही मूलाधार के चार दल हैं। यह श्वास एवं प्रश्वास ही मानव देह का आधार है। इसी आधार पर मानव की सत्ता जन्म से मरण के मध्य में गतिशील रहती है और इस आधार के विलीन होते ही मानव की गतिमयता समाप्त हो जाती है। अतएव यही प्रकृत मूलाधार है।

योग शास्त्रोक्त षट्चक्र में तथा महायोग में वर्णित षट्चक्र में मूल भेद विद्यमान है। योग शास्त्रोक्त षट्चक्र वस्तुतः पञ्चतत्त्व पर आधारित है, अर्थात् वे मूलभूत तत्त्व पृथ्वी, जल, तैज, वायु एवं आकाश के स्थूल रूप पर विद्यमान है। महायोगोक्त षट्चक्र पञ्चतत्त्व के स्थूल रूप पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश पर आधारित न होकर उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुण पञ्चतन्मात्रा पर आधारित हैं। अतः पृथ्वी का गुण गन्ध, जल का गुण रस, तेज का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श तथा आकाश का गुण शब्द ही महायोगोक्त षट्चक्र का आधार है। सृष्टि के जिस स्तर में पञ्चमहाभूत की सत्ता नहीं है, वहाँ भी पञ्चतन्मात्रा की अवस्थिति है। जैसे ज्योतिर्मय लोक समूह में पञ्चमहाभूत विद्यमान नहीं हैं, तथापि वहाँ दिव्यगन्ध, दिव्यरस, दिव्यतेज, दिव्य- स्पर्श तथा दिव्य शब्द की सत्ता विद्यमान रहती है। अतएव महायोगोक्त षट्चक्र का सम्पर्क सूत्र ज्योतिर्मय लोकों से रहता है, जबकि योगोक्त षट्चक्र पञ्चमहाभूत प्रधान होने के कारण पार्थिवतत्त्व प्रधान लोक से ही सम्बद्ध रहते हैं। यही कारण है कि महायोग प्रणाली के षट्चक्रों का अवलम्बन करने से देहात्मबोध यथा शीघ्र विगलित होकर दिव्यबोध में परिणत हो जाता है। पञ्चमहाभूत जड़ांश बहुल है, पञ्चतन्मात्रा चेतनांश बहुल है। इस कारण महायोग पथ का पथिक प्रारम्भ से ही चेतनांश सम्पर्क से, चिति के स्पर्श से आप्यायित रहता है। योगपथ के पथिक को जड़ांश बहुल आधार पर आरूढ़ होकर साधना करने के लिए विवश होना पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश योगीगण जड़ समाधि में आबद्ध हो जाते हैं। इस अवस्था में उन्हें कल्पान्त पर्यन्त पड़े रहकर उच्चस्तरीय कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। महायोग पथ के पथिक का प्रारम्भ से ही चेतन सम्पर्क रहता है। अतः उसकी लौकिक साधना की परिणति चेतना समाधि-रूप में होती है।

●

संशयों का नाश

ध्यान, धारणा आदि के प्रति विश्वास की आवश्यकता प्रतीत होती है। जिसकी जिस प्रकार की प्रकृति है, संस्कार, रुचि, शिक्षा तथा योग्यता है, वह उसी की अनुगामी वृत्ति द्वारा सत्य को अंगीकार करता है, उससे विपरीत के प्रति उसे अनास्था हो जाती है। इसका कारण है व्यापक दृष्टिकोण का अभाव। सीमित दृष्टिकोण में सीमित विश्वास ही अवस्थान करता है। इसी कारण शास्त्रों में अधिकारीभेद का उल्लेख किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में मन का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मन की प्रधानता रहने तक सीमित क्षेत्र ही अनुभूत होता है, जिसके कारण विभिन्न रुचि के व्यक्ति विभिन्न सीमित क्षेत्र में आस्था स्थापन करते हैं। साधना मन की प्रधानता को समाप्त करके सीमित क्षेत्र की प्राचीर का खण्डन करती है। इससे निर्मल सत्य के मुक्त गगन में विचरण का अधिकार प्राप्त होता है। यहाँ सब कुछ सत्य रूप ही दृष्टिगोचर होने लगता है।

इसी कारण विज्ञान सन्देहयुक्त तथा सन्देहशून्यरूप अवस्थाद्वय का वर्णन करते हैं। प्रथम है सन्देहशून्य। इसमें शंका का उदय ही नहीं होता, अतः समाधान की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सन्देहयुक्त अवस्था में दृष्टि की आच्छन्नता के कारण सन्देह उत्थित होते रहते हैं। सन्देह का नानाविधि से निवारण करते-करते दृष्टि का आवरण उन्मुक्त हो जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि का अनुभव होने के कारण सन्देह विनिवृत्त हो जाते हैं। यही है ज्ञानदृष्टि। प्रकृत पक्ष से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह दृष्टि नहीं है। कारण इस स्थिति में द्रष्टा, दर्शन की दृष्टि के साथ एकता हो जाती है। महापुरुषगण इसे 'दृष्टिहीन दृष्टि' भी कहते हैं। अर्थात् इस उपलब्धि में पृथक् दृष्टि नहीं रह जाती। जहाँ तक सन्देहयुक्त स्थिति है, इसमें सन्देहकर्त्ता को पृथक् दृष्टि का अवलम्बन लेकर ही शंका करनी पड़ती है। यही आवश्यक भी है। किन्तु समाधानकर्त्ता जिस स्थिति से उत्तर देता है, वहाँ पृथक् दृष्टि नहीं रहती। अज्ञानावस्था में दृष्टि के साथ दृश्य की पृथक्ता रहती है। कारण तब ज्ञान एवं ज्ञेय वियुक्त रहते हैं। ज्ञानदृष्टि में दृष्टि तथा दृश्य की पृथक्ता नहीं रहती। तब ज्ञान एवं ज्ञेय का संयुक्तीकरण हो जाता है। यह संशयरहित अवस्था का स्वरूप है। इस स्थिति में अधिकारीभेद स्तिमित हो जाता है।

महापुरुषों के साथ आस्थापूर्वक प्रश्नोत्तररूप वार्त्ता से दृष्टि का आवरण हट जाता है।

ज्ञान एवं ज्ञेय की अभिन्नता ही 'कॉस्मिक सेन्स' अथवा ज्ञानदृष्टि का प्राण है। विद्वान् एडवर्ड कार्पेन्टर कहते हैं—'The perception seems to be one in which all the senses unite into one sense in which you become the object') अर्थात् उस अवस्था में भिन्नातिभिन्न ज्ञानधारासमूह मिलित होकर एक ज्ञानधारा का रूप धारण करता है और ज्ञाता एवं ज्ञेय का समरस्य हो जाता है। तब ज्ञाता ही ज्ञेय है। इस स्थिति को भगवान् पंतजलिदेव 'अर्थमात्र निर्भास' कहते हैं। श्री अरविन्दोक्त Knowledge of Identity भी इसी स्थिति का सूचक है।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि आत्मा स्थितिलाभ के पश्चात् मन-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। ऐसा नहीं है। ज्ञानदृष्टियुक्त पुरुष व्यवहार-निर्वाह के लिए, स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर भी मन की सहायता से आवश्यकतानुसार भाव ग्रहणरूप जागतिक व्यवहार करते रहते हैं। ज्ञानदृष्टि प्राप्ति के पश्चात् उन्हें मन-सम्बन्ध के लिए निम्नस्थिति का वरण नहीं करना पडता, कारण, ज्ञानदृष्टि में आत्म (ब्रह्म) एक एवं अद्वितीय है। उस अवस्था में मात्र अपने साथ अपनी ही क्रीड़ा चलती रहती है। द्वितीय न होने से (व्यवहार प्रतीत होने पर भी) व्यवहार नहीं रहता। जहाँ अनन्त विरोधों का समाहार है, वहाँ द्विधा को अवकाश ही नहीं है। इस स्थिति में 'मिथ्या' भी मिथ्या हो जाता है। अतः भ्रम अथवा विपर्यय की सत्ता नहीं रहती। जिसकी सत्ता है, जो भासित होता है, वह सब आत्मा का आश्रय लेकर ही विद्यमान अथवा भासमान है। जो जिस दृष्टि से भी उसे क्यों न देखे, वह वही ही है। जो अद्वैत में सब कुछ मानते हैं और यह कहते हैं कि द्वैत रहने पर भी अद्वैत है, वे भी सत्य ही कहते हैं। जिनके मत में यहाँ विशुद्ध अद्वैत है और द्वैत की सत्ता ही नहीं है, वे भी सत्य कहते हैं। दृष्टि के अनुसार एक ही समय में दोनों बातें सत्य हैं। दृष्टि का त्याग कर देने पर कुछ भी कहते नहीं बनता। इसी कारण 'प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च' अर्थात् ज्ञान के प्रस्थान की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए, प्रत्येक प्रस्थान को अधिकारी- भेद के अनुसार किसी न किसी के लिए उपादेय माना गया है। अधिकार, रुचि एवं सामर्थ की विभिन्नता के कारण उपदेशभेद प्रतीत होता है।

यहाँ यह शंका है कि संशय का यथायथ समाधान (सामान्यतया) नहीं मिलता। इसका उत्तर यह है कि एक ही प्रकृति समाधान में अनन्त समाधान सन्निहित रहते हैं। दृष्टि का आवरण हटते ही अनन्त समाधान दृष्टिपथ में उद्भासित होने लगते हैं। इस अवस्था में ज्ञात हो जाता है कि जब तक सभी समस्याओं की मीमांसा न हो, तब तक किसी एक शंका अथवा समस्या का यथार्थ समाधान हो ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, समस्त जागतिक पदार्थ एक-दूसरे से, परस्परतया सम्बद्ध हैं। अन्तर्जगत् में भी एक भाव के साथ अन्य सभी भाव संश्लिष्ट रहते हैं। इस कारण सभी भावों का तत्त्वभेद न होने तक किसी एक भाव अथवा पदार्थ का यथार्थ

निरूपण नहीं हो सकता। समस्त प्रश्नों का समाधान एक ही बिन्दु में विद्यमान है। मनुष्यबुद्धि द्वारा प्रदत्त समाधान को यथार्थ समाधान नहीं कहा जा सकता, वह अस्थायी समाधान होता है। इसी कारण एक का सिद्धान्त, अन्य की दृष्टि में पूर्वपक्ष है। भगवान् भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' में कहते हैं कि तर्क अप्रतिष्ठित है। एक व्यक्ति की बुद्धि में जो समाधान है, तदपेक्षा प्रखर बुद्धिमान के लिए वह समाधान स्वीकृत नहीं होता। वह उस समाधान पर दोषारोपण करके उसे संशयवृत कर देता है। कोई समाधान चरम समाधान नहीं है। अतएव बुद्धि में पूर्ण सत्य ग्रहण की क्षमता न होने के कारण किसी भी तत्त्व का विशुद्ध समाधान नहीं मिलता। भगवान् शंकराचार्य वेदान्तदर्शन में तर्क की अस्थिरता का विशद प्रतिपादन करते हैं।

जहाँ तक मन का राज्य है, वहीं तक संशय का अधिकार-क्षेत्र है। संशय में विकल्पोदय भी मन की ही वृत्ति कही जाती है। मनोत्तीर्ण होकर चिदाकाश में स्थिति प्राप्त होने के पूर्व तक शंका एवं समाधान का चक्र चलता रहना अवश्यम्भावी है। संशय का अधिकार मनोराज्य पर्यन्त ही है। यथार्थ स्थिति का उदय होने के साथ-साथ मनोभूमि में त्राण मिलता है। सब समस्त शंकाओं का समाधान तत्काल प्राप्त हो जाता है। सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति का मत पृथकतः दृष्टिगोचर ही रहा है। इसका मूल कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न संस्कारों से सम्पन्न मन द्वारा चालित होता रहता है। ज्ञानदृष्टि प्राप्त महापुरुष मनोभूमि में नहीं रहते। उनकी स्थिति स्व-स्वरूप में रहती है। फलतः वे मन एवं इन्द्रियों से अतीत हैं। समस्त परिधियों से उत्तीर्ण हैं। उनका कोई व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं है, अतः कोई मतामत भी नहीं है, अथवा समस्त मतामत उनके अपने ही मत हैं।

जब तक मनुष्य भाराक्रान्त है, तब तक उसे जीवन का सहज एवं सरल पथ प्राप्त नहीं होता। मल ही भार है (कर्मफल आदि) भार की निवृत्ति के साथ-साथ गम्भीर तत्त्व अनायास स्फुरित होने लगते हैं। व्यक्तिगत संस्कार, रुचिभेद, अनन्त वासनायें, विविध दृष्टिभंगी, अधिकारी-भेद, आशा एवं आकांक्षा तथा राग-द्वेष की क्रिया से अन्तःकरण को उन्मुक्त करने पर ही सत्य का दर्शन होता है, और तभी समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं। पूर्व संस्कार तथा वासनाओं से उत्पन्न दृष्टिभंगी (Prejudice and preconceived notion) से स्वयं को मुक्त करने पर, रंजित दृष्टि के स्थान पर निर्मल दृष्टि की प्राप्ति के साथ-साथ समस्त समाधानों की उपलब्धि हो जाती है। इसी कारण अहंकार तथा ज्ञान के गर्वभार से मुक्त होकर सरल बालकवत् दृष्टि एवं हृदय के साथ गुरु के समीप जाना चाहिए। ज्ञान से विकल्प आयत्त को हटाकार ही ज्ञान का सहज रूप (Pure intution) आयत्त होता है। विकल्प ही भार है। इस भार का त्याग यथार्थ समाधान प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

ज्ञान होने पर संशय की सत्ता नहीं रहती। संशय ही संसार है। हृदय ग्रन्थिभेदन से संशय जाल विच्छिन्न हो जाता है। यही कर्मक्षय है। संशयनिवृत्ति, ग्रन्थिभेद तथा सर्वकर्मक्षय एक ही स्थिति की विभिन्न दिशायें हैं। साक्षात्कार से यह अवस्था प्राप्त होती है। अब संसार नहीं रहता। शरीर नहीं रहता, यहाँ तक कि 'नहीं रहता' यह बोध भी स्तिमित प्रायः हो जाता है। यहाँ द्वन्द का कोलाहल नहीं है। यहाँ निवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्य की बुद्धि तथा संस्कार भेद से दृष्टिभिन्नता है। इसी प्रकार समाधान का पक्ष भी विभिन्न है। द्वैत-विशिष्टद्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक समाधान-पथ प्रचलित रहे हैं। सृष्टि प्रकरण में भी आरम्भवाद, विवर्त्तवाद, आभासवाद आदि अनेक दृष्टिभेद हैं। मूल में पूर्ण है अथवा शून्य, ये दोनों समाधान पूर्व काल से चलते आ रहे हैं। इन सबमें न तो किसी को सत्य कहा जा सकता है। न असत्य। दृष्टि के आवरण के कारण सबकी सबमें रुचि नहीं रहती।

विचार मन एवं बुद्धि का व्यापार है। मन-बुद्धि का अतिक्रमण करने पर विचार नहीं रहता। सत्य स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। विचारातीत अवस्था में एक अभिन्न सत्ता प्रकाशित हो जाती है। अन्य की सत्ता ही नहीं रहती। विचार करने पर अनन्त भेद, अनन्त वैचित्य परिलक्षित होते हैं। उपाधि के साथ संलग्न होने पर मन बुद्धि के स्तर में आ जाता है, जहाँ ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद है। प्रत्येक ज्ञेय की अपनी-अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त देश, काल, गुण तथा क्रियागत अनन्त वैचित्र्य अनुभूत होने लगते हैं। यह सब मन बुद्धि की क्रीड़ा है। यहीं शंका तथा अधिकारी-भेद आदि का आविर्भाव होता है। परन्तु विचार से ऊपर उठने पर समस्त स्थिति, काल तथा देश में एक ही सत्ता का अनुभव होने लगता है। विचार की दृष्टि से ही सृष्टि होती है। एक ही दृष्टि अनन्त दृष्टियों के रूप में अनन्त सृष्टियों को उत्पन्न करती है। विचार से अतीत स्वरूप सत्ता में सृष्टि का अभाव होने से यथार्थ समाधान भी वहीं प्राप्त होता है।

●

मुक्तावस्था

पूर्ण सत्य निरावरण प्रकाशस्वरूप है। उसमें किसी भी प्रकार का आवरण नहीं रह सकता। इतने पर भी जागतिक अवस्था में आवरण का आभास मिलता है। लौकिक या जागतिक दृष्टि में उस पूर्ण सत्ता के आयामद्वय उपलब्ध होते हैं। प्रथम है अक्षर, कूटस्थ किंवा अपरिणामी चल सत्ता। उस पूर्ण सत्ता में जागतिक दृष्टि से क्षर एवं अक्षर सत्ता एक साथ विराजित प्रतीत होती है। अक्षर सत्ता गतिरहित, निरपेक्ष प्रकाशरूप निराकार-निर्विकार, स्वयंप्रकाश निःपद परमभाव है। क्षरसत्ता निद्रितरूपेण विलीन रहती है, तब प्रकाश भी आवरणरहित,अनावृत रूप से अपने आपमें देदीप्यमान रहता है। इसे ही शक्ति की अन्तर्लीनावस्था कहते हैं। तदनन्तर स्पन्दशक्ति का उदय होते ही इस स्पन्दात्मिका दृष्टि के प्रक्षेपण से निस्पन्दस्वरूप स्वप्रकाश पर आवरण- सा छाने लगता है।

वास्तव में प्रकाश निरावरणस्वरूप है, अनावृत्त है। विज्ञजन का कथन है कि आवरण का मान होने में भी प्रकाश ही कारण है। प्रकाश के अभाव में आवरण का मान कैसे होगा? समझने की सुविधा के लिए आवरण को प्रकाश से पृथक् माना जाता है। आवरण ही स्वरूप का आच्छादक है। आच्छादन को गति की एक क्रीड़ा माना जाता है। गति में ही आवरण है। गतिहीनता में आवरण भी नहीं है। जहाँ गति है, वही दो को ज्ञान उदित होता है। स्वरूपावरण से ही द्वैतभास होता है।

यहाँ प्रकाश शब्द का उल्लेख किया गया है। प्रकाश का अर्थ है पूर्णसत्ता। वह स्वतन्त्र, स्वयंप्रकाश तथा निरपेक्ष है। उसे प्रकाशित होने के लिए अन्य साधन अथवा उपाय की अपेक्षा ही नही है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उस प्रकाश की प्रतीक्षा में रहना चाहिए। जागतिक प्रकाश खण्डप्रकाश है। देवी-देवताओं का प्रकाश भी प्रकाश है। इसमें क्रम तथा अधिकारिक भेद का विधान है, किन्तु अखण्ड प्रकाश के लिए किसी बाह्य साधन की अथवा उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। जब पूर्णसत्ता स्वयं को प्रकाशित करना चाहे, तब उसे रोक सकने की सामर्थ्य किसी की भी नहीं है। योग्यता न रहने पर पूर्णसत्ता की महाकरुणा का आवरण हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अभिनन्दन में निरत रहना चाहिए। इसमें आलस्य करना अनुचित है। इसमें विद्वान् मूर्ख, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, उद्यमी-निरुद्यमी आदि का भेद नहीं देखा जाता। महाप्रकाश कब आविर्भूत होगा, आवरण कब हटेगा, यह कोई भी नहीं जानता। जहाँ कहीं भी, जिस किसी में भी उसका आविर्भाव हो जाता है। इसकी महाप्रतीक्षा में सबको जागरित रहना होगा।

शास्त्रों में यह भी उदाहरण प्राप्त होता है कि अपरोक्ष ज्ञान का, दृष्टि का उदय होने पर भी आवरण नहीं हटता। असम्भावना तथा विपरीतभाव आदि नहीं हटते। यह एक समस्या है। इसका समाधान यह है कि अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति में भी नाना संस्कार बीजरूप में अवस्थित रहते हैं। अतः आवरण की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। तीव्रतम अपरोक्ष ज्ञान होने पर आवरण की सम्भावना नहीं रह जाती। अतः शास्त्र कहते हैं कि तत्त्वज्ञान का उदय, मनोनाश तथा वासनाक्षय का सम्मिलन होने पर ही पूर्णज्ञान का उदय हो सकता है। तत्त्वज्ञान मात्र होने पर भी चित्त में स्थित वासनारूप मल तथा प्राणवेग के कारण साम्य भाव का अभाव शेष रहता है। अतः ज्ञानोदय होने पर भी जीवनमुक्ति नहीं होती। ज्ञानोदय में तत्त्वविचार तथा प्राचीन क्रम, दोनों ही कारण प्रभावी रहते हैं। तथापि उभय स्थानों पर ज्ञान का प्रभाव अलग-अलग रहता है। जो ज्ञान उपासना द्वारा भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि होने से अथवा भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि होने पर उपासनारत होने से प्राप्त होता है, वही प्रकृत अपरोक्ष ज्ञान है। तभी जीवन्मुक्ति आयत्त होती है। इस स्थिति में अन्तःकरण तथा प्राण में तल्लीनता नहीं रहती। भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि के अभाव में केवल मात्र तत्त्वविचार से किसी-किसी श्रेष्ठतम अधिकारी के हृदय में अपरोक्ष ज्ञानोदय होता है। इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान तीव्रशक्तियुक्त नहीं होता। अतः मन की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। कर्मबीज शेष रह जाते हैं। केवल प्रारब्ध ही नहीं, उसके पश्चात् के कर्मबीज भी शेष रह जाते हैं। तदनन्तर योगादिक उपासना से चित्तशोधन के अनन्तर वह ज्ञान तीव्शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। तब आवरणशून्य प्रकाशयुक्त आत्मस्वरूप में अवस्थान होता है। यह आवरणशून्य प्रकाश है। निरावरण प्रकाश स्थल में आवरण के पुनरोदय की आशंका ही नहीं रहती। सामान्यः जिसे निरावरण स्थिति कहते हैं, वह आवरणशून्य प्रतीत होने पर भी सूक्ष्म आवरणयुक्त है।

आगम में ज्ञान-अज्ञान की पर्यालोचना की गई है। तदनुसार आगतमत में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही पौरुष तथा बौद्धभेद से दो प्रकार के हैं। जो अज्ञान अथवा ज्ञान पुरुषमत अथवा आत्मगत है, वह क्रमशः पौरुषअज्ञान अथवा पौरुषज्ञान है। जो अज्ञान अथवा ज्ञान बुद्धिमत है, वह क्रमश बौद्धअज्ञान अथवा बौद्धज्ञान कहलाता है। आत्मा मूलतः एक और अभिन्न है। वह स्वस्वातन्त्र्य से अपनी पूर्णता को संकुचित करते हुए परिच्छिन्न अणुभाव का वरण करता है। यह अणुभाव ही मन अथवा पशुत्व (जीवत्व) है। जीव के मूल में भगवत्‌रूप आत्मा का स्वस्वातन्त्र्यमूलक संकोच विद्यमान रहता है। यह आत्मसंकोच ही आत्मावरण है। यह पौरुष अज्ञान है, जो जीवमात्र में विद्यमान रहता है। बौद्धअज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि में जिस अज्ञान का भान होता है, वह बौद्धअज्ञान कहलाता है। आत्मा को आवरणरहित अवस्था में 'शिवोऽहं' रूप से शिवत्वानुभूति होने लगती है। यह अनुभव स्वयंप्रकाश

चित्त की क्रीड़ा है। यह है पौरुषज्ञानौदय का फल। बौद्धज्ञान पूर्णतः बुद्धि की कही जाती है। बुद्धि में 'शिवोऽहं' की वृत्ति का उदय होना बौद्धज्ञान है। यद्यपि बौद्धज्ञान से जीवन्मुक्ति होती है, तथापि इतिपूर्व पौरुषअज्ञान की निवृत्ति आवश्यक है। पौरुषअज्ञान ही निवृत्ति योगादि क्रिया द्वारा अथवा उपासनासापेक्ष है। इसका एकमात्र उपाय है दीक्षा। दीक्षा को भगवद् अनुग्रह मूलक भगवत् शक्ति का संचार कहते हैं। भगवान् परमशिव के पञ्चकृत्य के अन्तर्गत निग्रहशक्ति के अभाव से पूर्ण आत्मा में अपूर्णत्व का संचार होता है। इस निग्रहशक्ति को प्रभावहीन करने के लिए अनुग्रहशक्ति की शरण लेना आवश्यक है। दीक्षा का तात्पर्यार्थ है अनुग्रहशक्ति का संचार। अनुग्रहात्मिका शक्ति के प्रभाव से आत्मा का आवरणरूपी संकोच समाप्त होने से जीवत्व-भाव स्तिमित होने लगता है।

विदित होता है कि भगवद् अनुग्रह (गुरुकृपा) से पौरुषअज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तथापि बौद्धअज्ञान विदूरित नहीं होता। बौद्धज्ञानोदय के अभाव में बौद्धअज्ञान समाप्त नहीं हो सकता। बुद्धि के आवरण को हटाने के लिए साधना अपेक्षित है। पौरुषअज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ जीव को यह अधिकार मिल जाता है। साधना द्वारा बौधअज्ञान का अपोहन होता है। बुद्धि का आवरण हटने का ज्ञान होता है कि ज्ञान बुद्धि का ही धर्म है और स्वरूप का लिङ्ग है। यही 'शिवोऽहं' अवस्था है। अब जीवन्मुक्ति का आस्वादन प्राप्त होने लगता है। इस भी अवस्था में प्रारब्ध शेष रहने पर भी आवरण का उच्छेदन स्पष्टतः परिज्ञात होता है। इस समय की निरावरण प्रकाशोपलब्धि का इतिवृत्त शास्त्रों में प्राप्त होता है। अर्थात् देहावस्थान काल में ही पूर्ण प्रकाश का अनुभव होता रहता है। यह सब आवरणरहित बुद्धि की क्रीड़ा भी स्तिमित हो जाती है। पौरुष ज्ञानोदय के साथ-साथ शिवत्व प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस आलोचन से विदित होगा कि स्वयं को शिवरूप में प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर यथार्थ शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। कारण यह है कि स्वयं की 'शिवोऽहं' रूप में उपलब्ध करना बुद्धि की क्रीड़ा है, स्वरूप ज्ञान नहीं है। स्वरूप की उपलब्धि ही यथार्थ पौरुष ज्ञान कहा गया है। तब 'जानना' और 'होना' में कोई भेद नहीं रहता। यही है वास्तविक आवरण उन्मोचन। बुद्धि की स्वच्छता के तारतम्य से तदनुरूप प्रतिबिम्ब का प्रतिफलन परिलक्षित होता है, तथापि प्रतिबिम्ब बिम्ब नहीं हो सकता। बुद्धि अर्थात् दर्पण। दर्पण हटा लेने पर प्रतिबिम्ब के स्थान पर बिम्ब का साक्षात्कार होने लगता है। देहसम्बन्ध रहने पर भी यह स्थिति हो सकती है।

इस प्रसंग में अनेक स्थलों पर भाव की चर्चा अंकित है। शास्त्र कहते हैं कि जिसका जो भाव है, उसी को आधार बनाकर अग्र गतिशील होना चाहिए। यद्यपि वास्तविक सत्य भावातीत है तथापि भावलम्बन से ही भावातीत में स्थिति हो जाती है।

भाव के साथ संयोग करना होगा, तभी भाव में अग्रगति की प्राप्ति होगी। संयोग का रहस्य अत्यन्त गूढ है। साधारण मनुष्य 'संयोग' का अर्थ भवितव्य मानते हैं। उनके अनुसार साधारण कार्यकारण भाव की दृष्टि से जिस घटना की सम्भावना नहीं है, उसके संघटित होने में किसी प्राक्तन अव्यक्त की कार्यकारिता रही है। नियति भी संयोग का ही एक भेदमात्र है। सामान्य व्यक्ति त्रिकालज्ञ नहीं है। उनकी स्थूल दृष्टि का वर्तमान में ही लक्ष्य रहता है। इन्द्रियगोचर वर्तमान को वह स्थूल दृष्टि से वर्तमान कहने लगता है। उसे यह अभिज्ञता नहीं है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना भी वर्तमान
कहने लगता है। उसे यह अभिज्ञता नहीं है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना भी वर्तमान
है। त्रिकाल के अन्तर्गत वाला वर्तमान, अतीत तथा अनागत से घिरा हुआ है। जो वर्तमान अतीत तथा अनागत से रहित है, उसे वह नहीं जानता। इस सन्दर्भ में मनुष्य को कोई धारणा भी नहीं है। सत्य तो यह है कि अतीत एवं अनागत नामक व्यक्त अंश ज्ञान में आकर व्यक्त होता है और वर्तमान रूप में अपना आत्मप्रकाशन करता है। शुद्ध दृष्टि में तो मात्र विशाल वर्तमान विद्यमान है। विशाल वर्तमान में वस्तुस्थिति कालान्तर्गत नहीं रहती। इस अवस्था में एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु के साथ, किंवा एक भाव का अन्य भाव के साथ जो सम्बन्ध है, वही है 'संयोग'। संयोग अचिन्त्यशक्ति स्वरूप है। स्थिति के मूल में भी संयोग ही रहता है।

योगी के निकट आवरण रहने पर भी वह यथार्थ आवरण नहीं है। सांसारिक की दृष्टि आच्छन्न रहती है, परन्तु योगी की दृष्टि के सम्मुख आवरण का कोई मान ही नहीं है। एतद्विपरीत लौकिक दृष्टि से जहाँ आवरण का कोई आभास भी नहीं है, उस स्थल पर योगीगण आवरण की सृष्टि कर सकने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार से यह परिलक्षित होता है कि प्रथम उदाहरण में आवरण अनावृत भाव है तथा द्वितीय उदाहरण में अनावरित में भी आवरण का उन्मेष है। यह दोनों ही महाप्रकाश की महिमा है। आगम में स्पष्ट निर्देश है कि मूलतः ज्ञान तथा क्रिया परस्परतः भेदरहित स्थिति है। प्रधानता अथवा वक्ता की विवक्षा से भी भेदकल्पना की जाती है। अखण्ड चैतन्य में ज्ञान तथा क्रिया, उभय की सत्ता रहती है। वहाँ यह दोनों अभिन्न हैं। सूक्ष्म विवेचना से ज्ञात होता है कि ज्ञान का आवरण पृथक् है। उस आवरण की निवृत्ति का क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् है। ज्ञान का आवरण उच्छिन्न हो जाने पर भी कर्म का आवरण अक्षुण्ण रह जाता है। पक्षान्तर से कर्म का आवरण उच्छिन्न हो जाने पर भी ज्ञान का आवरण स्थित रह जाता है। महाप्रकाश उदय होते ही ज्ञान एवं कर्म का आपात प्रतीयमान विरोध समाप्त होने लगता है। अतः दोनों आवरणों से मुक्ति मिल जाती है।

लौकिक दृष्टिकोणानुसार गति तथा स्थिति की पारस्परिक विरुद्ध अवस्था में भी ऐसा ही होता है। महाप्रकाश की महिमा से गति में स्थिति, किंवा स्थिति में गति

का आभास प्रत्यक्ष होता है। जिसकी दृष्टि पर आवरण है, वह गति में मात्र गति तथा स्थिति में मात्र स्थिति का परिदर्शन करता है। यदि गति में स्थिति तथा स्थिति में गति का परिदर्शन करना हो, उस अवस्था में महाप्रकाश का संस्पर्श मिलना आवश्यक है। विरुद्ध में अविरुद्ध अथवा अविरुद्ध में विरुद्ध का दर्शन करना महाप्रकाश का ही कार्य है। विज्ञजन कहते हैं कि अविरुद्ध अखण्ड सत्ता की क्रीड़ा चलती रहती है। लौकिक दृष्टि से मात्र खण्ड सत्ता का प्रत्यक्ष होता है। वह अपूर्ण सत्ता है, तथापि अपूर्ण भी पूर्ण के ही वक्षस्थल पर दण्डायमान है। अतः पूर्ण दृष्टि में सर्वव्यापक महासत्ता का प्रतिफलन होने के साथ-साथ अपूर्ण खण्ड सत्ता का भी अनुभव होता है। यह अविरोधी स्थिति है। इस सत्ता का उदय होने पर विरोध भी अवरोध रूप में भाषित होने लगता है। ऐसे अविरुद्ध दृष्टि वाले आवरणरहित, बुद्धिमान, युक्तियोगी हैं।

जो अकर्म में कर्म तथा कर्म में अकर्म अनुभव करता है, वही युक्त योगी एवं बुद्धिमान है। ऐसे व्यक्ति दृष्टि द्वारा ही कर्मानुष्ठान करने में समर्थ होते हैं। कारण इस स्थिति में दृष्टि एवं क्रिया एकरूप हो जाती है।

और एक तथ्य ज्ञातव्य है। जो अभाव है, वही स्वभाव है। मूल में एक के अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही नहीं है। उसका प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है। जीव का अभाव इसलिए है कि वह अभाव से ही अभाव निवृत्ति की चेष्टा करता है। जगत् का सब कुछ अभाव-ग्रस्त है। इस अभावग्रस्त जगत् से अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। स्वभाव से प्रतिष्ठित होने पर अभाव स्वयं शान्त होने लगता है। तीव्रतम अभाव का बोध होने पर स्वभाव का संस्पर्श मिल जाता है। अभाव का यथार्थ ज्ञान होना ही यथार्थ अभाव निवृत्ति है। प्रकाश की प्राप्ति के अनन्तर अभिज्ञता होती है कि विरोध से परे महासाम्य भी विरोध में ही विद्यमान है। जिसके मिलने में विरह तथा विरह में मिलन देखना सीखा है, वही यथार्थ नेत्र सम्पन्न है। यदि तीव्रतम अभाव बोध जाग्रत् रहे, उस अवस्था में सांसारिक खण्ड-खण्ड प्राप्ति व्यक्ति को आत्मविस्मृत नहीं कर सकती। उसके हृदय में अनिर्वाण दीपक जलता रहता है, जिसके पवित्र प्रकश में वास्तविक वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। लक्ष्य की स्थिरता से अभाव की पीड़ा स्वभाव को जागृत कर देती है।

●

कर्मदहन

साधारणतः ज्ञानोदय के साथ-साथ सभी संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं, और नवीन कर्म कर्त्ता का स्पर्श नहीं कर सकते, तथापि प्रारब्ध का निराकरण नहीं होता। वह भोग द्वारा ही समाप्त होता है। भोग समाप्त होने पर प्रारब्ध की सत्ता नहीं रहती। अतः देह भी नहीं रहती। प्रारब्ध कर्म कई प्रकार के हैं। कतिपय प्रारब्ध कर्म भोगेच्छा के अभाव में भी कराते हैं। कुछ प्रारब्ध कर्म अन्य की इच्छा से भोग कराते हैं। अपथ्य का सेवन करने वाला रोगी यह जानता है कि अपथ्य से जीवन-हानि सम्भव है, तथापि उसका प्रारब्ध उसके चित्त में अपथ्य सेवनार्थ वृत्ति का उदय कराता है। महान् विद्वानों ने भी माना है कि प्रारब्ध का निवारण ईश्वर भी नहीं कर सकते। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी भी यही मानते हैं। यह एक प्रकार से अर्थवाद वाक्य के तुल्य है। कारण पूर्ण स्वातन्त्र्य-रूप परमेश्वर की इच्छा अप्रतिहत होती है। वे असम्भव भी सम्भव कर सकते हैं। श्रीरूपगोस्वामी ने श्रीभगवान् को भक्तप्रारब्धध्वंसी माना है।

गीता में कहा गया है कि ज्ञानवान पुरुष भी स्व-प्रकृति के अनुरूप चेष्टा करते हैं। जिस प्रारब्ध कर्म से अनेक शरीर का गठन हुआ है, उसका उल्लंघन कर कर्म प्रवृत्त नहीं होते। राजा नल तथा युधिष्ठिर की द्यूत-क्रीड़ा से यह स्पष्ट है कि द्यूत का अनिष्टकर परिणाम जानते हुए भी वे द्यूत-क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए तथा श्रीरामचन्द्र यह जानते हुए कि स्वर्णमृग नहीं होता, उसका अनुसरण करते हुए दुःख को प्राप्त हुए। यह सब स्वेच्छा प्रारब्ध है।

अनिच्छाप्रारब्ध इससे भिन्न है। इसमें इच्छा न रहने पर भी प्रारब्धवश भोग करना पड़ता है। स्वेच्छा तथा अनिच्छाप्रारब्ध के पश्चात् परेच्छाप्रारब्ध है। इसमें इच्छा एवं अनिच्छा का प्रशन ही उत्थित नहीं होता। अन्य की इच्छा से, अन्य की प्रसन्नता के लिए, बाध्यता के कारण सुख-दुःख-भोग आवश्यक हो जाता है। अतः सिद्धान्त यह है कि प्रारब्ध के कारण ज्ञानी को भी इच्छा एवं भोग में चक्रमण करना ही होगा। शास्त्रकार इस सन्दर्भ में भुने हुए बीज का उदाहरण अंकित करते हैं। जैसे भुना बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी की इच्छा से उत्कट व्यसन अथवा क्रियमाण कर्म गठित नहीं हो सकते। यह सर्वजन ज्ञात तथ्य है कि सुख-दुःख का निमित्त कारण है प्राक्तनकर्म। इसके तीव्र, मध्य, मन्द एवं सुप्त रूप चार प्रकार के भेदों का उल्लेख 'अनुभूतिप्रकाश' नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। तीव्रतम वेग की स्थिति में जीवन्मुक्त पुरुष भी भोगार्थ पशु आदि के तुल्य आत्मविस्मृत से हो जाते हैं। तीव्र इच्छा-वेग

को स्वेच्छातीव्र, परेच्छातीव्र तथा अनिच्छातीव्र रूप भेदत्रय में विभाजित किया गया है। स्वेच्छातीव्र का उदाहरण है सौरभि। सौरभि ऋषि सुदीर्घ कालपर्यन्त गाढ़ समाधि में जलमग्न थे। यथासमय व्युत्थान होने पर मत्स्य-क्रीड़ा देखकर विचलित हुए। इस समय वे आत्मविस्मृत थे। उनकी स्वाभाविक आत्मप्रीति आच्छन्न थी। उन्होंने राजा मान्धाता की 50 कन्याओं से विवाह किया और असाधारण योगशक्ति द्वारा कार्यव्यूह की रचना कर अलग-अलग स्वरूप धारण करके अलग-अलग 50 कन्याओं के साथ विहाररत हुए। इसी प्रकार परेच्छातीव्र का उदाहरण चन्द्रमा है। वे गुरु के श्राप से क्षयरोग-ग्रस्त होकर ह्रास एवं वृद्धिरूप कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष से आक्रान्त होते हैं। अनिच्छातीव्र का उदाहरण हैं, माण्डव्य ऋषि। वे समाधि-काल में शूली पर चढ़ाये गये तथा व्युत्थानावस्था में प्रारब्ध के अनुभव को बाध्य हुए।

मध्यवेगप्रारब्ध के भी इसी प्रकार 3 भेद हैं। स्वेच्छा मध्यवेग का उदाहरण है राजा अजातशत्रु। वे राज्य-भोग करने पर भी बीच-बीच में राज्य से अवकाश लेकर आत्म- चैतन्य की स्थिति में ओत-प्रोत रहते थे। परेच्छा मध्यवेगप्रारब्ध का उदाहरण हैं, राजा शिखिध्वज। तत्त्वज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी अपनी पत्नी की इच्छा के कारण राजकार्य करने लगे। अनिच्छा मध्यवेगप्रारब्ध के उदाहरण हैं राजा भगीरथ। इन्हें मुक्त श्वेत हाथी द्वारा माला प्राप्त होने के कारण राज्य प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार मन्दवेगप्रारब्ध भी तीन प्रकार का है। ऋषभ के कवि आदि 9 पुत्रगण स्वेच्छाप्रारब्ध भोग के उदाहरण हैं, जो राजोचित भोग का वर्जन करने के पश्चात् आत्मानुसन्धान में रत हो गये। परेच्छा मन्दवेगप्रारब्ध ध्रुव में प्रतिफलित होता है, जो नारद के उपदेश से भगवद्दर्शन को प्राप्त कर सके। अनिच्छाप्रारब्ध का उदाहरण ऋषि वामदेव हैं। इन्हें अनिच्छा से माता के गर्भ में ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ। सुप्तवेग-प्रारब्ध में भी ऐसा है। विन्ध्यपर्वत का वेग महर्षि अगस्त्य की इच्छा से स्तम्भित हुआ था। द्वितीय का उदाहरण पृथ्वी है, जिसका प्रारब्ध आविर्भाव-काल से ही सुप्त-सा है। इस प्रकार के जीवन्मुक्तों का प्रारब्धवेग सुप्त रहता है। वे अबाधित रूप से निरवच्छिन्न निर्विकल्प समाधिज आनन्दोपभोग करते रहते हैं। ये विदेहमुक्त नहीं हैं, तथापि तदवत् द्वैतहीन हैं। इस प्रकार प्राक्तन प्रारब्ध कर्म 12 प्रकार का सिद्ध हो जाता है।

ऋषिगण का कथन है कि एक ऐसी भी व्यवस्था है जिसमें प्रारब्ध कर्म भी ज्ञानोदय-काल में समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में देह रह भी नहीं सकता। कारण यह है कि जिस महाज्ञान के प्रभाव से प्रारब्ध-नाश हो जाता है, वह अपनी शक्ति से देह का ही रूपान्तरण संघटित करता है। ज्ञान की तीव्रता के तारतम्यानुसार प्रारब्ध की सत्ता एवं क्रिया नियन्त्रित होने लगती है। तीव्रतम ज्ञान की अवस्था में प्रारब्ध कर्म विनिष्ट हो जाते हैं। गीता के अनुसार सुसिद्ध ज्ञानाग्नि में समस्त कर्म भस्मीभूत, दग्ध

होने लगते हैं। प्रारब्ध कर्म का उपजीव्य वही अज्ञान है, जिस अज्ञान की एक दिशा में संचित कर्म का उदय होता है, अन्य दिक् से जन्म, आयु तथा भोग के नियामक प्रारब्ध का उन्मेष होती है। प्रथम है अज्ञान का आवरण अंश, द्वितीय है उसका विक्षेपांश। आवरणांश के हटने से मुक्ति का पूर्वरूप प्रकट हो जाता है। विक्षेपांश जीवनमुक्त के भोगार्थ विद्यमान रहता है। विक्षेंपांश रह जाने पर भी जीवनमुक्ति बाधित नहीं होती। रसायनसिद्ध, नाथसिद्ध तथा कायसिद्ध पुरुष जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध का स्थान नहीं मानते। उनके अनुसार जीवन्मुक्त में प्रारब्ध नहीं रहता।

जीवन्मुक्तावस्था आविर्भाव में एक मात्र तत्त्वदर्शन ही कारण नहीं है। शरीर प्रारब्ध का फल है। इसके रहते हुए मनोमय कोष तथा प्राणमय कोष की विशुद्धि से जीवन्मुक्ति का प्राकट्य हो जाता है। तांत्रिक सिद्धों का कथन है कि जीव अथवा पशु अनादिकाल से पौरुष अज्ञान द्वारा आच्छन्न है। यद्यपि द्वैतमतानुसार यह स्वेच्छागृहीत तिरोधान शक्ति की क्रीड़ा है, तथापि स्वेच्छामूलक अनुग्रह शक्ति द्वारा ही इसका निवारण हो सकता है। दीक्षा द्वारा पौरुष अज्ञान का निवारण होता है। जीव की व्यक्तिगत साधना अथवा अन्य उपाय के अवलम्बन द्वारा पौरुष अज्ञान निवृत्ति की सम्भावना नहीं रहती। यह गुरुकृपा सापेक्ष है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी पशुत्व से स्वरूपतः छुटकारा मिल जाने पर भी साधक में 'शिवोऽहं' का अनुभव जागृत नहीं हो सकता। पशुत्व निवृत्त है तथापि उस निवृत्ति की अनुभूति के अभाव में 'शिवोऽहं' का उन्मेष हो ही नहीं सकता। इसके लिए चित्त एवं बुद्धि का निर्मलीकरण आवश्यक है, जो साधनासापेक्ष कृत्य है। यथार्थ प्राप्ति में निर्बीज अवस्था होती है। तब बीज नहीं रहता। अंकुर नहीं निकलता। तदनन्तर पूर्ण स्वतन्त्रता का विकास होता है। अब मुक्त पुरुष कुछ भी करने पर उससे बद्ध नहीं होते। इस स्थिति में त्याग तथा ग्रहण में कोई भेद नहीं रहता।

प्राक्तन कर्म के सन्दर्भ में पूर्व स्मृति का भी उल्लेख आवश्यक है। साधारणतः मनुष्यों को पूर्व जन्म का स्मरण नहीं रहता। विशेष परिस्थिति में जातिस्मर पुरुषों का उदाहरण प्राप्त होता है। कहीं-कहीं पूर्व जन्म की स्मृति अंशतः विद्यमान रहती है। किन्तु अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ वह लुप्त हो जाती है। अधिकांश स्थल में विस्मृति की भी सत्ता रहती है। विस्मृति के मूल में अज्ञान कारण है। जगत् परिवर्तनशील है, देह तथा मन भी परिवर्तनशील है, देह तथा मन भी परिवर्तनयुक्त है। इस परिवर्तन- युक्त परिवेश में एकमात्र आत्मसत्ता ही अपरिवर्तनीय कही गयी है। इसके साक्षात्कार के अभाव में परिवर्तन का प्रभाव अवश्यम्भावी है। अतः देहादिक में आत्मभाव, अनात्म में आत्मभाव का उदय होता है। आत्मज्ञानोदय के साथ उस स्थायी आलोक में समग्र विश्व स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित हो जाता है। अब अतीत भी अव्यक्त नहीं रहता। अतीत भी ज्ञानालोक में अभिव्यक्त होकर वर्तमान के

रूप में प्रतिभासित होने लगता है। दूरस्थ वस्तु भी हस्तामलकवात् हो जाती है। स्वच्छ चिदालोक में प्रत्येक ज्ञान साक्षात्‌रूप एवं अनुभवरूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में दृष्टिशक्ति की तीव्रता के तारतम्य से, ज्ञानालोक की किरणों में अत्यन्त दूरवर्ती वस्तु किंवा घटना का प्रत्यक्ष होने लगता है। पूर्व जन्म की परम्परा अखण्ड वर्तमान के समान प्रत्यक्ष हो जाती है। ज्ञानालोक समस्त भ्रमों का विनाशक है। दृष्टि के आवरणों के अपसारण के कारण पूर्वजन्मस्मृति स्वयमेव प्रत्यक्ष होने लगती है। जहाँ आत्मिक विकास में न्यूनता है, वहाँ प्रयत्न अथवा संयम के द्वारा अतीत के गाढ़ अन्धकारमय आवरण का उच्छेद करना होगा। अपने अधिकार तारतम्य से कोई एक जन्म, कोई दो जन्म, कोई उससे अधिक जन्मों का स्मरण करने में सक्षम होते हैं, तथापि इसकी एक सीमा है। कारण यह है कि योगी की उपलब्धि की भी एक सीमा होती है। आत्मज्ञान का पूर्ण प्रकाश होने पर यह सीमा नहीं रहती। आत्मशक्ति असीम हो जाती है। इस स्थिति में अपनी व्यक्तिगत जीवनधारा के पूर्ववर्ती समस्त जन्मों की स्मृति का जागरण हो जाता है। शक्ति के विकास के तारतम्य से ज्ञान का प्रसारण होता है। विशुद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ज्ञानशक्ति अनन्त हो जाती है। इस स्थिति में मात्र अपनी ही व्यक्तिगत धारा की अभिज्ञता की तो कोई बात ही नहीं, समस्त प्राणिजगत् की पूर्व जन्म स्मृति योगी के हृत्पटल पर स्पष्टतः प्रतिफलित हो जाती है। यद्यपि लौकिक दृष्टि से जीवसत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है, तथापि आत्मज्ञान का उदय होने पर योगी (नादोत्कर्ष के कारण) सर्वत्र अभिन्न आत्मस्वरूप का ही प्रत्यक्ष करता है। अब अपनी पूर्वस्मृति तथा अन्य की पूर्वस्मृति में भेदज्ञान नहीं रह जाता। बौद्ध योगी कहते हैं कि दिव्यज्ञान तथा ऋद्धि के उदय के समय पूर्वस्मृति का जाग्रत् हो जाना स्वाभाविक है। गीता में तथा आगम ग्रन्थों में परमात्मा की ज्ञान, स्मृति तथा अपोहन रूप तीन शक्ति क्रियायें कही गयी हैं। प्रश्न उठता है कि क्या स्मृति के रूप में जो प्रकाश होता है वह ज्ञान से भिन्न है? इस शंका का यह समाधान है कि यह एक ऐसी विचित्र स्थिति है जहाँ ज्ञानमात्र अनुभव है तथा अनुभव एक ओर स्मृतिरूप में तथा अन्य दिक् में प्रत्यभिक्षारूप में उदित होता है। इस प्रकार आत्मरूप ज्ञान का उदय होने पर, उससे सम्बद्ध समस्त पूर्व स्मृतियों का उदय होने लगता है।

●

अध्यात्म पथ—निर्धारण

अध्यात्म जीवन में साधक के सम्मुख अनेक अवस्थाओं का उदय प्रत्यक्षतः होने लगता है। अधिकार-सम्पदा प्रत्येक साधक में भिन्न होती है। अतएव प्राप्ति में भी भिन्नता हो जाती है। कभी किसी साधक के अध्यात्म जीवन में एक ऐसी स्थिति का उदय होता है जिसमें घने अन्धकार आते हैं। इसमें द्वैत, अद्वैतादिक किसी का भी बोध नहीं होता, अर्थात् परबोध-निजबोध आदि की भी सत्ता नहीं रहती। यह स्वयंप्रकाश अवस्था अथवा समाधि आदि उत्तम अवस्था कदापि नहीं है। यह चिन्मय, चिदालोक की भी अवस्था नहीं है। यह कुछ अंश में सांख्योक्त प्रकृतिलय अथवा तंत्रोक्त प्रलयकाल अवस्था कही जा सकती है। इस अवस्था में उपनीत साधक को खोजकर बाहर निकालना कठिन-सा हो जाता है। यहाँ काल की कलन क्रिया नहीं है, अतएव कर्मविपाक नहीं होता। यह घोर सुषुप्ति के समान जड़ावस्था है। इसमें वह न तो स्वयं को और न तो पर को ही पहचान पाता है। इससे उद्धार होता है महाकाल के आवत्त द्वारा, किंवा अहैतुकी करुणा द्वारा।

अध्यात्म जीवन में अचिन्त्य कारणों से स्वयं में एक आकस्मिक तृप्ति का अनुभव होता है। यह तृप्ति स्थूल अथवा सूक्ष्म में, किंवा दोनों में हो सकती है। इस तृप्ति के साथ-साथ विभिन्न कार्य में प्रेरित करने वाली आवश्यकताओं का शमन हो जाता है। अनेक साधक इसे ही अनुग्रह का फल मानते हैं, तथापि यह मान्यता पूर्ण मान्यता नहीं है। जिस तृप्ति का सम्बन्ध परमतत्त्व के स्पर्श से नहीं है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। शास्त्र इसे 'तुष्टि' कहते हैं। यह साधन-पथ में विघ्नस्वरूप है। यदि तृप्ति का स्वरूप इतना उन्नत हो, जिससे सत्य का निदर्शन हो, उस स्थिति में तृप्ति एक बहुमूल्य सम्पदास्वरूपा है।

अध्यात्म जीवन में गुरुशक्ति का संचार ही जीव की पूर्णत्व प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण सोपान है। गुरुशक्ति ही अखण्ड पूर्ण सन्त की अनुग्रहशक्ति है। इस शक्ति-संचार के साथ-साथ बाह्य क्रिया भी आवश्यक है। कहीं-कहीं बाह्य क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती है। खण्डगुरु वास्तविक गुरु नहीं है। उनमें अखण्ड गुरु की शक्ति का संचार नहीं है, अतः वे अखण्ड गुरु के तादात्म्य से वंचित होने के कारण जीव में शक्ति का संचार नहीं कर सकते। उक्त है 'स्वयं असिद्धः कथमन्यान् साधयेत्' स्वयं सिद्ध हुए बिना अन्य को सिद्धि का पथ प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। दीक्षा के दो भेदों के कारण अनुग्रहशक्ति का संचार भी दो प्रकार का है।

प्रथम है निरधिकरण तथा द्वितीय है साधिकरण। जब श्रीभगवान् (परमशिव) साक्षात् रूप में किसी पर कृपा करते हैं तथा अन्य किसी मनुष्य, सिद्ध या देवता आदि को माध्यम नहीं बनाते, तब वह अनुग्रह निरधिकरण अनुग्रह है। इसे Immediate and direct grace कहते हैं। जब परमशिव किसी अन्य देह का आश्रय लेकर, माध्यम बनाकर जीव पर कृपा-शक्ति का संचार करते हैं, तब उसे साधिकरण अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रह की तीव्रता की स्थिति में माध्यम आवश्यकता नहीं रहती। तीव्रतमतीव्र अवस्था में तो जीव क्षणमात्र में शिवरूप में परिणत हो जाता है। तीव्र अवस्था में अर्थात् अपेक्षाकृत कम शक्तिपात में कृपाशक्ति जीव के हृदय में अन्तर्यामी रूप से अभिव्यक्त होती है, जिससे जीव में प्रतिभ ज्ञान उन्मिषित होता है। यह ज्ञान गुरुमत अथवा शास्त्रमत ज्ञान नहीं है। यह अनौपदेशिक ज्ञान (Higher Intution) है। यही तारक ज्ञान है, जिससे मुहूर्त मात्र में त्रिकाल, आन्तर, बाह्य तथा समस्त पदार्थजात का ज्ञान होने लगता है। अपेक्षाकृत न्यून अनुग्रह की स्थिति में तदनुसार बाह्य गुरु की आवश्यकता होती है।

अध्यात्म जीवन में सम्यक् रूप से सुपथ पर चल रहे साधक को विभूति की प्राप्ति होती है। अग्नि में दाहिका शक्ति है, उसी प्रकार चित्स्वरूप आत्मा की चैतन्यमयी शक्ति नित्य विराजमान है। शक्तिमान की प्राप्ति से शक्ति भी आयत होने लगती है। इसमें यह ज्ञातव्य है कि साधक की स्थिति एवं लक्ष्य के अनुरूप इस शक्ति का तारतम्य रहता है। अद्वैत मार्ग के साधक परम तत्त्व से पृथक् रूप में शक्ति को नहीं मानते। वे साधनाजनित विभूति को त्याज्य समझते हैं, ग्रहण नहीं करते। जिसका लक्ष्य 'एक' में नियोजित है, वह नाना भाव के भ्रम में पड़ कर अपनी दृष्टि को विक्षिप्त नहीं होने देता। जो साधक साकार-सगुण के पथ पर चलते हैं, वे विभूति का वरण करते हैं। वरण करने पर भी, वे विभूति द्वारा मोहित नहीं होते। वह विभूति को 'तत्' भाव से ग्रहण करता है, अर्थात् उसे भगवान् की कृपा अथवा स्वरूप शक्ति के रूप में आदरणीय मानता है। जागतिक ऐश्वर्य नहीं समझता। विभूतिमात्र ही इष्ट का आत्मप्रकाश है। जैसे कर्म का फल आवश्यक होता है, वैसे ही सम्यक् साधना के प्रभाव से विभूति का उदय अवश्य होता है।

अध्यात्म जीवन में सेवा शब्द का अर्थ है पूजा, अर्चना, आराधना। जब तक अभाव है, तब तक सेवा प्रयोज्य है। अभाव विनिवृत्त हो जाने पर (ज्ञान का उदय होने पर) अद्वैतावस्था में सेवा की आवश्यकता ही नहीं रहती। विज्ञजन का कथन है कि मुक्ति के अनन्तर भजनादि का क्या प्रयोजन? इस कथन की सत्यता में कोई संशय नहीं है। अभाव को हटाने के लिए साधना की जाती है। अभाव मिटने के पश्चात् साधना का क्या प्रयोजन? तथापि इसका एक अन्य आयाम भी है। वह यह है कि यदि यही सत्य है तब मुक्त पुरुष शुकदेव भागवत सुनने क्यों गये? वास्तव में

मुक्तावस्था के अनन्तर भी भजन-पूजन सेवा होती है, परन्तु वह बिना प्रयोजन, लीला एवं स्वतःसिद्ध आनन्द का उल्लास है। अतः मुक्त पुरुष भी भजन करते हैं। उनका भजन ही यथार्थ भजन है। अभावग्रस्त बद्धजीव क्या भजन करेगा? भगवान् मुक्तों के द्वारा भी उपसर्पणीय हैं। वासना संस्कार आदि से रहित होने पर ही श्रीभगवान् का यथार्थ उपसर्पण हो सकता है। इसके अभाव में भगवदुन्मुखी दृष्टि का उन्मीलन ही नहीं हो सकता।

मुनिगण ग्रन्थिहीन, मुक्त, विषय तृष्णारहित आत्माराम अवस्था में उपनीत होने के अनन्तर अनन्त गुणों से पूर्ण, अचिन्त्यलीलायुक्त श्रीभगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं। यह भगवान् की महिमा के कारण है। भक्तजन स्वभाववश उनकी भक्ति का वरण करते हुए, उनके मंगलमय गुणों का गायन करते रहते हैं। अभाव-स्थिति में खण्ड पूजा ही हो सकती है। अभाव मिट जाने पर स्वाभावावस्था में ही महापूजा का आयोजन हो सकता है। यही अखण्ड पूजा है।

अध्यात्म जीवन में शास्त्रलोचना भी आवश्यक है। कर्तव्य तथा अकर्तव्य निर्धारण में शास्त्र का महत्त्वपर्ण योगदान रहता है। 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्या-कार्यव्यवस्थितौ'। यह सत्य है। वास्तविक सत्य का स्वरूप आच्छादित-सा है। शास्त्र का कथन है कि श्रुति एवं स्मृति परमात्मा की आज्ञा है। यहाँ श्रुति एवं स्मृति शब्द उपलक्षण मात्र है। वास्तव में समस्त शास्त्र परमेश्वर की आज्ञा ही हैं। उनके आदेशों का ही शास्त्रों के माध्यम से प्रचार हुआ है। कर्त्तव्य का निर्णय शास्त्रस्वरूप भगवद्-आदेश पर आधारित है। गुरु की आज्ञा भी शास्त्र के समान है। शास्त्र अनन्त है। इन अनन्त शास्त्र समूह का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश मात्र जगत् में प्रचलित है जो जगत् में प्रकाशित है। वह भी प्रकाश माध्यम की अपूर्णता के कारण किंचित् विकृत भी है। अतः कहा गया है कि वेद का स्वरूप सूक्ष्मवाणी है। सूक्ष्मवाक् इन्द्रियों से अगोचर तथा सामान्य के लिए अगम्य है। ऋषिगण द्वारा साक्षात्कृत सूक्ष्म वाणी (जगहितार्थ) वैखरी का अवलम्बन लेकर प्रकाशित की गयी है यही 'विल्म' है। यह वेद का बाह्य प्रकाशन है। इसमें वेद का स्वरूप किंचिद् आच्छन्न प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्र अनन्त हैं तथा सर्वसाधारण की बुद्धि से परे हैं। अनन्त शास्त्र का एक बिन्दु परिमाण ही इस जगत् में प्रचलित है। शास्त्र अनन्त होने के कारण सर्व-ज्ञानाधार भी है। अध्यात्म दृष्टि से शास्त्रों में सब कुछ है, क्योंकि उस दृष्टि से शास्त्र अनन्त है, परन्तु लौकिक दृष्टि से ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारी सीमित ज्ञानशक्ति सीमित उपलब्ध शास्त्रों से सभी तथ्यों को नहीं जान सकती।

आध्यात्मिक जीवन में यह परिलक्षित होता है कि मार्ग में अनेक विघ्न-बाधायें आती हैं, अतः निरुत्साह दशा में प्रतीत होने लगता है कि जीवन में उन्नति अत्यन्त कष्टकारक है। इन विघ्नों तथा निराशा से हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। अध्यात्म में

चरम प्राप्ति ही स्थायी प्राप्ति है। समस्त जीवन में साधन भजन सम्यक् रूप से न होने पर भी मृत्यु के समय भगवद् उन्मुखता से भावी उन्नत जीवन का सूत्रपात हो जाता है। अन्त समय का सद्भाव अत्यन्त वेग से प्रबल होता हुआ घनीभूत होकर भावी आनन्दपूर्ण जीवन का सूत्रपात करता है। पक्षान्तर से समस्त जीवन की त्याग, तपस्या व्यर्थ है, यदि अन्तिम क्षणों में भगवत्-स्मृति न रहे।

अध्यात्म के पथ पर यह अभिज्ञाता होती है कि विशुद्ध चैतन्य हो अन्तःकरण एवं देहयुक्त होकर जीव का स्वरूप धारण करता है। जीव एक है या विविध, इस पर भी मतैक्य नहीं है। एक जीव मानने वाले 'जीववादी' कहे जाते हैं। भिन्न-भिन्न जीव को मान्यता देने वाले 'नाना जीववादी' कहे गये हैं। इसकी अपर संज्ञा है। 'सृष्टिदृष्टिवाद'। एक जीववाद वेदान्त का चरम सिद्धान्त कहा जाता है। नाना जीववाद सर्वत्र प्रचलित मत है। साधारण व्यक्ति मानते हैं कि प्रत्येक जीव का केवल मात्र एक शरीर है। वह शरीर उसके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार गठित होता है। आयु एवं भोगादि भी प्रारब्धाधीन है। उस शरीर का अवसान होने पर कर्मानुरूप देह प्राप्त होता है। सम्यक् ज्ञानोदय होने तक शरीर-परिवर्तन (मृत्यु द्वारा) होता ही रहता है। इस प्रकार जीव को असंख्य शरीर धारण करना पड़ता है। यह निसन्दिग्ध तथा प्रचलित मत है।

अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि क्या एक ही समय में एक जीव अनेक देह धारण करने में सक्षम है? योगीगण आवश्यकता पड़ने पर अत्यन्त लघुकाल में कर्मक्षय करने के लिए योगबल से एक साथ अनेक शरीर धारण करते हैं। इसे कायव्यूह कहा गया है। भिन्न-भिन्न कर्मों का भोग समाप्त होता है। अर्थात् वह एक ही समय में एक शरीर से वन में तपस्यारत रह सकता है। जब कि अन्य शरीर से राज्य-पालन एवं राजसुखोपभोग करता रहता है। इसी प्रकार योगी अनेक शरीर की रचना द्वारा अल्पकाल से प्राक्तन कर्मोपभोग समाप्त कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में ऋषि सौभरी का उपाख्यान विचारणीय है। इन सब अनेक शरीर धारण का एक और भी रहस्य है। ये सब अयोनिज देह हैं। मातृगर्भ से उद्भूत देह नहीं हैं। योगी पञ्चभूत-ज्ञानी होने के कारण भौतिक उपादानों का कर्षण करते हुए अनुरूप शरीर का गठन कर सकते हैं। इन शरीरों का उद्देश्य है अल्पकाल में कर्मफल-भोग। एक अन्य उद्देश्य से भी योगीगण अतिरिक्त शरीरों की रचना करते हैं। यह है अन्य में ज्ञान तथा भक्ति का संचार करना। यह शरीर निर्माणकाय कहलाता है। इसे निर्माणचित्त भी कहते हैं। सत्य तो यह है कि इस अवस्था में काय तथा चित्त में कोई भेद ही नहीं रह जाता। यह ज्ञातव्य है कि ये सब शरीर अथवा चित्त संख्या में अनेक भी हो सकते हैं। एक भी हो सकता है। इतने पर भी इनका संचालक चित्त एक ही होता है। वही मूल चित्त इनके अविर्भाव तथा तिरोभाव में कारण है।

प्रश्न उत्थित होता है कि क्या अलौकिक महापुरुषों के समान साधारण व्यक्ति के भी कई शरीर (एक समय में) हो सकते हैं? यह सम्भव है। प्रत्येक प्राणी के असंख्य शरीर हैं, परन्तु वह उन्हें नहीं जानता। अतः रहना भी न रहना-सा प्रतीत होता है। मूल सिद्धान्त यह है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में समस्त वस्तु अन्तर्निहित है। 'सर्व सर्वात्मकम्'। अतः जगत् के प्रत्येक स्तर में सत्ता विद्यमान रहती है। साक्षात्कृत नहीं है, अतः अनुभव नहीं होता। अज्ञानावस्था के कारण जीव स्वयं को परिच्छिन्न-सा अनुभव करता है। वह स्थूलतः जहाँ है, वहीं स्वयं का होना मानता है। वह यह नहीं जानता कि वह विश्वरूप भी है। अनन्त अपार विश्व के अणु-परमाणु में वह ओत-प्रोत है। वह जहाँ भी प्रवेश करे, उसे तत्क्षण अनुभव होगा कि वह वहीं का निवासी है। जैसे वह देवलोक में प्रविष्ट होता है। इस स्थिति में उसका लिङ्गशरीर देवशरीर से युक्त होकर प्रतिभासित होगा। यदि वह मनुष्य, मनुष्य लिङ्गशरीर के साथ ब्रह्मलोक में जाता है, तब वह ब्रह्मलोकानुरूप शरीर धारण करके प्रकाशित होगा। ब्रह्मलोक- त्याग के समय वह ब्राह्म ज्योति में विलीन होगा तथा मनुष्य लिङ्गशरीर अकेले ब्रह्मलोक से बाहर आयेगा।

इस आलोचना से ज्ञात होगा कि प्रत्येक जीव में प्रत्येक स्थान में प्रकट होने की क्षमता है। उसकी सत्ता सर्वत्र अक्षुण्ण है। उसके निज के साथ स्तरात्मक विशेष ज्योति का संसर्ग होने पर उस स्तर के अनुरूप उसका स्वशरीर प्रकाशित होता है। सभी जीव ऐसा कर सकते हैं। ज्ञानी इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं।

अध्यात्म मार्ग में यह ज्ञात रहना चाहिये कि जो उन्हें जिस भाव से चाहता है, उस पर वे उसी भाव से अनुग्रह करते हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्'। भगवान् सर्वातीत होकर भी सर्वमय हैं। वे आप्तकाम हैं। पूर्ण हैं। जीव अपूर्ण, सीमाबद्ध, कामना के अधीन है। इतने पर भी भावना सूत्र से ईश्वर-सम्बन्ध रखने पर इच्छाविहीन भगवान् जीव की इच्छा के अनुसार इच्छामय रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जीव (भक्त) की इच्छा पूर्ण हो जाती है। उक्त है 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'।

अतः सर्वत्र उनके अविर्भाव का विचार रखना हितकारी है। विचार एवं भावना एक ही है। सब पदार्थों में उनके प्रकट होने की भावना करने पर सर्वत्र ही उनके आविर्भाव का स्फुरण हो सकता है। आवरण हट जाता है। अब जीव की इच्छा ही भगवान् की ही इच्छा है। यही करुणा भी है।

भगवान् से सम्बन्ध नित्य ही है। भगवान् तथा भक्त का सम्बन्ध किसी भी रूप में क्यों न हो, वह कालातीत सम्बन्ध है। पिता-पुत्र, दास-प्रभु, सखा, गुरु-शिष्य, प्रिय-प्रिया आदि अनेक रूपों में जीव से उसका अक्षुण्ण सम्बन्ध है। जगदावस्था में आत्मविस्मृति के कारण सम्बन्ध अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। विदित होता है कि

सम्बन्ध भंग है और सम्बन्ध था ही नहीं। लीला दृष्टि से ऐसा होने पर भी सम्बन्ध बना ही रहता है। वह कथमपि लुप्त नहीं हो सकता।

अध्यात्म जीवन में यह ज्ञात रखना होगा कि दुःख का मूल कारण क्या है। इस मायामय जगत् में कोई भी ऐसा नहीं है जिसे जागतिक दुःख अथवा पीड़ा की अनुभूति ही न हो। समस्त जीवनानुभूति में दुःखानुभूति सर्वाधिक रहती है। दुःख के कारण की अनुसन्धित्सा सभी नहीं करते। स्थूल दृष्टि से दुःख के असंख्य रूप तथा कारण हैं परन्तु अध्यात्म-दृष्टि से द्वितीय ज्ञान ही दुःख का एकमात्र कारण है। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। उसी में यह भी उक्त है 'तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यति'। द्वितीयज्ञान ही दुःख है, मेरे सिवा अन्य या कुछ है, यह भय है। जिनकी दृष्टि में सर्वत्र एकत्व का महासागर लहराता रहता है, वे शोक-मोह आदि से परे हैं। द्वैतभाव के तिरोधान से दुःख होता है 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' इस वाक्य से समभाव साम्य ही दोष रहित स्थिति है। वैषम्य ही दुःख है। आयुर्वेद भी धातुसाम्य को स्वास्थ्य तथा धातु-वैषम्य को रोगरूपी दुःख मानता है। निजबोध ही दुःख-मुक्ति है।

उपनिषदों में उक्त है 'भूमा ही सुख है। अल्प में सुख नहीं है' भूमा अनन्त अपरिच्छिन्न है। उसे किसी परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। वहीं आत्मा है, वहीं आनन्द है जहाँ परिच्छिन्नता अथवा सीमा है, वहाँ आवरण विद्यमान है। जीव मात्र आनन्दाकांक्षी है। जीवमात्र अभावग्रस्त हैं। अभाव का ज्ञान है अथवा अस्पष्ट रूप से समग्र जीवजात में विद्यमान रहता है। इसी से जीवसमूह की कर्म में प्रवृत्ति होती है। वास्तव में आनन्द ही प्राप्तव्य हैं। जीव स्वरूपतः आनन्द से च्युत न होते हुए भी देहाध्यास के कारण स्वयं को आनन्द से च्युत-सा मानने लगता है, और उसे पुनः प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। अन्य सब कुछ आनन्द का साधन है, तथापि आनन्द किसी का साधन नहीं है। आनन्द की प्राप्ति होने पर चंचलता विनिवृत्त हो जाती है। मनुष्य का मन इसी मूल आनन्द की प्राप्ति के लिए चतुर्दिक् भटकता रहता है। यह मूल आनन्द आत्मसत्ता की प्राप्ति है। यही मन की आकांक्षित वस्तु है। इसे पाने के पश्चात् मन की भटकन समाप्त हो जाती है।

अध्यात्म जीवन भी श्रीभगवान् की एक लीला है। चिन्मय लक्ष्य न रहने पर इसका लीला रूप स्पष्ट नहीं होता। लीलाओं का अभिनय अनुकरण के लिए होता है। इन लीलाओं के दर्शन में भी अधिकारीभेद विद्यमान है। शृंगारलीला, रासलीला माधुर्यमय है, तथापि इनमें सबका अधिकार नहीं है। अनुपयुक्त अधिकारीगण इसे देखकर सांसारिक भाव का आरोपण करते हैं। साक्षात् रूप से ज्ञानोदय न होने के कारण इनका रहस्य अज्ञात रह जाता है।

भगवत्-प्राप्ति की इच्छा को कामना नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह विशुद्ध वासना है, तथापि मुक्ति की कारण होने के कारण तथा आत्मस्वरूप प्राप्ति में

सहयोगी होने के कारण यह वासना नहीं कही जा सकती। शास्त्रकारों ने वासना को शुद्ध तथा मलिन रूप से दो भागों में विभक्त किया है। मलिन वासना जन्म हेतु, जन्म का कारण है। शुद्ध वासना जन्म-मरण, आवागमन चक्र का नाश करती है। मलिन वासना गाढ़ अज्ञान तथा अहंकार से पुष्ट होती है। यह मायिक शरीर का अंकुर है। अर्थात् मलिन वासना से अनन्य वैचित्र्यमय संसारधारा आविर्भूत होती है। शुद्ध वासना पुनर्जन्म की अंकुर नहीं है। वह भुने बीज के समान है। भुना बीज आपाततः बीज है। उसमें अंकुरोत्पादन-शक्ति नहीं है, अतः वह वास्तविक बीज नहीं है। शुद्ध वासना भी इसी प्रकार की है। देह रक्षण के लिए उसकी आवश्यकता है। शुद्ध वासना से संसार रूप चित्र की बहिर्मुख गति का प्रसार नहीं हो सकता। शास्त्र में इसे ज्ञातज्ञेय कहते हैं अर्थात् परब्रह्मरूप ज्ञेय तत्त्व की शुद्ध वासना के प्रभाव से यथासमय हृदय में स्व-प्रकाश रूप से इसकी स्फूर्ति होती है। गीतोक्त आसुरी सम्पत्ति प्रकारान्तर से मलिन वासना ही है। दैवी सम्पत्ति क्षुद्ध वासना का ही एक रूप है। प्राक्तन जन्मों की वासना के कारण वर्तमान जन्म में अन्य के उपदेश के अभाव में भी स्वतः अहंकार, ममकार तथा कामक्रोधादि मलिन वासना समूह उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्राक्तन जन्मार्जित सुकर्मों के कारण वाक्यश्रवण अथवा युक्तिपरामर्श के बिना ही तत्त्व का स्फुरण हो जाता है। बोध की अनुवृत्ति के साथ तत्-तत् इन्द्रिय व्यवहार को शुद्ध वासना कहते हैं। देह तथा जीवन-यात्रा की धारा का संरक्षण करना ही शुद्ध वासना का एकमात्र प्रयोजन है। इससे आसुरी सम्पत्ति का नाश हो जाता है तथा जन्मान्तर चक्र के हेतुभूत धर्माधर्म भी अविर्भूत नहीं होते। जिस प्रकार भुने बीज से शस्य उत्पत्ति (फसल) नहीं हो सकती, उसी प्रकार शुद्ध वासना में भी संसार की उत्पत्ति तथा विस्तार करने की क्षमता नहीं है। मलिन वासना विविध प्रकार की है। लोकैषणा, शास्त्रैषणा आदि उसी के अन्तर्गत हैं। शास्त्र में चिन्मात्र वासना के नाम से भी एक वासना का अंकन है। वह बुद्धि और मन से युक्त तथा बुद्धि तथा मनमुक्त, दोनों प्रकार की हो सकती है। जिस वासना में बुद्धि कर्त्ता है और मन करण है, यही ध्यान है। जिस वासना में बुद्धि का कर्तृत्व अथवा मन का करणत्व नहीं है, वह समाधिपद वाच्य है। ध्यानरूप वासना का त्याग करके समाधिरूप वासना के ग्रहण की शास्त्रों में चर्चा है। यह वासना चिरकाल पर्यन्त अनुस्यूत बहने से सभी यत्न स्वयमेव शिथिल होने लगते हैं। अब त्याग की क्रिया अथवा प्रयत्न भी समाप्त हो जाता है। यही वह अवसर है, जब शुद्ध वासना का भी क्षय होने लगता है। यही है प्रकृत वासनाहीनता या मुक्ति। देहावस्थान काल में प्राप्त होने पर यही जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्तिवस्था में वासना न रहने पर भी इन्द्रिय-व्यापार चलता रहता है। शास्त्रों में इसे उद्दालक का दृष्टान्त देकर प्रतिपादित किया गया है। मलिन असद्वासना निषिद्ध है। भगवद्-वासना भी शुद्ध वासना का नामान्तर है।

वास्तविक कर्म वह है जिसके द्वारा भगवद्-वासना परिपुष्ट हो। अन्यथा सब वृथा कर्म (अकर्म) हैं। इनका नाम कर्मभोग है। कर्म एवं अकर्म में यही पार्थक्य है। वास्तविक कर्म को कर्मभोग नहीं कहा जा सकता।

सांसारिक सुख, सुख नहीं है। इस सुख में भी दुःख है। ईश्वरीय सुख ही वास्तविक सुख कहा जा सकता है। वह परमानन्द है। वही है निरवच्छिन्न आनन्द जहाँ अभाव का लेशमात्र विद्यमान नहीं रहता। यद्यपि संसार-सुख भी ब्रह्मानन्द की ही एक कणिका है, तथापि ईश्वरीय सुख की प्राप्ति के अनन्तर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता। स्व-प्राप्ति के अनन्तर अन्य प्राप्ति की क्या आवश्यकता? अतएव अब अभाव-बोध नहीं रह जाता। यही है पूर्णत्व लाभ।

एक स्थान ऐसा है, जहाँ प्राप्ति तथा अप्राप्ति के मध्य कोई विरोध नहीं है। जागतिक दृष्टिकोणानुसार यही वास्तविक प्रकाश है। वहाँ वास्तविक प्रकाश के स्फुरण के पश्चात् अप्रकाश की सत्ता नहीं रह सकती। अतः यही अखण्ड प्रकाश है। लीला-दर्शन में अक्रम रूप से प्रकाश के रूप में लीला का स्फुरण होता है, तथा वह बिजली की कौंध, चमक के समान विलुप्त भी हो जाता है। इसका कारण यह है कि अप्रकाश की सत्ता न रहने पर भी उसका बीजरूप प्रकाश में विद्यमान रह जाता है। यह उसी बीजरूप की ही प्रक्रिया है।

प्रत्येक मनुष्य कालराज्य में नियत परिवर्तनशील क्रीड़ा का प्रत्यक्ष करता रहता है। कालराज्य अर्थात् मायाजगत्। मायातीत तथा कालातीत सत्ता में परिवर्तन रूप परिणाम का सर्वथा भाव है। कालराज्य परिणामशील है, मायातीतराज्य परिणामरहित है। दार्शनिक विचारधारा में इन दोनों परस्पर-विरोधी सत्ताओं का समन्वय अति कठिन प्रतीत होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कतिपय विद्वान् निष्क्रिय अक्षरसत्ता की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। कुछ अक्षरसत्ता को ही सत्य मानते हैं और परिणाम या विवर्त्त को माया की क्रीड़ा कहने लगते हैं। कतिपय विद्वान् परिणाम को एकमात्र सत्य कहने लगते हैं। वे अपरिणामी कूटस्थ के अस्तित्त्व की बात को अङ्गीकार नहीं करते। बौद्ध सम्प्रदाय का भी यही अभिमत है। यह दोनों दृष्टि परस्पर सापेक्षता के कारण सत्य-सन्धान में अक्षम हैं। सुधीजन का कहना है कि यदि एक ही सत्य 'सत्य' है, तब अन्य सत्य को यद्यपि अविद्यापरक कहकर समन्वय की चेष्टा की जाती है तथापि इससे समन्वय नहीं हो पाता। अतः क्षर एवं अक्षर की सन्धिस्थल का सन्धान करना आवश्यक है। गीता में क्षर एवं अक्षर पुरुष से परम पुरुष किंवा पुरुषोत्तम की स्वीकृति का यही रहस्य है। क्षर-अक्षर से परे तथापि उभय स्वभाव सम्पन्न एक परम वस्तु के अन्वेषण के अभाव में सत्य का यथार्थ सन्धान नहीं मिल सकता।

क्षर-अक्षर से अतीत क्षराक्षरमय पूर्ण वस्तु ही 'स्वयं आत्मा' है। यह स्वतन्त्र

तथा निरपेक्ष सत्ता है। सभी नाम इसी परमवस्तु को ही लक्ष्य करके कहे जाते हैं। यह अजन्मा है अतः विनाश से परे है।

अध्यात्म जीवन में साधारणतः शून्य शब्द निराकारवाचक ही है। आकारशून्यता को हम आकार रहित अवस्था की स्थिति मानते हैं। आकारशून्य शब्द का तात्पर्य आकर को हटाकर शून्यता अनुभव करना नहीं है, प्रत्युत् आकार रहते हुए ही उसमें निराकार का सन्धान करना है। यह अत्यन्त कठिन धारणा है। निराकार का चिन्तन यथार्थ शून्य चिन्तन नहीं है। यह स्पष्ट रूप से आकार रहित चिन्तन नहीं है। कारण जो आकार को नहीं जानता, वह आकारहीन शून्य को नहीं जान सकता। जब तक मन पर प्रकृति-राज्य की छाया है, तब तक शून्य ज्ञान अत्यन्त कठिन है। महाशून्य ही अरूप शून्य है। प्राकृतिक शून्य संस्काराच्छन्न शून्य है।

यह एक रहस्यावृत; सत्य है कि जो अन्तहीन है, वही अन्त है। संख्याहीन ही संख्या है। महाशक्ति के राज्य में अनन्त तथा अन्त पर्यायवाची हो जाते हैं। एकार्थक हो जाते हैं। अनन्त से भासित होता है कि गति अन्तहीन है, अन्त से भासित होता है कि वही है यथार्थ अन्तरूप। इसका अर्थ यह है कि जब विक्षिप्त चित्त विक्षेप को हटाकर एक धर्मग्राही रूप में भासित होता है, तब सर्वदा सर्वत्र एक ही धर्म का ग्रहण होता है। उस अवस्था में परिलक्षित होता है कि वह एक वस्तु अनन्त रूपेण प्रस्फुटित हो रही है। विक्षिप्त चित्त के अभाव में जो अन्त है, शक्ति के प्रभाव से वही अनन्त है। अतः अन्त भी सत्य, अनन्त भी सत्य, संख्या भी सत्य, संख्याहीन भी सत्य।

मनुष्य खण्डभाव के साथ व्यवहार करता है। उसकी दृष्टि ही भेददृष्टि है। उसे यह अज्ञात है कि समस्त सत्ताओं में एक अखण्ड-अभिन्न सत्ता विद्यमान है। देश, काल, वस्तु भेद से उसके दर्शन में पृथकृता है। उसे वह दृष्टि प्राप्त नहीं है, जिससे सभी दृश्यों में तथा दर्शन में साम्यमयी स्थिति हो सके। यही कारण है कि वह दर्शन में स्थितिलाभ कर सकने में असमर्थ रहता है। सर्वत्र भागवतभेद ही दर्शन वैभिन्न्य का कारण है। यद्यपि समस्त भावसमूह उस 'एकभाव' की ही खण्ड दिशा है, तथापि यह न जानने के कारण व्यक्ति चक्रमण करता रहता है।

विभिन्न दार्शनिक प्रस्थान तथा वैज्ञानिक दीर्घकाल से सत्य निर्णय की चेष्टा करते आ रहे हैं, परन्तु सत्य का स्वरूप द्रष्टा के दृष्टिकोणानुसार विभिन्न रूपों में भासित होता रहता है। देश, काल, रुचि, अधिकार तथा वातावरण की विभिन्नता के कारण एक अखण्ड सत्य खण्डरूप में, परिच्छिन्न रूप से प्रतीयमान होता आ रहा है। समस्त दार्शनिक मतवाद एक परिमित एवं खण्ड सत्य के ही सूचक हैं। खण्डभाव के रहते विरोध अवश्यम्भावी है। खण्डभाव के मूल में मन की ही प्रधानता रहती है। अतएव मन-अन्तःकरण का सहाय्य लेकर सत्यान्वेषण करने पर

सत्य का दर्शन परिच्छिन्न रूप में ही होता है। मन का कार्य है एक अविभक्त सत्ता को बहुः एवं विभक्तरूप में अनुभव करना। मन का निरोध करने से अथवा मन का अतिक्रमण करने से, तदनन्तर बोधभूमि में प्रविष्ट होने पर सत्य का पूर्ण दर्शन प्राप्त होने लगता है। नाना ऋषियों के नाना मत हैं। मत तो मन की भूमि की क्रीड़ा है। मन की भूमि का अतिक्रमण करने पर मत-मतान्तर अस्तमित हो जाते हैं।

अतः दर्शन तथा धर्मशास्त्रों में मत वैभिन्न्य के ही कारण खण्डन-मण्डन का उपक्रम होता रहता है। एक दार्शनिक युक्ति द्वारा जिस मत की स्थापना करता है, अन्य विद्वान् अपनी युक्तियों से उसका खण्डन कर देते हैं। जिसकी जहाँ रुचि है, वह उसे ही सत्य कहता है। अतः जिसका दृष्टिकोण जैसा है; वह उसे ही सत्य समझेगा। उसे अन्य दृष्टिकोण ग्राह्य क्यों लगेगा? अभियान तथा संकुचित दृष्टि के कारण व्यक्ति के समक्ष अन्य मत हेय से प्रतीत होते हैं। इस भावना के कारण विरोध की सृष्टि होती है। महासत्ता में विरोध का भी एक स्थान है। परस्परतः दो विरुद्ध वस्तु या धर्म एक-दूसरे का त्याग करते हैं। अविरुद्ध सत्ता किसी का त्याग नहीं करती। एक अखण्ड स्वच्छ सत्ता में किसी प्रकार का कलंक नहीं है, वह अप्रतिहत्, अनावरित एवं सर्वव्यापक है। वह प्रत्येक खण्ड सत्ता के साथ अभिन्न है। उसमें विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है।

समाधि का तात्पर्य है समाधान। वैचित्र्य के तिरोहित होने पर एकत्व का भान ही समाधान है। मन की बहुमुखी वृत्ति के अनुसार वृत्तिभेद होता है। जगत् के समस्त विषय 'एक' में लीन होकर उस 'एक' की पुष्टि करते हैं, तब ज्ञानालोक में एक ही सत्ता भासित होने लगती है। विक्षिप्तता छूट जाने पर एक सत्ता ही महासत्ता का रूप धारण करती है। यह समाधान ही समाधि है तथापि यह यथार्थ समाधि नहीं है। कारण नानात्व तो एक में विलीन है। अतः उस एक को भी तिरोहित कर सकने पर यथार्थ समाधि (समाधान) का उद्भव होता है।

चित्तवृत्तिसमूह विषयों के अनुसार विभक्त होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में विक्षेपजनित संस्कार रहने के कारण एकत्व के साथ-साथ नानात्व का भी भान उदित होता रहता है। वह एकाग्रता के अंग के रूप में विद्यमान रहता है। एकाग्र स्थिति से उसका कोई विरोध नहीं है। तथापि उसकी विद्यमानता से एकाग्रता की सम्यक् सुदृढ़ता, पूर्णता नहीं हो सकती। अभ्यास परिपक्व होने पर विक्षेप का आविर्भाव समाप्त हो जाता है। एकाग्रता स्वयं को एकीभूत प्रज्ञा के रूप में प्रकट करती है। यह प्रज्ञा चित्त का ही स्वरूप है। चित्त ही विषय सान्निध्य के कारण वृत्ति बन जाता है। यही वृत्ति 'एक' में प्रवाहित होकर एकाग्रता का रूप धारण करती है। इस एक आलम्बन के कारण चित्त आलोकित हो उठता है। अतः नानात्व का प्रज्ञा प्रकाश-वास्तव में चित्त ही है। तदनन्तर चित्त संस्काररूप में अवस्थित हो जाता है। अब प्रज्ञा

भी अस्त हो जाती है। यह ज्ञानातीतावस्था है। ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानगत विषय स्पष्टतः प्रकाशित होता है। इसे समाधि की प्राक् अवस्था कहते हैं। चित्त प्रज्ञा के रूप में आत्मप्रकाश करता है। उस समय विश्व के अनन्त आकार प्रज्ञा में विलीन हो जाते हैं। यही समाधान है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का एक समास रूप होना ही समाधि है, तथापि यह अपेक्षित समाधान ही है। पूर्ण समाधानार्थ उस एक आत्मा का समाधान होना भी आवश्यक है। यही उन्मनी अवस्था है।

●

गुरुतत्त्व

भारतीय साधना-धारा में गुरुतत्त्व का विशेष स्थान है। यद्यपि गुरु के स्वरूप तथा उसकी विशिष्ट सत्ता के प्रति सभी आध्यात्मिक चिन्तक एकमत नहीं हैं, तथापि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से गुरुतत्त्व का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जहाँ शरीरीगुरु की सत्ता को मान्यता नहीं दी गयी है, वहाँ अशरीरी सत्ता अथवा प्रातिभज्ञान ही गुरुतत्त्व का स्वरूप ग्रहण करने लगता है। कहीं-कहीं आत्मा अथवा चैतन्य ही गुरुत्त्वरूप से स्वीकार्य है। जो आधुनिक चिन्तक प्रत्यक्ष रूप से किसी गुरु की स्थिति को मान्यता नही देते, उन्हें भी अन्तरात्मा को प्रेरक रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। यह स्थिति केवल आधुनिक चिन्तकों में ही नहीं रही है, प्रत्युत् अत्यन्त प्राचीन काल में भी अन्तरात्मा, प्रत्यगात्मा अथवा हृद्देशस्थ चैतन्य की उस सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो साधक की समस्त जिज्ञासा अथवा समस्याओं का अपरूप समाधान उपस्थित कर देती है।

गुरुतत्त्व सर्वकाल तथा सर्वदेश में साधक के लिए आराध्यरूप से प्रकट होता है। इसके आश्रय से अग्रगति होती है। स्तब्धता की विमूढ़ावस्था का अवसान होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शास्त्रों में गति की चर्चा की जाती है। साधना भी एक प्रकार की गतिशीलता का ही द्योतन कराती है। निम्न आयाम से ऊर्ध्व आयाम की ओर की गतिशीलता ही साधना है। मध्याकर्षण से त्राण दिलाकर ऊर्ध्वाकर्षण की धारा में गतिशील हो जाने पर प्राप्तव्य से मिलन की सम्भावना का उदय होने लगता है। मोक्ष भी गति ही है। इसे देवयान गति कहा जाता है। ब्रह्मभाव, परमात्मभाव अथवा भगवद्भाव में आरूढ़ होने के लिए भी जीवत्वावरण का गतिमान होकर भेदन करना होता है। तदनन्तर ऊर्ध्वातिऊर्ध्व गतिधारा के आकर्षण में पड़ना आवश्यक है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाने पर भी शक्तिमान साधक की गति की समाप्ति नहीं हो जाती। वह ब्रह्मभाव से परमात्वभाव के पथ पर गतिशील हो जाता है। परमात्मभाव की सम्यक् उपलब्धि के अनन्तर भी यथार्थ योगी की गति का अन्त नहीं हो जाता। वह महाभाग्यवान योगी परमात्वभाव से पुनः गतिशील होकर भगवद्भाव की यात्रा करता है। भगवद्भाव की प्राप्ति भी गति का अवसान नहीं है। भगवद्भाव को प्राप्त महायोगी की सत्ता उस भगवद्भाव के अनन्त आयाम में गतिशील रहती है। जो अनन्त है, उसका कभी भी अन्त नहीं है। अनन्त में ही अनन्तस्वरूप भगवद्भावयुक्त महायोगी गतिशील रहता है। गति की कभी भी

समाप्ति नहीं होती। सिद्धान्त यह है कि कोई भी गतिशील रहने के लिए नहीं चलता। गतिशील होता है लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। अतः लक्ष्य अथवा गन्तव्य की प्राप्ति के साथ-साथ गति ही स्थिति के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिये कि जैसे-जैसे गति में ऊर्ध्वता आती-जाती है, उसी प्रकार लक्ष्य भी उन्नीत होता जाता है। अर्थात् एक समय जो लक्ष्य था वह प्राप्त हो जाने पर, उसमें स्थिति हो जाने पर, उस महालक्ष्य में ही अनन्त पथ दृक्गोचर होने लगता है। लक्ष्य में स्थित होने तक की यात्रा बाह्य यात्रा ही कही जाती है, भले ही वह कितने ही आभ्यन्तरीण आयाम में क्यों न हो! जब लक्ष्य में स्थिति हो जाती है, तब यह ज्ञात होता है अब तक का जो पथ अतिक्रान्त हुआ है वह तो बाह्यपथ है। इस स्थिति में योगी अब अपने लक्ष्य का अवलोकन करता है। उसे यह ज्ञात होता है कि अब लक्ष्य के आभ्यन्तर में प्रवेश करना ही होगा। लक्ष्य के अन्तःप्रदेश का पथ उन्मुक्त हो जाने पर अनन्तानन्त सत्ता की ओर गतिशीलता प्रारम्भ हो जाती है। इस गति का कोई अन्त नहीं है। कोई इयत्ता नहीं है। पुराणों में इसी तथ्य को अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है। कौशल्या ने अपने लक्ष्य बालरूप श्रीराम की प्राप्ति हो जाने पर उनके मुखविवर में (लक्ष्य के अन्तःप्रदेश में) अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड दर्शन प्राप्त किया था, जिसका कहीं आदि, अन्त परिलक्षित नहीं हो सका। अन्तः तो अनन्त है उसका अन्त नहीं। जो अनन्त के साधक हैं उनकी गति का अन्त नहीं! गतिशील रहना ही चैतन्य सम्पर्क है। स्तब्धता ही जड़ का स्वरूप है। अनन्त के साधक की प्राप्ति भी अनन्त है। उसकी प्राप्ति-पिपासा कभी समाप्त नहीं होती। सब कुछ पा जाने पर भी 'उसे' और अधिक पाने की लालसा को जगाये रखना, 'उसके' और-और सन्दर्शन के लिए व्याकुल रहना तथा इसीलिए सदा गतिशील रहना ही अनन्त के साधक का एकमात्र उद्देश्य रह जाता है। यही यथार्थ भक्ति का रूप है। महायोगी ही यथार्थ भक्त हो सकता है। अनन्त का अन्वेषक ही भक्ति का एकमात्र अधिकारी है, क्योंकि उसकी दृष्टि में मिलन की पृष्ठभूमि में चिरविरह संयोजित रहता है, और वह 'उसे' पाकर भी और अधिक प्राप्त करने के लिए आतुर बना रहता है। जीवभाव से ब्रह्मभाव की ओर की गति है ज्ञान। ब्रह्मभाव से परमात्मभाव पर्यन्त की गतिमयता को योग कहा गया है। परमात्मभाव से भगवद्भाव की ओर की गतिमान अवस्था ही भक्ति है। इसके अनन्तर भगवद्भाव के अनन्त क्षेत्र में जो अन्तर्गति उन्मिषित होती है, भगवान् के अन्दर जो संचरण होता है, वह है अखण्ड महायोग। यह भक्ति की चरम परिणति है। इसे ही प्रेम कहते हैं।

इस अखण्ड महायोग की उपलब्धि के लिए गुरुतत्त्व सम्यक् रूप से आयत्त होना आवश्यक है। आभ्यन्तर रूप से गुरुतत्त्व में समाविष्ट हो जाने पर सूक्ष्म उपासना का अधिकार प्राप्त हो सकता है। गुरु ही गति है। वही गति प्रदाता है। जीव

का जड़त्व, स्तब्धत्व वही समाप्त करता है। जीव अपने स्वप्रयत्न से इसे समाप्त नहीं कर सकता। इस गतिप्रदान कार्य को ही प्रकारान्तर से शास्त्रों में दीक्षा, शक्तिपात प्रभृति संज्ञा प्रदान की गयी है। अतः गुरुतत्त्व का अन्तरावलोकन करना ही होगा। यह अन्तरावलोकन नित्यगुरुरूप परमेश्वर का ही सम्यक् ध्यान है। प्राथमिक अवस्था में नित्यगुरु की धारणा कर सकना सम्भव नहीं है। अतः किसी शरीरधारी मानव को गुरुरूप में वरण करने के पश्चात् उसका साकार ध्यान ही विहित है। यह धारणा श्वास के साथ संयुक्त होकर की जाती है। इस जड़देह में एकमात्र श्वासक्रिया ही चेतना का प्रमाण है। जीवित में ही श्वासक्रिया चलती है। जब यह देह का त्याग कर देती है, तब शरीर मृतक कहलाने लगता है। उसमें प्रकृतिगत विकृति का प्रारम्भ हो जाता है। धारणा में ध्येयरूप से निबद्ध आकृति को श्वासक्रिया से संयुक्त कर देने पर उस आकृति में भी चेतना का संचार होने लगता है।

इस ध्यान का प्रारम्भ करने के पूर्व सुषुम्ना का सन्धान करना आवश्यक है। सुषुम्ना ऊर्ध्वगामी प्रवाह होने पर भी ऊर्ध्व से अधः पर्यन्त व्याप्त है। दो बिन्दु के मध्य का अवकाश स्थान है सुषुम्ना। गुरु के चरण से ध्यान प्रारम्भ करने का उल्लेख है। यह ध्यान शिखा पर्यन्त व्याप्त हो जाता है। अतः प्रथम बिन्दु है चरण, द्वितीय बिन्दु है शिखा। इस प्रथम बिन्दु से द्वितीय बिन्दु के बीच की जो सीधी रेखा है, वह है सुषुम्ना। अर्थात् चरणबिन्दु से ध्यान का प्रारम्भ करके, ऊपर की ओर लक्ष्य को ले जाते समय शिखाबिन्दु तथा चरणबिन्दु के मध्य का जो अवकाश स्थल है, उस शून्य को ही सुषुम्ना कहते हैं। यह ध्यान की अनुलोम अवस्था है। इस अनुलोम ध्यान में गुरुचिन्तन के माध्यम से साधक अपनी चेतना को ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त ऊर्ध्व स्थापित करता है। इसे पूरक स्थिति में करने से श्वास की सूक्ष्मगति भी ब्रह्मरन्ध्र का संस्पर्श प्राप्त करती है। फलतः ब्रह्मरन्ध्र में एक स्पन्दन का अनुभव होता है। यह स्पन्दन ही अद्वैतबोध का प्रारम्भिक रूप है। क्रमशः अभ्यास की दृढ़ता के साथ-साथ इस स्पन्दन में स्थिति होने पर बाह्यसत्ता लुप्त हो जाती है और अद्वैतावस्था का उदय होने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र स्थित बिन्दु में समाहित होना ही अद्वैतबोध का यथार्थ रूप है। तब एकमात्र 'एक' ही विराजित रह जाता।

इसके अनन्तर कुम्भक अवस्था में गुरु के सर्वांग अर्थात् शिखाबिन्दु एवं चरण-बिन्दु का तथा इन दोनों बिन्दुओं के मध्य के अन्तराल का, एक साथ चिन्तन करना चाहिए। कुम्भक स्थिरावस्था है। इसे साम्यावस्था भी कहते हैं। इसमें श्वास का आगमन अथवा गमन नहीं है। अर्थात् प्राण की बाह्यगति निरुद्ध है, तथापि अन्तर्गति भी नहीं है। दोनों गति प्रत्यक्षतः नहीं है, तथापि वहाँ प्राण की अपने आप में स्पन्दनात्मिका चलनरूपता है। साम्यमय इस कुम्भक ध्यान में शिखाबिन्दुरूप ऊर्ध्वबिन्दु तथा चरणरूप अधःबिन्दु के मध्य का अवकाश विलीन होने लगता है

और दोनों बिन्दु अपनी पूर्ण समग्रता के साथ एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। इस विलीनता से गुरुतत्त्व एवं गुरुशक्ति का ऐक्य सम्पादित होता है। प्रथम स्थिति है अद्वैतावस्था, द्वितीय स्थिति (कुम्भक स्थिति) है स्वरूपानुसन्धान। स्वरूपानुसन्धान युगपत् रूप से होता है। जैसे कुम्भक ध्यान में ऊर्ध्व अधःबिन्दु के सम्मिलन से गुरुतत्त्व का चिन्तन युगपत् रूप से (सर्वांग रूप से) एक साथ होता है, यह भी उसी प्रकार की अवस्था है। पहले अद्वैत, तदनन्तर उस अद्वैत में ही स्वरूपानुसन्धान, तदनन्तर तृतीय ध्यान की स्थिति का उदय अनुभूत होता है।

अब जो ध्यान होता है उसे विलासध्यान कहते हैं। केवलमात्र अद्वैत का आस्वादन तथा स्वरूपानुसन्धान ही उभीप्सित नहीं होना चाहिये। आवश्यक है इन दोनों का आप्लावन समग्र साधक सत्ता में होना। अन्यथा साधक के कण-कण को उसके चैतन्य के प्रत्येक अणु को, इस अनुभव का रस नहीं मिल सकेगा। इसलिए विलोम क्रम से गुरुतत्त्व में अवरोह करना चाहिये। यह होता है रेचक स्थिति में। रेचक स्थिति में आभ्यन्तरीण प्राणवायु बाह्य जगत् में विकसित होती है। इस ध्यान द्वारा ऊर्ध्वस्थ शिखाप्रदेशस्थ बिन्दु का अवरोह निम्न बिन्दु तक (चरणबिन्दु पर्यन्त) कराया जाता है। गुरुतत्त्व के ऊर्ध्व प्रदेश से क्रमशः उतरते-उतरते चरणाग्रबिन्दु पर्यन्त विलोम ध्यान किया जाता है। अब पूर्वानुभूत अभेदावस्था में ही एक अद्भुत द्वैतमय सत्ता का प्रकटीकरण होता है। जैसे अगाध अनन्त महासागर में एक क्षुद्र हिमखण्ड की सत्ता होती है। महासागर भी जल है, हिमखण्ड भी जल ही है, तथापि जल होने पर भी वह जल से पृथक् अथच जल ही है। गुरुसत्तारूप अगाध विस्तार में साधक हिमखण्डवत् अणुरूप में अपनी उपलब्धि करता है। तदनन्तर अणुरूप साधक गुरु की महत् सत्ता के सम्मुख प्रणत हो जाता है। यह प्रणति गुरु का उत्कर्ष अथवा शिष्य का अपकर्ष नहीं है, प्रत्युत् यह है समावेश। स्वरूप समाविष्ट स्थिति! यही है गुरु-दर्शन की यथार्थ परिणति।

गुरुदर्शन के अनन्तर इष्टमूर्ति के आविर्भाव की साधना प्रारम्भ होती है। गुरुदर्शन पर्यन्त की प्रक्रिया ज्ञानप्रधान है। गुरुदर्शन ही ब्रह्मदर्शन है। परन्तु वह परमात्मदर्शन नहीं है। इष्टमूर्ति दर्शन परमात्म दर्शन है। यद्यपि अभेद दृष्टि से गुरु-ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् में कोई पार्थक्य नहीं है, परन्तु अनुभूति एवं रसास्वादन के दृष्टिकोण से ये सभी एक ही महासत्ता के विभिन्न स्तर हैं। गुरुदर्शन के फलस्वरूप इस प्राकृत देहबोध (पाँचभौतिक), स्थूल देहबोध से छुटकारा मिलता है। यथार्थ साधना इस प्राकृत देह में नहीं हो सकती। यह मायिक देह है। गुरुदर्शनरूप भावनाग्नि में तपकर मायिक देह शुद्ध होता है। जब अणुरूप शिष्यसत्ता महतरूप गुरुतत्त्व के सम्मुख प्रणत होती है, तब समावेश के द्वारा उसमें जो स्पन्दन होता है,

उससे उसका षडध्व शुद्ध हो जाता है। अब उसकी सत्ता में चैतन्य का आप्लावन होने लगता है।

इष्ट प्राकृतरूप नहीं होता। वह अप्राकृतरूप है। अतः अप्राकृत होकर ही उसकी उपासना की जा सकती है। जो देह कुण्डलिनी के क्रोड़ से उद्‌भूत होता है, वही अप्राकृत देह है। साधक की देह कुण्डलिनी से प्रसावित नहीं है, अतः उसे अप्राकृत नहीं कहा जा सकता। वह मातृगर्भ से प्रसवित देह को लेकर इष्ट की उपासना नहीं कर सकता। उसे पुनः कुण्डलिनी गर्भ में शरण लेकर प्रसवित होना होगा, तभी उसे अप्राकृत देह की प्राप्ति होगी, तभी उसे इष्टोपासना का अधिकार प्राप्त होगा।

कुण्डलिनी क्या है? कुण्डलिनी शक्ति है। मातृगर्भ से जन्म लेने पर पुनः-पुनः जन्म-मरण का चक्र चलता है, परन्तु जब परमेश्वर की कृपा से कुण्डलिनीगर्भ में प्रवेश लेकर जन्म होता है, तब जन्म-मरण का चक्र प्रशमित हो जाता है। मातृगर्भ से भी प्रसव होता है और कुण्डलिनीगर्भ से भी प्रसव होता है परन्तु यह है 'विश्व' व्यापारवद्धोद्यमा विश्वव्यापार को समाप्त करने वाली। अभी हम मायिक राज्य में विचरण कर रहे हैं। कुण्डलिनी राज्य में प्रवेश करने के लिए शक्तिराज्य में पगसंचार करना पड़ता है। प्राथमिक स्तर में ही इस शक्तिराज्य का सन्धान प्राप्त करना आवश्यक है। योगीगण कहते हैं कि प्राण का बाह्यकेन्द्र उपलब्ध कर लेने पर शक्तिराज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाता है। शक्तिराज्य के कपाट साधक के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। तन्त्रशास्त्र ने इस बाह्यकेन्द्र को द्वादशान्त कहा है। यह स्तरानुरूप अनेक हैं। सबसे सरल रूप से नासाग्र द्वादशान्त का सन्धान प्राप्त हो सकता है। अनुसन्धान से विदित होता है कि श्वास नासिका से अन्दर प्रवेश करने के कुछ क्षणों के उपरान्त पुनः बहिर्गत हो जाती है। बाहर आने पर नासिका से 12 अंगुल पर्यन्त इसकी गति होती है, पुनः उसी बिन्दु से चलकर प्राणवायु नासिका में प्रवेश करती है। यही नासाग्र द्वादशान्त है। इस द्वादशान्त पर प्राणोत्थान का अनुभव करने से क्रमशः बाह्यता लुप्त होने लगती है और शक्ति के अन्तःक्षेत्र में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। इस बिन्दु का आश्रय लेने के उपरान्त पुनः षट्‌चक्रभेदन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यह शक्तिराज्य में प्रवेश का प्राथमिक स्तर है।

द्वितीय स्तर में यह द्वादशान्त जो बाह्य शून्य में स्थित है, शक्ति के जागरण के साथ-साथ द्विदल से मूर्धा पर्यन्त की स्थिति का साक्षात्कार कराता है। इस स्थिति में बाह्यप्राण, श्वास-प्रश्वास पर दृष्टि नहीं रहती, उसकी गति भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है। अब साधक का बोध भ्रूमध्य में निबद्ध हो जाता है। भ्रूमध्य से इस प्राण की गति का अनुभव होता है। इस प्राण की गति बाह्य नहीं होती। यह शरीराभ्यन्तर में ऊर्ध्वदिक् की ओर संचरणशील रहता है। इसका क्षेत्र है भ्रूमद्य से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त। जैसे नासिका से निकल कर स्थूल प्राण बाह्याकाश में विचरण करता है, वैसे ही

भ्रूमध्य में अनुभूत हो रहा प्राणस्पन्दन ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एक सरल रेखा में ऊर्ध्वगतिशील होने लगता है। वहाँ से बाहर निकलने का मार्ग न पाकर पुनः भ्रूमध्य बिन्दु में लौट आता है। भ्रूमध्य बिन्दु से निम्नदेश में संचरण का मार्ग बन्द हो जाने के कारण वह प्राणस्पन्द पुनः ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पुनरावर्तन करता है। यह प्रक्रिया साधक को अब सम्यक् रूप में आयत्त होने लगती है।

इसके अनन्तर तृतीय स्तर का उन्मेष होता है। यह उन्मेष ब्रह्मरन्ध्र में ही बद्ध स्व पर उन्मुक्त स्व की कृपा है। अब प्राणगति का स्पन्द ब्रह्मरन्ध्र में ही आबद्ध होने लगता है। वापस भ्रूमध्य की ओर पुनरावर्तन नहीं करता। वह ब्रह्मरन्ध्र केन्द्र में ही घूर्णित होने लगता है। इस घूर्णन से ब्रह्मरन्ध्र का अत्यन्त सूक्ष्म, केशाग्र से भी सूक्ष्म पथ उन्मुक्त होने लगता है। उस घूर्णन का अनुभव भाग्यवान साधक स्पष्टतः करते रहते हैं। इसका प्रभाव अत्यन्त मादक एवं आनन्दप्रद है। यही चित्तैकाग्रय की अवस्था है। इस स्थिति में चित्तवृत्ति निरोध के लिए कोई भी प्रयास अपेक्षित नहीं रहता, यह समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व) भेदन की अवस्था है। अब देहबोध की परिणति ब्रह्मबोध रूप में होने लगती है। यही है ब्रह्माण्ड भेद। इसे जीवितावस्था में ही सम्पन्न कर लेना चाहिये। इस भेदन से मायाराज्य के मध्याकर्षण का अतिक्रमण हो जाता है।

प्राण की प्रकृत गति ऊर्ध्वगतिशील है। वह अधःगतिशील होता है माया अथवा देहात्मबोध के मध्याकर्षण के कारण। ब्रह्मरन्ध्र-भेद के उपरान्त माया का मध्याकर्षण प्रभावहीन हो जाने से प्राणस्पन्द को कोई बाधा नहीं रह जाती और वह स्वभाव की धारा में ब्रह्मरन्ध्र से भी ऊर्ध्व प्रदेश की ओर गतिशीलता प्राप्त करने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र-भेदन के उपरान्त जिस आकाशरूपी विस्तार का साक्षात्कार होता है, वह है चिदाकाश। चिदाकाश में प्रकृत सहस्रदल विद्यमान है। ब्रह्मरन्ध्र के द्वादश अंगुल ऊपर के बिन्दु में इसकी सत्ता है। यह सहस्रदल अखण्ड महायोगोक्त सहस्रदल है। योगशास्त्र में जिस सहस्रदल की चर्चा होती है, यह उससे पूर्णतः भिन्न है। ब्रह्मरन्ध्र लेकर सहस्रदल तक के मार्ग में ही साधक का स्वभाव अथवा स्वरूप साक्षात्कार के उपरान्त गुरुसत्ता का कार्यकारित्व समाप्त हो जाता है और वह साधक में समाहित होने लगती है। अब गुरु तथा साधक एक हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गुरुतत्त्व की प्रधानता एवं शिष्यतत्त्व की अप्रधानता यहाँ भी दृक्गोचर होती है। इस बिन्दु पर इष्टदर्शन के उपरान्त साधक गुरुसत्ता के सम्मुख आत्मविभोरावस्था में प्रणत हो जाता है। यह उसका कृतज्ञता-ज्ञापन है, क्योंकि गुरुतत्त्व द्वारा प्रदर्शित पथ पर चल कर ही वह इष्ट-साक्षात्कार कर सका है। प्रणत होते ही शिष्यसाधक का तेज केन्द्रित होकर उसके मस्तक की ओर, उसकी ऊर्ध्वस्थिति की ओर अग्रसर हो जाता है। उधर गुरु का स्वतेज उनके ब्रह्मरन्ध्र से उतरता हुआ उनके चरणाग्र बिन्दु पर

केन्द्रित हो जाता है। अब प्रणत पड़े शिष्य के मस्तक के तेज तथा गुरु के चरणाग्र बिन्दु पर केन्द्रित गुरुतेज का एकीकरण हो जाने से गुरुसत्ता का शिष्यसत्ता से सम्मिलन अथवा एकीकरण हो जाता है। अब न गुरु रहता है और न शिष्य की ही सत्ता रहती है। अन्तर्जगत् की इस क्रीड़ा के उपरान्त जो बचता है वह है महायोगी। अखण्ड महायोग में इसे पूर्णाभिषेक कहते हैं।

यह क्रीड़ा ब्रह्मरन्ध्रभेदन के साथ-साथ सम्पन्न हो जाती है। अब महायोगी स्थित है शक्तिराज्य में। ब्रह्मरन्ध्र से सहस्रदल पर्यन्त इस अनन्त अवकाश में शक्ति के विभिन्न स्तर विद्यमान हैं। अब प्राण की गति प्रविलीन हो जाती है। जो बचता है उसे प्राणस्पन्द न कहकर अहंस्पन्द अथवा अहंविमर्श ही कह सकते हैं। यह स्वयं अपनी ही गति से गतिमान हैं। यह विमर्श भी प्राण के ही समान ऊर्ध्व एवं अधः गतिशील है। अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के केन्द्रबिन्दु से लेकर सहस्रदल की कर्णिका पर्यन्त गतिशील होकर आता-जाता रहता है। यह आवागमन भी अकारण नहीं है। सहस्रदल की कर्णिका में प्रवेशाधिकार न होने के कारण वह विमर्श अथवा स्पन्द पुनः ब्रह्मरन्ध्र-केन्द्र में प्रत्यावर्तित हो जाता है। तदनन्तर ब्रह्मरन्ध्र केन्द्र से नीचे न जाने के कारण पुनः उत्थान करता हैं। सहस्रदल की कर्णिका ही नित्यगुरु का धाम है। गुरुतत्त्व से एकीकरण हो जाने के पश्चात् नित्यगुरु ही प्राप्तव्य हैं। सहस्रदल की कर्णिका में प्रवेशाधिकार के लिए महाकृपा की आवश्यकता रहती है। गुरु कृपा कर सकते हैं परन्तु महाकृपा नित्यगुरु का कार्य है। एकमात्र इस पर उनका ही अधिकार है। शक्ति राज्य का अतिक्रमण करने के उपरान्त स्वभावराज्य में प्रवेश किये बिना नित्यगुरु की महाकृपा का अनुभव ही नहीं होता। यह किसी अचिन्त्य क्षण में ही हो सकता है। इसके लिए कोई नियम अथवा काल का निर्धारण ही नहीं है। यही है नित्यगुरु का स्वातन्त्र्य। उनके अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण किसी अचिन्त्य क्षण में कर्णिका का पथ उन्मुक्त हो जाता है।

कर्णिका के मध्य में, अनन्त विस्तीर्ण महापथ में, चिदाकाश की कोई भी सत्ता नहीं है। यह चिदाकाश से अतीत अवस्था है। उपनिषदों में इसे दहराकाश कहा गया है। यह नित्यगुरु का स्वधाम है। इस स्वधाम में एक अत्यन्त रहस्यमय क्षेत्र की स्थिति है। इसे कहते हैं अष्टदल! इसी अष्टदल के मध्य में अनन्त ज्योति से उद्भासित नित्यगुरु का सन्धान मिल जाता है। यहाँ साधनादि की कोई स्थिति है ही नहीं। यह प्रेमराज्य है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, सबसे परे प्रेम की रसमयी सत्ता से यह क्षेत्र सराबोर है। इसका भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता। महायोगी इस राज्य में प्रवेश प्राप्त करते हैं। इसी राज्य की अवतारणा हेतु, इस विश्व ब्रह्माण्ड में इसी प्रेमराज्य का आविर्भाव कराने के लिए, अखण्ड महायोग के पथिक सतत प्रार्थना करते रहते हैं।

सामान्य योगग्रन्थों में वर्णित कुण्डलिनी तत्त्व तथा उपरोक्त अखण्ड महायोगोक्त कुण्डलिनी तत्त्व एक प्रकार का नहीं है। योगशास्त्रोक्त भुजगाकारा कुण्डलिनी में प्रवेश नहीं हो सकता। साधक उसे साधना के द्वारा प्रबुद्ध करता है और वह क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करती हुई स्वपथ पर अग्रसर होती है। अखण्ड महायोग में जिस कुण्डलिनी का साक्षात्कार होता है, वह साधना द्वारा प्रबुद्ध नहीं हो सकती। वह कृपा द्वारा उद्बुद्ध होकर साधक को भावना द्वारा गतिशील बनाती है। इसके प्रभाव से जब कुण्डलिनी में प्रविष्ट साधक ऊर्ध्वगतिशील होता है तब वह नीचे की वस्तु (तत्त्व) का सारतत्त्व लेकर उठता रहता है। यह प्रक्रिया ब्रह्मरन्ध्र तक चलती रहती है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके दिव्यप्राण की प्राप्ति के पश्चात् कुछ भी असार रूप नहीं रह जाता। वहाँ आनन्द ही सार है। यहाँ से अनन्त का राज्य प्रारम्भ होता जाता है। अनन्त में प्रकाश का प्रक्षेपण करने पर वह चक्राकार होने लगता है। यही रासलीला है। यहाँ अनन्त भाव, अनन्त रस विद्यमान रहते हैं। इसका उत्स है सहस्रदल। वह अनन्तात्मक है, अतः चक्राकार (रासलीला रूप में) रूप में गतिशील रहता है। सहस्रदल की कर्णिका में भी दिव्यप्राण के प्रक्षेपण से वह प्राण चक्राकार होकर महारास का प्रकाश करता है। वहाँ के आनन्द के आगे ब्रह्मानन्द भी क्षुद्रातिक्षुद्र है। इसी पर अखण्ड महायोग की प्रतिष्ठा होती है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिये कि अखण्ड महायोग में जो गुरुतत्त्व वर्णित है, वह व्यष्टि गुरुतत्त्व के साथ-साथ समष्टिगुरु अथवा विश्वगुरु की स्थिति का भी द्योतन कराता है। यहाँ अबतक जिस गुरुतत्त्व-प्राप्ति का उल्लेख किया गया है, वह व्यष्टि स्थिति में उपलब्ध गुरुतत्त्व है। इस उपलब्धि का केवलमात्र साधक ही आस्वादन करता है। साधक ही योगी है, परन्तु वह महायोगी नहीं है। महायोगी की सत्ता का गठन होता है विश्वकुण्डलिनी अथवा विश्वगुरु की उपलब्धि के अनन्तर। यह उपलब्धि साधनासापेक्ष नहीं है, अतः इसमें साधक अथवा योगी का कोई अधिकार नहीं है। यह उपलब्धि अहैतुक है। इसे भगवान् (परमगुरु-विश्वगुरु) की नित्य सामान्य कृपा माना गया है। उपनिषद् में जिस दहराकाश का वर्णन है, यह उपलब्धि वहीं होती है। दहराकाश चिदाकाश से भी ऊर्ध्व है। यह सहस्रदल से भी परे की अवस्था है। यहाँ परम रहस्यमय अष्टदल का प्रस्फुटन महाभावरूप में होता है। यह शक्ति की परावस्था है। यही यथार्थ भावसत्ता है। परमतत्त्वरूप महासमुद्र की तरंग है भाव। यद्यपि श्रीमद्भागवत में भाव का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है, तथापि अखण्ड महायोग की धारा के अनुसार भाव का रूप और भी अधिक गहन तथा व्यापक रूप से परिलक्षित होने लगता है। इसके अनुसार 'स्वभाव' 'स्व-का भाव' ही यथार्थतः महाभाव है। सर्वप्रथम 'स्व' की उपलब्धि तदनन्तर भाव का उन्मेष। इसके पश्चात् स्व की सत्ता पर, स्व के वक्षस्थल पर भाव की क्रीड़ा। सर्वान्त

में भाव और स्व का सामरस्य। इसकी प्राप्ति का प्रारम्भ चिदाकाश साक्षात्कार से ही होने लगता है। इसकी पूर्ण परिणति होती है दहराकाश में। चिदाकाशभेदन द्वारा दहराकाश में स्थिति प्राप्त होती है। दहराकाश में ही महाभाव प्रस्फुटित होता है। दहराकाश ही नित्य गुरु का धाम है।

सर्वप्रथम जिस गुरुतत्त्व का दर्शन किया गया है, वह अन्तर्दर्शन होने पर भी यथार्थतः बाह्यसत्ता ही है। जैसे बाह्य सूर्य की किरणें विकीर्ण हो रही हैं। वह सूर्य रश्मिरूप से अपना द्योतन कराता है, तभी उसका दर्शन सम्भव है। जब वस्तु अपनी किरणें विकीर्ण करती हैं, तभी वह नयनगोचर अथवा इन्द्रियगोचर होती है। अन्यथा उसे देखा नहीं जा सकता। गुरुतत्त्व में रश्मियों का विकिरण है, अतः साधना की अवस्था में उनका दर्शन सम्भव होता है। इस स्थिति में गुरुतत्त्व दृश्य है और देखने वाला साधक (देहधारी) द्रष्टा है। इन दोनों की साक्षी है हृद्देशस्थ ईश्वर। परन्तु नित्यगुरु किरणें विकीर्ण नहीं हो रही हैं। जो नित्यसूर्य है उसकी भी किरणें विकीर्ण नहीं होतीं। अतः नित्यगुरु दृश्य नहीं है। इस कारण उनका द्रष्टा कोई कैसे हो सकता है? द्रष्टा तो दृश्य का होता है। जो दृश्य है ही नहीं उसका कोई द्रष्टा कैसे हो सकता है? अतः उसका कोई साक्षी भी नहीं। इस स्थिति में यह कैसे कह सकते हैं कि साधक महायोगी भूमि पर आरूढ़ होकर नित्यगुरु का साक्षात्कार करते हैं।

इस प्रश्न की यह मीमांसा है कि साधक महायोगी-भूमि पर आरूढ़ होते ही स्वयं ही नित्यगुरु रूप हो जाता है। अव वहाँ द्वैतसन्धान नहीं है। वह स्वयं गुरु है, स्वयं ही शिष्य है। जैसे जल ही हिम है और हिम ही जल है, तथापि दोनों पृथकवत् भासित हो रहे हैं, यहाँ ऐसा ही जानना चाहिये। वह स्वयं ही दृश्य है और स्वयं ही द्रष्टा है। लीला के लिए वह 'एक' ही दो के रूप में भासित होता है। और आश्चर्य तो यह है कि वह स्वयं ही अपना साक्षी भी है।

साधना क्या है? आवरण भंग करना ही साधना है। गुरुदर्शन क्यों नहीं मिल रहा है? कारण है आवरण। आवरण हटते ही गुरुदर्शन होने लगता है। गुरुदर्शन होने पर भी स्वयं गुरुरूप क्यों नहीं होता? आवरण के कारण। प्रथम आवरण है देह का आवरण, द्वितीय है मन का आवरण। अब गुरु होकर भी, गुरु से अतीत नित्यगुरु की स्थिति क्यों नहीं प्राप्त होती? इसका भी कारण है आवरण। ब्रह्मरन्ध्ररूप चिदाकाश पर पड़ा आवरण इसका कारण है। प्रथम आवरण को साधक कर्मानुष्ठान से भंग करता है। द्वितीय आवरण की चित्त की एकाग्रतावर्धक उपासना द्वारा छिन्न करता है। तृतीय, चिदाकाश पर पड़े आवरण को शक्ति द्वारा भंग किया जाता है। इसके पश्चात् आवरण की सत्ता ही नहीं रहती। ये तीनों आवरण कुण्डलिनी के एक-एक वलय के समान हैं और आधा वलय है चिदाकाश एवं दहराकाश की सन्धि। यहाँ महाशक्ति की महाकृपा अपेक्षित है। इस सन्धि का सन्धान होता है

महाशक्ति की महाकृपा से। इस प्रकार कुण्डलिनी के साढ़े तीन वलयों का मर्मार्थ स्पष्ट हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह ज्ञात रखना चाहिये कि अखण्ड महायोग की समष्टिस्थिति चिदाकाश में जितनी सम्पुष्ट है, व्यष्टिअवस्था सम्प्रति उतनी सम्पुष्ट नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण है गुरुतत्त्व का यथार्थ तात्पर्य विस्मृत होता जा रहा है। गुरुतत्त्व की आधार शिला पर हो अखण्ड महायोग की व्यष्टि सत्ता का गठन ज्ञानगंज में किया गया था। अतः अन्तर्जगत् में प्रत्येक गुरुसत्ता की सम्यक् उपलब्धि करना चाहिये, इस उद्देश्य को लेकर इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। इसके प्रत्येक अध्येता के अन्तर्जगत् में गुरुतत्त्व के प्रति एकाग्रता का उन्मेष होगा। परिणामतः अखण्ड महायोग की पूर्णप्रतिष्ठा इस जगत् में हो सकेगी।

गुरुतत्त्व-दर्शन से ही 'सम्बोधि' हो सकना सम्भव है। 'सम्बोधि' कोई बाह्य व्यापार अथवा प्रक्रिया नहीं है। वह प्रत्येक की अपनी ही निधि है। प्रत्येक का स्वाधिकार है। उसे कहीं बाहर से लाकर आभ्यान्तर में आरोपित नहीं करना है। वह नित्य प्राप्त, सतत उद्भासित तथा हस्तामलकवत् है। इतने पर भी वह अत्यन्त दुर्लभ, दुष्प्राप्य तथा गहन है। व्यक्ति तथा सम्बोधि के मध्य में एक अन्तराल अथवा आच्छादन आ पड़ा है। जैसे जल में वारिपर्णी (सेवार) के आच्छादन के कारण उसमें कुछ परिलक्षित नहीं हो सकता, यहाँ भी वैसी ही स्थिति है। गुरुतत्त्व के सम्यक् अनुशीलन से यह आच्छादन हट जाता है अथवा अन्तराल विलीन हो जाता है। तदनन्तर सम्बोधि का स्वरूप उद्भासित हो उठता है।

●

गुरु-साक्षात्कार

अब गुरु-साक्षात्कार क्रम कहा जाता है। सर्वप्रथम गुरुध्यान एवं गुरुनमस्कार आवश्यक है—कारण गुरु चिन्ताजनित शक्ति से शक्तिमान हो जाने के पश्चात् सूक्ष्म उपासना मार्ग में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि यह ध्यान स्वरूपतः नित्य गुरु का ध्यान है, तथापि प्राथमिक स्थिति में बाह्य गुरु की आकृति का ध्यान करना चाहिये। इसे अनुलोम एवं विलोम, दो प्रकार से किया जाता है। गुरु के चरण प्रदेश से प्रारम्भ करते हुए (प्रत्येक अंग का क्रमशः ध्यान करते करते) ऊर्ध्व भाग पर्यन्त अन्तर्दृष्टि से देखना तथा स्वचित को उससे संलग्न करना चाहिये। इस प्रकार चरण प्रदेश से लेकर गुरु के शिखा प्रदेश पर्यन्त ध्यान करने से अनुलोम क्रम अनुष्ठित हो जाता है। यह ध्यान करना चाहिये, पूरक क्रिया के साथ अर्थात् श्वास लेते समय। तत्पश्चात् उनके मस्तक के ऊर्ध्वतम स्थान पर (शिखाप्रदेश पर) एकाग्र होकर (प्राण की कुम्भकावस्था में) श्रीगुरु के समस्त देह का अर्थात् शिखा प्रदेश से लेकर पादांगुष्ठ पर्यन्त का अखण्ड चिन्तन करना चाहिये। कुछ क्षण इस प्रकार ध्यान करने के पश्चात् विलोम चिन्तन की धारा प्रारम्भ होती है। इस प्रक्रिया में गुरु के शिखा प्रदेश से क्रमशः नीचे पादांगुष्ठ पर्यन्त उतरते-उतरते एक-एक अंग का चिन्तन करना कर्त्तव्य है—

यह ध्यान होता है रेचक स्थिति में अर्थात् श्वास बाहर छोड़ते समय। सर्वप्रथम पूरक, मध्य में कुम्भक, अन्त में रेचक। श्रीगुरुपादुका का चिन्तन करने के पश्चात् स्वयं को साष्टांग भावना में रखकर भावना द्वारा चरण में प्रणाम किया जाता है। यह है आत्मनिवेदन की प्रक्रिया। आत्मनिवेदन से गुरुसत्ता और गुरु-शक्ति साधक में आपूरित हो उठती है। अनुलोम ध्यान से लौकिक भेदात्मक भाव क्रमशः कटते जाते हैं और गुरु के शिरोदेश के ध्यान के समय, गुरुसत्ता के साथ अद्वैतावस्था की उपलब्धि होती है। कुम्भक के समय गुरु के सर्वांङ्ग स्वरूप का चिन्तन, पक्षान्तर से स्वरूपानुसन्धान रूप में परिणत होता है। अवरोह क्रम से विलोम चिन्तन के फलस्वरूप अभेदावस्था में भी एक अलौकिक द्वैतमय भेद का उन्मेष होने लगता है। इस स्थिति में शिष्य स्वयं की अक्षुरूप में और गुरु की महान् रूप में उपलब्धि करता है।

साष्टांग प्रणति का अर्थ है अपनी अणुरूपी सत्ता का गुरु की महत्तर सत्ता में विसर्जन। विसर्जन से साधक का आधार अहंकारशून्य हो जाता है, और गुरुसत्ता ही शुद्ध अहंरूप में (अप्राकृत स्वरूप में) साधक में कार्यशील हो जाती है।

साधना प्रकृत देह में नहीं होती। शुद्ध अथवा अप्राकृत देह बिना साधना सम्भव नहीं है। साधक की बाह्यदेह शुद्धदेह नहीं है। वह मायिक देह है। भावना

द्वारा उसे शुद्ध किया जाता है। मायिक देह चाहे कितने ही उच्चस्तर की क्यों न हो, वह मायिक ही रहती है। निम्नस्तर से लेकर ऊर्ध्वस्तर पर्यन्त (मायिक देह में) सत्वगुण का उत्कर्ष रहने पर भी उसमें विशुद्ध सत्व का अभाव ही रहता है। प्रकृत उपासना मायिक देह में नहीं हो सकती। जब तक उपास्य और उपासक एक भूमि में आरूढ़ नहीं होते तब तक प्रकृत उपासना असम्भव है। उपास्य का रूप अप्राकृत रूप है। उसके उपासक का रूप भी अप्राकृत होना आवश्यक है। अप्राकृत शुद्धसत्व का नामान्तर है बिन्दु। बिन्दु में देवता की इष्टदेह कल्पित होती है। बिन्दु कुण्डलिनी का नामान्तर है। इष्टदेह कुण्डलिनी से उद्भूत है, किन्तु साधक की देह कुण्डलिनी से प्रसवित नहीं है। वह माया से उद्भूत होती है। साधक की देह के उपादानस्थ मायिक सत्व की पृष्ठभूमि में बिन्दु अथवा शुद्ध सत्व अवस्थित है, तथापि वह निष्क्रिय शुद्ध सत्त्वरूप है। इस निष्क्रिय बिन्दु को निद्रित कुण्डलिनी की संज्ञा दी जाती है।

सद्गुरु से कृपाकटाक्ष से बिन्दु कम्पित होता है, अर्थात् कुण्डलिनी जाग्रत् हो उठती है। उसमें स्पन्द का प्रादुर्भाव होने लगता है। यह कुण्डलिनी की अनादि निद्रा है। इस निद्रा को आदि में स्वीकार करने से, यह मानना पड़ेगा कि इस निद्रा की आदि के पहले कुण्डलिनी जागृत थी, अतः इसे अनादि ही मानना होगा। यह द्वैत सिद्धान्तानुसरण में मान्य परम्परा है। अद्वैत दृष्टि से अनादि निद्रा का प्रश्न ही उत्थित नहीं होता। कृपाशक्ति का अर्थ है, चित्शक्ति, किन्तु बिन्दु या शुद्धसत्त्व मायातीत होने पर भी चित्शक्ति स्वरूप नहीं है। वह है शुद्ध अचित स्वरूप। बिन्दु शुद्ध सृष्टि का उपादान है। गुरुशक्ति साधक के बिन्दु से संचरित होकर बिन्दु को कम्पित करती है और नाद एवं ज्योति की सृष्टि होती है। इन दोनों का आश्रय लेकर साधक की शुद्धदेह और उसके इष्ट की शुद्धदेह एकीभूत हो जाती है। साधक का अवस्थान ही साध्य की सत्ता का द्योतक है (अर्थात् यदि साधक है, उस स्थिति में साध्य कहीं न कहीं अवश्यमेव रहता है)। साधक और इष्ट के अनन्त रूप हैं। उनके पारस्परिक अनन्त सम्बन्धों की भी विद्यमानता है। ये समस्त सम्बन्ध हैं, भावमय सम्बन्ध। साधक का जो भाव रहता है उसी का आपूरक इष्ट भाव भी विद्यमान रहता है। जैसे तृष्णा के साथ जल का नित्य सम्बन्ध है, यह भी उसी प्रकार की स्थिति का द्योतक है। दोनों भावों के पारस्परिक योग से ही पूर्णता प्राप्त होती है। यह पारस्परिक योग है, इष्टभाव। भाव जगत् में साधक है शिशु अथवा सन्तान। उसका इष्ट है माता-पिता या इसी प्रकार भाव संश्लिष्ट भावमय सत्व। प्रत्येक भाव में इसी प्रकार की प्रक्रिया विद्यमान है। साधक एवं साध्य एक ही भूमि पर अवस्थान करते हैं।

दीक्षा अथवा बिना दीक्षा द्वारा जिस किसी प्रकार से भगवदानुग्रह क्रियाशील हो सकता है। इसकी क्रियाशीलता से कुण्डलिनी जागृत होती है और शुद्धदेह प्रकट हो उठती है। कभी इष्टदेह की प्रारम्भिक अवस्था में ही अनुभूति होने लगती है। कभी-कभी पहले शुद्धदेह की अनुभूति, तत्पश्चात् इष्टदेह का अविर्भाव होता है। सत्य

यह है कि दोनों देहों का अविर्भाव होता है एक साथ। इस अभिव्यक्ति में कार्य करता है कालगत अग्रपश्चात् भाव। साधक की साधना का तात्पर्य है, इस अव्यक्त भाव का व्यक्तीकरण। गुरु, दीक्षा अथवा अनुग्रह द्वारा इस आवरण को हटा देते हैं। साधारण-तया साधक अपनी स्वकीय साधना द्वारा इस आवरण को हटाने में असमर्थ रहता है। मूल आवरण अपसारित होता है गुरु की कृपा से। बुद्धि का आवरण कृपा द्वारा अपसारित नहीं होता। यह उपासना द्वारा ही समाप्त होता है। इस कारण बुद्धि का आवरण अपसारित न होने तक, साधक में अनुभूति का जन्म असम्भव है। शब्द और अर्थ, एक ही सत्ता की दो दिशायें हैं। बुद्धि और बुद्धि का विषय भी मूलतः एक ही है। जपादि द्वारा अथवा ध्यानादि द्वारा प्राप्त अग्रगामी गति से वाच्य अर्थ की दिशा से अथवा ध्येय अर्थ की दिशा से आवरण हट जाता है। आवरण हटने से इष्ट अनावृत्त भाव से साधक की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख प्रकाशित हो जाते हैं। यह है मन्त्र का देवता रूप से साक्षात्कार अथवा ध्यान के ध्येय रूप का आत्मप्रकाश।

इष्टरूप गुरु

इष्टमूर्ति की उपासना सन्निहित अवस्था में होती है। साधक और इष्ट की परस्पर अभिमुख अवस्था में इष्ट के साथ साधक का व्यवहार प्रारम्भ हो सकता है। आविर्भाव के पश्चात् इष्ट को सन्निहित करने के लिए चेष्टा आवश्यक है। सान्निध्य के पश्चात् पूजा का सूत्रपात होता है। व्यवधान कटने पर ही पूजा सम्भव है।

इष्ट की स्वयं में सन्निहितता की भावना आवश्यक है। चित्त की वृत्ति एकाग्र हो जाने पर, दृष्टि के सम्मुख ध्येय विषयातिरिक्त अन्य पदार्थ भासित नहीं होते। उस समय एकमात्र ध्येय विषय ही अति उज्ज्वलता से प्रकाशित हो जाता है। चतुर्दिक् और किसी की सत्ता न रहने के कारण यह शून्य का ही प्रकाश है। शून्य ही आकाश- रूप से वर्णित है। यह शून्य हृदयाकाश है, कारण इस स्थिति में बाह्यकाश की कोई सत्ता नहीं रहती। बाह्यकाश में वायु संस्पर्श के कारण, ध्येय वस्तु के साथ तद्भिन्न अन्य अनेक वस्तुओं का रूप मिश्रित रहता है। हृदयाकाश में ध्येय से भिन्न अन्य किसी दृश्य पदार्थ की स्थिति नहीं होती। इसका रहस्य यह है कि चित्त की एकाग्रता बिना हृदयप्रवेश असम्भव है। इस स्थिति में वायु स्तम्भित रहती है। एकमात्र ध्येय वस्तु की उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप से दृष्टि के साथ समसूत्रता से अवस्थित प्रतीत होती है। इसी स्वच्छ आलोक से हृदयाकाश आलोकित है। यह आकाश, वस्तुतः हृदय-कमल की कर्णिका के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। 'इसी आकाश में इष्ट देवता समासीन हैं', इस प्रकार की भावना करना आवश्यक है। आन्तरिक पूजन में प्रयोजना-नुसार उनके उपविष्ट रूप की भावना की जाती है (अवस्थाविशेष में अन्य प्रकार की भी भावना हो सकती है)। इस स्थिति में साधक की दृष्टि इष्ट देवता की दृष्टि के साथ युक्त करनी चाहिये। दृष्टि से परस्पर भावानुप्रवेश सम्भव होता है।

पारस्परिक दृष्टि सम्मिलित के प्रकाश में इष्ट की मुखच्छवि स्मित हास्य से सुशोभित और प्रसन्नता से युक्त रहती है। ये इष्ट महाइष्टरूप हैं। ये समग्र विश्व के इष्ट हैं। इनके रोमकूपों में अनन्त ब्रह्माण्डों की स्थिति समन्वित है, इस प्रकार की भावना करनी चाहिये। समग्र विश्व इनका देहस्वरूप है। अधोलोक (पाताल) में निम्नस्थ निरयहृद और कालाग्नि भुवन से लेकर ऊर्ध्वलोक या ब्रह्मलोक (पाताल) में निम्नस्थ निरयहृद और कालाग्नि भुवन से लेकर ऊर्ध्वलोक या ब्रह्मलोक पर्यन्त, यहाँ तक कि मायातीत स्तर समूहों में शिखरस्थ शिवव्योम पर्यन्त यह जगत् इन इष्टरूप गुरुमूर्ति के शरीर में, पादांगुष्ठ से लेकर शिखास्थान पर्यन्त विराजित है। इनकी मूर्ति विशुद्ध सत्वमय और चिदानन्द से उच्छलित मूर्ति है।

इनका मूल रूप है मातृरूप अथवा विश्वजननीरूप से अभिन्न। ये स्वयं ही चैतन्यमयी चितिशक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति की सम्मिलित मूर्ति हैं। साधक इनकी ही सन्तान है, इनसे ही आविर्भूत है। इनकी स्थिति में ही स्थित है। इनकी ही शक्ति से साधक की शक्तिमत्ता स्फुरित होती है।

गुरुपूजन

आविर्भाव के पश्चात् उपचार द्वारा इष्टमूर्ति की सेवा करनी चाहिये। अप्रकट देवता की पूजा नहीं होती। प्रकट होते ही पूजा की आवश्यकता है। पूजा पञ्चविध उपचारों से होती है। उपचार का अर्थ है, अपने स्थल स्वरूप के बाह्य प्रतीक का निवेदन। गन्ध पृथ्वी तत्त्व का, पुष्प आकाश तत्त्व का, धूप वायुतत्त्व का द्योतक है। दीप से तेजतत्त्व और नैवेद्य से जलतत्त्व का तात्पर्य ध्वनित होता है।

इन पञ्चतत्त्वों से साधक की स्थूल देह गठित है। पञ्चतत्त्व से गठित देह एवं वस्तु में ही—'मैं' और 'मेरा' भाव का उदय होता है। पञ्चोपचारार्पण से साधक की अहंता और ममता (अभिमान आलम्बन स्वरूप) सब कुछ इष्टार्पित हो जाती है। यह मात्र देह का ही नहीं अपितु देह के साथ संसृष्ट समस्त जगत् का निवेदन है। निवेदन का फल है, इन सभी का चिदानन्दमय स्वरूप में एकीभूत होना। इस एकीकरण से चिदानन्दमय रूप की प्राप्ति होती है। इष्ट के आशीर्वाद से स्थूल सत्ता चिदानन्दमय रूप से साधक के पास लौट आती है। इस प्रक्रिया से साधक की देह और भी अधिक शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार साधक का सूक्ष्म शरीर भी (इष्ट को अर्पित होकर) पूर्ववत् चिदानन्दमय अवस्था प्राप्त करता है। वह इष्ट देवता के आशीर्वाद से शुद्ध होकर साधक के पास लौट आता है। इस उपचाररूपी पूजा द्वारा साधक की देह एवं चित्त शुद्ध होते हैं। उनमें अलौकिक आपेक्षित उत्कर्ष सम्पादित होता है। यह है गुरुदत्त काया से बुद्धिकल्पित आवरण का अपसारण मा त्र। कारण, साधक गुरुकृपा से दीक्षाकाल में ही अपने इष्ट के अनुरूप शुद्ध एवं निर्मल देह सम्पन्न हो चुका है। अतः यह बुद्धि का आवरणभेद मात्र है। दीक्षाकाल में निर्मल देह की प्राप्ति हो जाने से इष्टसेवा सम्भव होती है।

साधक एवं इष्ट, दोनों ही शुद्ध रूप होते हैं। जैसे साधक का अभाव समाप्त होता है इष्ट द्वारा, उसी प्रकार इष्ट का भी अभाव साधक द्वारा ही पूर्ण होता है। इन दोनों का मिलन होने पर साधक की दुर्बलता कट जाती है और उसमें बलाधान सम्पादित होता है। यही इष्ट की सार्थकता है। इस स्थिति में साधक इष्ट की प्राप्ति करता है, अपने से अभिन्न रूप में। यह प्राप्ति योगात्मक प्राप्ति है। एक बार योगप्राप्ति के पश्चात् वियोग का सर्वदा के लिए अवसान हो जाता है।

इष्ट के साथ साधक का सम्बन्ध स्थापित होने में तीन अवस्थायें भावराज्यान्र्तत उपलब्ध होती हैं। प्रथम अवस्था में भावदृष्टि से साधक स्वयं को लघु और इष्ट को महान् रूप में उपलब्धि करता है। त्वं के प्रति 'अहं' का यह भावविकास ही भक्ति है। 'मैं तुम्हें मातृरूप में, पिता, गुरु और प्रभुरूप में भजता हूँ'। तत्पश्चात् द्वितीयावस्था में 'मैं' इतना लघु नहीं रहता और न इष्ट ही उतना महान् रह जाता है। दोनों की समरसत्ता उपलब्ध होती है। इस अवस्था में जिस भाव का विकास होता है, वह है सख्य, प्रीति इत्यादि। इस स्थिति में साधक और इष्ट के मध्य व्यवधान नहीं रहता। 'मैं' प्रविष्ट होता है 'तुम' में और 'तुम' भी 'मैं' में शान्ति-लाभ करता है। अर्थात् साधक इष्ट में अनुप्रवेश करते हैं और इष्ट भी साधक में अनुप्रवेश करते हैं। इसके पश्चात् पारस्परिक अनुप्रवेश के फलस्वरूप एक उच्छ्वास जागृत होता है। और एक उद्वेलित अवस्था का उदय प्रारम्भ हो जाता है। अब दोनों का मिलन एक फल में प्रसृत होता है। यह मिलन-फल है, एक रूपमयी सत्ता। यह रूप 'मैं' और 'तुम' से मिलन- फल से प्रसृत है, अतएव इसका प्रकाशन होता है 'मैं' और 'तुम' से निम्नस्तरीय क्षेत्र में। यह भाव प्रकाशित होता है। वात्सल्य रूप में। कोई-कोई, इसे करुणा भी कहते हैं। गुरु, माता-पिता, स्वामी, प्रभृति जिस स्नेह दृष्टि से सन्तान, शिष्य अथवा आश्रित को देखते हैं, यह वही दृष्टि है। इसके फलस्वरूप इस वात्सल्य का पात्र विश्वरूप सन्तान, शिष्य, या आश्रित भीतर प्रवेश करता है। इस स्थिति में 'मैं' अब खण्ड 'मैं' नहीं रह जाता।

यह खण्ड 'मैं' सब की महासमष्टि रूप 'महाआमित्व् रूप मैं' का रूप धारण करता है। इससे पूर्व जो सन्तान था या मातृस्नेह का अधिकारी हुआ था, वह स्वयं ही मातृरूप में परिणत होने लगता है। इस मातृरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। सखी इसके गर्भान्तर्गत हैं। यही है, प्रकृत महाप्रलय की दशा। इस अवस्था में अनन्त भी एक के गर्भ में प्रतीत होता है। इस गर्भस्थ आभास को अपनी सत्ता के साथ अभेदरूप में रख कर 'माँ' इसका लालन-पालन करती है। किसी महाक्षण में यह गर्भगत आभास निराभास महाचैतन्य रूप में स्थिति-लाभ करता है। अर्थात् माँ सन्तान को प्राप्त करने के पश्चात् पिता (विश्वगुरु) परमशिव के स्थान पर उपविष्ट होती हैं।

सन्तान-भाव में समस्त विश्व एवं अनन्त अन्तर्भुक्त रहता है। मातृभाव में समस्त शक्ति एवं समस्त विश्व उनमें निहित हो जाता है। इसके पश्चात् जब सन्तान

एवं माँ दोनों ही नहीं हैं, तब दोनों मूल स्थान में या विश्वपिता में (परमगुरु स्थान में) एकीभूत रहते हैं। भावराज्य की स्थिति यहाँ तक है। महाभाव भावराज्य की परिसमाप्ति है। इसके पश्चात् भावाभीत परावस्था का उदय होता है।

प्रणाम से ऊर्ध्वारोहण

बाह्य इष्ट की पूजा का अवसान बिन्दु है, साष्टांग प्रणाम। यह है बाह्य साकार भाव का अवसान और निराकार में प्रवेश। इस स्थिति में साधक और इष्ट परस्पर अभिन्नतया प्रतिष्ठापित रहते हैं। इस अभिन्न भाव में निर्गुण विश्वगुरु भाव का सर्वप्रथम परिस्फुटन होता है। साष्टांग प्रणाम के पश्चात् प्रकृत उपासना प्रारम्भ होती है। मूलाधार से आज्ञाचक्र और कलामय अवस्था रहती है, अन्तर इष्ट पूजा का यही क्षेत्र है। आज्ञाचक्रभेदन के साथ-साथ निष्कल अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। एकाग्र भूमि से निरोध भूमि में प्रवेश, इसी का नामन्तर है। यद्यपि यहाँ तक कलामय दशा का अवसान हो जाता है, तथापि उसका किंचित् परिमाण में संस्कार अंकित रह जाता है। अतएव यह ऊर्ध्वपथ पूर्णतया विशुद्ध निष्कल पथ नहीं है। यहाँ भी दोनों का मिश्रण है। एकाग्र भूमि के पश्चात् निरोध भूमि का सूत्रपात निष्कल का उन्मेष होने के साथ-साथ अनुभूति में आने लगता है।

एकाग्र भूमि में (भ्रूमध्य में) समग्र मन की उपलब्धि होती है। यह विकर्ण मन नही अपितु संहृत मन है। सब विक्षिप्त भाव शेष नहीं रहता और एकाग्र भाव की उपलब्धि होने लगती है। ध्येयवस्तु की आकृति एवं भाव को लेकर मन ही प्रकाशित होता है। यह प्रकाश है, ज्ञान या प्रज्ञा का स्वरूप। यह भी मन की ही वृत्ति रूप से परिगणित है। मन की वृत्ति होने पर भी मन आलम्बन एकीकृत रहने के कारण उसमें विक्षेप परिलक्षित नहीं होता। जैसे अनन्त महाकाश में एक ही सूर्य दृष्ट होता है यह भी वैसी ही अनुभूति कही जाती है। गुरुशक्ति के प्रभाव से, यह अवस्था भी (आज्ञाचक्र के भेद के साथ-साथ) अतिक्रान्ति हो जाती है। तत्पश्चात् एकमात्र मन भंग होकर अर्ध भाग में परिणत हो जाता है। यह है मन से अतीत भूमि में संक्रमण की प्रथम सूचना। मन्त्र एवं मन अभिन्न हैं। मन्त्र एवं इष्टदेवता भी अभिन्न है। अब एकाग्र मन भंग होकर भग्नांश में परिणत होता है, अर्थात् मन का विकास सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्रम की ओर गतिशील होने लगता है।

इस स्थिति में इष्ट देवता के स्वरूप से निर्गुण गुरुस्वरूप का प्रकाश दृष्टिगत होने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इष्ट देवता गुरु से अभिन्न हैं। सगुण साकार में निर्गुण निराकार अवस्था स्फुट होने लगती है। इस अवस्था को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से अतीत तुरीयावस्था की सूचना कहते हैं। यह काल से कालातीत भूमि में संचार की द्योतिका स्थिति भी है। भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र के मध्यबिन्दु में, समग्र मन में, काल का पूर्ण प्रकाश होता है। बाह्य जगत् में प्रतीयमान अतीत अनागत वर्तमान

रूप काल भी मन एकाग्र होने पर मात्र वर्तमानरूपेण प्रकाशित होता है। अतीत और अनागत की कोई पृथक् सत्ता शेष नहीं रहती। अनिरुद्ध प्रकाश वर्तमान में, अपनी वर्तमानमयी सत्ता के साथ प्रकाशित होता है। काल-देश भी पृथक्वत् नहीं रह जाता। देशगत अनन्त व्यवधान, दूर-दूरान्तर भाव समाप्त हो जाता है। आज्ञा की अन्तस्थ प्रज्ञा के आलोक में अनन्त काल, नित्यवर्तमान में सन्निहित रूप से प्रकाशित होते हैं।

इस स्तर में इष्ट भी मात्र विश्व का प्रतीक नहीं रह जाता। अपितु वह विश्वाधारभूत अनन्त देश एवं अनन्तकाल का प्रतीक हो जाता है। अब एक प्रकार से साधक विश्वकेन्द्र में उपस्थित है। आज्ञाचक्र का मध्यबिन्दु जगत् का केन्द्र है। कारण, यहीं से विश्व का नियन्त्रण होता है। इष्टपूजा की परिसमाप्ति हो जाने पर इस विश्व केन्द्र में इष्टसत्ता बल-लाभ कर स्थिति प्राप्त करती है। यह है, आगतिक ऐश्वर्य का परमाश्रय स्थल।

उच्चस्थिति होने पर भी, यह यात्रा का अवसान नहीं है। विश्व का अतिक्रमण करना ही होगा। उद्देश्य है, मन की एकमात्रा को भंग करने के पश्चात् अर्धमात्र में क्रमप्रवेश। गुरु स्वरूपतः निर्गुण निराकार है। अथच इष्ट संयोग से, अभिन्न दृष्टि से वे ही हैं सगुण एवं साकार। सर्वप्रथम जिन गुरु का दर्शन होता है, वह है सगुण साकार गुरु-दर्शन। तत्पश्चात् गुरुकृपालब्ध मन्त्र या इष्ट का स्फुरण करना आवश्यक कर्त्तव्य है। फलतः मूढ़, क्षिप्त एवं विक्षिप्त अवस्था से मन की एकाग्रावस्था में उन्नति होती है। साथ ही प्रज्ञालोक का उद्भासन होता है। यही है इष्ट साक्षात्कर। इस अवस्था में मन्त्र दर्शन, मन्त्र एवं देवता से अभिन्नता और मन की एकाग्रता की अनुभूति होती है। तत्पश्चात् यात्रा प्रारम्भ होती है निर्गुण गुरुस्वरूप की ओर। यह षट्चक्रातीत पथ है। दिव्य अनुभूति का पथ है। ऊर्ध्व दृष्टि से शुद्ध चैतन्य का आवरक है, मन। जागतिक दृष्टि से मन में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही है वृत्तिज्ञान का आश्रय। विक्षिप्त अवस्था में तथा एकाग्र अवस्था में यही नियमानुवर्त्तिता प्रयुक्त होती है। विशुद्ध चैतन्यानुभति है, दिव्य अनुभूति। इसके लिए मन की परिसीमा को पार करना पड़ता है। अब दो अवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। मन को भग्न करते-करते सूक्ष्मातिसूक्ष्म करना पड़ता है। जिस परिमाण में मन की मात्रा कम होती जाती है उसी अनुपात में दिव्य चैतन्य की मात्रा अधिकाधिक होती जाती है।

द्वितीय साष्टांग इसी का नामान्तर है। इसके पश्चात् जो स्थिति प्राप्त होती है, वही बिन्दुस्थिति कही जाती है। बिन्दुस्थिति में मन की मात्रा होती हैं—अर्धमात्रा। अर्धमात्रा मन में विशुद्ध चैतन्य का प्रकाश (इष्ट साक्षात्कार तथा एकाग्रभूमि से) अधिक होता है।

यह मार्ग है नादमय। अर्धमात्रा या बिन्दु भूमि से ही इसका सूत्रपात होता है। भ्रूमध्य ऊर्ध्वदिक् पर्यन्त यह मार्ग प्रसारित है। यह पथ अग्रसर है, उन्मनी पर्यन्त।

स्थूल काल इस साकार जगत् पर आच्छन्न है। विक्षिप्त एवं एकाग्र अवस्था स्थूल काल के साथ संसृष्ट रहती है। निरोध मार्ग में स्थूल काल कार्यशील नहीं रहता, अपितु, वहाँ सूक्ष्म काल की कार्यशीलता व्याप्त रहती है। जहाँ मन है, वहीं काल है। मन भग्न होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ, तदनुकूल परिमाण में काल भी सूक्ष्म होता जाता है। नाद की क्रमिक अग्रगति से यह प्रक्रिया घटित होती है। नव नाद पर्यन्त (9 स्तर पर्यन्त) इसी प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है। उन्मनी पद पर पहुँचने के पश्चात् काल शेष नहीं रहता। समना पर्यन्त ही काल के सूक्ष्मतम परमाणु परिलक्षित होते हैं। एकाग्र भूमि में काल की मात्रा है—11। यह उसके 512 भाग का एक भाग है। वस्तुतः मन, काल, नाद, एक साथ ही शेष होते हैं। यह साध्य होता है, गुरु की अहैतुकी महाकृपा से वास्तव में ये निःशेष नहीं होते, इन्हें निःशेष करना होता है। जहाँ मन का बल समाप्तप्रायः है, वहीं मन भंग करने की प्रक्रिया की परिसमाप्ति भी है। वैसे भग्न करने की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक भी चल सकती है। इसका कहीं अवसान भी नहीं दिखता। यह है, चिदानन्दमयी योगमाया का राज्य; जो नित्य चिदालोक से आलोकित है। इस भूमि में भग्नाकार मन्त्र का किंचित् आभास शेष रह जाता है। उज्ज्वल चैतन्य प्रकाशमान होता है। यह अनन्त है—पूर्णता की ओर गतिशील—किन्तु पूर्ण नहीं है। योगमाया का अधिकार है, शुद्ध मनोराज्य पर्यन्त। उन्मनी में विशुद्ध निष्कल पद प्रकाशित रहता है। यह है श्रीगुरु का परमस्वरूप, निर्गुण एवं निराकार। यह मन से अतीत स्थिति। इसी भूमिका में आत्मसाक्षात्कार होता है। गुरु स्थान पर्यन्त गति न होने से, आत्मा का संकेत कौन देगा? यहाँ भी साष्टांग प्रणाम आवश्यक है, यह है, तृतीय और चरण प्रणाम इसके पश्चात् स्वरूपावस्थान हो जाता है।

आत्मा ही आत्मस्वरूप एवं अखण्ड पूर्ण सत्ता है। यह सगुण साकार तथा निर्गुण दोनों से अतीत है। साथ ही यह है सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सक्रिय-निष्क्रिय एवं सत्-असत। एक साथ सर्वमय।

जब तक पथ का आश्रय है, तब तक यह सब भावनामय क्रीड़ा होती रहती है। भावना से अतीत स्थिति को बुद्धि द्वारा पाना असम्भव है। अधरा को कौन पकड़ेगा, यदि वे स्वयं दया न करे, सर्वत्र एक क्रम की व्याप्ति रहती है। क्रम की व्याप्ति रहने पर भी, वास्तव में सब कुछ क्रम बन्धनमुक्त है, कारण किसी भी क्षण वह अक्रम सत्ता प्रस्फुटित हो सकती है।

निष्कल की प्रथम सूचना है, बिन्दु में। पूर्ण निष्कलमहाबिन्दु। यह है; अखण्ड का आसन। कारण अखण्ड ही सर्वमय और पूर्णसत्ता है।

●

ज्योति-दर्शन

सर्वप्रथम ज्योति-दर्शन का अभ्यास आवश्यक है। यह ज्योति शुद्ध ज्योति है, सांसारिक प्रकाश से सर्वथा भिन्न है। नवोदित सूर्य अथवा अन्य प्रकाश का अनुभव अपने ललाटस्थ प्रदेश में आवश्यक है। अखण्डमण्डलाकार, स्निग्ध शुद्ध ज्योति की भ्रूमध्य में चिन्तना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पितरूप से कल्पित ज्योति का चिन्तनमात्र है। सिद्धगुरु के शक्तिपात से, संयुक्त मन्त्र की रूप क्रिया से अथवा ध्यान प्रभाव से स्वतः स्फूर्त ज्योति का चिन्तन उत्तम साधन के रूप में परिगणित है। इसके अभाव में कल्पना द्वारा ज्योति चिन्तना करनी चाहिये। षट्चक्र से ऊर्ध्व में उठते ही भ्रूमध्यस्थ विशुद्ध ज्योतित स्थिति प्राप्त होती है। यह एकाग्र भूमि है, यह उपासना का शेष लक्ष्य भी है। इस स्थिति में ज्ञानोन्मेष की सूचना मिलती है। यह प्रज्ञाज्योति दिव्य चक्षु की संज्ञा से अभिहित है। स्वभाव से स्वतःस्फूर्त ज्योति को सर्वोत्तम ज्योति कहा जाता है। जप के द्वारा तथा मनन के द्वारा अन्तराकाश में इस ज्योति का उदय होता है। इस स्थिति में वैखरीवाक् नादभूमि में विकास प्राप्त कर प्रकाशरूप में परिणत होती है। अन्तराकाश चिदालोक से आलोकित हो उठता है। इसे कुलकुण्डलिनी की स्फुरणमयी स्थिति भी कहते हैं।

उपरोक्त ज्योति की प्राप्ति अत्यावश्यक है। यह भ्रूमध्य में आयत्त होती है। स्वाभाविक उपाय से समुदित न होने पर कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। कल्पना से भी फल की प्राप्ति होती है। ज्योति-दर्शन प्राथमिक अवस्था है, जब ऊर्ध्वसत्ता ज्योति के साथ अंगीभूत हो जाती है, उस स्थिति में क्रमशः चिदाकाश प्रकाशित होने लगता है। जो जप द्वारा ज्योति की प्राप्ति नहीं करते, वे मनन (नवोदित सूर्य ध्यान) के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। भ्रूमध्य में ज्योति की प्राप्ति का अर्थ है—अत्युच्च स्थिति प्राप्ति। इस अवस्था में वैखरी प्राणी (अ-आ इत्यादि शब्द समूह) की स्थिति निःशेष हो जाती है, अतः देहात्मबोध भी समाप्त हो जाता है। व्यावहारिक स्थिति में देहात्मबोध का आश्रय लेकर समस्त कार्य होते हैं। भ्रूमध्य में ज्योति की प्रतिष्ठा होते ही देहात्मबोध की समाप्ति के साथ-साथ इड़ा-पिंगला की क्रिया सरलभाव में परिणत हो जाती है। सुषुम्ना की गति ऊर्ध्वगामिनी होने लगती है। द्रष्टा (साधक) दह को भूल जाता है। वह ज्योति में अपने स्वरूप को देखता है। वह उपलब्ध करता है कि यही मेरा स्वरूप है। ज्योति में अपने से लेकर समस्त शरीर का प्रकाशन होता है और यही आत्म-दर्शन।

इसके पश्चात् इस स्वरूप में अन्तःप्रवेश होता है। इस अवस्था में समस्त विश्व साधक के समक्ष स्फुरित होने लगता है। समस्त विश्व अनन्तरूप से सम्पन्न होने पर भी साकार है। आत्मदर्शन में विश्वदर्शन की पूर्णता सन्निहित है।

विश्वदर्शन के पश्चात् उच्च साधक विश्वातीत अवस्था में उपनीत होते हैं। इस स्थिति में विश्वदर्शन भी निःशेष हो जाता है। इस भूमि में जो दर्शन होता है, 'वह है निजस्वरूप दर्शन।' पूर्ण स्वरूप दर्शन का अर्थ है, स्वयं की प्रकाश स्वरूपता। अब साकार और निराकार का भेद अस्तमित हो जाता है। इस दर्शन का तात्पर्य है, स्वयंप्रकाश चैतन्य का आत्मसाक्षात्कार। यह कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह है स्वयं की स्वयं प्रकाशावस्था। इस ब्रह्मस्वरूप का कोई वर्णन सम्भव नहीं है।

इसे सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप कहते हैं। अतएव पूर्ण आत्मदर्शन को साकार एवं निराकार, दोनों कहा जा सकता है। दिव्यचक्षु से (भ्रूमध्यस्थ चैतन्य ज्योति से) समग्र विश्व का निजान्तर्गत दर्शन सम्भावित है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले की अवस्था कही जाती है। इस स्थिति में साधक को साधारण निजबोध नहीं रहता। स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप में अनन्त देशकाल एवं शक्ति की क्रिया विद्यमान रहती है। दूसरी ओर शक्ति का संकोच करने पर कुछ भी नहीं रहता, मात्र एक स्वयंप्रकाश सत्ता अवशिष्ट रह जाती है। यह है आत्मा, ब्रह्म, परमगुरु। इस भूमि में साकार-निराकार का प्रश्न ही नहीं उठता, कारण यह कल्पनातीत स्थिति है।

●

कुण्डलिनी तथा बिन्दु

कुण्डलिनी शक्ति है। इसका नामान्तर है बिन्दु। इसे चिदाकाश भी कहते हैं। यह परमेश्वर की महामायारूपी शक्ति है। परमेश्वर (परमशिव) चित्स्वरूप हैं। इनकी दो शक्तियाँ हैं। प्रथम शक्ति का नाम है चिद्रूपी शक्ति, द्वितीय है अचिद्रूपी शक्ति। चिद्रूपी शक्ति को चिद्शक्ति कहते हैं। यह परमेश्वर से अभिन्न है। इसी का नाम है स्वरूपशक्ति।

बिन्दुरूपी शक्ति भी परमेश्वर की शक्ति है, तथा यह अचित् शक्ति है। यह बिन्दुशक्ति माया के मल से मलिन नहीं है। बिन्दुशक्ति ही परिग्रह शक्ति है। माया एवं महामाया में कुछ भेद है। माया है मलिन जगत् की उपादानस्वरूपा। महामाया अथवा बिन्दु का नामान्तर है कुण्डलिनी शक्ति। कुण्डलिनी शुद्ध माया की उपादानस्वरूपा है। परमेश्वर के अन्तःसंकल्प से शुद्ध जगत् आविर्भूत होता है। शुद्ध जगत् जड़ ही है, किन्तु शुद्ध जगत् पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। मायारूपी अशुद्ध शक्ति पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव रहता है। परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाववशात् कुण्डलिनी परिणाम प्राप्त करती है। माया, ईश्वराधीन है। यह मायिक जगत् की उपादानस्वरूपा है। ईश्वरतत्त्व अविकल्प ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करते हैं, माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत् के कार्यक्रम में परिणत होती है।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर के ज्ञान के प्रभाव से बिन्दु क्षुब्ध होकर जगत् के आविर्भाव का सूचक होता है। बिन्दु परिग्रहशक्ति है, अतः यह उपादानस्वरूप है। चित्शक्ति कर्मवाहिनी शक्ति है। यह चिदात्मकशक्ति से अभिन्न है। शुद्ध जगत् के आदिबिन्दु के ऊपर तक शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शिव एवं शक्ति की स्थिति है। बिन्दु (कुण्डलिनी) शुद्ध शक्ति है। यह निर्मल देह की उपादान है। माया मलिन देह की उपादानस्वरूपा है। शुद्ध देह का नामान्तर है वैन्दव देह। परमेश्वरानुग्रह से बिन्दु ज्योतिस्वरूप देहाकृति में परिणत होता है। इसका नाम ज्ञानदेह भी है। यह परमेश्वर की कृपा से सम्भावित है। कुण्डलिनी शक्ति अथवा चिदाकाश-महामाया का नामान्तर है। दीक्षा प्राप्ति के अनन्तर शिष्य वैन्दव देह की प्राप्ति करता है। यह दो स्थितियों में सम्भव है। प्रथमतः महाप्रलय काल में जगत् ध्वंस होने पर, मलपाक पूर्णतः होने पर, परमेश्वर की कृपा से वैन्दव देह का संयुक्तीकरण होता है। मूलाधार चक्र की कमल रूप में जागृति होने पर उसमें 4 दलों की उपलब्धि होती है। उसके

ऊपर स्वाधिष्ठान में 6 मातृकाओं का विकास परिलक्षित होता है। मणिपूर में 10 मातृकाओं का एवं अनाहात में द्वादशदलरूपी 12 मातृकाओं का विकास अनुभूत होता है। विशुद्ध चक्र में 16 मातृकायें एवं आज्ञाचक्र में 2 मातृकायें कमलदल रूप में विकसित होती हैं। समष्टिगत ये 50 मातृकायें हैं।

आज्ञाचक्र के द्विदल में दो वर्णों की स्थिति है। इसके अतिरिक्त उसके इस पार 'ह'कार है और उस पार (नीचे) 'स'कार विद्यमान है। 'ह'कार बिन्दुयुक्त है। मूलाधारस्थ चतुर्दल कमल के सर्वनिम्न प्रदेश में विसर्गयुक्त 'सः'कार अवस्थित है, योगी को यह 'सोऽहं'रूपेण अनुभूत होता है। अजपा सिद्ध इस रहस्य को जानते हैं। शरीर में 72000 नाड़ियों की स्थिति है। मुख्य नाड़ियाँ 3 हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इड़ा वाममार्गिणी है और पिंगला दक्षिणमार्गिणी। इनकी गति सरल नहीं होती। इन्हीं दोनों का आश्रय लेकर श्वास-प्रश्वास चलती है। यह देह कुण्डलिनी से प्रसृत है। मायिक देह में मलपाक होने के पश्चात् वैन्दव देह की प्राप्ति होती है।

प्रलयकालीन एवं सृष्टिकालीन स्थिति में भेद विद्यमान है। प्रलयकाल में परमेश्वर की कृपा से मलपाक होने पर एकमात्र वैन्दव देह की ही प्राप्ति होती है, किन्तु सृष्टि-काल में मलपाक होने से मायिक देह के साथ-साथ वैन्दव शरीर प्राप्त होता है। दोनों परस्पर संयुक्त हो जाते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति मूलधार में सुप्तवत् स्थित रहती है। यह क्षुब्ध होकर शुद्ध शब्द का आविर्भाव करती है। यह शुद्ध शब्द ही नाद है। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त 6 चक्रों की स्थिति है। मूलाधारस्थ चक्र में 4 मातृकायें विद्यमान हैं। अतएव मूलाधार को चतुर्दलकमल कहते हैं। कमल एवं चक्र में भेद है। जब तक कुण्डलिनी सुप्त रहती है, तब तक इन्हें चक्र कहते हैं। कुण्डलिनी जागृत होते ही इन्हें 'कमल' की संज्ञा दी जाती है। चक्रावस्था में स्थित मातृकायें कमलावस्था में कमल के दल का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार मनुष्य-शरीर में सुषुम्णा नाड़ी से सम्बन्धयुक्त 6 चक्र अवस्थित हैं। इनमें से 5 चक्र पञ्चभूतों से सम्बन्धित हैं। इनसे ऊपर का चक्र चित्त के साथ सम्बन्धयुक्त है (अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार), यह वक्रगति से प्रवहमान है। इन दोनों के मध्यस्थ सरलगतिमयी सुषुम्णा की स्थिति जाननी चाहिये। इसके पश्चात् इसका सूक्ष्मरूप क्रमशः वज्रानाड़ी, तत्पश्चात् चित्रिणी नाड़ी, सर्वान्त में ब्रह्मनाड़ी (अखण्ड नाड़ी) है।

महाशक्ति का जागरण एकमात्र सुषुम्ना प्रवेश से ही होता है। सुषुम्णा में प्रवेश करते ही इड़ा-पिंगला की आवर्त्तगति कट जाती है। आवर्त्त काल का सूचक है। सुषुम्णा काल का नाश करती है। योगी का चरमलक्ष्य है सुषुम्णा प्रवेश के पश्चात् ब्रह्मनाड़ी में अवस्थान। वेदान्तोक्त आनन्दयमय कोष इसी से संयुक्त है।

इसमें प्रवेश का चक्र है। प्रत्येक चक्र के 3 अंग होते हैं। मातृका या

वर्णमाला, नाद और बिन्द—ये चक्र के 3 अंग के रूप में विदित हैं। मातृका को व्यवहार भूमि में कला कहा जाता है। सर्वप्रथम मूलाधार में प्रवेश किया जाता है। इसके द्वार को उद्घाटित करना होता है। यह द्वार सर्वदा आवरित रहता है। तत्पश्चात् विशुद्ध शक्ति के परस्पर संघर्षण से साम्यावस्था की सृष्टि होती है और उस समय नीचे से चिद्अग्नि उद्दीपित होती है। विरुद्ध शक्यिों के स्तिमित होने पर एवं प्राण अपान की साम्यावस्था प्राप्त होने पर, इस साम्य से (समान से) जिस अग्नि का विकास होता है, वह उदान है। यह उदान जब ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने लगता है उस समय इसे व्यान की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।

इस चिदाग्नि द्वारा मूलाधार चक्र के प्राचीर को छिन्न करना (भग्न करना) होता है। मूलाधारस्थ प्राचीर मातृकामय है। इस प्राचीर के भग्न होते ही मूलाधार का द्वार उद्घाटित हो जाता है। यहाँ पर 4 मातृकायें स्थित हैं। प्रत्येक मातृका चिदाग्नि के संस्पर्श से गल जाती है। उसका वर्णभाव समाप्त हो जाता है। वहाँ नाद भाव का प्राकट्य होता है। नाद भाव प्रकट होते ही ऊर्ध्वमुखी गति प्रारम्भ होती है, मूलाधार की ऊर्ध्वगति हो जाती है। मूलाधार का अन्य वर्णों के साथ (अन्य चक्र में स्थित वर्णों के साथ) कोई सम्बन्ध नहीं है। नाद प्रकट होने पर सम्बन्ध प्रारम्भ होता है।

सुषुम्णा का एक वैशिष्ट्य है। वह सर्वदा ऊर्ध्वगति से परिचालित है। इस प्रकार क्रमशः चक्रभेद होता है और बिन्दु में परिणति प्राप्त होती है (बिन्दु सुषुम्णा नाड़ी का एक स्टेशन है)। आज्ञाचक्र ही एकमात्र बिन्दुस्थान है। यहाँ मातृका परिसमाप्त है। यहाँ शिवनेत्र अवस्थित हैं। ज्ञानचक्षु यहीं खुलते हैं। यहाँ से दो मार्गों का सन्धान प्राप्त होता है। प्रथम सहस्रदल मार्ग (परमेश्वर का मार्ग), द्वितीय है ब्रह्मरन्ध्र मार्ग (ब्रह्ममार्ग)।

दृष्टि

दर्शन की क्रिया चक्षु से होती है। ज्ञानचक्षु एवं चर्मचक्षु के मध्य अनेक भेद विद्यमान हैं। चर्मचक्षु को खोलना और बन्द करना सम्भव है, किन्तु ज्ञानचक्षु एक बार खुलने पर सदा खुले रह जाते हैं। ज्ञानचक्षु खुलने पर इच्छा उसकी सहकारिणी बन जाती है। इच्छा की साम्यावस्था ही पूर्ण है। ज्ञान का उदय होने मात्र से ज्ञान में पूर्णता स्थापन असम्भव कार्य है। वहाँ इच्छा अवस्थित रहती है। ज्ञानचक्षु खुल जाने की अवस्था में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह ज्ञेय सामान्य शुद्ध सत्त्व है। उसकी कोई आकृति नहीं होती। इच्छा उसकी परिणति अपने विषयानुरूप कर लेती है। यदि राम को देखने की इच्छा हो, उस स्थिति में इच्छा ही उस शुद्ध सत्त्व को राम के रूप में परिणत कर लेती है। इस रूपदर्शन द्वारा इच्छा निवृत्त और तृप्त हो जाती है। तत्पश्चात् पुनः शुद्धसत्त्व अवशिष्ट रह जाता है। समस्त आकारसमूह इस शुद्धसत्त्व के ही आकार हैं, इच्छा उनका कारण है।

चर्मचक्षु की किरणें एक ही ओर प्रसारित होती हैं। ज्ञानचक्षु की रश्मि सर्वत्र प्रसारित होती है। सूक्ष्म देहान्तर्गत ज्ञानोदय होने की स्थिति में वह उज्ज्वल होकर चतुर्दिक् प्रसारित होती है। उसके लिए दर्शनीय ज्ञेयवस्तु सम्मुखीन है। यह रश्मि स्थूल नेत्र का विषय नहीं है। इसी कारण ज्ञानीगण अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी लोक को देख सकते हैं, परन्तु वे लोक ज्ञानी को नहीं देख सकते।

जब ज्ञानीगण किसी का दर्शन करने की इच्छा रखते हैं, उस स्थिति में वे भौतिक स्वर में उतर आते हैं। भौतिक स्तर में आगमन होने पर भी प्रभामण्डल की अधिकता रहती है। दर्शन करने वाले उनके रूप का स्थूलतः दर्शन नहीं पाते। वे मात्र ज्योति देखने में समर्थ होते हैं। उन्हें दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करने के पश्चात् स्थूल रूप का दर्शन प्राप्त होता है।

जब ज्ञानी स्थूल (घनीभूत) रूप ग्रहण कर लेते हैं, उस स्थिति में उनकी ज्योतित आकृति न देखकर सामान्य लोग स्थूल को ही देखने में समर्थ होते हैं। अतः जब साधक को ज्योतिदर्शन होने लगता है, उस समय यह जान लेना चाहिये कि देवता अथवा सिद्ध केवल मात्र साधक के निकट उपस्थित ही नहीं हैं, अपितु दर्शन भी देना चाहते हैं। यदि ज्ञानी देवता अथवा सिद्ध की यह इच्छा नहीं होती, उस अवस्था में उनकी ज्योति भौतिक स्तर पर संचरण नहीं करती और न साधक को दृश्यमान ही होती। शुद्ध ज्ञान भौतिक नेत्रों का विषय नहीं है।

नेत्रों के बाहर पलक की स्थिति है। सब इन्द्रियों में तथा रन्ध्रों में भी एक प्रकार से पलक अथवा परदे की उपलब्धि होती है। इसे बन्द करने के पश्चात् बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्धादिक भीतर प्रवेश करने में असमर्थ रहते हैं। सभी द्वारों को रुद्ध करने के पश्चात् चारों ओर एक अन्धकाराच्छन्न तमोमय आकाश की अनुभूति होती है। यह है प्रत्याहार का पूर्वाभास। कारण इस स्थिति के भी अन्तःशक्ति की प्रवणता बाह्य दिशाओं की ओर प्रसारित रहती है। इतने पर भी द्वार अवरुद्ध रहने के कारण बाह्यप्रदेश के साथ योग नहीं होता।

अब शक्तिसमूह की अन्तर्मुखता अपेक्षित होती है। शक्ति की रश्मि एक स्थान पर एकीभूत होने लगती है। यही है वास्तविक प्रत्याहार। शक्तिसमूह द्वाररोध के कारण अवरुद्ध नहीं होते, अपितु उनकी बाह्य प्रवणता एवं गति का वेग समाप्त होने लगता है।

●

ध्यान-रहस्य

अब अन्धकाराच्छन्न एवं तमोमय आकाश में सूर्योदय सुस्पष्टतया अनुभूत होता है। अन्तराकाश में आलोक का प्रस्फुटन ही अन्तरंग योग अथवा ध्यान का पूर्वाभास है। इस स्थिति में समस्त आकाश आलोकित नहीं होता। खण्डरूपेण ज्योति का अथवा ज्योतिर्मय रूप का आंशिक आविर्भाव अनुकूल होने लगता है। क्षेत्रीय तथा चतुर्दिक् विस्तीर्ण तमोराशि इस ज्योति में विलीन हो जाती है। मात्र ज्योति अथवा ज्योतिर्मय रूप ही परिदृश्यमान रह जाता है। यह दृश्यभाव में रूप की स्थिति है। इसके अतिरिक्त अन्तराकाश आलोक सम्पन्न होता है और उसमें एक रूप का स्फुरण हो जाने पर चतुर्दिक्व्यापी आलोक भी उसी रूप में मिश्रित होने लगता है।

यही ध्येय वस्तु है। यहाँ चित्त भी एकाग्र है। यही स्थायी रूप में सम्प्रज्ञात समाधि भी कही जाती है। ध्येय भी मन का ही आकार है। जब इसका विलीनीकरण सम्पन्न होता है, तभी चैतन्य समाधि का उदय सम्भव है।

ज्योति अथवा रूप कहाँ से प्रकट होता है? यह किसका परिणाम है? इसकी विवेचना करना सम्भव नहीं। यह शब्दातीत विषय है। संक्षेप में यह ज्योति ही बीज अथवा मन्त्र है। यही शब्द भी है। यह चिदाकाश की एक तरंग है। इसके आश्रयण से मन की निवृत्ति हो जाती है।

आँखें खुलने पर बाहर के प्रकाश से सब कुछ देखा जाता है। यह बाह्य आकाश अन्धकाराच्छन्न तथा तमोमय होते हुए भी आलोकित-सा लगता है। यह बाह्य आकाश भूतकाश है, भौतिक आलोक से आलोकित है। प्रकाशविहीन अन्धकाराच्छन्न रजनी में कुछ भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर नहीं होता। देखने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है। प्रकाश रहते हुए भी यदि नेत्र न हों, उस स्थिति में देख सकना शक्य नहीं है। इसे देहाभिमान की अवस्था कहते हैं। इसे घेर कर एक प्रकार का अज्ञान विराजित है। यह अज्ञान विक्षेप भी है। एकाग्रता से इसका भेदन किया जाता है। इसके पश्चात् देहाभिमान नहीं रह जाता। पाँचों इन्द्रियाँ अन्तराकाश में विलीन हो जाती हैं। आँखें बन्द करने पर अभी जो कुछ दिखता है, वह भूताकाश है। मात्र एक इन्द्रिय का रोधन (अर्थात् मात्र आँखें बन्द हों) तथा अन्य इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हों, वैसी परिस्थिति में सम्यक् प्रकाश (ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती। कारण, अन्य इन्द्रियाँ बाह्य आकाश के आकर्षण से कर्षित होती रहती हैं। सब इन्द्रियों का रोध होने पर आँखें बन्द करने पर अन्तराकाश आलोकित होने लगता है। तदनन्तर

अन्तराकाश में सब कुछ अनुभूत हो सकना सम्भव है। जब ज्योति आवृत्त रहती है, तब सब कुछ देख सकना असम्भव है।

प्रकाश अथवा ज्योति की जो कुछ भी उपलब्धि बाह्य जगत् में हो रही है, वह सब इसी ज्योति का आभास-मात्र है। इन्द्रियों की चेतना भी इसी का आभास है। जहाँ कहीं, जो कुछ भी भासित होता है, वह सब इसी ज्योति का परिणाम है। भासित होते रहने पर भी यह ज्योति परिलक्षित नहीं होती। देहाभिमान की सम्यक् निवृत्ति भी सम्यक् प्रकार से नहीं होती। सर्वत्र अभियान का आभास शेष रह जाता है। जैसे अन्तर्दृष्टि खुलने पर देख सकना सम्भव है, वैसे ही आँखें बन्द रहने पर भी अनुभूति होती रहती है। अन्तर्जगत् में इच्छानुरूप पदार्थ देख सकना और इच्छानुरूप सुन सकना सम्भव हो जाता है। सभी प्रकार के रूप इस ज्योति की पृष्ठभूमि में अवस्थित हैं तथापि दर्शनेच्छा के अभाव में अव्यक्त रह जाते हैं। व्यक्तता एवं अव्यक्तता इच्छाश्रिता है। इसकी दो दिशा है, प्रथम एक सर्व इच्छा की स्फूर्ति, द्वितीय है अपर इच्छाओं की तत्काल अस्फूर्ति।

प्रथमावस्था में ज्योति सर्वकारा है। द्वितीय में वह है निराकार निर्गुण ब्रह्मस्वरूपा ज्योति अर्थात् ब्रह्म। इसमें जो सगुण एवं निर्गुण का भेद भासित होता है, वह इच्छा की ही क्रीड़ा है। जीवगण आपेक्षिक भाव में दोनों को प्राप्त करते हैं। वे किसी एक को पूर्णतया, सर्वतः प्राप्त करने में असमर्थ से रह जाते हैं। हृदयाकाश में ज्योति का उत्स (Source) ही इष्टदेवता अथवा देवता के रूप में उपलब्ध होता है। उनकी अंगप्रभा से अन्तराकाश में आलोक की घटा विभासित होती है। इस समय जिस आकाश की उपलब्धि होती है, वह है चित्ताकाश। ज्योति है चित्त की ज्योति। अर्थात् देवता है चित्तज्योति एवं द्रष्टा है चित्ताभिमानी द्रष्टा। यहाँ द्रष्टा और उत्स (Source) में भेद विद्यमान है। यह दृश्य है आकार। वह है मनोमय, ज्ञानमय एवं चित्तमय।

●

अन्तराकाश

तत्पश्चात् (उत्स) एवं द्रष्टा दोनों मिलित हो जाते हैं। उस स्थिति में अपने ही आलोक से अपने को देख सकना सम्भव है। अब ज्योति में जो कुछ भी प्रकट होता है, वह है चिदाकाश। यहाँ जो कुछ देखा जाता है वह मनोमय नहीं अपितु चिन्मय है। यहाँ साकार और निराकार का भेद विद्यमान है। यह इच्छा से उद्भूत है। यहाँ चिन्मय आकार का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ द्रष्टा एवं उत्स, दोनों अभिन्नतया सुप्रतिष्ठ हैं। इसके पश्चात् इच्छा भी नहीं रहती। यहाँ सभी आकार नित्य स्फुट रहते हैं। किसी एक विशेष प्रकार की स्फुरणा नहीं रह जाती। यही यथार्थ निराकार है, यहाँ कोई भी आकार पृथक्रूपेण उपलब्ध नहीं होता। यह अवस्था है, इच्छा से अतीत, सृष्टि से अतीत। इसे परब्रह्मावस्था भी कह सकते हैं।

इस चिदाकाश का प्राक्रूप (बिम्बरूप) शुद्धाकाश आनन्द वेग से घूर्णित होता रहता है। चिन्मय आकृति भी अनन्त वेग से घूर्णमान रहती है। इसे लीला की संज्ञा दी जाती है। एक बार स्थिर होने पर लीला भी अदृश्य हो जाती है। इससे पूर्व (चिदाकाशोदय के पूर्व) इच्छायुक्त दृष्टि के निःक्षेप से चित्ताकाश कम्पित होकर क्षुब्ध होता है। उसमें अनन्त ज्ञानमय, चिन्तामय आकार स्फुट हो जाते हैं। यह है चिन्ता की साकार स्थिति। चित्ताकाश में चित्तमय आकार निरन्तर अप्रतिहत वेग से घूमते रहते हैं।

चित्ताकाश के उदय क्षण के पूर्वक्षण में इच्छायुक्त दृष्टि निःक्षेप भूताकाश कम्पित हो उठता है। उसके क्षुब्धीकरण से वहाँ अनन्त भौतिक आकार स्फुट हो उठते हैं। ये हैं बीजस्वरूपी। इनसे छायामयी आकारानुभूति का उदय होता है। छायाकृति समूह पञ्चभूतमय (स्थूल) होते हैं। इससे भी पूर्व इच्छायुक्त दृष्टि निःक्षेप से वायुमण्डल में कम्पन एवं क्षोभ का आविर्भाव परिलक्षित होता है। अनन्त शरीरें को दृश्यरूप से देखने की प्रक्रिया होती है। दृश्य स्वरूप हैं, 84 लाख योनिज प्राणीसमूह। जो वास्तव में इच्छा का स्वामी है, वह प्रत्येक स्थिति में तत्-तत् स्तरों की सत्ता के साथ अभिन्नतया सुप्रतिष्ठ हो उन्हें वशीभूत कर लेता है, अतएव तत्-तत् स्तरीय आकाश ही उसकी देह का स्वरूप बन जाता है। इच्छा के उदय के साथ-साथ देह क्षुब्ध होने लगती है। कामोदय की स्थिति में इस तथ्य का सभी अनुभव करते हैं। क्षोभ के फलस्वरूप अनन्त आकाशस्थ आकारसमूह में से इच्छानुरूप आकार विश्लिष्ट होकर इच्छाकारी की दृष्टि के सम्मुख स्थूलरूपेण आविर्भूत होने लगते हैं।

जब इन्द्रियसमूह हमारे अधीन हैं,जब चक्षु रहने पर भी (उसमें समस्त दृश्य शक्ति यथावत् रहने पर भी) हम दृश्य न देखें, तभी इन्द्रियजय प्रतिष्ठित होती अर्थात् आँखें खुली हैं, प्रकाश एवं दृश्य विषय भी है, तथापि देखने की इच्छा (दिदृक्षा) का अभाव होने से दृश्य सम्मुखीन नहीं होते, अतएव इन्द्रियजय सम्पन्न है। इस स्थिति में चक्षु हमारे अधीन हैं। अपनी इच्छा के अधीन हो जाने से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं।

जब हम देखना नहीं चाहते, तथापि देखने को बाध्य होते हैं, उस अवस्था में हम इन्द्रियाधीन हैं। हमसे इन्द्रियसमूह प्रबल हैं। विजित पर विजयी की इच्छा कार्य करती है। चित्ताकाश में अनेक स्तर विद्यमान हैं। जो भी चिन्ता हममें प्रतिच्छावित होती है, वह कितने निम्नस्तरीय चिन्तासमूह वायुजनित प्रत्याघात से इतस्ततः विक्षेप की सृष्टि करते हैं। कुछ चिन्तासमूह ऊर्ध्वस्तर से निम्नस्तर में उतर कर संचरण करते हैं।

इनका जन्म किसी की प्रेरणा से होता है। इसके अतिरिक्त इनके अनेकानेक भेद हैं। कौन मुझे देख-देखकर क्या चिन्तना कर रहा है? यह भी देखा जा सकता है। निम्नाधिकारी इस स्थिति को अस्पष्ट रूप से तथा उच्चाधिकारी स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हैं। स्वयं में स्वयं की चेष्टा द्वारा भी चिन्ता का जन्म होता है। इसके मूल में चिन्ता की प्राक्सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है। यह एक अत्यन्त गुह्य तथा गम्भीर रहस्य के रूप में सिद्धमण्डली में निहित है।

●

दृश्य रहस्य तथा प्रकाश

जिसकी स्थूल जगत् में (भूताकाश में) जिस किसी निर्दिष्ट देश एवं काल में उपलब्धि होती है, उसकी चित्ताकाश में भी यत्र-तत्र प्राप्ति सम्भव है। चित्ताकाश में कोटि-कोटि चित्तमय आकार अन्तर्मारुत से प्रेरित होकर अप्रहित वेग से घूमते रहते हैं। किसी एक का आकर्षण कर उसे स्थिर करने से (उसके सदृश्य अन्यान्य) सभी आकृष्ट होने लगते हैं। परिणामतः इच्छित आकार घनीभूत हो जाता है। उसकी विच्छिन्न आकृतिरश्मि एक स्थल पर संघटित होने लगती है। यही है एकाग्रवस्था। इस अवस्था में आकृति का प्रत्यक्षीकरण होता है। उसके चलन-चालन में स्थूलत्व का आभास मिलता है, कारण वह आकृति है, स्थूलत्वारोपित आकृति।

रूपसमूह भी मानसिक एवं भौतिक, उभय प्रकार के होते हैं। किसी भौतिक रूप में उसका मानस रूप अंशतः अथवा पूर्णतया विच्छिन्न किया जा सकता है। पूर्णतः विच्छिन्न होने के पश्चात् पञ्चमहाभूत भी पारस्परिक रूप से विच्छिन्न हो जाते हैं। यह है संहार-प्रक्रिया। मानसरूप की अंशतः विच्छिन्नावस्था में वस्तु का मात्र बलक्षय होना है। इस तथ्य को स्पष्टः समझ सकना दुष्कर है। मानसरूप को मानस चक्षु ही देख सकते हैं। इसे आकर्षित एवं बद्ध करना अनिवार्य है। अन्यथा वह पुनः अपने मूल स्थल से संयुक्त हो सकता है। इस अवस्था में वह बाह्य भूतांश से संश्लिष्ट है। पक्षान्तर से जिसे आकर्षित किया गया था, वह विच्छिन्न होने पर भी अपने मूल स्थान तक लौट जाने पर भी, अपनी एक आभा चित्रित कर जाता है। अर्थात् जो कुछ भी हम देखते हैं, वह एक प्रकार से हममें सदैव के लिए अपनी स्मृतिरूपिणी प्रतिच्छवि अंकित कर देता है।

खण्डसत्ता (फूल-घट-पट इत्यादि दृश्य) आलोक की ही एक अवस्था मात्र है। जिस आलोक में घट-पटादि रूपावस्था का भेद अविद्यमान है, वही है अखण्ड सत्ता। उसका विशुद्ध रूप बोधातीत है। संक्षेप में हम दो प्रकार के आलोक की उपलब्धि करते हैं—

1. **अवस्थाहीन अव्यक्त आलोक**—यह सत् एवं असत् से अतीत है अर्थात् यदि इसे आलोक की संज्ञा न दे सकें, तो कोई हानि नहीं है।

2. **व्यक्त आलोक**—यह अखण्ड सत्तारूप में प्रतीयमान होता है। इसकी एक पृष्ठभूमि है। यह निराकार होने पर भी साकार है। अर्थात् मानो पृष्ठभूमि में जल है और समस्त खण्डसत्ता (घट-पटादि) उसकी तरंग।

इस खण्डसत्ता का अद्वैतरूपेण भी ज्ञान हो सकना सम्भव है। अद्वैतावस्था में इसकी अपनी पृष्ठभूमि से पार्थक्य होता जाता है। परिणामतः खण्डसत्ता ही साकार अद्वैतरूप से प्रकाशित होती है। अपनी पूर्णता में (यह साकार) निराकारवत् होकर निराकार में ही मिल जाता है। मिश्रित होकर पुनः प्रत्यावर्तित भी होता है। इसलिए इसे निरकार भी कहते हैं। खण्डसत्ता का द्वैतरूप से भान होते ही परिणाम धर्म प्रकाशित हो जाता है। पृष्ठभूमि ही प्रकृति का रूप धारण कर लेती है। तरंग (आकार), उसकी विकृति अथवा परिणाम की संज्ञा से युक्त प्रतीत होने लगती है। पूर्ववर्णित अव्यक्त अवस्था (प्रथमावस्था) में द्रष्टा और दृश्य दोनों परस्पर अभिन्नभाव से मिलित रहते हैं। इस आलोक का वर्णन कर सकना असम्भव है। द्वितीयावस्था में यह आलोक व्यापक हो उठता है। इस आलोक में अभेददर्शन होता है। इस अभेद में तरंगरूप से तथा आभासरूप से भेद का परिज्ञान होता है। भेद की दृश्यता होने पर अभेद ही प्रधान है। अभेद लक्ष्य की प्रतिष्ठापना के कारण भेद का दर्शन नहीं होता। दोनों के मध्य लक्ष्य- स्थापन करने से दोनों का दर्शन सम्भव है।

इस आलोक में विश्वरूप का दर्शन प्राप्त होगा। अर्जुन ने किंचित् काल के लिए दिव्यचक्षु प्राप्त किया था। वह इसी आलोक का निदर्शन है। इस आलोक की प्रकाशमानता से ही वस्तु की वस्तुत्वरूपी सत्ता की उपलब्धि होती है। इस आलोक में जो अप्रकाशित है, वह अवास्तविक है। इसी अवस्था के साक्षात्कार से दृष्टिवाद एवं सृष्टिवाद प्रसूत है।

●

प्रत्यक्ष दर्शन

वस्तु की सत्ता है एक आलोक की प्रकाशमानता। आलोक है द्रष्टा का दृष्टि स्वरूप। उदाहरण से तत्त्व को स्पष्ट किया जाता है—

राम एक पुष्प देखता है। यह पुष्प उसके चक्षु गोलकस्थ आलोक से आलोकित है। राम के चक्षुद्वय इन्द्रिय सत्ता से सत्तान्वित हैं। जब तक राम देखता है, तब तक उसके लिए फूल सत्तान्वित है। न देखने पर पुष्प की सत्ता उसके लिए कैसी होगी? यदि न देखने पर भी पुष्प की सत्ता रहती है, उस स्थिति में वह किसी अन्य के लिए दृश्यस्वरूप है, राम के लिए नहीं। अतः कहा जा सकता है कि राम की दृष्टि-रश्मियों से ही पुष्पाकृतिरूप दृश्यप्रसूत है। यहाँ एक ही इन्द्रिय का दृष्टान्त दिया गया है।

इस प्रकार अविद्या भी फूल की तरह प्रकट हो सकती है। यदि मोहन अधिक इच्छा-बल का प्रयोग कर पुष्प को अविद्याच्छादित करने में संक्षम है, तब राम की दृष्टि उस पुष्प को नहीं देख सकती। राम के लिए उस पुष्प का अदर्शन (लोप) ही सिद्ध होगा।

साधारणतः अन्धकाराच्छन्न प्रदेश में एवं निद्रा में, क्रमशः ध्यामून एवं एल्-रामून रूप में यही व्यापार निष्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, यदि राम की दृष्टि का आलोक मोहन द्वारा विसृष्ट अन्धकार (अविद्या) से प्रबल है, तब मोहन की शक्ति पुष्प को विलुप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती। चेष्टा करने पर उपरोक्त अन्धकाररूपी अविद्या स्वतः स्तिमित हो सकती है। इसी प्रकार सभी सत्ता में आपेक्षिकत्व अवस्थित है। अविद्या (अन्धकार) से मात्र वस्तु लुप्त होती है, ध्वंसीभूत नहीं हो सकती। कारण प्रबलतर आलोक से उस अविद्यारूपी अन्धकार का भेदन करने से वस्तुसमूह लुप्त नहीं रह सकता। अतएव ब्रह्म के आलोक में सत्य वस्तु का दर्शन करने में उसका आदर्शनात्मक-तिरोधान कभी भी नहीं हो सकता। कारण, इस प्रकार कोई तमः है ही नहीं, जो इस आलोक को आच्छन्न कर सके। इसी कारण ब्रह्मदृष्टि में समस्त वस्तुसमूह नित्य रूप से प्रतिभात होता है। यही यथार्थ परिमार्थि सत्ता है। इसका कभी भी तिरोधान नहीं होता।

ब्रह्मलोक में सभी वस्तुसमूह की प्राप्ति मानी जाती है, वहाँ कुछ भी लुप्त नहीं रह जाता। इसमें अतीत, अनागत, वर्तमानरूपी आच्छादन का प्रश्न ही नहीं है। इस आलोक की तुलना में अन्यान्य सभी आलोक अन्धकार के प्रकार भेद मात्र हैं। ब्रह्ममार्गी योगीगण पर कोई भी देवतादिक प्रभावित नहीं होते। उनके समक्ष देवतादिक स्तम्भित हो जाते हैं। उनकी सक्रियता स्वतः निष्क्रिय देवसत्ता में परिणत हो जाती है।

●

श्रोता तथा वक्ता

प्राचीन काल में महापुरुषगण श्रोता के अधिकार का विचार करने के अनन्तर तदनुरूप उपदेश प्रदान करते थे। बोधचितविवरण में उल्लेख है—

देवानां लोकनाथानां सत्वाशयवशानुगा।

अर्थात् महापुरुषों का उपदेश श्रोता की योग्यता तथा अधिकार के अनुसार रहता है। साधारणतः उपदेश दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रथम उपदेष्टा के अनुभव अथवा दृष्टिकोण के अनुसार, द्वितीय श्रोता के दृष्टिकोण के अनुसार। जहाँ पूर्ण प्रकाश अखण्डरूपेण देदीप्यमान है, वहाँ स्व दृष्टिकोण का प्रश्न ही उत्थित नहीं हो सकता। कारण वहाँ व्यक्तित्व न रहने के कारण पृथक् दृष्टि नहीं रहती। जिज्ञासु अनुगत की जो दृष्टि है, वही उपदेष्टा की दृष्टि हो जाता है। अतः द्वैतदृष्टि के अनुगत के समक्ष द्वैतभावापन्न तथा अद्वैत दृष्टि वाले के सम्मुख अद्वैतभावापन्न दृष्टिकोण हो जाता है। वस्तुतः यह दोनों ही सत्य हैं। श्रोता का संस्कार तथा उसकी आध्यात्मिक स्थिति उपदेष्टा को प्रभावित करती है। उपदेष्टा उसी के तारतम्य से उपदेश करते हैं।

●

प्रकाश तथा ज्योति

कामातिरिक्त सृष्टि नहीं हो सकती। काम ही इच्छा है। 'इ' का तात्पर्य इच्छा। घनीभूत इच्छा का रूप है ईश्वर अर्थात् 'ई'। दोनों एक ही तत्त्व हैं, तथापि 'ई' स्थिति घनीभूतता का रूप है। तदनन्तर बीज की स्थिति आती है, इसे उन्मेष कहा गया है। इच्छा द्वारा ही बीजोत्पत्ति होती है। बीज का अर्थ है वीर्य। कामोदय से ही वीर्य की सत्ता प्रभावित होती है। अब इस उन्मेष तत्त्व की स्वरूपोपलब्धि करना चाहिये। इसके स्तर का साक्षात् करना चाहिये। यह सब सृष्टि स्थिति से अत्यन्त-अत्यन्त ऊर्ध्व स्थिति का वर्णन है। उन्मेष का अर्थ है बीज। बीज क्या है? जिससे क्रिया होती है। उन्मेष ही ज्ञान है। वह थी इच्छा और यह है ज्ञान। तदनन्तर क्रिया का उदय होता है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का यही क्रम कहा जाता है। उन्मेष का तात्पर्य है कि उन्मेषानन्तर जिस वस्तु का स्फुरण होगा, उसका पूर्वाभास। उ का तात्पर्य है उन्मेष और ऊ का तात्पर्य है ऊनता अथवा ऊर्मि। अब यह प्रकृति गर्भ में जा पड़ता है। इच्छा के साथ ईशनशक्ति सम्बद्ध हो जाती है। इसके पश्चात् ज्ञान के साथ ज्ञेयोदय होता है। फलस्वरूप बीज स्फुरित होकर प्रकृतिगर्भ में जा पड़ता है। यह है 'ए' तथा 'ऐ' स्थिति। इसकी पश्चात्कालीन स्थिति है 'ओ' तथा 'औ'। इसके अनन्तर 'अ'रूपी बिन्दु में सब आ पड़ता है। इस बिन्दु पर्यन्त आने पर आगे का मार्ग न मिलने से सब लौट जाता है। परन्तु पुनः वापस आता है। पुनः लौटता है, पुनः वापस आता है। पुनः लौटता है। पुनः वापस आता है। इस प्रत्यावर्त्तन से बिन्दु पूर्ण हो उठता है। अधिक पूर्ण हो जाने से इसमें स्फोट होता है। बिन्दु विदीर्ण हो जाता है। यही विसर्ग है। इस स्फोट से व्यंजनवर्ण निर्मित होते हैं। स्वरवर्ण से ह्रस्वता, दीर्घता, प्लुतत्त्व की उपलब्धि होती है। व्यञ्जनवर्णों में अपना स्वयं का ह्रस्वत्व, दीर्घत्व अथवा प्लुतत्त्व नहीं है। बिना स्वरवर्णाधार के व्यञ्जन का उच्चारण ही नहीं किया जा सकता। इसमें अनेक रहस्य सन्निहित हैं।

इस रहस्य को महाकाल की क्रीड़ा कहा जाता है। जैसे महाकाल रहस्यावृत्त है, वैसे ही कामकला की क्रीड़ा भी रहस्यावत् रहती है। उपरोक्त स्थिति के अनन्तर 'अहं' का उदय होता है। अहं से ही इदं का स्फुरण हुआ है। इति पूर्व जो अहं था वह पूर्ण अहं था 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'। यही पूर्ण अहं का यथार्थ स्वरूप है। 'मैं' तो एक ही है, द्वितीय है ही कौन? यह मूल अहं ही उपाधि के कारण नाना हो जाता है। शिव के पञ्चमुख का क्या तात्पर्य है? चित्, आनन्द,

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया ही पञ्चमुख है। इसके साथ त्रिक्रमरूप कला, तत्त्व तथा भुवन का भी ज्ञान आवश्यक है। इन तीनों की अभिज्ञता से सृष्टि का यथार्थ रहस्य आयत्त हो जाता है। कला से तत्त्वाविर्भाव होता है। तत्त्व से भुवन की उत्पत्ति होती है। जैसे एक-एक अक्षर के संयोग से वाक्य बनता है तथा वाक्यों के संयोग से परिच्छेद गठित होता है, कई परिच्छेदों के संयोजन से एक ग्रन्थ संयोजित हो जाता है। इतना होने पर भी मूल में अक्षर की ही सत्ता रहती है। ऐसे ही सृष्टि में भी क्रम है। प्रथमतः कला, कला के अनन्तर तत्त्व उसके पश्चात् भुवन का उदय होता है। यहाँ भुवन का तात्पर्य चतुर्दश भुवन नहीं है। भुवन का तात्पर्य है तत्त्व की समष्टि का स्वरूप। कला की समष्टि से सत्त्व का उदय होता है और तत्त्व का समष्टिभूत रूप ही भुवन है। जो कुछ भी क्यों न हो, सबकी पृष्ठभूमि में सन्मात्र की ही सत्ता रहती है, जैसे ग्रन्थ की पृष्ठभूमि में अक्षर विद्यमान है। समस्त सृष्टि एक ही केन्द्र से स्फुरित हो रही है। इसे प्रकाश कहते हैं। जगत् में अनन्त सृष्टि होती रहती है, और उसका ध्वंस होता रहता है। कितना कुछ होता रहता है, परन्तु सब कुछ प्रकाश के अन्तर्गत ही घटित होता है। प्रकाश के वक्षस्थल पर सृष्टि-क्रीड़ा होती रहती है। यह उसी प्रकार है, जैसे सिनेमा के पर्दे पर पहले प्रकाश-प्रक्षेपण होता है और उसी प्रकाश के वक्ष पर अनेक दृश्यसमूह स्फुटित होते रहते हैं। कला, तत्त्व तथा भुवन एक प्रकाश के ही क्रमरूप हैं। कला के परे निष्कल तत्त्व विद्यमान रहता है। जगत् का समस्त व्यापार इसी प्रकार ही भासित होता रहता है। प्रलय, महाप्रलय, आदि सब कुछ प्रकाश पर ही प्रतिच्छावित होता है। अखण्ड सृष्टि की भी सत्ता है। हम जिस सृष्टि की बात कहते हैं, वह तो निम्नस्तरीय सृष्टि है अखण्ड सृष्टि में कला, तत्त्व तथा भुवनरूप क्रममयता ही नहीं है। प्रकाश कब से पड़ रहा है? सत् जब सृष्टि की ओर उन्मुख होता है तभी 'अ' रूप प्रकाश पड़ने लगता है। अतः पृथ्वी की समस्त भाषाओं में अ का सर्वव्याप्त अस्तित्त्व है। कारण यही सबका प्रकाशक है।

इस सन्दर्भ में प्रकाश एवं ज्योति का पार्थक्य जानना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक साधु महापुरुष थे। बैठे हुए थे। कमरा अन्धकाराच्छन्न था, तथापि उन्हें भली प्रकार देखा जा सकता था। यहाँ तक कि उनकी दीर्घ श्मश्रुराशि के एक-एक बाल का प्रत्यक्ष हो रहा था। मस्तकस्थ तिलक, दीर्घ जटा, शरीर सब कुछ ही नहीं, प्रत्युत् एक-एक रोम भी दृष्टिगोचर हो रहा था। अथच कक्ष में कणमात्र भी आलोक नहीं था। वे स्वयं में स्वयं प्रकाशमान थे। जो कुछ भी देखा जा रहा था, वह सब उनके स्व-आलोक में ही प्रत्यक्ष होता है। यही प्रकाश है। ज्योति में ऐसा नहीं है। ज्योति अलग से भासित होती है, अर्थात् दीपकादि से अथवा सिद्ध महापुरुष के अंगविशेष से भी ज्योति का निर्गमन हो सकता है। अर्थात् उसके उत्स का ज्ञान हो सकता है। प्रकाश के सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है। जो प्रकाशसंवलित हैं, वे

परमेश्वर के साथ अभिन्न हो चुके हैं। ज्योति शक्तिराज्य का व्यापार है। चित्शक्ति भी शक्तिराज्यान्तर्गत ही है। प्रकाश स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशित रहता है। परन्तु ज्योति किसी शक्ति से प्रकाशित होती है। प्रकाश को ज्योति की अपेक्षा नहीं रहती। दृश्यजगत् में कितना भी अन्धकार हो, उससे प्रकाश की कोई अवरुद्धता नहीं हो सकती। वह स्वलोक से स्वयं को प्रकाशित करता रहता है। यही उन महापुरुष की स्थिति कही जा सकती है। इससे ज्ञात हुआ कि उन महापुरुष का पूर्ण के साथ योग सम्पन्न हो चुका है। प्रतीत होता था मानो ललाटस्थ किसी बिन्दु से तारक की भाँति स्निग्ध चन्द्रिका छिटक रही है, जिससे सब कुछ लक्षित हो रहा है।

ज्योति सूर्यालोक के समान नहीं होती। अनेक प्रकार की ज्योति जगत् में विद्यमान है। वह सब प्रकाश नहीं है। परब्रह्म परिपूर्ण सनातन के साथ योग होने पर इसका साक्षात्कार हो सकता है। यह शुद्ध सत्त्व का रूप है। हम जिस आलोक को प्रत्यक्ष करते हैं, वह सब अशुद्ध सत्वजनित ही है। जो साधक गुणातीत न होकर, अभी गुणान्तर्गत ही हैं, उनमें ज्योति देखी जा सकती है। उनका स्वरूप सत्व के ही अन्तर्गत है तथापि वह प्रकाश नहीं है। आग्नेय लौकिक ज्योति तथा साधक की ज्योति में क्या पार्थक्य है? साधक की ज्योति स्निग्ध ज्योति होती है। वह शुद्ध होती है परन्तु आग्नेय ज्योति शुद्ध नहीं है। वह मलिन होती है। ज्योति के प्रकाशित होने से मातृका- समूह गलकर एकाकार हो जाते हैं। जैसे स्वर्ण के कई खण्डों में गलाने पर वे सब एकाकार होकर पिण्डाकृति हो जाते हैं, उसी प्रकार मातृका भी गलकर (ज्योति के प्रभाव से) एकाकार हो जाती है।

जिस किसी भाषा में हम जो कुछ बोलते हैं, वह भी मातृका की ही क्रीड़ा है। बिन्दु ही विभक्त होकर मातृका का स्वरूप बन जाता है। आज की ही भाषायें अथवा आज की चिन्ताधारा ही मातृका में नहीं रहती, अपितु हजारों-लाखों वर्ष पश्चात् की भावी भाषायें तथा भावी चिन्तना भी मातृका में ही सन्निहित हैं। मातृकाओं के विगलित होकर पिण्डीभूत हो जाने पर मात्र शुद्ध अहं की सत्ता रह जाती है। यही शिवोऽहं भी है। यह शिवोऽहं ब्रह्मावस्था नहीं है। शिवावस्था तथा ब्रह्मावस्था का पारस्परिक पार्थक्य जानना आवश्यक है। ब्रह्मावस्था में शुद्ध अहं नहीं रहता। ब्रह्मावस्था में स्वबोध भी नहीं रहता। शिवावस्था शक्तियुक्त अवस्था है। ब्रह्मावस्था में अहंबोध ब्रह्मबोध बन जाता है, परन्तु शुद्ध अहं की अवस्था में शिवबोध होने के कारण वह देदीप्यमान प्रकाशमान हो उठता है, अथच देहबोध नहीं रहता। देहबोध तब रहता है जब मातृका-समूह पृथकावस्था में रहती हैं। एतद्विपरीत इस स्थिति में मातृका-समूह गलकर एकीकृत तथा पिण्डीकृत हो जाते हैं। यही पिण्डीकृत रूप ही ज्योतिरूपता है। जहाँ ज्योति का स्फुरण है, वहीं शक्ति का ही स्फुरण जानना चाहिये। यह है शिवशक्ति-भाव। शिवभाव-कारण शक्ति और शिव में अभेदत्व सिद्ध

है। इस अवस्था में क्या होता है? देहभाव व्यापक हो जाता है। यह ज्योति का प्रभाव है। यह ज्योति शक्ति का स्फुरण है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापक देहभाव का इतना विकास होता है कि समस्त विश्व ही स्वदेहरूप से प्रतिभात होने लगता है। यदि ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता, उस अवस्था में यह विकास नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मभाव देहरहित स्थिति है। देह है, अथच वह व्यापक है, इस अवस्था में शक्तिचक्ररूप खेचरी, दिक्चरी, भूचरी आदि शक्तिसमूह उन्मुक्त हो जाते हैं। यह स्वचालित रूप से होता है। इस अवस्था में कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। इच्छाशक्ति का प्रयोग करके जानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, प्रत्युत् स्वतः अपने आप ज्ञात होता जाता है। यह अत्यन्त विस्मयकारी तत्त्व है।

इस स्थिति में तथा इच्छाशक्ति की स्थिति में अनेक भेद विद्यमान रहता है। इस अवस्था को ऐसे भी कह सकते हैं कि आँखें खुली हैं। सब कुछ प्रत्यक्ष होता जा रहा है। इच्छाशक्ति की स्थिति में यह नहीं होता। वहाँ शक्ति को आयत्त करना पड़ता है। आयत्त करने के अनन्तर इच्छा होने पर उन्हें स्पर्श करके इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा इच्छित का ज्ञान होता है। यहाँ यह स्थिति नहीं होती। इस अलौकिक अवस्था की प्राप्ति के साथ-साथ उस चमत्कार का उदय होता है कि बिना इच्छाशक्ति का प्रयोग किये सब कुछ ज्ञात हो जाता हैं। कुछ भी गोपान नहीं रह जाता। क्योंकि सब निजस्व है, अपना है। आँखें खुली हैं, मैं सबकुछ देख रहा हूँ। अलग से आँखें खोलकर देखने की आवश्यकता है ही नहीं। जब जो होना है, अथवा करना है, सब स्वयमेव प्रति-भासमान होता जाता है। यही स्वाभाविक अवस्था है। यहाँ शक्ति शिव के साथ है। सरलरेखा रूप में है, वक्ररूप में नहीं है। वक्रभाव ही संकोच है। सरल रेखाभाव ही विकास है। इच्छा में शक्ति का सातत्य होना इच्छाशक्ति है। शक्ति की आराधना से शक्ति प्राप्त हो जाती है। शक्ति के साथ युक्त होकर इच्छा करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अब जो कुछ भी इच्छा होगी वह स्फुरित होना ही है। शक्ति से युक्त हो जाना मात्र स्वातन्त्र्य नहीं है। अतः इसे और स्पष्टरूप से कहा जा रहा है। जहाँ शक्ति के साथ अभिन्न योग है, जहाँ शिव-शक्ति दोनों एक हैं, जहाँ जो शिव है वहीं शक्ति है, जो शक्ति है वही शिव है, यही स्वातन्त्र्य का स्पष्ट रूप है। यह अभेदत्व ही स्वातन्त्र्य है। यही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। इच्छाशक्ति इससे नीची अवस्था कही जाती है। शक्ति के साथ साधक की इच्छा का योग है इच्छाशक्ति। परन्तु उपर्युक्त स्वातन्त्र्य अवस्था इससे अलौकिक अवस्था है। स्वयं में शिवभाव का प्रकाशमान हो जाना ही स्वातन्त्र्य है, जिसे इस प्रबन्ध में शिवोऽहं रूप से कहा गया है। शिवभाव का प्रकाशन होते ही उसी मात्रा में शक्ति प्रकाशित हो उठती है। खेचरी, भूचरी आदि सभी शक्तियाँ प्रकाशित हो जाती हैं। कुछ भी गोपनीय नहीं रह जाता। हजारों-हजारों योजन दूर भी जो हो रहा है, वह भी गोपनीय नहीं रहता।

यह इच्छाशक्ति नहीं है। इच्छाशक्ति की प्राप्ति होती है मातृरूप में। तदनन्तर शिशु माँ की गोद में बैठकर, जो इच्छा है वह पाता है। उसके लिए शिवभाव अज्ञात है। स्वातन्त्र्ययुक्त सिद्ध के लिए यह आवश्यक नहीं है। शक्ति स्वयं उसकी अनुगामिनी हो जाती है। इससे भी अलग एक अवस्था है जहाँ शिव की भी आवश्यकता नहीं है और शक्ति भी निष्प्रयोज्य है। वहाँ कभी भी शिवशक्ति का पारस्परिक भेद ही नहीं है। अतः अभेद भी निष्प्रयोज्य है। यही भूमास्वरूप है। यही है ब्रह्म। अब स्वातन्त्र्य-शक्ति की विवेचना की जा रही है। यह सर्वोच्च है। अद्वैत सिद्धि के पश्चात् स्वातन्त्र्य का स्फुरण होता है। द्वितीय की सत्ता भासित होने पर स्वातन्त्र्य का स्वरूप अप्रतिहत नहीं रह जाता। एकमात्र 'अहं' ही विद्यमान है। इसी में सब कुछ है। समस्त जगत् भी इसी के अन्तर्गत ही है। अद्वैत का तात्पर्य है जहाँ द्वितीय है ही नहीं। मैं एक हूँ। अतः द्वितीय 'मैं' हो ही नहीं सकता। अतः जो कुछ भी है वह भी 'मैं' ही हूँ। अच्छा-बुरा, सत्-असत् सब कुछ 'मैं' ही है। अद्वैत स्थिति पाने पर भी अद्वैत का अर्थ ज्ञात होता है। अद्वैत का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वस्तुतः ब्रह्मरूप से कुछ भी अलग सत्ता नहीं होती। उस स्थिति में मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही शिव हूँ, मैं ही माँ हूँ। सब कुछ वही है। अतः उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अद्वैत रूप से वही एक सत्ता विद्यमान रहती है। वह तत्त्व स्वप्रकाशरूप है। वह सर्वदा सतत विद्यमान है। मनुष्य अपनी चेष्टा से उसे प्राप्त नहीं कर सकता। लाखों वर्ष तपःश्चर्या करने पर भी उसे नहीं पा सकता। शिवभाव प्राप्त होता है, शक्तिभावात्पन्न स्थिति प्राप्त हो सकती है, लाखों वर्ष स्थिति रह सकती है, महाप्रलय में भी अविचलित आसन प्राप्त हो सकता है। इतने पर भी अद्वैत अज्ञात रह जाता है। जिस उच्चतर अवस्था का इतिपूर्व वर्णन किया गया है, उसमें स्थिर रहने पर कृपा का संचार हो सकता है। इसका कोई नियम नहीं है कि कब कृपा-संचार होगा। कृपा भी अद्वितीय तत्त्व है। कृपा के प्रभाव से उन्मनी शक्ति प्रकाशित हो जाती है। यह आनन्दरूप राज्य का प्रकाश है। इस आनन्दमय राज्य में स्थित रहना होगा। यहीं यथार्थ कृपा का वर्णन होता है। यथार्थ कृपा से ही अद्वैत सत्ता का साक्षात्कार होता है, यही यथार्थ विकास है।

स्थूल दृष्टि से योग द्विविध है। क्रियायोग एवं समाधियोग। ध्यानयोग भी समाधियोग के अन्तर्गत है। क्रियायोग के तीन भाग हैं—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। यथासम्भव सावधानी के साथ शरीर, मन प्रभृति को कष्ट सहने का अभ्यास कराना तपस्या है। इसका उद्देश्य है देह, मन आदि की शुद्धि। इस शुद्धि से अन्तर्मुखता का उदय होता है, जो ध्यान के लिए उपयोगी है। तपस्या के अन्तर्गत कष्ट सहना उचित है तथापि इतना कष्ट सहन करना अनुचित है जो असहनीय हो। तपस्या के प्रभाव से शुद्धि साधित होती है। स्वाध्याय का अर्थ है सद्ग्रन्थों का

अध्ययन तथा गुरुदत्त मन्त्र का जप। समस्त मन्त्रों का उद्भव प्रणव से हुआ है। प्रणव को ईश्वरवाचक कहते हैं। इसका जप विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रणव जाप ईश्वर-प्राप्ति का सोपान है।

ईश्वरप्रणिधान का तात्पर्य है—ईश्वर में चित्त लगाये रखना। व्यवहार भूमि में इसके दो रूप होते हैं। प्रथम है, कर्त्तव्य कर्म तथा द्वितीय है कर्म के फल को जगद्गुरु-रूप ईश्वर को अर्पण कर देना। स्तरवृद्धि के साथ इसके स्वरूप में भी परिवर्त्तन हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ होता है परमात्मा को कर्मफल का अर्पण न करके मूल रूप से कर्म का ही अर्पण कर देना। इसे श्रेष्ठ क्रियायोग कहा जाता है। इसके अभ्यास से चित्त की शुद्धि सम्पादित होती है और वह अन्तर्मुख हो जात्ता है। इस स्थिति में क्लेशपाक भी होता है।

ध्यानयोग एवं समाधियोग इससे उन्नत अवस्था को कहते हैं। ध्यान की परिपक्व अवस्था समाधि है। समाधि होने मात्र से व्यक्ति योगी नहीं हो जाता। अतः समाधि योगपदवाच्य नहीं है। चित्त की एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठा होने पर ही समाधि को समाधियोग कहा जा सकेगा। क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ अवस्था से आच्छन्न चित्त दशा में समाधि हो जाने पर भी उसका आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। कारण, इन सभी भूमियों में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है। यद्यपि विक्षिप्त भूमि में लेशमात्र सत्त्वगुण का संस्पर्श रहता है, तथापि वह योग के उपयुक्त नहीं है। एकाग्रभूमि में प्रकाशित वृत्ति भी एकाग्रता से युक्त हो जाती है, यह एकाग्रभूमि की महिमा है। वृत्तिगत एकाग्रता नाना प्रकार से होती है। अमेरिका आदि देशों में मादक पदार्थों के सेवन द्वारा वृत्ति को एकाग्र किया जाता है। गाँजा-भाँग आदि द्वारा वृत्तिशून्यता भी प्राप्त की जाती है। द्रव्यों के गुण से आकस्मिक भाव से वृत्ति एकाग्र हो जाती है। इसे भी योग नहीं कहा जा सकता। कारण इसमें ऊपरी एकाग्रता अवश्य है परन्तु, भूमिगत एकाग्रता नहीं है। योग की प्राप्ति के पूर्व अयोग (पृथकत्व) का तथा प्राप्ति के पश्चात् वियोगजनित आकुलता का अनुभव होना अत्यन्त आवश्यक है। योग के लिए आधारगत शुद्धता परम आवश्यक है। क्रियायोग के द्वारा क्लेशादि संस्कार का पाक (क्षीणीकरण) होता है, तदनन्तर प्रसंख्यान योगलब्ध ज्ञान से क्लेश दग्ध हो जाता है। क्रियायोग की पूर्णता के बिना समाधियोग फलित नहीं होता।

●

चरम लक्ष्य

मनुष्य का चरम लक्ष्य है परमपद किन्तु इसके स्वरूप का निदर्शन सर्वत्र प्राप्त नहीं होता। वेद मंत्र है—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीय चक्षुराततम्'। इससे ज्ञात होता है कि दिव्य सूरीजन विष्णु के इस परमपद का निरन्तर अनिमेष दृष्टि से दर्शन करते रहते हैं। इसका स्वरूप चक्षु के आकार का है। द्युलोक में अतीत एवं व्याप्त चक्षु का आकार जिस प्रकार का है, यह भी वैसा ही है। 'सदा पश्यन्ति' इस वाक्यांश से ज्ञात होता है कि इस पद का दर्शन निमेष, उन्मेष युक्त दृष्टि द्वारा कदापि नहीं हो सकता। प्राण तथा मन की चंचलता के कारण दृष्टि का उन्मेष एवं निमेष चलता रहता है। प्राण, मन तथा इन्द्रियों के शान्त होने पर मात्र ज्ञान-नेत्र द्वारा इसका दर्शन मिलता है। मनुष्य का तृतीय नेत्र ही ज्ञान-नेत्र है। अज्ञानावस्था में परमपद का दर्शन असम्भव है। इस परमपद में प्रवेशाधिकार मिलता है अथवा नहीं, इसकी विवेचना सन्दर्भित मन्त्र में नहीं है।

दिव्य सूरिगण सर्वदा दृश्यमान इस परमपद में प्रवेश करते हैं कि नहीं, इसके लिए दो मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार इसका मात्र दर्शन ही हो सकता है, प्रवेश नहीं हो सकता। आज तक किसी ने भी इसमें प्रवेश नहीं किया है। द्वितीय मत के अनुसार इसमें प्रवेश सम्भव है। इस द्वितीय मत के भी अन्य भेद दृष्टिगोचर होते हैं। एक मत के अनुसार प्रयोग की योग्यता रहने पर वर्तमान देह की समाप्ति पर इसमें प्रवेश मिलता है। इसमें भी दो विकल्प हैं। मरण-काल में स्वाभाविक क्रम से देहात्मबोध निवृत्त होने पर प्रवेश सम्भव है, अथवा देहावस्थान काल में स्वेच्छया देहात्मबोध त्यागने से प्रवेश सम्भव है। देहावस्था में प्रवेश करने पर देहपात अवश्यम्भावी है, अथवा देहावस्था में प्रवेश करने पर ही देहसत्ता अक्षुण्ण रह सकती है। अपक्व एवं असिद्ध देह का देहपात अवश्यम्भावी है। सिद्ध तथा पक्व देहयुक्त होकर प्रवेश करने से प्रवेश तो हो जाता है, परन्तु देहबोध लुप्त हो जाता है। तथापि वापस लौटने पर पुनः देहबोध प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परमपद के सम्बन्ध में जितने भी मत प्रचलित हैं, सभी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणानुसार ही हैं।

वेदान्त की एक जीववादी मान्यता के अनुसार किसी विद्वान् के मत से एक जीव की मुक्ति होने पर समग्र विश्व की मुक्ति साधित हो सकती है, तथापि एक जीव की मुक्ति आज पर्यन्त नहीं हो सकी। यदि इस सृष्टि का एक भी इस जीव मुक्त हो

सकता, उस अवस्था में समस्त विश्व की मुक्ति हो सकती थी। इस दृष्टिकोण से शुकदेव, वामदेव प्रभृति की मुक्ति पर भी एक प्रश्नचिह्न-सा लग जाता है। इनके मतानुसार एक जीव भी यदि परमपद में प्रविष्ट हो सकता, उस अवस्था में जगत् का स्वरूप दुःखमय न रहकर आनन्दमय हो जाता। उस स्थिति में काल का जगत् आनन्दमय श्रीभगवान् की लीला भूमिरूप में सबको सन्निकट अनुभूत होता। यह आज तक नहीं हो सका। अतः यह युक्तिसंगत है कि आज पर्यन्त परमपद में किसी जीव का प्रवेश नहीं हो सका है। आकाश में सूर्य का उदय होने पर उसकी अपनी शक्ति द्वारा उसके अस्तित्व का प्रकाशन हो जाता है। अतएव एकमात्र प्रकृत सत्य का द्रष्टा उस सत्य का सचराचर में हस्तामलकवत् प्रकाशन करने में समर्थ हो जाता। पूर्वोक्त वैदिक मन्त्र से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि-मुनि की तो बात ही क्या, दिव्य सूरिजन भी उस परमपद का मात्र दर्शन ही करते हैं। उसमें प्रवेशाधिकार से वे वंचित हैं। सूरिजन अप्राकृत् देहधारी हैं। किसी-किसी सूरिजन की प्राकृत-देह भी उनकी अप्राकृत देह के साथ संयुक्त है। जो मात्र अप्राकृत देहधारी हैं, उन्हें दिव्यसूरि कहते हैं। प्राकृत देहधारी को मात्र सूरि कहा जाता है।

अन्य मतानुसार जिन्होंने परमपद में प्रवेश के तथ्य को स्वीकारा है, वे देहावस्थान-काल में भी परमपद में प्रवेश के तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से जिनकी देह का अप्राकृत देह में परिवर्तन नहीं हो सका है, जिनकी प्रकृति देह अपक्व है—अर्थात् जो मिश्र अवस्था में हैं, उनकी प्राकृत देह परमपद में प्रवेश करते ही नष्ट हो जाती है। अतः वे वहाँ से लौटने में असमर्थ हैं, उनका निर्गम नहीं होता। उनकी देह का अप्राकृत देहरूप में परिवर्तन हो जाता है और वे वहीं रह जाते हैं। अन्य पक्ष से जिनकी प्राकृतदेह पक्व है, वे परमपद में प्रवेश कर सकते हैं। उनकी यह देह प्रणवतनु में परिणत हो जाती है। वे वहाँ से लौट सकते हैं। उनका निर्गम हो सकता है। निर्गम होने पर उन्हें सिद्धदेह की प्राप्ति हो जाती है। यह देह अजरामर है। इनमें से कोई-कोई विश्व-कल्याणार्थ सिद्धदेह प्राप्त करके प्रणवतनु में प्रतिष्ठित होकर प्रणवदेह से पुनः सिद्धदेह में प्रत्यावर्तन करते हैं। लोक-कल्याण की शुद्धभावना रूप शुद्धवासना परितृप्त हो जाने के पश्चात्, वे पुनः प्रणवतनु से सिद्धदेह में प्रत्यावर्तन नहीं कर सकते।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् के परमधाम का वर्णन है। वहाँ जाने के पश्चात् प्रत्यावर्त्तन नहीं होता। वह पूर्ववर्णित परम पद का ही नामान्तर है। गीता में अन्यत्र उक्त है कि भगवद्स्वरूपगत परमपद में प्रवेशार्थ क्रमावलम्बन आवश्यक है। इसके लिए नैतिक जीवनोत्कर्ष की साधना द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त करना चाहिये। ब्रह्मपद ज्ञान की परानिष्ठा को कहते हैं। यह परमपद का प्राथमिक सोपान-मात्र है। ब्रह्मभूत होने पर चित्त निर्मल होता है। इस निर्मलता से पराभक्ति का उन्मेष होने लगता है।

इसके प्रभाव से पुरुष सम्बन्धित साधारण ज्ञान का उदय होता है। भगवान् का यह परमधाम सूर्य, चन्द्र, अग्नि से अतीत है। परम द्युतिमान है। किसी के मत से यह व्युत्थानहीन निरोध स्थिति का वर्णन है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जैसे यहाँ व्युत्थान नहीं है, वैसे ही निरोध भी नहीं है। अतएव उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। किसी के मत से यह नैमित्तिक समाधि है, किन्तु वास्तव में परमपद समाधि नहीं है। कारण, नित्योदित समाधि में व्युत्थान एवं समाधि सामरस्य विद्यमान रहता है। इसका विवरण 'क्रमसूत्र' में अंकित है। परमपद इन सभी स्थिति से परे तथा विलक्षण है। विष्णु का परमपद सर्वोच्च पद है। किन्तु उसके निम्नदेश में भी अनेक पद विद्यमान हैं। ये सब भी भगवत्-धाम हैं। इन निम्नपदों से वापस लौटा जा सकता हैं, इन्हीं पदों से अवतरण भी होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय में परमपद, परव्योम, परमव्योम, वैकुण्ठ प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। ये सब भगवान् की नित्य विभूति हैं। पूर्वोल्लिखित भगवान् के इन पदों में ऊर्ध्वत्रिपाद, नित्यविभूति परमपद, परव्योम तथा परमव्योम है। वैकुण्ठरूपी एक पाद को लीलाविभूति कहा गया है। नित्यविभूति अप्राकृत है। उदयान्तहीन एवं स्वप्रकाश है। ऋग्वेद ने 'त्रिपादस्य अमृतं दिवि 'एवं' विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः' रूप से नित्यविभूति का ही संकेत दिया है।' 'स्वयं रजसः तमसः परार्क' भी नित्य-विभूति का वैदिक निदर्शन है। श्रीमद्भागवत में भी इसका वर्णन है।

अब वैकुण्ठ शब्द का सामान्य अर्थ जानना चाहिये। माध्व सम्प्रदाय के वैष्णव- जन अनन्त आसन, श्वेतद्वीप तथा वैकुण्ठ में किंचित् भेद का उल्लेख करते हैं। उनके मत से परमपद 'दिवः परः' संज्ञा से अभिहित है। यही परमपद है। आकाशस्थ सूर्यमण्डल द्युलोक है। उससे परवर्त्ती 'दिवः परः' श्वेतदीप है। इनके मत से श्वेतदीप भी परमपद है। द्युलोक के इन्द्र सदन को ही द्युलोक कहा जाता है। माध्व सम्प्रदाय के अनुसार तत्परिवर्त्ती वैकुण्ठ को भी 'दिवः परः' कहा जा सकता है। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि एक ही 'दिवः परः' दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित किया जाता है। परमपद एक और अखण्ड है। अखण्ड और अद्वय होने पर भी प्रत्येक लोक के द्युस्थान अथवा ऊर्ध्वतम स्थान से यह दृष्टिगोचर होता है। यह 'दिवः परः' संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसी कारण अनन्त आसन, श्वेतदीप और वैकुण्ठ परस्पर पृथक् होने पर भी परमपद एक और अभिन्न है। परव्योम तथा परमव्योम का प्रयोग ऋग्वेद में भी परिलक्षित होता है। परव्योम के त्रिपाद का उल्लेख महानारायण उपनिषद् में अंकित है।

पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म की नित्यविभूति त्रिपाद है और लीलाविभूति एकपाद है। अखण्ड विराट् ब्रह्माण्डसमन्वित प्रकृति इस एकपाद विभूति के अन्तर्गत है। त्रिपाद एवं एकपाद विभूति के मध्य का व्यवधान विरजानदी अथवा कारणसलिल

के नाम से ख्यात है। जीव का कारणदेह यहीं पर विगलित होता है। सूर्य-मण्डल का भेद करने पर ही विरजा की प्राप्ति सम्भव है। सूर्य-मण्डल में प्रवेश के साथ लिङ्गदेह विनष्ट हो जाता है। उत्क्रमण-काल में ब्रह्मरन्ध्र भेद करने पर स्थूल देह का भेदन होता है। स्थूल देह का भेद होने के पश्चात् सुषुम्ना रश्मि के द्वारा सूर्य-मण्डल की ओर गति होती है। सूर्य-मण्डल भेद के उपरान्त विरजानदी में अवगाहन के समय कारणसलिल (कारणदेह) लीन हो जाता है। विरजा उन्मज्जन के साथ विशुद्ध देह प्राप्त हो जाती है। इसी विशुद्ध देह के द्वारा वैकुण्ठ में प्रवेश किया जाता है। यह देह अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय देह है। इसे पञ्चब्रह्ममय अथवा पञ्च उपनिषदमय देह भी कहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चतुर्दश भुवन हैं। इस प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा सप्तावरण की सत्ता परिलक्षित होती है। जो चिदानन्दमयी सत्ता इन सभी आवरणों से अतीत विराजित है, वहीं परमव्योम, दिव्यलोक अथवा वैकुण्ठ है। यह ब्रह्मादि से, वाक्, मन से अगोचर तथा कार्यकारणातीत है।

अन्य मत से परमपद स्थान विशेष है और स्वरूप से भिन्न है। किसी के मत से स्वरूप तथा स्थान में अभेद है। यह कहीं अनन्त है तो कहीं अविच्छिन्न। त्रिगुण भी अनन्त है, किन्तु यह त्रिगुणातीत होने के कारण विशेष महिमायुक्त है। यह अचेतन होकर भी स्वप्रकाश है।

भगवान् का दिव्य मंगलविग्रह जिस प्रकार ज्ञानात्मक है, यह भी उसी प्रकार ज्ञानात्मक है, तथापि यह धर्मभूत ज्ञान के समान पराक्, प्रत्यक् नहीं है। कारण, यह अन्य के प्रति प्रकाशमान होता है। जैसे सुषुप्ति के समय धर्मभूत ज्ञान का प्रकाश नहीं रह जाता, उसी प्रकार वृद्धावस्था में शुद्धसत्त्व भी अप्रकाशित ही रह जाता है। वृद्धावस्था में इसकी सिद्धि ज्ञान के विषयरूप में होती है। मुक्तपुरुषगण का अत्यन्त वैभव होने पर भी यह तन्निरपेक्षवत् है। यह उसी प्रकार है जैसे आत्मज्ञान का विषय होने पर भी स्वप्रकाश है। किसी के मत से शुद्ध सत्ता को स्वप्रकाश कहा जाता है, क्योंकि वह अत्यन्त दीप्तिसम्पन्न है। इसे ज्ञानसंज्ञा प्रदान करने का यह कारण है कि यह ज्ञान को आवरित नहीं करता। इसे आनन्दरूप भी कहते हैं, क्योंकि यह अनुकूल रूप, रस, गन्ध युक्त है, तथापि स्वरूपतः यह आनन्द और स्वप्रकाश नहीं है। यह पञ्चोपनिषद् का प्रतिपाद्य, पञ्चभूत इन्द्रिय सम्बन्ध है। जैसे प्राकृतजगत् पञ्चभूत तथा इन्द्रियसमूह का दर्शन होता है। ईश्वर तथा नित्यमुक्त महापुरुष इच्छानुरूप शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा विषय का वरण कर अवस्थान करते हैं। इनका शरीर इत्यादि कर्मजन्य नहीं है। अतः इसे जागीतक्र परिभाषा के अनुरूप शरीरइन्द्रिय, प्राण तथा विषय की संज्ञा प्रदान करना अनुचित है। भट्ट पराशरपाद के मतानुसार ईश्वरादि में मन की भी सत्ता है। श्रुति के अनुसार 'मनसा एतान पश्यन् रमते' तथा 'मनोऽस्य दिवं चक्षुः', 'सह अन्य कामं मनसा ध्यायते', 'मनसैव जगत्

सृष्टम्' आदि द्वारा मन की सत्ता को प्रमाणित किया गया है। यही नहीं, पाणि प्रभृति अन्य अवयव (अंग), भूषण, आयुध आदि के सम्बन्ध में भी धारण स्थापित है, अर्थात् ईश्वरादि के अवयव हैं और उनका शरीर भूषणादि द्वारा शोभित रहता है। लीलाभूमि में इन सब वैचित्र्यों का होना आवश्यक है, अन्यथा लीला ही नीरस हो जाती। विशुद्ध सत्त्व इन सबसे मण्डित होकर, विचित्र रूप धारण करके लीला को पुष्ट करता है। अन्य मतानुसार प्रकृति में चौबीस तत्त्वों की सत्ता है। इसी प्रकार अप्राकृत सत्ता (विशुद्ध सत्त्व युक्त ईश्वरादि में) भी चौबीस अप्राकृत तत्त्व विद्यमान हैं। प्राकृत तत्त्वों में कालजनित विकृति भाव का तथा परिवर्तन का दर्शन होता है, और एक तत्त्व से अन्य तत्त्व का परिणाम नियत क्रम के अनुसार ही होता है, परन्तु विशुद्ध तत्त्व में परिणाम होने पर भी प्रकृति विकृति (एक तत्त्व के क्रमानुसार अन्य तत्त्व का प्रकटीकरण) भाव नहीं होता। भगवदिच्छा अथवा मुक्त पुरुष की इच्छामात्र से विशुद्ध तत्त्व से भी अभीष्ट तत्त्व किंवा भाव की परिणति होती रहती है।

श्रुति प्रमाणानुसार समस्त दिव्य विग्रहादि नित्य है। दिव्य विभूति में शरीरादि संस्थान प्रायः सामान्य प्राकृत के अनुरूप होते हैं। नित्य विभूति के अन्तर्गत कोई-कोई विषय परिणामहीन एवं नित्य होने पर भी, कोई-कोई विषय परिणामी तथा अनित्य भी परिलक्षित होते हैं। नित्य विषय के अन्तर्गत भूषण, आयुध, आसन, परिवार, आयतन, उद्यान वाटिका, क्रीड़ा, पर्वत आदि की गणना होती है, परिणामी (अनित्य) विषय के अन्तर्गत वृक्षस्थ पल्लव कुसुम, नदी की तरंग तथा विग्रह के विनवादि का उल्लेख किया जाता है। अनित्य होने पर भी नित्य विभूति का परिणामी विषय कालकृत नहीं है तथा वह कर्मादि का फल भी नहीं है। इनकी रचना भगवत् संकल्प से होती है। नित्य जीव एवं ईश्वर का कोई-कोई शरीर नित्य होता है और कोई शरीर अनित्य भी हो सकता है। नित्येच्छा परिग्रहमूलक शरीर नित्य तथा अनित्य इच्छामूलक शरीर जनित्य होता है। मुक्त पुरुषगण को जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है। कारणमुक्त पुरुषगण कभी शरीरी तथा कभी अशरीरी अवस्था में संचरण करते रहते हैं। श्रीभाष्य में इसका वर्णन है। नित्य धाम की सभी इन्द्रियाँ नित्य हैं। वे इन्द्रियाँ आकाश के समान उपादाननिरपेक्ष सत्ता से सत्तान्वित हैं। उनमें से अनेक नित्य पुरुषगण तथा ईश्वर के लिए अनादि काल से प्रयुक्त होती आ रही हैं। मुक्त पुरुषगण का इन्द्रियपरिग्रह भी उनके शरीरपरिग्रह के समान सामयिक ही रहता है। इनका शरीरपरिग्रह भगवद् अभिप्रेत तत्कैंकर्य्य स्वरूप भोग के लिए ही है। इसके अतिरिक्त भगवान् के स्वभोगार्थ तथा स्वाँगीभूत नित्यमुक्त पुरुषों को आनन्द प्रदान करने के अभिप्राय से एवं मुमुक्षु वर्ग की उपास्यता सिद्धि के लिए इनका शरीरादि परिग्रह होता है। भगवान् का यह शरीर परिग्रह कभी-कभी केवल मात्र परम पुरुष के संकल्प से होता है और कभी-कभी नित्यसंकल्प का अनुसरण करते हुए स्वसंकल्पानुसार भी हो सकता है।

वेदान्तदेशिकाचार्य ने 'परमपद सोपान' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें परमपद मार्गस्थ नौ अवस्थाओं का वर्णन है। विवेक, निर्वेद, विरति, भीतिभाव तथा उपाय की गणना पञ्चोपाय के अन्तर्गत उल्लिखित है। उत्क्रमण, अचिरादि, दिव्यदेश प्रभाव तथा प्राप्ति को आरोहण के अन्तर्गत परिगणित किया है। विवेक शब्द का तात्पर्यार्थ है कि ब्रह्म की शरीरी तथा आदिरूप से उपासना। कर्म एवं पापवशात् उदित अनुताप का नाम है निर्वेद। लौकिक एवं पारलौकिक भोग विषय से वैराग्य एवं कैवल्य के प्रति अनिच्छा, यह विभूति है। संसारभय का नामान्तर है भीतिभाव। भक्ति एवं प्रपत्ति के फल से भगवान् एवं गुरुकृपाजनित अहंकार नाश को ही उपायरूप से उपादेय बतलाया गया है। मुक्ति का अर्थ है परमपद की पुनः प्राप्ति। आत्मा मुक्त होकर कहीं नहीं जाती, प्रत्युत् उसे ब्रह्मरस, ब्रह्मगन्धादि अवस्था की प्राप्ति होती है। परमपद में काल-प्रभाव नहीं है। महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है—'कालं स पचते तत्र न कालः तत्र वै प्रभुः'। परमपद अप्राकृत आनन्दलोक तथा आकाशस्वरूप है। यह अजड़ ज्ञानवत् स्वप्रकाश है और आत्मा के भोगार्थ परिचित है। यह स्थान कोटि-कोटि सूर्य के समान समुज्वल है। उक्ति है—'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्'। 'कौषीतकी उपनिषद्' तथा रामानुज-कृत् 'वैकुण्ठ गद्य' में इसका वर्णन किया गया है। वैकुण्ठ गद्य तथा परमपद सोपान में भगवान् श्रीहरि का वर्णन है। प्राकृत जगत् (अचित्) ही उनका श्रीवत्स है तथा अप्राकृत् जगत् उनकी कौस्तुभ मणि है। देह-धारण करना उनके लिए बन्धनात्मक नहीं है, आनन्द लीलार्थ है। नित्यसूरिगण परमपद का जिस प्रकार अनुभव करते हैं उसे नित्यवर्तमाना (Eternal now) रूप में कहा जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने 'परमपद व्योम' शब्द से परमपद को ही लाक्षित किया है। रामायण में 'तच्छाकाशं सनातन' तथा महाभारत 'दिव्यस्थानं अजनं चाप्रमेयं' रूप से परमपद की ही स्तुति की गयी है। नित्यसत्त्व ऊर्ध्व प्रदेश अनन्त है तथा अधःप्रदेश सीमित एवं परिच्छिन्न है। नित्यसत्त्व में अप्राकृत पञ्चशक्ति की क्रीड़ा चलती रहती है। जो परमपद तथा नित्यविभूति को प्रकृति का अंग मानते हैं, उनके विचार असंगत है। इस परमपद में रूप, रस आदि सब कुछ है, तथापि कोई भी प्राकृत नहीं है, वरन् सभी अप्राकृत है। वहाँ की विभूति आमोद, प्रमोद, सम्मोद तथा वैकुण्ठ चतुर्विध है। यह विभूति अनन्त भी है। इसमें द्वादश आवरण सहित गोपुर तथा प्रांगण प्रभृति द्वारा आवेष्टित वैकुण्ठ नामक नगर है। आनन्द नामक दिव्य आलय है। इसमें रत्नखचित स्तम्भों से विरचित, मणि-रचित महामणिमण्डप नामक सभा की सत्ता है। इसमें सहस्त्रफणा युक्त भगवान् अनन्त विराजमान हैं। अनन्त के ऊपर धर्म-ज्ञान-वैराग्य तथा ऐश्वर्यमय पादविशिष्ट एक दिव्य सिंहासन स्थित है। उसके ऊपर चामर लिये विमलादि सखी अष्टदलकमल की सेवा करती रहती है। उसके ऊपर प्रकृष्ट विज्ञानमूलक शेष विराजित है। शेष के ऊपर वाक्य एव मन से अगोचर वह परम अव्यक्त अद्भुद् वस्तु विराजमान है।

भगवान् के अस्त्राभूषण भी दिव्य हैं। बुद्धि ही उनकी हस्तस्थित गदा है। सात्त्विक अहंकार शंखरूप में, तामसिक अहंकार शार्ङ्ग धनुषरूप में तथा ज्ञान खड्गरूप में सुभोभित है। अज्ञान ही उनका आवरक कोष है। मन ही चक्र है और ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक के रूप में शर (तीर) विद्यमान है। समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल भूतसमूह उनकी वनमाला हैं। कौषीतकी उपनिषदोक्त पर्यक विद्या में तथा शाष्टायनी गणशास्त्र में भगवत्स्वरूप का किंचित् उल्लेख है। श्रीरामानुज के गुरु यादवप्रकाश ने परमपद के सम्बन्ध में अपने मत का प्रकाशन किया है। उनके मतानुसार 'अक्षरे परमे व्योमन्' में परमव्योम शब्द है जो परमपद का वाचक है। यह त्रिगुण परिणाम एवं अव्यक्त तथा तमोगुण, दोनों के अन्तराल स्थित ईश्वर तथा मुक्तपुरुषगण के भोगस्थान स्वरूप द्वैतात्मक संसार में विसर्ग अविद्यारूप भेद का उन्मीलन करता है। शिवाद्वैत में संसार के साथ विद्यारूप से अभेदभाव ग्रहण किया जाता है। परशिव का संसार भेदाभेद मिश्र है। अतएव यहाँ विसर्ग से एक साथ अविद्या रूप से भेद एवं अभेद, दोनों का प्रकाशन हो जाता है। यही सामरस्य है। यह एक अद्भुत रहस्य कहा गया है। सिद्धों के मतानुसार भेद और अभेद को एकरूप से देखना ही संसार है। इसमें कलंक है। शुद्ध अन्तर्मुख भावरूप विश्राम का इसमें अभाव है। महाबिन्दु संसार द्वारा पूर्णतः अस्पृष्ट है। यह परम अनुत्तरधाम है। यह पूर्ण विमर्श स्वभाव है और महाविश्रान्ति का स्थल है। इसकी भी एक परावस्था है। सकल महाबिन्दु की तुरीय अस्था में प्रपञ्च नहीं रहता तथापि प्रपञ्च की, कामकला की गन्ध किंचित् परिमाण में स्थित रह जाती है। वह निष्फल महाबिन्दु में समाप्त होती है। वही निष्फल महाबिन्दु ही परमव्योम है।

सर्वत्र संसार विद्यमान है। शुद्ध महाबिन्दु पद में संसार समाप्त हो जाता है। यह अन्तर्मुख विश्राम भूमि है। अनुत्तर परम धामस्वरूप है। प्रकारान्तर से महाबिन्दु की दो स्थिति है। प्रथम है स्वभाव पूर्ण विमर्श। विमर्श ही संसार का उपादान है। यद्यपि यह महाविश्रान्ति पदावाच्य है तथापि इसमें संसारानुसन्धान गन्ध विद्यमान रह जाती है। यह तुरीय पद भी है। महाबिन्दु की द्वितीय स्थिति परमव्योमरूपा है। यह है तुरीयातीत पञ्चाम्नाय शोधित निष्कल महाबिन्दुरूप परमपद। चित्रकूटवासी सन्त महात्मा सीतारामदास बाबा कहा करते थे कि महासत्ता में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है। यह है परम शून्य स्थान। शून्य के पश्चात् का द्वितीय खण्ड तेजपुंज रूप एवं कोटि सूर्य के समान उज्ज्वल है। अनेक साधक इसका भेदन करने में समर्थ नहीं होते। प्रथम खण्ड अक्षर है। यह शून्य स्थान है। इसे ब्रह्म भी कहा गया है। इसके पश्चात् निरक्षर पद है। यह महाशून्य रूप है। इसमें भी दो पद हैं। प्रथम है सहज पद और द्वितीय है अचिन्त्य परमपद। सर्वान्त में निरक्षर की अतीत स्थिति अनुभूत होती है। यहीं सत्यलोक अवस्थित है। तदनन्तर

कुमारलोक तथा चरम स्थिति में उमालोक है। इन सबको परमधाम ही कहते हैं। यहाँ सत्पद, अलक्ष्यपद, अगमपद (श्रीकृष्णपद) तथा अनामीपद (श्रीरामपद) अवस्थित है। अनामीपद परमपद का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप विकास है। वशिष्ठ संहिता के अनुसार परमपद वैकुण्ठ से अभिन्न है। वह विरजा के परमपद स्थित है। गोलोक इससे परवर्ती कहा गया है। गोलोक सर्वेन्द्रिय गोचर भी है। गोलोक का महाबिन्दु साकेत है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोणानुसार श्रीराम एवं श्रीकृष्ण की लीलाभूमि साकेत के ही अवान्तर प्रदेश में अनुभूत होती है। पूर्व में मिथिला, दक्षिण में चित्रकूट, पश्चिम में वृन्दावन, उत्तर में महावैकुण्ठ विराजमान हैं। महावैकुण्ठ में पार्षदों के साथ स्वयं नारायण विराजित हैं। साकेत के भी सात विभिन्न आवरणों का उल्लेख प्राप्त होता है। दिव्य अयोध्या के अन्तर्गत द्वादश वन सुशोभित होते हैं।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में परमपद का भिन्न-भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। नित्यलीलावादी भक्तों के सिद्धान्त से परे एक चिन्मय तथा आनन्दमय राज्य की सत्ता है। कालराज्य तथा आनन्दमय राज्य के मध्य विरजा (कालिन्दी) उभयलोक के व्यवधानरूप में विराजित है। यह विरजा ही कारणसलिल है और उसके परपार स्थित समग्र भूमि महाकारण सत्ता का ही अंग है। वह अप्राकृत भूमि है, जहाँ त्रिगुण की कोई क्रीड़ा नहीं होती। उसका उपादान है शुद्ध सत्त्वरूप आनन्द से उद्भासित सत्ता। भक्तों के भाव के अनुरूप अथवा भक्ताधिष्ठाता भगवान् के संकल्प के अनुरूप यह शुद्धसत्त्व ही आनन्दरूप धारण करता है। वहाँ काल-प्रभाव तथा अविद्यावरण नहीं है। वहाँ कर्मबीज दग्ध है और निर्बीज क्रियाशक्ति ही प्रकट रहती है। वहाँ सृष्टि तथा संहाररूप काल का लेशमात्र भी नहीं है।

●

मधुर साधना

ब्रह्मतत्त्व का अर्थ है जब परमात्मा में किसी गुण अथवा शक्ति का कोई प्रकाश नहीं रहता। ब्रह्म निर्गुण तथा निःशक्तिक है। सच्चिदानन्द तत्त्व ही ब्रह्मतत्त्व है। जब गुणों का प्रकाशन होता है और शक्ति भी प्रकाशित हो जाती है, तब वह भगवत् तत्त्व अथवा परमात्म तत्त्व है। गुण का प्रकाशन हुए बिना निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण साकार के रूप में कभी भी परिणत नहीं हो सकता। इस कारण गुणमय तत्त्व आवश्यक है। भक्तगण कहते हैं कि चौसठ कलाओं के चौसठ गुणों को पूर्ण प्रकाश एकत्रित होने पर•जो तत्त्व प्रकट होता है उसमें जनन शक्ति का प्रकाश प्रतिफलित होने लगता है। यह तत्त्व ही 'स्वयं भगवान् है।' उनके अन्दर अनन्त शक्ति के साथ ही चौसठ गुणों का भी प्रकाश परिव्याप्त रहता है। गुणों की किंचित् न्यूनता होने पर अनन्त शक्ति का प्रतिफलन नहीं हो सकता, यह सत्य है, तथापि ऐसी स्थिति में भी लाखों-करोड़ों शक्ति का प्रकाश अवश्य हो सकता है। करोड़ों की संख्या अनन्त पदवाच्य नहीं है। अतएव चौसठ गुणयुक्त को 'स्वयं भगवान्' तथा चौसठ गुणों से किंचित् न्यून गुणयुक्त सत्ता को मात्र 'भगवान्' कहते हैं। भगवान् तथा स्वयं भगवान् में यही पार्थक्य है। 'स्वयं भगवान्' अन्य निरपेक्ष सत्तायुक्त है। भगवान् की स्थिति अन्य सापेक्ष है। गुणों की न्यूनता के कारण भगवान् को अन्य की अपेक्षा रहती है। शास्त्रकारों के अनुसार 'भगवान्' 'स्वयं भगवान्' के विलासमात्र है। जैसे रासलीला काल में एक श्रीकृष्ण ने असंख्य श्रीकृष्ण का विकास किया था। प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण का योग हुआ था। क्या मूल कृष्ण (जो राधा के साथ थे) तथा गोपिकाओं के साथ लीलारत असंख्य कृष्ण में कोई पार्थक्य था? सभी कृष्ण एक ही थे। गुणगत तारतम्य से, शक्तिविकासगत तारतम्य से उनमें कोई भेद ही नहीं था। बहुत्व का अर्थ है प्रकाश। गोपिकाओं के साथ वाले कृष्णसमूह में कोई पार्थक्य नहीं है। न्यूनता होने से उस सत्ता का नाम 'विलास' हो जाता है, परन्तु यहाँ मूलकृष्ण तथा कृष्णसमूह में तारतम्यगत कोई न्यूनता नहीं है, अतः इस विकास को प्रकाश कहते हैं। यह दोनों अवस्था भगवान् की लीला के अन्तर्गत है। गुणों का न्यूनाधिक्य जहाँ है, वहाँ भीं स्वरूपगत ऐक्य की ही सत्ता रहती है। जो सच्चिदानन्द तत्त्व ब्रह्मरूप से प्रतिष्ठित है, वही सच्चिदानन्द स्वयं भगवान् संज्ञा से अभिहित है, तथापि जहाँ गुण अथवा शक्ति का किंचित् प्रकाश नहीं है, उसे ब्रह्म कहा जाता है। जहाँ पर चौसठ गुण युक्त होने के कारण अनन्त शक्ति का प्रकाश है उसे 'स्वयं

भगवान्' तथा जहाँ चौसठ गुण से किंचित् न्यूनता है, अतः शक्ति का अनन्त प्रकाश नहीं है उसे 'भगवान्' कहते हैं। जहाँ गुणों की और भी अधिक न्यूनता है, उस तत्त्व को 'परमात्मा' कहते हैं।

परमात्मा में किस शक्ति का प्रकाश होता है? परमात्मा में अनन्त शक्ति समन्वित स्वरूपशक्ति का आभास मात्र प्रकाशित होता है। इसके साथ ही उसमें जीवनशक्ति एवं मायाशक्ति भी स्थित रहती है। अनन्त शक्ति त्रिधा विभक्त है यथा अन्तरंग, बहिरंग तथा तटस्था अन्तरंग शक्ति ही स्वरूप शक्ति है। बहिरंग शक्ति को मायाशक्ति कहते हैं। यह स्वरूप के बाहर रहती है। तटस्थ शक्ति ही जीवनीशक्ति है। इस तटस्थ शक्ति का स्थान स्वरूप तथा माया के मध्य में कहा गया है। यह जीवशक्ति है। इस शक्ति द्वारा परमात्मा से जीव अणुओं का निरन्तर निर्गमन होता रहता है। मायारूपी बहिरंग शक्ति स्थूल सूक्ष्म तथा कारणदेह का पार्थक्य सम्पादित करती रहती है। माया का प्रत्यक्ष कब होता है? जब परमात्मा छप्पन गुणों के साथ मूर्त होते हैं। इस स्थिति में वे माया तथा जीव के अधिष्ठाता होते हैं। परमात्मा माया को क्षुब्ध करके तथा जीव को देहदान देकर जीव को मायाबद्ध करते हैं और जीव इस बन्धन में बद्ध होकर स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह में लोक-लोकान्तर में घूमता रहता है। यहीं संसारी जीव का लक्षण है। यह परमात्मा-कृत क्रीड़ा है। छप्पन गुणों की न्यून सत्ता को परमात्मा नहीं कहा जा सकता। उसे उच्चकोटि का जीव ही कह सकते हैं। वह परमात्मा का अंश है। अब परमात्मा अंशी है। जीवात्मा उन्हीं का अंश है। जीवात्मा में छप्पन गुणों से अधिक प्रकाशित नहीं हो सकते। छप्पन गुणों से अधिक गुणों का प्रकाश होते ही जीवभाव कट जाता है। क्रमशः गुण की न्यूनता होने से जीवसत्ता भी तदनुरूप निम्नस्तरीय जीवसत्ता होती है। निम्नस्तरीय जीव में भी कम से कम एक गुण की स्थिति आवश्यक है। गुणशून्य जीव हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार गुणाधिक्य होने से जीव में शक्ति का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। इस प्रकार पैंतीस गुण पर्यन्त ज्ञान तथा शक्ति का विकास होता जाता है। पचपन गुणों से छप्पनवें गुण तक उत्तीर्ण होने के लिए गुरुकृपा अथवा भगवत्-कृपा आवश्यक है। छप्पन गुणयुक्त जीव को उच्चस्तरीय जीव अथवा दैवी सत्तायुक्त कहते हैं। छप्पन गुण पर्यन्त उत्तीर्ण जीव माया से अभिभूत नहीं होता।

क्या भगवत्-कृपा अथवा गुरु-कृपा बिना जीव पचपन से छप्पन गुण पर्यन्त उत्तीर्ण हो सकता है? यह प्रश्न उत्थित होना स्वाभाविक है। मात्र ज्ञान द्वारा यह अतिक्रमण सम्भव है। परन्तु इस स्थिति में जीव को निर्निमेष दृष्टि की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से वैचित्र्य का दर्शन नहीं किया जा सकता। यह दृष्टि अखण्ड एवं अविभक्त सत्ता का ही दर्शन प्राप्त कर सकती है। इसे ब्रह्म-साक्षात्कार कहते हैं। इस ज्ञान को अभेद ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीव के साथ ब्रह्म के अभेदत्त्व का ज्ञान। यही

ब्रह्मविद्या है। इस ज्ञान से क्या दर्शन होता है? अपने साथ ब्रह्म के अभेदत्त्व का दर्शन होता है। वह स्वयं को स्वयं देखता है। यदि यह ज्ञान, विज्ञान में परिणत हो सके। उस स्थिति में भक्ति-भाव का उदय होना अवश्यम्भावी है। इस अवस्था को 'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा' कहते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि विज्ञान ही विशिष्ट ज्ञान है। विशिष्ट ज्ञान भक्तियुक्त ज्ञान है। अर्थात् ज्ञान का रूपान्तर भक्ति के रूप में होना। अब ब्रह्मज्ञान के स्थान पर परब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। यद्यपि ब्रह्मज्ञानी निर्निमेष दृष्टि द्वारा यह अभिज्ञता प्राप्त करता है कि ब्रह्म एव जीव अभिन्न है, तथापि भाग्यक्रम से अपांगवीक्षणवत् विचित्र दृष्टि की प्राप्ति (गुरुकृपा से) होने पर अखण्ड सामान्य ब्रह्म में अनन्त का दर्शन प्राप्त होता है। यह भक्तिगण दर्शन है। यह सालोक्य दर्शन ही सामीप्य में परिवर्तित होता है। तदनन्तर सायुज्य आदि अवस्था की प्राप्ति होती है। सालोक्य, सारूप्य, साष्टि, तदनन्तर सामीप्य तत्पश्चात् सायुज्य। इस क्रमोन्नति में पारमेश्वर ऐश्वर्य्य की भी प्राप्ति होती है। भक्त इस ऐश्वर्य को ग्रहण न करके दासवत् सेवा में लीन रह जाता है। भक्ति भी दो प्रकार की होती है।। प्रथम है सेवारूपा तथा द्वितीय है प्रेमारूपा। सेवारूपा भक्ति प्रथम साधन से होती है। इसका फल है प्रेमारूपा भक्ति। इस क्रम-विकास में यह परिलक्षित हुआ है कि प्रथमतः परमात्मा पर्यन्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है और वह ज्ञान के फल से ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है। इतने पर भी वह परमात्मा के वैशिष्ट्य को अंगीभूत नहीं कर सकता। अतः उसे देव द्वारा परमात्मा की उपासना करते-करते सारूप्य आदि स्थिति की प्राप्ति करना ही चाहिये। इससे भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्ति द्वारा भगवद्धाम में प्रवेश मिलता है। अब भक्ति ही अनुष्ठेय होती है। भगवान् की स्वरूपशक्ति की संवितरूपी चित्शक्ति तथा आनन्दरूपाह्लादिनी शक्ति इन्हें मिलाकर उसके सारांश का अवलम्बन करना। यही है यथार्थ भक्ति। यह भक्तिरूपी वस्तु कहाँ है? 'भगवद्धाम' में यह भक्ति वैधी भक्तिरूप में विराजमान है और 'स्वयं भगवद्धाम' में यह भक्ति मुख्य प्रेम भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। वैधी भक्ति का स्थान वही है, जहाँ भगवान् को परमेश्वररूप से उपलब्ध किया जा सकता है। इसमें भगवान् के प्रति प्रेम होते हुए भी एक दूरी (Distance) का भाव विद्यमान रह जाता है। यहाँ दास्य भाव का प्रकाश होता है। भगवान् के साथ स्वामी तथा दास के रूप में व्यवहार चलता रहता है। दास जैसे स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार वह भगवान् की आज्ञा का पालन करने में लीन रहता है। इस प्रकार करते-करते भक्त के आस्वादन का विकास होने लगता है। इस भक्ति के विकासार्थ गुरुजनों की आज्ञा का पालन करते रहना चाहिये। यही वैधी भक्ति है।

रागमय भक्ति का रूप अन्य प्रकार का है; वह है शुद्ध प्रेमरूपा। भक्त भगवान् के प्रति अहैतुक प्रेम करता है। इस प्रेम की पृष्ठभूमि में शास्त्र, वेद, वेदान्त आदि

का कोई अस्तित्व नहीं रहता। भगवान् ने गीता में कहा है—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'। प्राणों की सरल भक्ति से जो भी दिया जाये उसे भगवान् ग्रहण करते हैं। यह है रागमयी भक्ति। इसमें कोई विधि-निषेधादि नहीं है। भक्त को जो अच्छा लगता है, वही भगवान् का अभीष्ट है। इसी भक्ति को लक्ष्य करके 'God is Love' 'प्रेम ही ईश्वर है' की उक्ति यथार्थ प्रतीत होती है। रागानुगा भक्ति में भगवान् की इच्छा प्रधान नहीं रहती। इसमें भक्त की इच्छा प्रधान रहती है। भक्त की इच्छा को भगवान् स्वीकार करते हैं। भक्ति के दृष्टिकोण से अनन्तरूप भगवान् के दो रूपों का प्रत्यक्ष होता है। प्रथम रूप है स्वयं भगवान्, जो माधुर्यप्रधान हैं, जिनमें पूर्ण ऐश्वर्य है। इन सबको ढँककर माधुर्य के ही अन्तर्गत रखते हैं, जैसे भगवान् ने शिशुरूप धारण किया है। शिशु चंचलता तथा शैतानी करता ही है। माँ शिशु की चंचलता तथा क्रीड़ा को देखकर शासन के दृष्टिकोण से उसे मारने दौड़ती है। शिशु स्वभावतः प्रताड़ना से बचने के लिए भागता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। शिशु बनकर शिशु के समान व्यवहार करना होगा, अन्यथा लीला निष्प्रयोज्य हो जायेगी। अन्यथा शिशु बनने का क्या-क्या प्रयोजन? वे तो भगवान् हैं, पूर्णरूप में प्रतिष्ठित हैं। जब उन्होंने शिशु बनकर तद्वत् लीला करना स्वीकार किया है, तब उन्हें शिशु के समान ही व्यवहार करना होगा। वहाँ ऐश्वरीय शक्ति का प्रदर्शन करने से रसभंग-दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतएव माधुर्य भक्ति में भी वैधी भक्ति अनुष्वंग है, कारण, जहाँ भगवान् की माधुर्य लीला है, वहाँ उनका ऐश्वर्य भी विराजित है, तथापि यदि भक्त मात्र माधुर्य भाव का उपासक है, तब ऐश्वर्य को आवरित रखना ही होगा। अतः भगवान् अपनी ऐश्वर्यसत्ता को गोपित कर देते हैं। भगवान् अत्यन्त महान् हैं, तथापि भक्त उनकी भगवत्ता को नहीं देख रहा है, वह उन्हें विश्व जगत् के स्वामी के रूप में देख ही नहीं सकता। भगवान् कितने हीं बड़े क्यों न हों, रागमयी भक्त रुचि उनके उस महाराजत्व की ओर दृष्टिपात नहीं करती। भक्त रुचि भाव के भीतर स्थित वास्तविक यथार्थ रूप को ही स्वीकार करती है। यही माधुर्यमय भक्त का वैशिष्ट्य है। एतद्विपरीत ऐश्वर्यभाव के उपासक भगवान् को जगन्नियन्ता रूप में, गुरु-रूप में, विश्व जगत् के अधिष्ठाता रूप में देखते हैं। इन ऐश्वर्य साधकों में भी माधुर्य भाव का उद्रेक हो सकता है। इसी प्रकार माधुर्य भाव के भक्तों के हृदय में भी ऐश्वर्य भाव का जागरण होना सम्भव नहीं है, तथापि लीलापुष्टि के लिए योगमाया इस स्थिति को स्थायी नहीं होने देती। यशोदा को श्रीकृष्ण ने मुख में ब्रह्माण्डदर्शन कराकर ऐश्वर्य भाव का जागरण कराया। जो यशोदा उन्हें मारने जा रही थीं वहीं उन्हें प्रणाम करने लगीं। यही रसभंग है। शिशु की दुष्टता के नीचे माँ उसे ताड़ना देगी ही। क्या शिशु उसे अपना शक्ति वैभव दिखलायेगा? यही योगमाया का कार्य निश्चित रहता हैं। वे कहती हैं—'तुम जो शिशु हो। यह क्या कर रहे हो। शिशु के समान क्रीड़ा करो।'

नर-लीला को भक्त की अपेक्षा है, ऐश्वर्य की नहीं है। नर-लीला को यथावत् चलना होता है, क्योंकि भक्त की अपेक्षा है, ऐश्वर्य की नहीं है। नर-लीला को यथावत् चलना होता है, क्योंकि भक्त को उसकी अपेक्षा रही है। धरा पर अवतीर्ण नित्यरूप भगवान् नित्य ही हैं। वहाँ काल नहीं है, अथच लीला दृष्टि से काल है। क्रीड़ा के लिए काल की आवश्यकता है। काल भी लीला-परिकर बन जाता है। काल भी नित्य है। जहाँ जैसी लीला की आवश्यकता होती है वहाँ काल भी वैसा ही बन जाता है। भगवान् की समस्त लीलाओं में माधुर्यलीला सर्वप्रधान है। यह लीला केवल मात्र भगवद्प्रेम प्रकाशनार्थ होती है। इस प्रेमतत्त्व को समझने के लिए पर्यालोचना करना आवश्यक है। प्रथम है रति। रति का तात्पर्य है भाव। भगवान् की ओर उन्मुख होने पर चित्त में जो भाव उठता है, वही प्रेम में परिणत हो जाता है। भाव क्रमशः प्रेमरूप में परिणत होता है। भाव का अर्थ है कृष्ण के प्रति प्रणय अथवा उनके दर्शन की तीव्र कामना। उन्हें स्पर्श करने की आकांक्षा, उनके अंग गन्ध की आकांक्षा, उनकी आज्ञाओं का पालन करने की इच्छा, इत्यादि। इन इच्छाओं के साथ लीला क्षेत्र की इच्छा का संघर्ष होता है। इच्छा का अर्थ है मनुष्य की अपनी इच्छा। यह साधारण इच्छा है और एक इच्छा है, शुद्ध निर्मल इच्छा। इन दोनों में पार्थक्य है। अपनी इच्छा उतनी प्रबल नहीं होती। भगवान् की इच्छा ही प्रबल होती है। भगवान् की इच्छा साधारण मनुष्य की इच्छा पर विजयी होगी, यह निर्विवाद हैं। यह एक आयाम हुआ। द्वितीय आयाम वह है जहाँ भगवद्इच्छा प्रबल नहीं है, साधक की अपनी इच्छा भी प्रबल नहीं है, प्रत्युत् विधि का विधान प्रबल है। इस प्रकार की व्यवस्था दृष्टिगत होती है। लीला में ऐसा नहीं है। लीला में दोनों ओर की इच्छा की आवश्यकता है। एक इच्छा भगवान् की ओर से, दूसरी भक्त की ओर से। ब्रह्मस्वरूप में इच्छा नहीं होती, इच्छा भगवत्स्वरूप में होती है वह इच्छा है कि वे भक्त के साथ क्रीड़ा करेंगे। भक्त की भी एक इच्छा रहती है। वह है भगवान् के साथ भाव संसर्ग की। यहाँ एक और दिशा है, यदि भक्त की इच्छा इस प्रकार की हो कि वह भगवान् के साथ प्रेम करेगा, भगवान् को चाहना ही उसका आनन्द है, तब वह इच्छा एकजातीय प्रेम के रूप में परिणत हो जाती है। एक और प्रकार की इच्छा है कि 'मैं भगवान् को चाहूँगा, इसमें मुझे आनन्द हो, अथवा न हो, मैं भगवान् को इसलिए चाहूँगा कि इससे भले ही मुझे आनन्द मिले परन्तु इससे भगवान् को आनन्द मिलेगा या नहीं मिलेगा, यह मैं नहीं जानता। भगवान् को चाहना ही मेरा एकमात्र कर्त्तव्य है।' गुरु नानक ने तथा शास्त्रों ने भी यही कहा है—'मैं भगवान् को चाहता हूँ, यही मेरा कर्त्तव्य है।' चाहना अर्थात् उनकी सेवा करना। एक और भी भाव है—'मैं भगवान् को चाहने से आनन्द प्राप्त करूँ, यह मेरा भाव नहीं है। मेरा कर्त्तव्य है उनकी सेवा करना।' अन्य भाव के अनुसार—'भगवान् मेरी प्रीति से

आनन्द प्राप्त करेंगे, यह भी भाव मेरा नहीं है। भगवान् से प्रीति करना मेरा कर्त्तव्य है, यह भी मेरा भाव नहीं है। किन्तु भगवान् मुझे रुचिकर न हों, तथापि मैं उन्मुख रहूँगा। इससे मेरा अमंगल हो तब भी मैं विमुख नहीं हो सकता। उनकी ही इच्छा पूर्ण हो। 'God they will be done' भगवान् तेरी इच्छा पूर्ण हो !'

'मैं अपने आनन्द के लिए भगवान् को चाहता हूँ।' इसके लिए उपासना, भजन, सेवा करते करते भक्त को आनन्दोल्लास होता है। ब्रह्म भी तृण समान लगे ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु यह स्वार्थपरता है। मैं अपना ही आनन्द देख रहा हूँ, यहाँ पर। यह साधारणी रति की भक्ति है। जब भगवान् के आनन्द के लिए अथवा कर्त्तव्य-पालन के लिए उपासना न करके अपने आनन्दार्थ उपासना की जाती है, यह निम्नस्तर का भगवद्प्रेम है। एक और रति है। मैंने आनन्द प्राप्त किया अथवा नहीं, यह मुख्य बात नहीं है। मेरा कर्त्तव्य है भगवान् को चाहना, सेवा करना। मैं आनन्द प्राप्त करूँ अथवा न प्राप्त करूँ, इस ओर मेरा दृष्टिपात है ही नहीं। इसे समंजसा रति कहा गया है। एक प्रकार के भक्त और होते हैं। मुझे आनन्द मिलेगा अथवा नहीं, मैं इसका विचार नहीं करना चाहता, भगवान् को चाहने से मुझे स्वर्गादि मिलेगा, इसकी ओर भी मेरा भ्रूक्षेप नहीं है। वे मुझे चाहते हैं। उन्हें तृप्त करने के लिए मैं उन्हें चाहता हूँ। अपनी तृष्टि के लिए उन्हें मैं नहीं चाहता। मुझे अपनी तृप्ति का तनिक भी विचार नहीं है। भले ही इस प्रक्रिया में मेरा अमंगल हो, तथापि उनकी तृप्ति होती रहे। इस भावना को समर्था रति कहते हैं। यहाँ भगवान् की इच्छा प्रधान है। समर्था रति ही श्रेष्ठ रति है। साधारणी रति का दृष्टान्त है कुब्जा, समंजसा रति का दृष्टान्त है द्वारकापुरी की राजमहिषी, समर्था रति का दृष्टान्त है ब्रज की गोपिकायें। समर्था रति महाभाव पर्यन्त उन्नीत कर देती है। महाभाव से ऊर्ध्व में राधातत्त्व अवस्थित है। साधारणी रति महाभाव पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकती। उसका स्रोत आधे रास्ते में ही शुष्क हो जाता है। दिव्य प्रेम भगवान् तक को वशीभूत कर देता है। अतः दिव्य प्रेम सर्वोपरि है। उसके समान कुछ भी नहीं है। निजानन्दाकांक्षा जितनी ही समाप्त होती जाती है, भगवद्स्वरूप उतना ही सन्निकट होता जाता है। मैं संसार की कामना नहीं करता, इस विराट् ईश्वरत्व की कामना मुझे नहीं है। 'मैं कुछ नहीं चाहता तथापि भगवत् आनन्द मुझे चाहिये। मुझे समस्त दुःख हो, उससे भी मेरी क्षति नहीं है।' इस मनोवृत्ति के अभाव में महाभाव का आधार भक्त के हृदय में निर्मित नहीं होता। राधातत्त्व अत्यन्त सहज तत्त्व नहीं है। निजभाव लेशमात्र भी विद्यमान रहने पर कृष्ण को पाना दुष्कर है। आधार निर्मल नहीं है, अतः कृष्ण भी अत्यन्त दूर हैं। समर्था रतिभाव का उन्मेष होने के उपरान्त महाभाव में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। महाभाव में प्रवेश के उपरान्त भगवान् के नित्यलीला में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो सकेगा। समंजसा रति के साधक भी रासलीला में प्रवेश नहीं कर सकते।

निजानन्द तथा निजैश्वर्य भाव युक्त रहने से रासलीला उद्घाटित नहीं होती। निजानन्द, निजपुण्यबल, ऐहित एवं पारत्रिक, सबका बलिदान कर देने पर तथा उनकी इच्छा का एकान्तिक अनुसरण करने पर ही उस प्रेम का उदय होता है, जिसके द्वारा प्रकृत भाव की प्राप्ति होती है। यही शुद्ध भाव समर्था रति है। इसकी परिपक्वता के साथ-साथ महाभाव की प्राप्ति होने लगती है।

इस समर्था रति का उद्घाटन कब होता है? यह वृन्दावन में गोपीजन के मध्य किसी समय उद्घाटित हो चुकी है। नित्यधाम में यह रति सदैव विद्यमान है। नित्यधाम स्थित समर्था रति का ही परावर्त्तन इस धराधाम पर हुआ है। धरा पर द्वापरान्त में यह प्रकाशित हुई है। कृष्ण को प्राप्त करने के लिए उन्हें तत्त्वरूप में तथा भावरूप में पाना होगा। भाव द्वारा कृष्ण को सामान्यतः समंजसा रति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण का जो परमस्वरूप है, उसे जिस किसी विधि से नहीं पाया जा सकता। जहाँ आना अहंभाव पूर्णरूप से विगलित नहीं हुआ है, तत्क्षण पर्यन्त 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो' यह भाव उदित नहीं होता। यह वृन्दावन एक क्षेत्र है, यहाँ प्रेम की लीला ऐतिहासिक रूप से हो चुकी है। नित्यरूप में, हृदय में, यह निरन्तर हो रही है। वृन्दावन क्षेत्र तत्त्व को और स्पष्ट किया जाता है। प्रेम का शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य इत्यादि भाग महाप्रभु चैतन्यदेव ने किया है। उसका प्रकाश वृन्दावन में होता है। शान्त प्रेम में तरंग ही है। भावयुक्त प्रेम से ही लीला में अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रेम में कल्लोल तथा तरंग है। इसे महाप्रभु ने चतुर्धा विभक्त किया है—सख्य, दास्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। दास्य भाव प्रथम भाव है जिसमें लीला में प्रवेश प्राप्त होता है। चैतन्यचरितामृत में कृष्ण के नित्यदास का वर्णन है। उसकी यही सार्थकता है। वैकुण्ठ में सनकादि चार ऋषियों का प्रेम शान्त प्रेम है। वृन्दावन को आयत करने के लिए उक्त चतुर्धा विभक्त भावों की विवेचना आवश्यक है। प्रथम है दास्यभाव। दास्यभाव की उपासना करके ही सख्यभाव में उन्नीत होना सम्भव है। दास का धर्म है सेवा। यह सेवा धर्म भी सखा में रहता है। दास स्वामी के साथ मिश्रित नहीं हो सकता, परन्तु सख्यभाव में भगवान् के साथ अन्तरंग वार्ता चलती रहती है। दास में चाकरी का भाव है, परिणामतः एक प्रकार का दूरत्व रहता है। वात्सल्य भाव में यह दूरत्व भी नहीं रहता। यद्यपि सख्य भाव में दास्यभाव की तुलना में दूरत्व न्यून हो जाता है, तथापि एक प्रकार का दूरत्व रह ही जाता है। यह दूरत्व वात्सल्य में पूर्णतः विलीन होने लगता है। दास्य भाव में भगवान् बड़े हैं और भक्त छोटा है। साख्यभाव में भगवान् तथा भक्त समान है। वात्सल्य में भगवान् छोटे हैं और भक्त बड़ा है। प्रभु, पिता, माता, गुरु, विश्वस्रष्टा हो सकते हैं, परन्तु इन सबमें प्रभु बड़े हैं और भक्त छोटा है। सख्य में दोनों समान हैं।

मधुरभाव सभी भावों की समष्टि है। उसमें सभी भावों के अतिरिक्त भी और कुछ

रहता है। यह सर्वात्मक होने पर भी सर्वातीत है। यह भगवान् का निजभाव है। इससे श्रीकृष्ण रति होती है। श्रीकृष्ण तत्व का आनन्दतत्त्व है। सच्चिदानन्द का सत् चित् में और चित् आनन्द में विलीन होकर जब मूर्तिमान विग्रह का रूप धारण करता है, तब वह श्रीकृष्ण है। उनकी सत् शक्ति है सन्धिनी, चित् शक्ति संवित है और आनन्द शक्ति ही ह्लादिनी है। आनन्द श्रीकृष्ण है तथा ह्लादिनी में सैवित शक्ति तथा सन्धिनी शक्ति अन्तर्लीन है। इसमें अन्तरंग भाव से अनन्त कोटि अन्य शक्तिपुंज भी विद्यमान हैं। ह्लादिनी का सारांश है भक्ति अथवा प्रेम। प्रेम का मूर्तरूप है राधातत्व है—

अर्थात् जब तक कृष्ण राधा के साथ हैं, तब तक वे मदनमोहन हैं। राधा के बिना वे स्वयं मदन द्वारा मोहित हो जाते हैं। राधायुक्त होने पर ही कामदर्प चूर्ण हो सकता है। कामदर्प चूर्ण करने के लिए स्वरूपशक्ति के साथ युक्त होने पर कृष्ण के लिए समस्त कामनायें तुच्छ हैं। प्राकृत जगत् में सबसे प्रबलतर है 'काम'। प्रसिद्ध है कि कामदेव ने भस्म किया था। उसका रूप अपरूप है। शिव के अनुग्रह से अप्राकृत कामदेव का निर्माण हुआ। वह रूप किसका है? वह रूप कृष्ण का है, तथा अतुलनीय है। इसी कारण कृष्ण का बीज है कामबीज। इस अप्राकृत मदन को ज्ञान द्वारा भस्म नहीं किया जा सकता, यह ज्ञान से अतीत वस्तु है। कारण ज्ञान से परे है आनन्द। पहले सत् तदनन्तर चित्, सर्वान्त में आनन्द। आनन्द की घनीभूत मूर्तिरूप प्रकाशित होकर वे विराजित हैं। अतएव आनन्द की घनीभूत मूर्ति होकर प्रकाशित हैं, तब यह प्राकृत काम किसी भी मोहन उपाय कौशल से उन्हें वशीभूत नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि वे अपने उस रूप से स्वरूपशक्ति के साथ क्रीड़ारत हैं। स्वरूप शक्ति का ही नाम है राधा। अतएव 'राधासङ्गे यदाभाति' जब तक वे राधा के साथ हैं, तब तक मदनमोहन हैं। मदन को भी मोहित कर सकने में समर्थ हैं। जब राधा अन्तर्लीन हैं, उस अवस्था में भी कृष्ण जगत् को मोहित कर सकने में समर्थ हैं, परन्तु स्वयं मदन द्वारा मोहित कर दिये जाते हैं। राधायुक्त रहने पर प्राकृत काम की कोई सत्ता ही नहीं रहती। इसी कारण रासलीला की इतनी अधिक महिमा है। स्वरूपशक्ति का विकास ही रासलीला है। आनन्द की लीला अपनी शक्ति के साथ ही संचालित होती है। कारण द्वितीय तो कुछ है ही नहीं। सब तो उनकी ही शक्ति है। भिन्न रसास्वादन के प्रयोजन से यह क्रीड़ा होती है। यह रस जगत् में वितरित हो, इसलिए भी यह क्रीड़ा होती है।

क्रीड़ार्थ एक स्थल की आवश्यकता है। यह स्थल ही भगवद्धाम है। सर्वप्रथम स्थल का निर्माण होता है। इसका निर्माण सन्धिनी तथा संवित शक्ति करती है। यह ब्रह्मादिकृत सृष्टि नहीं है। यह अप्राकृत नूतन सृष्टि कही जाती है। जैसे भगवान् की देह सच्चिदानन्दमय है, वैसे ही उनका धाम भी सच्चिदानन्दमय है। उनके समान उनका धाम भी अनन्तात्मक हैं। जिस धाम में उनका प्रकाशन होता है,

उसके सामने कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की भी कोई सत्ता नहीं है। यह धाम असीम है। इस धाम में अनन्त प्रकार की लीला होती है। ज्ञानी भी इस धाम में नहीं जा सकते। जहाँ ऐश्वर्य का प्रकाश होता है, वह वैकुण्ठ है। ऐश्वर्य से माधुर्य धाम में प्रवेश के लिए तीन स्तर हैं। प्रथम है द्वारिका। यह द्वारका गुजरात में स्थित द्वारका नहीं है। द्वारका के पश्चात् मधुपुरी (मथुरा) स्थित है। तदनन्तर गोकुल है। यहाँ माधुर्यभाव मूर्तरूप से विराजित है। इसे श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति का विकास कहा जाता है। इसमें सर्वप्रथम दास्यरस का प्रकाश होता है। यहाँ नित्य दास के रूप में अनन्त सेवक विराजमान है। इनकी देह भी नित्य है। इनका कार्य है युगल प्रभु की आज्ञापालन। इस स्तर के पश्चात् अन्तरंग स्तर है, जहाँ पिता, माता, मामा, मौसी, बुआ आदि विद्यमान हैं, जितने प्रकार का रिश्ता सम्बन्ध होता है, उतने प्रकार के श्रीकृष्ण के सम्बन्धीजन यहाँ निवास करते हैं। लीला के आस्वादनार्थ इनकी भी आवश्यकता है। भगवान् के पुत्र, भतीजे आदि भी लीला के अनन्त सम्पर्कवशात् यहाँ निवास करते हैं। यह सभी ह्लादिनी शक्ति की रचना हैं। इसके पश्चात् रुखामण्डल है। इसमें श्रीराम, सुदाम, वसुदास, मधुमंगल, सुबल आदि असंख्य सखागण निवास करते हैं। यहाँ नाना प्रकार के सखा हैं। मधुमंगल आदि के साथ श्रीकृष्ण कोई गम्भीर चर्चा नहीं करते, केवल परिहास आदि चलता है। सुबल आदि के साथ अतिगोपनीय कथा-वार्ता होती रहती है। सुबल के साथ जिस प्रकार की चर्चा होती है, वैसी चर्चा श्रीदास के साथ नहीं होती। प्रत्येक के साथ श्रीकृष्ण का भिन्न-भिन्न सम्पर्क है। यह भिन्न-भिन्न सम्पर्क भी सख्यभाव के अन्तर्गत ही है। इसके और भी अन्दर कुञ्जलीला चलती है। यहाँ पर असंख्य कुञ्ज हैं। प्रत्येक सखी का एक-एक कुञ्ज निश्चित किया गया है। नित्यदेह प्राप्त होने पर भावानुरूप एक कुञ्ज की प्राप्ति होती है। मधुमक्खी के मधुचक्र के समान असंख्य कुञ्ज यहाँ पर विराजित हैं, जिनके मध्य में एक निकुञ्ज है। निकुञ्ज मात्र राधा-कृष्ण के ही लिए है। राधाकृष्ण युगल के अतिरिक्त इस निकुञ्ज में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। अन्तरंगतम सखियाँ भी चारों ओर बाहर रहती हैं। उन्हें भीतर प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। बाहर की ओर ललिता, विशाखा आदि सखियों का कुञ्ज अलग-अलग है। केन्द्र में युगल है। इस राधाकृष्ण युगल का सम्बन्ध प्रत्येक कुञ्ज से है। भगवान् की लीला बाहर ही होती है। यह लीलाचक्र कहा जाता है। यह लीलाचक्र चमत्कारी हैं। पृथ्वी में ऐसा स्थान कहीं भी नहीं है। अष्टकालीन लीलाकुञ्ज से लीला प्रारम्भ होती है और महारात्रि में समाप्त होती है। लीला की समाप्ति के साथ-साथ समस्त बाह्यकेन्द्र केन्द्रित होकर एकत्रित हो जाते हैं। ये सब राधा के कायव्यह हैं। जब यह लीला संकुचित होती है, उस समय गोष्ठलीला, मध्याह्नलीला, अपराह्नलीला आदि समस्त लीला शेष हो जाती है। सभी लीलाओं की समाप्ति के समय एकमात्र निकुञ्ज लीला चलती रहती

है। इस समय कुञ्जसमूह भी अव्यक्त से हो जाते हैं। समस्त सखी की परिणति नर्मसखी के रूप में होती है। नर्मसखियाँ नर्मप्रिय सखी के रूप में परिणत हो जाती है। इस समय निकुञ्ज में मात्र अष्टसखियों की सत्ता अवशिष्ट रहती है। वे ही नर्मप्रिय सखियाँ हैं। यह अष्टसखी ही अष्टभाव है। अष्टभाव की समष्टि है राधा का महाभाव। सर्वान्त में यही शेष रह जाता है और बाह्य सब कुछ तिरोहित होने पर भी अष्टसखियाँ अवशिष्ट रह जाती हैं। अब समस्त सखियों की समष्टि राधा में प्रवेश कर जाती है। (समस्त सखियों को समष्टि अर्थात् अष्टसखी)। इस अवस्था में राधा पूर्ण प्रकाशमान होती हैं। अब सखियों की भी सत्ता शेष नहीं रहती। अर्थात् एकमात्र राधा ही शेष रह जाती है। इस क्रीड़ा के उपरान्त राधा निकुञ्ज में प्रविष्ट होती हैं। निकुञ्ज प्रवेश के पश्चात् और कौन शेष है वहाँ?

सखियों की एक श्रेणी मात्र द्रष्टा है। तदन्तर द्रष्टा भी नहीं रह जाता। द्रष्टा, दृश्य दोनों मिलाकर ही राधा-तत्त्व है। निकुञ्ज के अन्दर राधारूप कृष्णरूप से मिलित हो जाता है। यह मिलन अपने चरमोत्कर्ष की सीमा पर ऐसा हो जाता है कि राधा का स्वरूप सम्पूर्णतः विलीन हो जाता है और एकमात्र कृष्ण शेष रह जाते हैं। अब कृष्ण भी नहीं रह जाते हैं। जैसे ईंधन से अग्नि जल रही थी, इस ईंधन को अग्नि आत्मसात् कर लेती है। तदनन्तर अग्नि भी नहीं रह जाती। जब ईंधन ही नहीं है, तब अग्नि का क्या प्रयोजन? श्रीकृष्ण-लीला का प्रकाश राधा से ही होता है। राधा के प्रविलीन हो जाने के उपरान्त कृष्ण किसके लिए रहेंगे? राधा क्रमशः कृष्ण में लीन हो जाती हैं। उनके लीन हो जाने पर कृष्ण मात्र क्षण के लिए रहते हैं। तदन्तर कृष्ण कहाँ? तब राधा-कृष्ण मिलकर एक वस्तु हो जाते हैं। यही मिलित वस्तु है रस। रस ही रह जाता है। 'रसो वै सः' अखण्ड ब्रह्मरस रूप से उनकी ही सत्ता शेष रहती है। लीलाभूमि से अद्वैत में प्रवेश हो गया। यह चिद्द्वैत नहीं है— अपितु रसाद्वैत हैं। अद्वैत प्रवेश का अर्थ है कि अद्वैत में प्रवेश हुआ, इस रस द्वारा पुनः निकुञ्ज लीला होगी। जैसे सुषुप्ति में सब एकाकार भासित होता है, वैसे ही लीलामय वैचित्र्य का पुनः प्रस्फुटन होता है। पुनः शुकसारिका का गुंजन कुञ्ज में व्याप्त होता है, पुनः निकुञ्ज लीला चलती है।

यदि लीला का पुनः प्रस्फुटन होना ही था तब इसके विलीनीकरण से क्या प्रयोजन साधित होता है? विरह और मिलन में विरह क्यों? विरह के पश्चात् मिलन और मिलन के पश्चात् पुनः विरह। प्रथम मिलन ये जो आनन्द होता है, वह परवर्ती विरह क्षण में तदनुरूप दुःख में परिवर्तित हो जाता है। इस दुःख भोग के पश्चात् जो मिलन होता है, उसमें प्रथम मिलन की तुलना में गाढ़तर सुख का अनुभव होता है। इस गाढ़कर आनन्द के पश्चात् के विरह में प्रथम विरह की अपेक्षा और गाढ़तर दुःख का अनुभव होना निश्चित है। इससे स्पष्ट होता है कि परमसत्ता में जो आनन्द है वह

नित्य नवीन एवं गाढ़तर है। निरन्तर नूतन आस्वादन करना ही लीला है। यही नूतन-नूतन स्वरूपानन्द कहा जाता है। यही लीला वैचित्र्य है। इस प्रकार अनन्त बार मिलन एवं अनन्त बार विरह की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसके कारण तद्जनित मिलन-सुख की प्रगाढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

सूफीगण तीन प्रकार की यात्रा का उल्लेख करते हैं। एक यात्रा है ईश्वर से मनुष्य की ओर, द्वितीय यात्रा है मनुष्य से ईश्वर की ओर। तृतीय यात्रा है ईश्वर के अन्दर यात्रा। सृष्टि प्रपञ्च की यात्रा है ईश्वर से मनुष्य की ओर की यात्रा। जब साधना द्वारा प्राणी वापस लौटता है, तब मनुष्य से ईश्वर की ओर यात्रा होती है। सर्वान्त में ईश्वर पर्यन्त पहुँच कर प्राणी वापस नहीं आता। वह ईश्वर के अन्दर ही अनन्त यात्रा की ओर उन्मुख हो जाता है। इस प्रकार यह लीलागत यात्रा ईश्वर के अन्दर की यात्रा है। विरह की अनुभूति भी इसके अन्दर ही होती है। यह भावना बाहर नहीं होती। इस भगवद् विरह की धारणा का सामर्थ्य ब्रह्मा, विष्णु को भी नहीं है। रूप गोस्वामीपाद ने लिखा है कि इस विरह को समस्त देवी-देवता भी सहन नहीं कर सकते। इसी के साथ रूपगोस्वामी यह भी कहते हैं कि इन मिलन आनन्द को कोटि-कोटि ब्रह्म एकत्र होकर भी सहन नहीं कर सकते। एक भगवान् ही इसका आस्वादन अपने आपमें करने में समर्थ हैं। इस एक के अन्दर ही अनन्त आस्वादन चलता रहता है। यह सिद्धान्त भली प्रकार स्थिर हो जाता है कि लीलोपयोगी समस्त उपकरा, लीला परिकर, लीलाधाम आदि सब कुछ ह्लादिनी शक्तिरूपिणी राधा से ही निर्गत होता है। निर्गत होकर लीला के अवसान काल में (कुञ्ज भग्न होने पर) आनन्द में लीन हो जाता है। जगत् में जो कुछ है, सब अविद्या जनित ही है। स्वर्ग के देवता पर्यन्त में भी अविद्या की सत्ता व्याप्त रहती है। अविद्या के बिना दृष्टि हो ही नहीं सकती। हम तो कुछ भी करते हैं, वह सब अविद्याजनित है। अविद्या का मूल है ह्लादिनी शक्ति। समस्त सृष्ट दृश्य तथा सृष्ट पदार्थ अविद्या जनित है। वह ह्लादिनी शक्ति रूप अमृत द्वारा विरचित है। अतः वह सब ह्लादिनी शक्ति राधा का आश्रय लेकर ही स्थित रहता है। जब मिलन काल में ह्लादिनी शक्ति बाह्य का संकोच करती है, तब सब कुछ पूंजीभूत एवं घनीभूत होकर उनमें मिल जाता है। तदनन्तर जब वह पुनः बाह्य का विकास करती है, तब सब कुछ पूर्ववत् व्याप्त हो जाता है। जब राधा कृष्ण को प्राप्त करती हैं, तब वे स्वयं को ही प्राप्त करती है। स्वयं को स्वयं पाने का मार्ग अनन्त है, उसका आस्वादन भी आनन्द कहा जाता है।

भावरूपा रति ही भक्ति का मूल स्वरूप है। साधक का भाव ही प्रेमरूप में पुष्ट होता है। पुष्ट प्रेम है रस! रस के अनन्तर कुछ भी नहीं है। साधक की तीन अवस्था के सम्बन्ध में शास्त्रों में उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम है—भाव या भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था, द्वितीय है—प्रेम भक्ति की मध्यम अवस्था, तृतीय है—रस, इसे

सिद्धावस्था भी कहते हैं। प्रथमतः हमारा स्वरूप मायिक स्वरूप है, पुनः इसी स्वरूप में अमायिक स्वरूप का प्रस्फुटन होता है। यही चित्तस्वरूप है। यह साकार है। भाव के विकास के साथ-साथ हम अपने भावानुरूप निज सत्ता का बोध करने लगते हैं। यही 'मैं' है। भक्ति में दो आवश्यक उपादेय तत्त्व हैं। प्रथम है भक्ति के आश्रय का उद्‌घाटन अथवा प्रकाश, द्वितीय है आश्रय एवं विषय का पारस्परिक सम्मिलन। भक्ति का आश्रय है भजन। मैं भजन करूँगा, इसका तात्पर्य है कि 'मैं' देहबोध युक्त है। यह मायिक जगत् में उत्पन्न देहबोध रूप 'मैं' है। अतः यह मायीय देह है, इसमें जरा, मृत्यु, रोग, शोक सब कुछ व्याप्त है। इस देह के भीतर एक और देह की सत्ता है। जब तक उस देह में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, तब तक वह देह अभिव्यक्त नहीं होती। उस देह के अभिव्यक्त होने का अर्थ है—भाव का विकास। उदाहरणार्थ, आदि में शिशुभाव में मातृभाव की उपासना कर रहा है, उस अवस्था में हमारा शिशुरूपी भावदेह प्रकाशित होगा। इसकी आकृति 4-5 वर्ष के बालक जैसी ही होगी। इस बालकरूप को मैं ही देखूँगा। मैं कौन? कारण भाव देहावस्था में देहात्मबोध नहीं रहेगा। तब देखेगा कौन? मैं देखूँगा। कौन हैं? निराकार चैतन्य साक्षीस्वरूप! मैं साक्षी हूँ, यह गुरुदत्त बीज है। जैसे साधना द्वारा गुरुदत्त बीज का विकास होता है, उसी प्रकार साक्षी स्वरूप का विकास होने से सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है। सिद्धावस्था में भाव का विकास सम्यक् रूप से होने लगता है। इस अवस्था में आभावरूप सत्ता का आवरण समाप्त हो जाने से अविद्या का आवरण भी उन्मोचित होने लगता है। इस कारण अब प्रारब्ध कर्म का दग्ध हो जाना स्वाभाविक है। यहीं से यथार्थ भावरूपता प्रारम्भ होती है।

यह भावरूपता प्रकाशसमप्रभ है। इसी भावप्रकाश को लेकर नूतन भावजगत् में प्रवेश करना चाहिये। यही द्वितीय जन्म है। यही द्विजावस्था है। मैंने मातृगर्भ से जन्म लिया, वयस की वृद्धि हुई। सांसारिक कार्य सम्पन्न किया और वृद्ध हो गया, यह प्रकृतिगत जन्म की अवस्था है। इसी प्रकार एक अप्राकृत जन्म भी है। इसी के लिए गुरुप्रदत्त दीक्षा की आवश्यकता है। इसी अप्राकृत जन्म के लिए महापुरुष संश्रयत्व का उपदेश शास्त्रों में वर्णित है। अप्राकृत जन्म में भी देह की सत्ता अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहती है। यह अप्राकृत देह भी जाग्रत् हो सकता है। अप्राकृत देह पञ्चभूत समूह द्वारा निर्मित नहीं है। इस देह में रोग, शोकादि का उदय हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार प्राकृत् जगत् स्थित अपनी देह से प्राकृत जगत् का ही अनुभव कर सकता हूँ। जब मेरा अहंभाव अप्राकृत देह में निविष्ट होगा, तब मैं अपने प्राकृत देह का अनुभव नहीं कर सकूँगा। ध्यानस्थ मनुष्य बाह्यजगत् का दृश्य नहीं देख सकता, उसी प्रकार प्राकृत देह से अलग होने पर वह देह दृष्टिगोचर नही हो सकता। इतने पर भी मैं इस समय दृष्टिविहीन नहीं हूँ। इस समय जो दृष्टि है वह

चक्षुगत् दृष्टि न होकर साक्षी द्रष्टा की दृष्टि है। अब मैं चित्‌भाव में रमण कर रहा हूँ। मैं निराकार भी हूँ और साकार भी हूँ। निराकारस्वरूपता ही मेरी आत्मसत्ता है। आत्मसत्ता की द्रष्टास्वरूप स्थिति रहने के कारण वह कभी सुषुप्त नहीं होता। वह यह देखता है कि मेरे ही भावों का प्रकाशन हुआ, मैं भावदेह में स्थित हूँ। उसका प्राकृत देहाभिमान अब अप्राकृत भावदेह में प्रविष्ट हो जाता है। तब वह भावदेह में ही आमित्व का अनुभव करता है।

दृष्टान्त प्रस्तुत है। मानो हमारे अन्दर भगवान् की सखी का भाव विद्यमान है। भावदेह में अभिमान होने पर वह सखीभाव भावदेहाश्रित होकर ही विद्यमान रहेगा। इसी प्रकार शिशु भाव का उन्मेष होने के उपरान्त गुरु-कृपा से शिशु भावदेह में हो जाता है और मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मैं एक शिशु होकर छटपटा रहा हूँ। माँ-माँ पुकारते हुए रुदन कर रहा हूँ। शिशु जब असहायावस्था में अकेले पड़ा-पड़ा आश्रय के लिए रोता है, तब वह अपना आश्रय 'माँ' रूप के सिवा न तो अन्य की कामना करता है और न अन्य किसी को पहचानता ही है। उसका तो जगत् से परिचय ही नहीं हुआ है। अतः उसकी पुकार मात्र माँ के लिए है। शिशु की प्राणभरी अभावपूर्ण पुकार को निराश्रय असहाय शिशु की भाव साधना ही कहा जा सकता है। वह क्या जाने कि माँ के अतिरिक्त भी और कोई है। छोटा शिशु केवल मात्र यही जानता है कि माँ के सिवा अन्य का अस्तित्व है ही नहीं। यही वास्तविक साधना का स्वरूप है। कितनी भी साधना की जाये, योगाभ्यास, ज्ञानचर्चा, अखण्ड समाधि, अभ्यास आदि किया जाये, उसका मूल्य एक पैसा भी नहीं है। उनके लिए रोना नहीं आया। उनके अपने नहीं हो सके, तब आत्मरूप का प्रकाश कैसे होगा? उन्हें अपना बनाने के लिए प्राण भरे रुदन की आवश्यकता है। जो उनके लिए रोयेगा, उसी के पास उनका आगमन होगा। यही यथार्थ भावसाधना है। दीर्घकालीन बाह्यसाधना कृत्रिमता पूर्ण है, Hypocritical तथापि बाह्यसाधना की भी आवश्यकता है। अभ्यास से कुछ न कुछ तो प्राप्त होता ही है।

भावसाधना द्वारा भगवत् धाम प्रकाशित हो उठता है। प्रथमतः धाम का अर्थ है एक रूप। जब हमारा 'मैं' आमित्व प्रकाशित होती है, तब उसके लिए एक आधार चाहिये। वह आधार है रूप, परन्तु भावदेह में धाम का प्रकाशन वातावरण के साथ होता है। अर्थात् सुन्दर बाग, सुन्दर गृह-प्रासाद, सुन्दर नदी, सुन्दर पर्वत, सुन्दर दृश्य समन्वित। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शिशुभाव साधना का शिशु इन दृश्यों से मोहित नहीं होता। वह माँ के अभाव का अनुभव करता रहता है—'माँ कहाँ है?। मैं माँ को नहीं खोज पा रहा हूँ। इन सब दृश्यों का क्या करूँगा? मुझे मात्र माँ चाहिये'। यह ऐश्वर्य चमत्कारी दृश्य समन्वित रहता है। देखते ही कोई भी मुग्ध हो जाये। इसका चमत्कार वैकुण्ठ से भी सुन्दर है, तथापि शिशु के लिए यह सब व्यर्थ

है। कारण वह मातृहीन जो है। मातृहीन को कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मातृहीन शिशु माँ की प्राप्ति तक रुदन करता ही रहेगा। भाव साधक का यह रुदन भावसाधना के अन्त तक नहीं रुक सकता। इसी कारण भक्ति का मूल है आश्रय। शिशु की पुकार ही उसकी भावसाधना है। पुनः-पुनः पुकारने से क्या होता है? इससे भाव परिपक्व होता है। परिपक्वता से क्या लाभ है? लाभ यह है जब तक प्राप्ति न हो तब तक पुकार-पुकार कर भावास्वादन करना। इस भाव का आस्वादन कौन करता है? शिशु के भाव का आस्वादन माँ करेगी। शिशु के लिए माँ के अतिरिक्त, अन्य किसी का आश्रय है ही नहीं। (यदि मैं सखाभाव की साधना करता हूँ, तब भी मुझे ऐसा ही भाव रखना होगा।) शिशु के रुदन की पीड़ा भी माँ के अतिरिक्त कौन समझेगा? किन्तु माँ का प्राकट्य नहीं हो रहा है। प्राकट्य क्यों नहीं हो रहा है? भाव अभी तक परिस्फुट नहीं है। प्रस्फुटन के अभाव में गन्ध नहीं और गन्ध के अभाव में आस्वादन नहीं हो सकेगा। इसी कारण भाव का पुनः-पुनः आवर्त्तन करना पड़ता है। आवर्त्तन से भाव में परिपक्वता आने लगती है। परिपक्वता के साथ ही माँ का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। भाव-साधना पूर्ण होने पर जगन्माता का आविर्भाव हो जाता है। भावशिशु यह नहीं जानता कि मेरी माँ ही जगन्माता है, वह उनकी उपलब्धि निज माँ के रूप में ही करता है। वह यह भी नहीं जानता कि उसकी माँ की अन्य सन्तान भी है। प्रत्येक की माँ होती है, सभी माँ वर्ग के मूल में जो जगन्माता है वे ही सबकी माँ हैं, यह तो ज्ञान की बात है। शिशु तो अभी तक ज्ञानी नहीं हो सका है, अतएव उसे इन सबसे क्या सम्बन्ध? वह मात्र माँ को चाहता है। वह अन्य कोई विचार नहीं करता।

माँ की प्रप्ति के पश्चात् यह भाव प्रेमरूप में परिणत होने लगता है। एक दिन में भी परिणत हो सकता है, एक घण्टे में भी अथवा एक क्षण में। यह अभावबोध की तीव्रता के तारतम्य से होता है। योगशास्त्र का कथन है कि संवेग तीव्र होने से सिद्धि भी शीघ्र होती है। संवेग तीव्र होने पर 10 वर्ष का भावकार्य 10 क्षण में हो जाता है। अभावबोध की तीव्रता से विरह में भी तीव्रता आती है। पूर्ण संवेग प्राप्त भाव ही प्रेम है। माँ की प्राप्ति के साथ भावसाधना समाप्त हो जाती है। इस भाव राज्य में भावास्वादन करने वाले भावुक ही वास कर सकते हैं। भावराज्य में सब कुछ का निर्माण भाव से होता है। वहाँ पञ्चमहाभूत से निर्मित कुछ भी नहीं है। वहाँ सब कुछ भाव से निर्मित है। इसकी धारणा करना अत्यन्त कठिन है। जैसे सिनेमा में हम अग्नि, जल, पर्वत, आकाश, मनुष्य आदि सभी देखते हैं, तथापि सबके मूल में प्रकाश ही विद्यमान रहता है, अर्थात् समस्त दृश्य प्रकाश से ही निर्मित रहता है। प्रकाश के अतिरिक्त सिनेमा में कुछ नहीं है, इसी प्रकार भावराज्य में सब कुछ भाव-निर्मित है। इसका रहस्य भक्त ही समझ सकते हैं। ज्ञानी के लिए यह स्थिति अगम्य

है। माँ के प्राकट्य की कथा ऊपर कही जा चुकी है। माँ प्रकट होकर क्या करती है? वे चिरविरही शिशु को अपनी गोद में ले लेती है। गोद में लेते ही चिरविरहजनित ग्लानि, पीड़ा सब कुछ समाप्त हो जाती है। आनन्द का उद्रेक होने लगता है। माँ की प्राप्ति के पश्चात् अन्य की आकांक्षा ही नहीं होती। माँ को पाने के साथ ही पर्व शेष हो जाता है। परन्तु पर्व शेष कहाँ होता है? इसी के पश्चात् प्रेम साधना प्रारम्भ होती है। माँ की प्राप्ति भावसाधना से ही हुई है। प्राप्ति के अनन्तर प्रेम में परिपक्वता का संचार होता है। प्रेम की गाढ़ता के साथ-साथ भावरूप गलने लगता है, भक्त भी विगलित होने लगता है और माँ के साथ सब कुछ रस रूप में परिणत हो जाता है। पहले जो भक्त शिशुरूप था, जो माँ थी, अब उनका अस्तित्व नहीं रहता है। अब शिशु जीव नहीं है और माँ भगवान् नहीं है। शिशु अस्तित्व नहीं रहता। अब शिशु जीव नहीं है और माँ भगवान् नहीं है। शिशु और माँ क्रमशः गल जाते हैं। वैसे ही गलते हैं जैसे स्वर्ण की दो मुद्रिकायें अग्नि में गलकर एक हो जाती हैं। इसी प्रकार माँ और शिशु मिलकर एक वस्तु बन जाते हैं। यहीं रस है। इसमें भक्तरूप शिशु तथा इष्ट रूप माँ का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। यह अद्वैतावस्था है। इसे ही रसाद्वैत कहते हैं। यह रसावस्था ही सिद्धावस्था है। इस रसावस्था से एक अचिन्त्य रूप का प्रकाशन होता है। इसी रूप को लेकर नित्यलीला में प्रवेश प्राप्त हो सकता है।

यही रूप रसमय तनु है। इस रसमय तनु के अभाव में नित्यलीला में प्रवेश नहीं मिलता। यह भगवान् की महाकृपा है कि उन्होंने जगत् प्रपञ्च में ऐसी लीलायें की हैं, जिससे नित्यलीला का आस्वादन मिलता है। इन लीलाओं को देखकर मनुष्य को रस की आकांक्षा जागृत होती है और वह साधना द्वारा, भाव द्वारा योग्यता का विकास करके नित्य लीला में प्रवेश करता है। साधना-धारा में प्रथमतः अभावानुभूति होती है। अभाव के वर्द्धन के साथ गुरुशक्ति से योग होता है। गुरु शिष्य के हृदयस्थ अविद्या की मात्रा का निर्णय करके तदनुसार बीजमन्त्र प्रदान करते हैं। इसके पश्चात् साधना द्वारा क्रमशः अज्ञान दग्ध होने लगता है। इस प्रक्रिया द्वारा अभावमय मलिन सत्ता नष्ट हो जाती है। अब शुद्धसत्ता का प्रकाश प्राप्त होने लगता है। यही स्वभावरूपी भाव का प्रकाश है। भावरूपी साधना से लेकर प्रेम-साधना पूर्ण होने तक द्वितीय स्तर है। प्रेम-साधना के भी स्तर हैं। प्रथम स्तर में भक्त अपने शाश्वत रूप में उनके स्वरूप के प्रकाश का अनुभव करता है। तदनन्तर भक्त के इष्ट का शाश्वत रूप में प्रकाश होता है। इन दोनों का मिलन साधित होता है। दोनों की सत्ता मिल जाती है। इसे रस कहते हैं। यह अभेदावस्था है। यहाँ द्वितीय का ज्ञान शेष नहीं रहता। यहाँ से जो क्रीड़ा चलती है, वह अद्वैत की क्रीड़ा है। मैं-तुम मिलकर खेल रहे हैं। मैं ही सैकड़ों तुम बनकर क्रीड़ा कर रहा हूँ। जो तुम हो वही मैं हूँ। द्वितीय कुछ है ही नहीं। क्रीड़ा के ही लिए मैं-तुम का भेद है।

जितने प्रकार के भक्त होते हैं, उतने ही प्रकार की भावसाधना भक्तिजनित है। कोई सख्य भाव से, कोई दास्यादि भाव से भजन करता है, कोई मधुरभाव का भक्त है। ये सभी भाव हैं, जिनका भक्त वरण करता है। भक्तों में से कोई शान्त भाव का होता है जैसे सनक, सनन्दन, सनातन, सनत कुमार। ये शान्तभाव से ध्यानावस्था में नारायण के परब्रह्मलोक में भजन करते हैं। अन्य भक्त उन्हें अनवरत प्रेमभाव से देखते रहते हैं। इसमें लीला-क्रीड़ा नहीं है। लीला में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भाव हैं। माधुर्यभाव लीला का सर्वोन्नत भाव है। दास्यभाव में भी असंख्य प्रकार की दासता है। सख्य भाव में अनेक प्रकार की मैत्री-भावना है। इत्यादि। यह सब लीला जनित आस्वादन, विविधता का प्रदर्शन है। महाभाव सर्वभाव की समष्टि को कहते हैं। जहाँ कहीं भी, जिस किसी भी भाव में स्थित होकर महाभाव की प्राप्ति हो सकती है। कहीं से भी अपना विसर्जन अर्थात् आत्मविसर्जन कर सकने से महाभाव देखा सकता है।

प्रत्येक साधना का स्वाभाविक मार्ग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। कृत्रिम उपायों द्वारा भी ज्ञान, प्रेम अथवा भक्ति की साधना सम्पन्न करने का विधान प्राप्त होता है। कृत्रिम उपाय श्रेयस्कर नहीं है। उससे आभास मात्र ही प्राप्त होता है। वास्तविक वस्तु अज्ञात रह जाती है। यथार्थ प्रेम-साधना के पूर्व भाव-साधना अत्यन्त आवश्यक है। भाव-साधना ही स्वभाव की साधना है। उसमें शास्त्र वर्णित कोई भी विधि-निषेध मान्य नहीं है। मायिक देहाभिमान की अवस्था में भाव-साधना भी निष्पन्न नहीं हो सकती। भाव का अर्थ है स्वभाव। मायावरण से हमारा स्वभाव आच्छन्न है। सर्वप्रथम इस आवरण को हटाना चाहिये। इसके लिए अनेक उपायों की व्यवस्था की गयी है, जिसमें मन्त्रशक्ति प्रधान है। जब तक सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक नाम जप ही करते रहना चाहिए। गुरु-प्राप्ति होने पर गुरु-प्रदत्त विधान के अनुसार चलना आवश्यक है। इस उपासना से भौतिक देह की तथा चित्त की शुद्धि होती है। इस शुद्धि के कारण माया का आवरण अप्रसारित हो जाता है। मायावरण द्वारा आत्मा का स्वभाव आच्छन्न रहता है। आवरण के अपसारण के साथ निजभाव उन्मुक्त हो जाता है। इसका नामान्तर है स्वभाव-प्राप्ति। इसी आवरण को हटाने के लिए गुरु, शास्त्र, उपदेश, दृष्टान्त आदि की व्यवस्था की गयी है।

भाव का वैशिष्ट्य दो प्रकार का है। प्रथम है एक भाव का आश्रय अथवा आधार (Subject), द्वितीय है विषय (Object) भाव का स्फुरण आश्रय विषय के अवलम्बन करने से होता है। भाव का आश्रय है भक्त। भक्त देहधारी है। भक्त की यह देह मायिक नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म अथवा कारणदेह भी नहीं है। भावदेह माया से परे होता है। आत्मा देह पर अभिमान करता है अर्थात् अभिमान का आरोपण करता है। इस स्थिति में साधक की भौतिक स्थूल देह किसी आक्षेप का आरोपण नहीं कर

सकता। यदि स्थूल देह (भौतिक देह) विक्षेप का आरोपण करने में समर्थ हो जाता है, उस स्थिति में मानना पड़ेगा कि अभी जागतिक भाव शुद्ध नहीं हुआ है। एक 40 वर्ष के वृद्ध की भावदेह 10 वर्ष के बालक के अनुरूप भी हो सकती है। यह भावदेह अमूर्त्त न होकर आकार विशिष्ट होता है। इस आकार में आत्मा का अहंभाव उदित हो जाता है। इसके अभाव में, अर्थात् भावदेह में आत्मा के अहंभाव के अभाव में भाव-साधना सम्भव है ही नहीं। भावदेह की प्राप्ति होते ही भावुक तथा भक्त की सत्ता गठित होती है और उपयुक्त स्थिति में भाव के विषय का भी आविर्भाव हो जाता है। भावाश्रय रूप भावदेह के गठन के साथ-साथ भावानुरूप धाम आदि भी स्फुरित हो जाते हैं। भाव की परिपक्वता है प्रेम। फूल जब प्रस्फुटित होकर सुगन्धित मकरन्द युक्त होता है, तभी उसकी परिणति पूर्ण होती है। मकरन्द के कारण मधुमक्खियाँ उसकी ओर आकर्षित होने लगती है। इसी प्रकार भाव की परिणति प्रेम के रूप में होते ही भगवत्स्वरूप स्वयमेव आविर्भूत हो जाता है। उनके आवाहन की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। क्रियात्मिका भक्ति से भावभक्ति की यही विशेषता है। क्रियात्मक भक्ति भी जब तक भाव भक्ति रूप में परिणत नहीं होती तथा जब भाव का परिपाक नहीं होता, तब तक श्रीभगवान् का दर्शन प्राप्त नहीं होता। मातृभाव के साधक को भावदेहरूपी शिशुदेह की प्राप्ति होती है। तदनन्तर शिशुभाव की परिपक्वता के साथ-साथ प्रेमदेह की प्राप्ति होती है। प्रेमदेह प्राप्त होने पर ही मातृसत्ता का आविर्भाव होता है। इस प्रक्रिया के पूर्व आविर्भाव सम्भव ही नहीं है। यही प्रेम की सिद्धि है। प्रेमाधार तथा प्रेमाश्रय का समानाधिकरण है। फलस्वरूप माँ की गोद में शिशु का आरोहण होता है। इसे भी प्रेम का चरम विकास नहीं कहा जा सकता। जैसे भाव का विकास है प्रेम, उसी प्रकार प्रेम का विकास है रस। भावदेह में द्वैत है। सन्तान तथा माँ की सत्ता अलग-अलग प्रतीयमान होती है। भावदेह में माँ के साथ सन्तान का तथा सन्तान के साथ माँ का अभेद नहीं होता। प्रेम को गाढ़ होना चाहिये। 'गलनाद्रति'। जब प्रेम रसरूप में परिणत होता है, उस स्थिति में सन्तान तथा माँ, दोनों रसमय हो जाते हैं। इसी रसमय तनु को लेकर परमेश्वर की नित्यलीला में अधिकार प्राप्त होता है। यह स्थिति क्रियात्मिका भक्ति द्वारा त्रिकाल में प्राप्त नहीं हो सकती। रसमय तनुयुक्त रससिद्ध भक्त भगवान् की नित्यलीला के परिकर बन जाते हैं। यह भक्ति साधना के विकास की चरम अवस्था है।

इसके अतिरिक्त एक और धारा है। इसके विकास के समय भगवान् और भक्त, माँ और सन्तान में एक प्रकार का व्यवधान रह जाता है। यही भेदभक्ति है। यहाँ भक्तगण भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को देखकर अभिभूत हो जाते हैं। माधुर्य का पूर्ण आस्वादन इसमें नहीं हो सकता। इस प्रसंग में भक्त की दृष्टि के अनुसार 64 गुणों का परिचय देना आवश्यक है। इन्हें गुण अथवा कला भी कहा जा सकता है।

इस दृष्टिकोणानुसार स्वरूप का चरम विकास प्राप्त होने पर ही मनुष्यत्व का आविर्भाव होता है। 49 गुण तथा एक महागुण का योग हो जाने पर पूर्ण मनुष्य का निर्माण होता है। इसको नरोत्तम भी कहते हैं। उत्तम कोटि की मनुष्य देह में स्थित आत्मा भी परमात्मस्तर पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकता। परमात्मा तथा आत्मा का स्वरूप मूलतः एक है, तथापि गुणों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के कारण एक बड़ा और एक छोटा है। कोई-कोई भक्त 50 गुणों की प्राप्ति के उपरान्त भी नरोत्तम पदधारी नहीं हो सकते। वे उत्तम होने पर भी जीवकोटि में ही परिगणित होते हैं। 51 से 56 गुणों का विकास होने पर आत्मा परमात्मस्तर में उन्नीत हो जाता है। मायाशक्ति परमात्मा के अधीन है और जीवात्मा माया के अधीन है। स्वरूपतः आत्मा एक है, किन्तु उसमें विकासगत तारतम्य परिलक्षित होता है। 56 से 60 गुणों तक का विकास होने पर परमात्म भाव से भी ऊर्ध्व में जीव की गति होती है और वह भगवद्भाव की प्राप्ति करता है। जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही हैं, तथापि जीवात्मा अधीन होता है, जब कि परमात्मा अधीश है। इसी प्रकार परमात्मा तथा भगवान् एक है, परन्तु परमात्मा में माया सम्बन्ध है। भगवान् में माया सम्बन्ध है ही नहीं। भगवान् का माया से अधिष्ठातृ रूप में भी सम्बन्ध है ही नहीं। भगवद्-भूमि में माया का कहीं सन्धान ही नहीं मिलता। भगवान् का तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूप शक्ति के साथ रहता है। भगवद् अवस्था में सन्धिनी तथा संवितशक्ति का पूर्ण विकास रहता है और किंचित् मात्रा में ह्लादिनी शक्ति के इस आभास का अनुभव करके, इसे ऐश्वर्य भक्ति के नाम से अभिहित करते हैं। भगवान् में अनन्त योगशक्ति विद्यमान रहती है। ऐश्वर्यमयी ह्लादिनी प्रधान भक्ति के द्वारा भगवद् स्वरूप के ऐश्वर्य का अनुभव किया जा सकता है। इस भक्ति में भगवान् ऊर्ध्वस्थ हैं और भक्त निम्नस्थ है। इस सम्बन्ध के अभाव में ऐश्वर्यस्थिति का प्रकाश नहीं हो सकता।

आत्मा में जब 61 से 64 गुण पर्यन्त का विकास होता है, तब भगवद्भाव से ऊर्ध्व स्वयं भगवान् अवस्था का उदय हो जाता है। इसमें माधुर्य की प्रधानता है। इस अवस्था में पूर्ण की ऐश्वर्यवत्ता माधुर्य भाव से अभिभूत रहती है। स्वयं भगवान् को ही पूर्णब्रह्म कहा जा सकता है। स्वरूपतः ब्रह्म तथा स्वयं भगवान् में अभेद है तथापि स्वरूप शक्ति की महिमा के कारण स्वयं भगवान् को चरम स्थिति माना गया है।

सामरस्य का सामान्य अर्थ है साम्य अथवा समभाव। जिस दृष्टि से दो या बहुभाव भासित होता है, उसी दृष्टि से बहुभाव या दो भासित नहीं हो सकता है। एकाधिक सद्वस्तु स्वीकार करने पर उनमें अवस्था-भेद तथा वैषम्य और साम्य की सत्ता को भी स्वीकार करना होगा। वैषम्य की मात्रा सम्यक् भी हो सकती है, आंशिक भी हो सकती है। वैषम्य के अभाव में वह अवस्था साम्यपूर्ण कहलाती है। वैषम्य के

उदय के साथ ही तरंग का उद्भव होता है। वैषम्य के अभाव से निस्तरंग तथा शान्तभाव की स्थिति विद्यमान रहती है। साम्य तथा वैषम्य, दोनों की स्थिति आवर्तशील है। साम्य के अनन्तर वैषम्य तथा वैषम्य के पश्चात् साम्य का आवर्त्तन अवश्यम्भावी है। यह आवर्त्तन कालचक्रजनित है। इसका कारण यह है कि समय में वैषम्य का बीज विद्यमान रहता है। यह बीज यथासमय अंकुरित होता है, फलस्वरूप साम्यावस्था भंग हो जाती है। काम की परिणति से बीज पक्व होता है और उसमें स्थूलता का संचार हो जाने से वैषम्य आविर्भूत हो उठता है। यही सृष्टि है। इसी प्रकार वैषम्य में भी साम्य बीज निहित है। यह बीज पक्व होकर साम्यावस्था का कारण बनता है। साम्यावस्था ही प्रलय तथा संहार है।

प्रथम दृष्टया दोनों के क्षेत्र में स्थिति का अभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, तथापि किंचित् स्थितिरूपी स्थिरता अवश्य है। सृष्टि एवं प्रलय तथा प्रलय एवं सृष्टि के अन्तराल में स्थिति बिन्दु की सत्ता है। जैसे श्वास एवं प्रश्वास की गति के मध्य एक श्वासहीन निस्तब्धता की स्थिति है (जिसे आकाश कहते हैं) जिसे प्राप्त करने के लिए योगीगण आन्तर एवं बाह्य कुम्भक का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सृष्टि तथा संहार की प्रान्तभूमि में जो स्थितिबिन्दु विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिए साधकगण विभिन्न प्रकार के उपाय का अनुष्ठान करते हैं। इन दोनों बिन्दुओं के मध्य में एक गम्भीर आकर्षणात्मक क्रीड़ा विद्यमान है, जो निरन्तर श्वास एवं प्रश्वास को खींचा करती है। इस आकर्षण के कारण इन दोनों का मिलन नहीं हो सकता। आकर्षण के अनुरूप विकर्षण भी प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है। इस कारण इसका मध्यवर्ती व्यवधान अक्षुण्ण रह जाता है और दोनों का मिलन नहीं होता। उदाहरणार्थ, क एवं ख बिन्दुओं में पारस्परिक आकर्षण एवं विकर्षण की क्रीड़ा चलती रहती है। क अन्य बिन्दु ख को अपनी ओर खींचता है, परन्तु दूसरी ओर ख बिन्दु क का विकर्षण कर देता है। अतएव क बिन्दु, ख बिन्दु को खींचने का प्रयास करता है। इसी प्रकार ख भी क को अपनी ओर खींचता है, तभी क से विकर्षणात्मक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अतः ख भी अपने स्थान से विचलित हो जाता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यही है प्रकृति राज्यगत गुणों की क्रीड़ा। प्राणी शरीरस्थ अजपा क्रिया में इसका परिचय प्राप्त हो जाता है। मनुष्य-जीवन का मुख्य लक्ष्य है इस आकर्षण-विकर्षण की क्रिया से मुक्त होना।

इनसे मुक्त होने का क्या उपाय है? उपाय है दोनों बिन्दुओं में से एक की आकर्षणात्मक क्रिया के समय अन्य बिन्दु की विकर्षण क्रिया को स्तब्ध कर देना। दोनों उपाय फलप्रद हो सकते हैं। इन दोनों में पारस्परिक भेद भी है। प्रथम क्रिया में मध्यबिन्दु की प्राप्ति होती है, अतएव अव्यहित व भाव से योग संघटित होता है। द्वितीय उपाय में यही क्रिया एक व्यवधान के साथ उदित होती है। प्रथम उपाय में क

और ख परस्पर आकृष्ट होकर मध्यस्थान में समता प्राप्त करते हैं। यही योग है। इसमें किसी का प्राधान्य नहीं है, अतएव यही निरपेक्ष समता है। पक्षान्तर से यदि क बिन्दु ख बिन्दु का आकर्षण करते समय अथवा ख बिन्दु क बिन्दु का आकर्षण करते समय स्वस्थान च्युत नहीं होता, उस अवस्था में भी क और ख का योग साधित हो जाता है। यह द्वितीय उपाय गुणप्रधान भावरहित न होने के कारण सापेक्ष समता पदवाच्य है। इस उपाय में एक बार क का प्राधान्य होने के कारण 'क' प्राधान्यनिमित्तिक समता तथा दूसरी बार ख का प्राधान्य होने से 'ख' प्राधान्यनिमित्तिक समता की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था का पुनः-पुनः आवर्त्तन होने से दोनों का अर्थात् (क तथा ख दोनों का) प्राधान्य स्थापित हो जाता है और निरपेक्ष साम्य का आविर्भाव होता है। यही सामरस्य है। इस सामरस्य अवस्था को अद्वय अवस्था कहते हैं। दो का या बहु का भेद नहीं रह जाता। यह चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा है। यह चरम अवस्था नहीं है। इसकी भी परावस्था विद्यमान है। इस परावस्था को किसी संज्ञा से अभिहित कर सकना असम्भव है। यह बुद्धि, चिन्तन, ध्यान, भाव आदि से अतीत, अव्यक्त अथवा स्वयंप्रकाश स्थित है। यह निर्विकल्प, निरुत्थान, निर्द्वन्द्व स्थितिरूप से प्रसिद्ध है।

तत्त्व का और परिष्कार के साथ विवेचन किया जाता है। पूर्णसत्य को किसी भी मानवीय शब्द द्वारा कह सकना असम्भव है। इसे स्वातंत्र्यमय अखण्ड प्रकाश के अतिरिक्त और क्या कहा जायेगा? वह सर्वातीत है, सर्वात्मक भी है। उसमें कुछ भी नहीं है, अथवा सब कुछ है। वास्तव में वही सब कुछ है, अथवा कुछ भी नहीं है। सभी काल में महापुरुषों ने उसके सम्बन्ध में डर-डर कर ही कुछ कहने का प्रयास किया है। इसका वर्णन करते समय वेद भी चकित हो गये प्रतीत होते हैं— 'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिमपि'।

इस परब्रह्म, परमशिव, पूर्ण प्रभृति शब्द द्वारा लक्षित किया जाता है। सर्वत्र वही विद्यमान है। गुप्तरूप से मानव-शरीर में भी विद्यमान है। इसे पिण्डस्थ स्थिति में कोई भी नहीं देख सकता। यह पिण्ड के गुण-धर्म आदि से अस्पृष्ट भी है। अनुभूति द्वारा इसका सन्धान प्राप्त कर सकना कदापि सम्भव नहीं है। इसे महानुभव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह इदं तथा अहं रूप उभय भाव से रहित है। अतः दोनों भाव से रहित होकर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। महानुभव का अर्थ है इदं एवं अहं भाव से रहित होना। यह तत्त्व कुल, गोत्र, जाति, वर्णमय होकर भी उससे रहित है। पिण्डवर्त्ती परब्रह्म की वर्णना पिण्ड से अलग होकर नहीं हो सकती। निष्कल एवं सकलरूपी तत्त्व उसमें है। जब वह निष्फल एवं सकल को निज लीला रूप से प्रकट करता है, तभी उसकी इच्छा का उदय होना स्वातंत्र्य का विलास है। इस स्थिति में तत्त्वातीत तत्त्व 'शक्ति' का प्राकट्य होता है, यही चित्शक्ति है।

चित्‌शक्ति को निरंश परब्रह्म का नित्यअंश कहते हैं, तथापि इसे अंश कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता। यह शिवशक्ति स्तर है। यहाँ निराकार मायाहीन परमतत्व सदा निजरूप से विराजित रहता है। तत्त्वातीत स्थिति का वर्णन नहीं हो सकता है। (तत्त्वातीत स्थिति में) स्वयं को स्वयं देख सकना, पहचान सकना भी सम्भव नहीं था। तब महाशून्य की सत्ता भी नहीं थी। कोई साथी भी नहीं था। महाइच्छा का भी कोई अस्तित्व नहीं था। तदनन्तर इच्छा का उदय होते ही आत्मा के अन्तःस्थल में चिद्‌शक्ति से क्रमशः पाँच शुद्ध तत्त्व, अष्टतनु का उदय होने के पश्चात् काल कल्पित प्रपंच ब्रह्माण्डादि का उद्‌भव हो सका है। परशिव से चित्‌शक्ति का आविर्भाव किस प्रकार होता है? योगीगणों का कथन है कि परिशिव में स्वातंत्र्यरूप निराकार पराशक्ति की सत्ता निहित है। दोनों के अभिन्न संयोग से चिद्‌भूमिरूप चित्‌शक्ति का उदय होता है। चित्‌शक्ति विश्वजननी है। यह 'मैं' बोध की भी जननी है। यह 'मैं' ही चिदणु, शिवांश तथा शिवशरण कहा जाता है। 'त्वं' है चित्‌शक्ति 'मैं' की जननी। सृष्टि के पूर्व में परमशिव शब्दहीन थे। इस तत्व को शिव ज्ञानयुक्त शिवशरण स्वज्ञान दृष्टि से नहीं देख सकता तथा स्वयं को ही परशिव समझने लगता है। यहाँ भी शब्द की सत्ता नहीं है। तत्पश्चात् स्वयं की उपलब्धि 'शिव'रूप में करने लगता है। यह ज्ञानदष्टि है और इसे निजानन्दावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में शिव (अंशी) शरण अथवा अंश को देखता है। एतद-विपरीत शरण (अंश) अंशीरूप शिव को देखता है। मूलज्ञान दृष्टि से यह दोनों एक ही अवस्था के दृष्टिभेद-मात्र हैं।

इस समय तक शरीर-रचना नहीं हुई है। आत्मा अशरीरी है। निर्मल शिवांश में देहबीज नहीं होता। देह का उदय बिना किसी कारण के स्वप्नवत् होने लगता है। यह क्यों होता है? यह होता है विस्मृति के कारण। विस्मृति है शिव तथा तदंशभूत आत्मा को विस्मृत करने के कारण। शिवोऽहं भाव की विस्मृति के कारण 'देहोऽहं' भाव का वरण होता है। आत्मा की शिवांशमयता का विस्मरण होना ही देहोत्पत्ति का कारण है। चिद्‌भाव को बिन्दु कहा जाता है। परमशिव बिन्दु से अतीत है। बिन्दु उत्पन्न होते ही ऊर्ध्व एवं अधः में स्पन्दित होता है। चित् तथा ऊर्ध्व बिन्दु के योग से समस्त तत्त्व गर्भस्थ हो जाते हैं। चित् से प्रपंच की उत्पत्ति होती है। सृष्टिकाल में अपने स्वाभाविक पिण्ड तथा स्वाभाविक कार्य को भूल जाने के कारण एक जीव का जन्म होता है। यह जीव मिथ्या पिण्ड में अहंबोध हो जाने के कारण स्व-स्वरूप को भूल जाता है। फलतः मिथ्या पिण्ड में अभिमान आबद्ध हो जाने के कारण वह आनन्द परब्रह्म को खोजने लगता है। यही है खण्डित ज्ञान। इस स्थिति में परब्रह्म आत्मा में व्याप्त होकर प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बित परब्रह्म को प्रतिबिम्बभाव ग्रसित कर लेता है। माया की क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। जन्म-जन्मान्तर व्यतीत होने के उपरान्त वैराग्य की प्रबलता तथा विवेक की उज्ज्वलता आने लगती है।

परिणामतः सद्गुरु की करुणादृष्टि पतित होती है। जो जीव कारणभूमि से सूक्ष्म तथा स्थूल पर्यन्त जड़भावापन्न हो चुका था, वह उद्धार का पथ प्राप्त करता है।

पथ क्या है? जीव आत्मविस्तृत होने पर भी वास्तव में चिद्शक्ति का अंश है। अतएव वह चिदणु भी है। वह महामायाराज्य में जड़भाव से डूब गया है। उसे पुनः चित्शक्ति प्राप्त करना होगा। एक ओर शिव और शक्ति है, दूसरी ओर जीव तथा जीव शक्ति की सत्ता उदित हो रही है। सद्गुरु की कृपा से जीवशक्ति जागृत होकर भक्तिरूप में परिणत होती है। भक्ति की धारा ऊर्ध्वमुखी है। इस स्थिति में कुण्डलिनी प्रबुद्ध हो जाती है। वह मध्यपथ का आश्रय लेकर स्वयमेव ऊर्ध्वमार्ग पर चलने लगती है। वास्तव में ज्ञान एवं भक्ति का यह क्रम-विकास ऊर्ध्वगामी शक्ति का विकास ही है। यह विकास स्तरानुक्रमारूप होता है। शिवशक्ति का मिलन तथा ज्ञान एवं भक्ति का मिलन ऊर्ध्वपथ पर चलते समय प्रत्येक स्तर पर होता है। जितना ऊर्ध्वपथ आयत्त होता है, उतनी मात्रा में शिव एवं आत्मा का व्यवधान कटता जाता है। चरम अवस्था में सामरस्य उन्मिषित होने लगता है। सामरस्य की अवस्था में जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित्शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। यह भक्ति है, सामरस्या भक्ति। श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव तथा आनन्द के पश्चात् समरस भाव का उन्मेष होता है। अब जीव यद्यपि जीव ही है, तथापि शिव के साथ समान रूप से विद्यमान है। इसे महायोग अथवा सामरस्य कहते हैं। जीव शिव में लीन नहीं हो रहा है। भक्ति भी शक्ति में लीन नहीं हो रही है, अथच अद्वय भाव विद्यमान है। एकाकारिता विकसित है। जीव शिव है तथापि वह जीव है। भक्ति ही शक्ति है तथापि वह भक्ति है। इसी का नामान्तर है, सामरस्य। ईसाई धर्ममत में जिस अवस्था को Communion कहते हैं, चमत्कारी लोग जिसे Orison Unitive Life आदि नाम से पुकारते हैं, वह सामरस्य का आभास-मात्र है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती। अवशिष्ट रह जाती है सामरस्यरूपा भक्ति। यही स्वयंप्रकाश अद्वय रसतत्त्व भी है। इसमें एक ही सत्ता प्रकाशित है, अतः यह ज्ञान है। इसमें पृथक् रूप से भाव का आस्वादन है, अतः यह भक्तिरस भी है। यह अद्वैत भक्ति की स्थिति है। यही सामरस्य की महिमा है।

सामरस्य की मूल कथा का यह सब एक अंश-मात्र हैं। सामरस्य में सब कुछ रहता है। अथच एकमात्र तत्त्व ही रहता है। यह लय नहीं है। निर्वाण भी नहीं है। ईसाईगण के Trinity का साक्षात्कर सामरस्य का हीं एक रूप है। सेन्ट टेरेसा ने ईश्वर का दर्शन प्राप्त किया था। उन्होंने इसका वर्णन करने का भी प्रयास किया है। तदनन्तर त्रिमूर्ति के तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् प्रकाशित होते हैं। साथ-साथ द्रष्टा आत्मा में बोध का संचार होने लगता है। प्रतीत होता है कि ये तीनों एक अखण्ड सत्ता से सत्तान्वित हैं। इनमें एक शक्ति, एक बोध, एक भगवत्ता स्थित है। यह दर्शन

देहस्थित नेत्रों के बिना होना सम्भव नहीं है। यह दर्शन (सेन्ट टेरसा-कृत दर्शन) तथा सेन्ट पाल प्रभृति कृत दर्शन एकजातीय दर्शन नहीं है। सेन्ट पाल प्रभृति द्वारा प्राप्त दर्शन स्वरूप का क्षणिक दर्शन है। यह ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। परमेश्वर द्वारा यह दर्शना-धिकार किसी-किसी को प्राप्त होता है। यह एक उज्ज्वल आलोक है। परमेश्वर इसे किसी विशिष्ट आत्मा को ही प्रदान करते हैं। यह दर्शन शिवयोगियों के लिङ्गांग संयोग के समान है, जिसमें अंग लिङ्ग के साथ तथा भक्ति चित्शक्ति के साथ सामरस्य में मिलित हो जाती है। (द्रष्टव्य अनुभवसूत्र)।

सामरस्य की प्रक्रिया आगमों में वर्णित है। सांख्य तथा वेदान्त में भी आत्मस्वरूप स्थिति का प्रभूत वर्णन प्राप्त होता है। सांख्य के अनुसार सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति द्वारा अथवा प्रकृति से पुरुष का अन्यताज्ञान सिद्ध होने पर पुरुष चित्स्वरूप लाभ प्राप्त करता है। वेदान्त में माया से मुक्ति-प्राप्ति के साथ-साथ ब्रह्मस्वरूप में स्थिति की कथा अंकित है। सामरस्य की साधना का वर्णन आगमों में प्राप्त होता है। आगम मतानुसार शिव अखण्ड अविभक्त प्रकाश है और उसकी आत्म-विश्रान्ति, स्वरूपज्ञान का नाम ही शक्ति है। कारण, उसकी प्रकाशमानता ही स्वप्रकाशत्त्व है, जो शक्ति अथवा वाक् के अभाव में सिद्ध नहीं होता। विश्व का वैचित्र्य है ग्राह्य एवं ग्राहकतामूलक। सदाशिवतत्त्व में अहन्ता अत्यन्त प्रबलरूप से विराजित है, तथापि इदन्ता का भी किंचित् उन्मेष-मात्र हो चुका है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इसके अधिष्ठाता हैं भगवान् सदाशिव। ईश्वर तत्त्व के ग्राह्य विश्व में इदन्ता और भी परिस्फुट रहती है तथा अहन्ता का बल अपेक्षाकृत न्यून हो जाता है। यहाँ अहन्ता तथा इदन्ता का सामान्याधिकरण प्रकाशित होता है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्रेश्वर कहते हैं और इनका अधीश्वर 'ईश्वर' है। इसके पश्चात् शुद्धविद्या पद से ग्राह्य विश्व भेदप्रधान है। ग्राहक प्रमाता भी भेदप्रधान हो जाता है। यहाँ के प्रमाता को मन्त्र कहते हैं। यहाँ के समस्त प्रमाताओं के अधिष्ठाता भेदप्रभाव से तथा मन्त्रों के शाखाभेद से असंख्य हैं। ऊर्ध्व जगत् में प्रमाता की संख्या बहुः होने पर भी वर्गीकृत भाव है। अतः बहुः होने पर भी वे एक वर्ग के अन्तर्गत हैं, परन्तु यहाँ वैसा नहीं है। यहाँ भी माया निष्प्रभावी है। इसके बहिर्देश में एक राज्य है जहाँ विज्ञानकल जीव (अणु) अवस्थित है। यहाँ भी माया नहीं है। यही कैवल्य स्थिति है। यहाँ वे आत्मायें स्थित हैं, जिनका कोई कर्तृत्व नहीं है। वे शुद्ध बोध में आसीन हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्व में कर्तृत्व का उन्मेष एवं क्रमविकास रहता है। शिवतत्त्व में कर्त्तृत्व सम्पादित हो जाता है। माया में अवतीर्ण होने के पूर्व कर्तृत्वशून्य होना पड़ता है। उस समय मात्र शुद्धबोध अवस्थित रहता है। सकल एवं प्रलयाकल नामक पूर्ववर्ती अवस्था में जो प्रमेय होते हैं, वे ही यहाँ भी हैं। माया प्रमाता बहुः है, तथापि प्रमेय एकाकार हैं। इसके नीचे मायाभूमि है। यहाँ के प्रमातृगण प्रलयकेवली

हैं। ये शून्यप्रमाता हैं। उनका प्रमेय भी प्रलीनकल्प है। इसे विदेह तथा विकिरण अवस्था कहते हैं। विज्ञानकल तथा प्रलयाकल जीव देहन्द्रियादि शून्य होते हैं। इनमें से प्रलयाकल में कर्मवासना रहती है, अतएव अभिनव सृष्टि में ये सब अणु (प्रलयाकल अणु) नवीन देह तथा इन्द्रियों की प्राप्ति करके संसारीरूप में विचरण करते हैं।

विज्ञानकल अणुओं में कर्मवासना नहीं है। उन्होंने विवेक ज्ञान द्वारा इस अवस्था को प्राप्त किया है। विज्ञानकल भी शुद्धाशुद्ध भेद द्विविध हैं। निम्नस्तर के केवलीगण प्रकृति से अपने पार्थक्य की उपलब्धि करते हैं। मध्यस्थिति के केवलीगण प्रकृति तथा माया, उभय के पार्थक्य की उपलब्धि करते हैं। उच्चस्तरीय शुद्धतत्त्व के केवलीगण महामाया से भी अपने भेद का ज्ञान रखते हैं। अचित्‌मिश्रता के तारतम्य से यह प्रकारभेद स्थापित होता है। शुद्ध विज्ञानकेवली अचित् से पूर्णतः मुक्त है। शुद्ध विज्ञानकेवली पूर्ण मुक्त होने पर भी परमेश्वर के पथ पथिकत्व का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। इन्हें परमेश्वर का परम अनुग्रह प्राप्त नहीं है। अनुग्रह के अभाव में पशुत्व की निवृत्ति तथा शिवतत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसे कहीं-कहीं निरञ्जन पशु के नाम से वर्णित किया गया है। शुद्ध माया से उद्‌भूत कलादि पृथ्वी पर्यन्त तीस तत्वों में जितने भुवन विद्यमान हैं, वे सभी सकल हैं। इन्द्रियादि विशिष्ट हैं। ये सभी जीवरूपी प्रमाता परस्पर भिन्न हैं तथा ये सब परिमित प्रमाता कहलाते हैं। इनका प्रमेय भी तद्रूप है। इन सब वर्णित तत्त्वों की समष्टि ही विश्व है। पृथ्वी से सदाशिव पर्यन्त तत्वों का आश्रय करके नाना प्रमाताओं की स्थिति ज्ञात होती है। तदनुरूप प्रमेय वर्ग का भी अनुभव प्राप्त होता है। इन सबकी समष्टि का नाम विश्व है। विश्व के ऊर्ध्व में आत्मा की स्थिति है, एतदर्थ वह विश्वोत्तीर्ण सत्ता है, शैवी स्थिति है। वहाँ सब कुछ प्रकाशात्मक है। समस्त भाव प्रकाशात्मक हैं। वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है। उस सत्ता में वैचित्र्यात्मक विश्व का सन्धान नहीं प्राप्त होता। यही शिव का स्वरूप है। शिव तथा परमशिव में एक मौलिक भेद का वर्णन करना आवश्यक है। परमशिव विश्वातीत होने पर भी विश्व से अभिन्न होने के कारण विश्वात्मक भी हैं, परन्तु शिव मात्र विश्वातीत हैं। शिवात्मक प्रकाश को तरल कहा जा सकता है, जबकि परमशिवरूप प्रकाश घनीभूत एवं परमानन्दमय प्रकाश है। घनीभूतता ही आनन्दरूपता है। यही सामरस्यावस्था है। शुद्ध शिवास्था में प्रकाश-मात्र रहता है। शक्ति का विजृम्भण ही विश्व है। शिवप्रकाश विश्वातीत है।

परमशिवावस्था में शक्ति के साथ पूर्णयोग रहता है। इस स्थिति में दोनों समरस तथा साम्यात्मक रहते हैं। यह दोनों भी एकरसावस्था हैं। इस अवस्था में सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त का विश्वातीत तथा विश्व तीन शिव—दोनों की अखिल सत्ता अभेद भूमि में स्फुरित हो जाती है, अब यह ज्ञात होता है कि एकमात्र

परमशिव ही अनन्त विचित्र आकार में स्फुरित होते हैं। वे ही शिव हैं, वे ही शक्ति हैं। ऊर्ध्व, अधः, ज्ञान, अज्ञान, अणु तथा महान् रूप से वे ही 'अहं'रूप हैं। शिव-शक्ति का सामरस्य पूर्ण स्थिति का परिचायक है। इस परमपद की प्राप्ति के साथ सब कुछ 'स्व' हो जाता है। 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरति सिन्धवः' यह मधु ही मधुविद्या का चरम लक्ष्य है। सामरस्य और नित्योदित समाधि एक ही स्थिति का नामान्तर है। समाधि-प्राप्ति के अनन्तर तत्काल सामरस्य का उद्रेक नहीं होता। इतने पर भी समाधि से व्युत्थान के पश्चात् के क्षणों में भी समाधि रस का संस्कार अवशिष्ट रह जाता है। इसके प्रभाव से सदैव आनन्द का नशा अनुभूत होता रहता है। इसे आनन्दघूर्णि कहते हैं। प्रतीत होता है कि जगत् की अनन्त भावराशि शरत्कालीन मेघ के समान चिदाकाश में लीन होती जा रही है। व्युत्थान-काल में पुनः-पुनः अन्तर्मुखी भाव जाग्रत् होता है। उन्मीलन समाधि क्रम से निमीलन समाधि क्रम में चिदैक्य बोध का जाग्रत् होना अवश्यम्भावी है। फलस्वरूप व्युत्थान-काल में भी समाधिसमग्रता अनुभूत होती रहती है। यही क्रममुद्रा का अन्तःस्वरूप है। इसके प्रभाव से विषय व्यापृत अवस्था में भी (बहिर्मुखी अवस्था में भी) समाविष्ट स्थिति तथा पराशक्ति का स्फुरण साक्षात् रूप से होता रहता है और साधक को परम योगावस्था की प्राप्ति हो जाती हैं। सर्वप्रथम बाह्यता से, ग्रस्यमान विषय से विमुख होकर परमचिद्भूमि में प्रवेश प्राप्त होता है। तदनन्तर आवेशवशात् अन्तःस्थ परमचिद्भूमि से बाह्यस्वरूप इदन्तानिर्भास में गति हो जाती है। सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक संवित्चक्र ही क्रम है। तुर्या चितशक्ति इस क्रम को मुद्रित करती है। स्वाधिष्ठान रूप से आत्मसात् करती है। यह क्रममुद्रा ही पूर्णाहन्ता है। पूर्वोक्त आवेशवशात् बाह्यस्वरूप इदन्तानिर्भास में गति होने के कारण विषयसमूह भी चिद्रस की आश्यानता से प्रथित हो जाते हैं। अब बाह्याभ्यन्तर समान हो जाता है। यही नित्योदित समाधि है। यही सामरस्य भी है। इससे परमानन्दस्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है तथा आह्लाददान होता है। इसी स्थिति में पाशद्रावण की भी शक्ति है। इस कारण इसे मुद्रा कहते हैं।

शिवशक्ति के सामरस्य के समान गुरु-शिष्य का भी सामरस्य आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य गुरुस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है। उसी प्रकार गुरु शिष्यस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। जैसे शिष्य गुरु को आत्मसमर्पण करके गुरु में स्थिति प्राप्त करता है उसी प्रकार गुरु भी आत्मनिवेदन द्वारा शिष्य को गुरुपद की प्राप्ति कराते हैं। यदि गुरु स्वयं का त्याग न करे, उस अवस्था में शिष्य त्रिकाल में गुरुपद को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। शिष्य यदि स्व का त्याग न करे, तब गुरु उसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे। शिष्य के हृदय में जिस प्रकार गुरु आसीन है, तदवत् गुरु के हृदय में भी शिष्य का वास है। यही सामरस्यावस्था का सोपान कहा गया है।

कामकलाविज्ञान में सामरस्य का तत्त्व और भी परिस्फुट हो जाता है। अग्नि एवं सोम परस्परतया विरुद्ध है। अग्नि का कार्य है शोषण-संहार। सोम का कार्य है आप्यायन, सृष्टि। अग्नि तथा सोम का संघर्ष स्वभावतः सिद्ध है। अग्नि कालरूपी संहार शक्ति है। यह सोम पर अघात करती है, परिणामतः सोमबिन्दु क्षरित होता रहता है। तद्रूप सोम अग्नि पर आघात करता है:, फलस्वरूप अग्नि ईंधन प्राप्त कर प्रज्वलित हो उठती है तथा रस का शोषण करने लगती है। अग्नि का संहार-कार्य अग्निसाध्य है, तथापि सोम उसका सहयोगी है। सोम में सृष्टि-सामंजस्य शक्ति है, तथापि अग्नि उसका सहायक है। यही वैषम्यमूलक संघर्ष का इतिवृत्त है। सृष्टि में सोम का प्राधान्य है। सृष्टि में अग्नि गौण है एवं संहार में अग्नि प्रधान तथा सोम गौण है। जब अग्नि तथा सोम समान होते हैं, तब दोनों की तुल्यबलता के कारण सृष्टि तथा संहार का व्यापार स्थगित हो जाता है। यह स्थिति की अवस्था है। इसे रवि या सूर्य कहते हैं। कामकलाविद्या का काम है रवि, कलायें हैं अग्नि तथा सोम। अतः रवि को अग्नि तथा सोम का सामरस्य कहा जाता है। इसके विपरीत स्थिति में अर्थात् वैषम्य की स्थिति में रवि द्वारा सृष्टि तथा संहार की लीला रूपायित की जाती है। इस क्षेत्र में हार्धकला का उन्मेष तथा तत्त्व-रचना का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि कामकला के श्वेतबिन्दु तथा रक्तबिन्दु, दोनों में परस्पर विहरणशील शिव-शक्ति का संकोच एवं विकासरूपी कार्य गतिशील रहता है। इन दोनों की क्रीड़ा से चतुर्वाक् तथा छत्तीस प्रकार के तत्त्वों की रचना होती है, षड्ध्वरूप जगत् का निर्माण होता है। ये दोनों बिन्दु परस्पर अनुप्रविष्ट तथा पृथक्भूत हैं। इन्हें काम-कामेश्वरीरूप दिव्य मिथुन भी कहा जाता है।

अनुत्तर परमेश्वर स्वाँगभूत निखिल प्रपञ्च विलयात्मक विमर्शशक्ति में प्रविष्ट होकर बिन्दुभाव को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर यह विमर्शशक्ति भी स्वान्तर्गत प्रकाशमय बिन्दु में प्रविष्ट हो जाती है। इस अवस्था में बिन्दु उच्छून हो जाता है। इस बिन्दु से नाद उत्थित होता है। इसके गर्भ में समस्त तत्त्व विद्यमान रहते हैं। यह तेजोमय तथा बीजरूप है, यह केशाग्रवत् सूक्ष्म है। निर्गत होने के पश्चात् यह त्रिकोणाकृति धारण कर लेता है। इस भूमि पर बिन्दु प्रकाशस्वरूपता तथा नाद विमर्शरूपता को प्राप्त होता है। इन दोनों का शरीराधार है अहं। इसका रूप द्विविध है। विमर्श है रक्तबिन्दुरूप तथा प्रकाश है शुक्लबिन्दुरूप। दोनों के मिलन से मिश्ररूप की अभिव्यक्ति होती है। यह है सर्वतेजोमय परमात्मा। यही रवि है। कमनीय होने के कारण काम है तथा अहंकारात्मक है। इस बिन्दु में अकारवाच्य प्रकाश तथा 'ह' कारवाचक विमर्श की सत्ता है। यही है दिव्य पश्यन्ति अथवा दिव्य मिथुन की समरसस्थिति। यह रवि शुक्ल एवं रक्त बिन्दुद्वय का समरसीभूत बिन्दु तथा सबकी आत्मा है।

योगसाधना के दृष्टिकोण से विवेचना की जा रही है। श्रीगुरुपादुका मन्त्र प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि पूर्णमन्त्र में (जो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में प्रचलित है) त्रितारवि के पश्चात् दो द्वादशार्ण हैं। एक उन्मनीभावयुक्त है, दूसरा समनीभावमय। प्रथम परम पुरुष (ह) परमा प्रकृति (सः) के साथ परब्रह्म की ओर अभिमुख होकर ऊर्ध्वगतिशील है। द्वितीय उन्मनीरूपी परब्रह्म की ईक्षण शक्ति से आगत परमा प्रकृति (सः) परम पुरुष (ह) की आनन्दधारा में सिक्त होकर आगे-आगे उतरती है। इन्होंने ब्रह्म को ऊर्ध्व एवं अधः धारा को एक चित्त में मिलाया है, संयोजित किया है। उन्मना तथा समना भाव का उत्स एक ही है। पुरुष तथा प्रकृति अविनाभाव से एक ही ब्रह्मतत्त्व है। उन्मनाभाव ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण द्वारा संकेतित होता है। समनाभाव अधोमुखी त्रिकोण द्वारा इंगित किया जाता है। ये दोनों त्रिकोण षट्कोण रूप में परस्पर जड़ित रूप में सहस्रदल कमल में उपस्थित द्वादशदल कमल में स्थित है। द्वादशदल कमल की कर्णिका सहस्रदल कमल की कर्णिका के ऊपर शिथिल भाव से पड़ी है। द्वादशदल प्रस्फुटित होते ही सहस्रदल निष्प्रभ हो जाता है। उन्मना तथा समना त्रिकोण के मध्य बिन्दुद्वय से युक्त तथा अभिन्न है। षट्कोण के मध्य में श्रीगुरु का चतुष्कोण आसन है। इन दोनों का त्रिकोण में पूर्णभाव सामरस्य होता है। यही ब्रह्मभाव है।

सामरस्य को दीक्षा का चरम लक्ष्य भी कहते हैं। दीक्षा से पाशक्षय तथा शिव तत्त्व योजन होता है। इन दोनों के बिना दीक्षा पूर्ण नहीं होती। शिवतत्त्व-लाभ नहीं होता। यह योजनक्रिया अति कठिन है। योजनक्रिया साधारण गुरु द्वारा साध्य नहीं हो सकती। इसमें शिष्य को कुछ भी करना नहीं होता। जो इसे साधित करा सकता है, वही सद्गुरु है। चार प्रमाण प्राण संचार, प्राणस्थ अध्वविनाश, हंसोच्चार, वर्णकर्तृक कारक त्याग, कालत्याग एवं शून्यभाव इसके क्रमिक स्तर हैं। सर्वान्त में है सामरस्य। सामरस्य तन्त्रमत से सप्तविध है, यथा—1. आत्मा से सामरस्य, 2. मन्त्र सामरस्य, 3. नाड़ी सामरस्य, 4. शक्ति सामरस्य, 5. व्यापिनी सामरस्य, 6. समना सामरस्य और 7. तत्व सामरस्य। भाव के पश्चात् मोह की सत्ता समाप्त हो जाती है। मितयोगीगण व्युत्थान में मोहित हो जाते हैं। इसका यह कारण है कि उन्हें सामरस्य का ज्ञान नहीं होता। सप्तम सामरस्य ही परम सामरस्य है।

सामरस्य की प्राप्ति के अनन्तर किसी भी दशा में शिवभावसमापत्ति विलुप्त नहीं होती। यही निर्व्युत्थान समाधि है। इस अवस्था में परतत्त्व (ज्ञेयमय भाव) अथवा आशय ही निष्कल, निराकार तथा पूर्ण हो जाता है। सर्वावस्था में परतत्व से ऐक्य होना ही सामरस्य है। इस स्थिति का वर्णन किया जा रहा है:—

यत्र तत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।।

सामरस्य में सर्वत्र शिवमय-भाव व्याप्त रहता है।

यह सामरस्य गुरुपादुका में सर्वोत्तम रूप से अंकित है। स्वप्रकाश शिवरूप भी गुरुपादुका है। विमर्शरूप में भी गुरुपादुका है। दोनों का सामरस्य है श्रेष्ठ पादुका। परशिव ही गुरु है। शिव तथा शक्ति उनकी पादुका है। दोनों का सामरस्य है, परा-पादुका।

नाथयोग में भी सामरस्य का अंकन है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में समरसकरण की विवेचना प्राप्त होती है। सामरस्य ही परमपद है। इसका उपाय है, अनन्य भाव, चांचल्यविघूनन आदि। परपिण्ड से स्वपिण्ड पर्यन्त का ज्ञान लाभ करने के पश्चात् परमपद को समरस करना चाहिये। स्वकीय पिण्ड को समरस करने की व्यवस्था सिद्धसिद्धान्तपद्धति में अंकित है। निजविश्रान्ति के अभाव में पिण्ड तथा परमपद का समरसीकरण असम्भव है। सद्गुरु वाक्य द्वारा अथवा दृष्टि के द्वारा तत्क्षण चित्त-विश्रान्ति प्रदान करते हैं।

चित्त-विश्रान्ति के पश्चात् परमपद का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। मुहूर्तमात्र में साक्षात्कार होता है। इसी के साथ परमपद में अपने पिण्ड का समरसीकरण करना चाहिये। अब आत्यन्तिक निरुत्थान दशा उन्मिषित हो उठती है। परमपद स्वसंवेद्य है। भाषा से इसका वर्णन नहीं हो सकता। महासिद्ध योगी के स्वरूपानुसन्धान की स्थितियह हैः—

1. निजावेश
2. निरुत्थान दशा का उदय
3. सच्चिदानन्द चमत्कार
4. अद्भुताकार प्रकाश प्रबोध
5. परमपद का प्रकाश

इस अनुभव से निजपिण्ड सिद्ध होता है। तब निजपिण्ड तथा परमपद एकाकार हो जाता है। इसमें चार भावों की प्रधानता है।

1. **सहज**—विश्वातीत परमेश्वर विश्वरूपेण अवस्थित है, अथवा आत्मा में विश्वदर्शन वह है सहज।

2. **ससंयम**—वृत्तियों को आत्मा में संयत करना।

3. **सोपाय**—प्रकाशमय आत्मा को स्वयं स्वरूपतः एकीकृत करके लौल्य भाव में स्थिति।

4. **साद्वय**—अजातिमत्व दर्शन।

क्रमशः इन सभी ज्ञानों की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् स्वविश्रान्ति की प्राप्ति होती है। इसे निरुत्थान दशा भी कहते हैं।

जिनकी योग्यता सन्मार्ग-प्रदर्शन की है तथा जिन्हें परम्परागत योग्यता प्राप्त है, वे ही प्रकृत गुरु हैं। ये जिस पथ का प्रदर्शन करते हैं, उस पथ पर चलने से स्वसंवेद्य का दर्शन हो जाता है। अतः गुरु को देवभाव युक्त मानना चाहिये। सद्गुरु

की करुणार्द्रदृष्टि से अभिभूत होकर मुनिगण सिद्धिफल का परिहार करके स्वात्मैक्यवेद्यरूप नैरुत्थदशा की प्राप्ति द्वारा कृतार्थ हो जाते हैं और स्वपिण्ड का समरसीकरण करने में सफल होते हैं।

प्रथमतः निजावेश होता है। उसका फल है निरुत्थान। निरुत्थान का फल है महा-नन्दावस्था। यह स्थायी महानन्द होता है। महानन्दावस्था का फल है अमलानन्दमय प्रकाश का प्रोद्बोध। इस अनुभव के साथ ही भेद उच्छिन्न हो जाते हैं। इसके अनन्तर अभिन्न अपार चैतन्यात्मक परमपद का उदय होता है। इसके प्रभाव से निजपिण्ड ज्ञान का भी उन्मेष हो जाता है। निजपिण्ड ज्ञान के पश्चात् नाथयोगी इसे परमपद में नियोजित करके ऐक्यरूपी सामरस्य की प्राप्ति करते हैं। इसके पश्चात् निजरश्मिपरावर्त नामक द्वितीय उन्मेष का उदय होता है। इसका फल है सामरस्य क्रिया। तदनन्तर निजकिरणपुंज का निजरूप में साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह सामरस्य ही प्रकृत अद्वय तत्त्व है। वास्तव में यह द्वैत तथा अद्वैत का ऐक्य है।

समरससत्ता ही परमत्त्व है। यही परब्रह्म भी है।

यही अमनस्क दशा है। इसका वर्णन ब्रह्मोपनिषद् में भी अंकित है।

बौद्ध तन्त्रों में भी समरस भाव की चर्चा को परिलक्षित किया जा सकता है। सहजावस्था में प्रज्ञा तथा उपाय में अभेदत्त्व रहता है। इस स्थिति में हीन, मध्य, उत्तम तथा अन्य सब कुछ समरूप से दृष्ट होते हैं। इस अवस्था में स्थिर तथा चर आदि समरूपमय प्रतीत होने लगता है। यह तत्त्व भावुक की दृष्टि का वर्णन है।

प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य वज्रयोग कहा जाता है। यह कालचक्र नामक आदिबुद्धतन्त्र का सिद्धान्त है। वज्रयोग चतुर्विध कहा गया है—विशुद्ध, धर्म, काय तथा संस्थान योग। प्रथम है सहजकाय, द्वितीय धर्मकाय कहा जाता है, तृतीय को सम्भोगकाय तथा चतुर्थ को निर्माणकाय कहते हैं। विमलप्रभा के अनुसार यह ज्ञानवज्र, वागवज्र तथा कायवज्र अवस्था है।

यह भाव ही अद्वयभाव है।

●

देवतातत्व

देवता का आविर्भाव होने पर सर्वप्रथम उनकी ज्योति का साक्षात्कार होता है। साधक केवल् मात्र ज्योति देखने में समर्थ होते हैं। दीर्घकाल पर्यन्त ज्योति-दर्शनजनित अभ्यास से चक्षु में अभ्यस्तता की शक्ति आने लगती है। अजान देवता की सत्ता से सत्तान्वित होते ही रूपदर्शन का क्रमिक प्रारम्भ होने लगता है। देवता अथवा सिद्धगण ज्योति संहरण कर लेने पर भी अपना रूप प्रदर्शित कर सकते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया से साधक अभिभूत होने लगता है। उसकी मृत्यु भी सम्भव हैं। 'शिवभूत्वा शिवं यजेत्' ही यथार्थ प्रक्रिया है। देवता की ज्योति सहन करते-करते तथा आत्म-सात् करते-करते देवता का क्रमिक दर्शन उचित है। इसमें एक अन्य रहस्य भी अन्त-र्निहित है—

क और ख का सान्निध्य होने पर सर्वप्रथम क की प्रभा, ख की प्रभा द्वारा धीरे-धीरे अभिभूत होती है। तत्पश्चात् ख की प्रभा का दर्शन सम्भव होता है। इसे पुनः-पुनः देखने पर ख का रूप दर्शन होना सम्भव है। इस स्थिति में क की सत्ता ख के प्रभामण्डलान्तर्गत हो जाती है। इसका नाम है सालोक्य। यह भी सामयिक अवस्था- मात्र है। इस अवस्था का आयत्तीकरण होने के पश्चात् (समय पूर्ण होने पर) जब मृत्यु होती है, उस समय तदनुरूप 'ख' के लोक में गति होती है। अब भय का लेश भी नहीं रह जाता। स्थूल देहस्थिति में अत्युच्चावस्था पर्यन्त अग्रसर होने पर भी (रूप- दर्शन के बिना) सालोक्य सम्भव नहीं है। देहावस्थान-काल में भी देवता का रूप प्राप्त हो सकता है। सालोक्य स्थायी होते ही क की छायामयी प्रभा चिरकाल के लिए अभिभूत हो जाती है। वह स्वयं ही प्रभारूप हो जाता है। अर्थात् ख की प्रभा में मिलित हो जाता है। क की अपनी प्रभा अवशिष्ट नहीं रहती। यह है दास्य-भाव का प्रारम्भ। सारूप्य प्राप्त होने पर 'ख' लोकवासी साधकगण 'क' में अन्तर्भूत हो जाते हैं। किन्तु इन साधकों पर 'क' का प्रभाव नहीं पड़ता।

सार्ष्टि अवस्था में (जब रूप को शक्तिमत्ता प्राप्त होती है) उपरोक्त ख लोकवासी साधकगण क की स्वशक्ति के अधीन प्रतीयमान होते हैं। यह भी आपेक्षित अवस्था है। इसके पश्चात् व्यष्टि शक्ति द्वारा समान सत्ता की स्थिति आती है, जिसे सायुज्य कहा जाता गया है। सायुज्य में साधक देवतारूपेण प्रतीयमान होकर देदीप्यमान होते हैं। यहीं से निर्गुण राज्य की सीमा-रेखा का प्रारम्भ है। सामीप्य की स्थिति वास्तव में सारूप्य एवं सायुज्य की मध्यवर्ती स्थिति है। लीलावादी भक्तजन

की गति सामीप्य पर्यन्त ही हो सकती है। सामीप्य में विरह की सत्ता प्रतीत होती है। सारूप्य से विरह परिसमाप्त हो जाता है। किम्बहुनासारूप्य भी यथार्थ मिलन नहीं है। सारूप्यावस्था में मात्र रूप का दर्शन प्राप्त होता है। सामीप्य में देवाधिकार की सीमा आयत्त होने लगती है। मंजरी एवं सखीभाव समीप्य के अन्तर्गत परिगणित है। सामीप्य में नाना प्रकार के दास्य-भाव का परिस्फुटन तथा विकास परिलक्षित होता है।

ज्योति-दर्शन देवता के बाह्य परिमण्डल का दर्शन है। रूप-दर्शन है, अन्तःपरिमण्डल की उपलब्धि। रूप-दर्शन प्राप्त होते ही साधक इष्टधाम की प्राप्ति कर लेता है। रूप- दर्शन के पश्चात् (आयु-समाप्ति के क्षणों में) मृत्यु सम्प्राप्त होते ही साधनानुरूप दिव्यावस्था आयत्त होती है। इस अवस्था में दीर्घातिदीर्घकाल अतिवाहित हो सकता है। क्रमिक उत्कर्ष से सालोक्य प्राप्ति के पश्चात् भगवत्-धाम् में अनन्तकालीन सारूप्यावस्था की अनुभूति प्राप्त होती है। इसके विपरीत यदि देह में रहते-रहते (जीवितावस्था में) ही सालोक्य से सारूप्य तक की यात्रा सम्पन्न हो सके, इस स्थिति में अत्यल्प काल में कर्म पूर्ण हो जाता है।

हममें से अनेक कहा करते हैं 'मैं प्रभु का दास हूँ'। कहने मात्र से दासत्व की प्राप्ति असम्भव है। दासत्व के लिए रूप-दर्शन अपेक्षित है। केवल मात्र रूप-ज्योति दर्शन से दासत्वाधिकार की प्राप्ति असम्भव है।

चक्षु निमीलित करने पर जो अन्धकार का दर्शन होता है, वह साधक का अपना अविद्याजनित छाया-मण्डल है। यह है वासनादिमय आवरण स्वरूप। जप-ध्यानादि से यह आलोकित हो उठता है। जपादि से क्षुद्रातिक्षुद्र तड़ितांश संचित होते हैं। तड़ित-कण घनीभूत होकर उस अन्धकार को विदूरित करते हैं। ध्यान से भी यही प्रक्रिया त्वरित गति से सम्पन्न हो सकती है। जप एवं ध्यान में दीक्षा का प्रचुर महत्त्व ज्ञात होता है। साधारण ध्यान एवं जप कल्पित रूप, शब्दादि पर आधारित है। दीक्षा के पश्चात् गुरुप्रदत्त अकल्पित शब्द एवं अकल्पित रूप से प्रतिरूपक जप तथा ध्यान प्राप्ति द्वारा अन्धकार का क्रमिक भेदन सम्भव है। ज्योति-दर्शन इसी का नामान्तर है।

क्रमवृद्धि से ज्योति की परिशुद्धता तथा प्रसार अभिवृद्धि प्राप्त करता है। इस अवस्था में भी रूप-दर्शन नहीं हो सकता। तत्पश्चात् और भी परिशुद्धि तथा प्रसार सम्पन्न होते ही रूप-दर्शन की स्थिति आती है। यह है अकल्पित शब्द का उत्थान एवं मन्त्र चैतन्यावस्था। एक केन्द्र पर रूप एवं शब्द संचित होने लगता है। इसका अन्य नामान्तर है 'सूर्योदय'। अभी मेघरूपी आच्छादन से चैतन्य सूर्य आच्छादित-सा लगता है। इसी कारण धामवासी सिद्ध-साधकगण सर्वदा देव-दर्शन प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। उनका देव-दर्शन सतत एवं पूर्ण देव-दर्शन नहीं है। वह है क्षणिक और तात्कालिक देव-दर्शन। यथार्थ एवं पूर्ण देव-दर्शन की स्थिति में मेघाच्छादन की स्थिति सदा-सर्वदा के लिए विनष्ट हो जाती है। यही सारूप्य है।

प्रकृत ध्यान जब-तब नहीं हो सकता। वह होता है, वास्तविक रूपानुभूति के पश्चात्। रूप-दर्शन के पश्यात् ध्यान में स्वाभाविकता तथा निरपेक्षता आ जाती है। ध्यानभंग अर्थात् बाह्य स्थिति। इसलिए पुनः जप, पुनः रूपाविर्भाव, पुनः ध्यान करना आवश्यक है। प्रक्रिया का बारम्बार अनुवर्तन होने से स्थायी परमरूप का आविर्भाव हो सकता है। इस आविर्भाव से सब विपर्ययों का स्तम्भन हो जाता है। ज्योति का आश्रय लेकर भी ध्यानावस्था में निमज्जन होना स्वाभाविक है। कुछ साधक बाह्य रूप का आश्रय लेकर ध्यान करते हैं, यह उचित नहीं है। मात्र ज्योति ध्यान से ही प्राप्तव्य प्राप्त होता है।

आँखें बन्द करने के पश्चात् जिस अन्धकार का परिदर्शन होता है, वही हमारा जगृत् (वासनामय) है। देवगण कभी भी चक्षु बन्द नहीं करते। वे जिस प्रकाश में देखते हैं, वही उनका लोक है।

उन्नत साधक आँखें बन्द करने के पश्चात् अन्धकार नहीं देखते। यह दिव्यचक्षु- प्राप्ति की सूचना है। दिव्यचक्षु कभी भी बन्द नहीं होते। इस दिव्यचक्षु के आलोक में जो कुछ भी देखा जाता है, वह चक्षु का ही अंगीभूत है। इस प्रकार विवेचना करने से हम चार अवस्थान्तर की अनुभूति करते हैं—

1. **संसारावस्था**—इससे साधक देवता को नहीं देखते, देवता भी साधक को नहीं देखते। दोनों का पारस्परिक लक्ष्य-स्थापन नहीं रहता।

2. **साधकावस्था**—देवता साधक को देखते हैं, परन्तु साधक देवता को नहीं देखते, अर्थात् देव-कृपा प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु अभी साधक का अधिकार क्रमिक वृद्धि नहीं कर सका है।

3. **सिद्धावस्था**—साधक देवता को देखते हैं, उसी प्रकार देवता भी साधक की ओर उन्मुख रहते हैं।

4. **अतिसिद्धावस्था**—साधक देवता को देखते हैं, परन्तु देवता साधक को नहीं देख सकते। साधक ईश्वर-भूमि में उपनीत है। वह द्रष्टा एवं जाग्रत् है। देवता उसमें समाहित हैं।

●

दृश्य रहस्य

भविष्यत् का अर्थ है **सृष्टि**। वर्तमान का अर्थ है **स्थिति**। अतीत का अर्थ है **संहार**। वर्तमान तो है ही। वर्तमान का आश्रयण कर सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रीड़ा चल रही है। इच्छा के अनुदय से स्थिति होती है। उदय से सृष्टि एवं संहार प्रतिफलित होता है। इच्छा के प्रभाववश सत्ता का पृथक् भाव उदित होते ही सृष्टि होती है। इच्छा के प्रभाववश सत्ता का पार्थक्य तिरोहित हो जाने से संहारात्मिका लयावस्था का आविर्भाव जानना चाहिये। सीमाबद्ध द्रष्टा की दृष्टि में सृष्टि तथा लय की सत्ता रहती है। द्रष्टा को दर्शनगोचर होने से सृष्टि की सत्ता है। द्रष्टा को अदृश्य प्रतीत होने से संहार प्रतिफलित होता है। अबाधित दर्शन की स्थिति में (सीमाबद्धता का तिरोधान होने से) सृष्टि तथा लय अर्थहीन हो जाते हैं। यह है नित्यावस्था।

सभी पदार्थों में एक दृश्यत्व धर्म अवस्थित है। यही है रूप। उसका श्रव्यत्व ही शब्द है। दृश्यता या रूप को क्षीण कर सकने पर अर्थात् सीमाबद्ध दृष्टि को स्थिर करने के पश्चात् वस्तु में अनुपातिक न्यूनता का संचार करने का कौशल आयत्त होने से द्रष्टा की सीमा-रेखा से वस्तु का लोप हो जाता है। इन्द्रियवर्ग के सम्बन्ध में भी यही सत्य प्रतिफलित होता है। जब द्रष्टा वस्तु या दृश्यता की क्षीणता के अनुपात से अपनी दृष्टि में भी सूक्ष्मता का आरोपण करता है, तब वस्तु का अदर्शन या लोप सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार द्रष्टा का अपरिसीमत्व सिद्ध होने की स्थिति में भी अदर्शनत्व दूर हो जाता है।

चक्षुद्वय को बन्द करने से जिस अन्धकार का परिदर्शन होता है, वह चित्त का मल एवं आवर्जन है। यह आवर्जन निम्न भाग में परिसंचित होता है। वास्तव में चित्त स्फटिक के समान स्वच्छ है। ऊर्ध्वस्थ सहस्रारस्थ ज्योति सदा-सर्वदा चित्त पर पड़ती रहती है। ज्योति पड़ती रहने पर भी जब तक आवर्जनरूपी मेघ नहीं कट जाता, तब तक किसी प्रकार का उत्थान हो सकना सम्भव नहीं है। इस आवर्जन के समाप्त होते ही चित्त आलोकित हो उठता है। चित्त की आलोकित स्थिति की अनुभूति इसी अवस्था में हो सकती है। यह आलोकपात अहैतुक है। इसका कोई कारण नहीं है। यह स्वयं है और स्वयमेव हो रहा है। इसके लिए चेष्टा नहीं की जाती। चेष्टा करके भी इसकी प्राप्ति कैसे होगी? मानव के प्रयत्न पर सूर्य (सहस्रदल) का आलोक विकिरण आधारित नहीं है। मानव-प्रयत्न होता है मात्र उपरोक्त आवर्जनरूपी मेघ को हटाने के लिए। मेघाच्छादन हटते ही नित्य प्रकाशमय ज्योति स्वयमेव उद्भासित हो उठती है।

जब चक्षु बन्द करने पर अन्धकार का भान नहीं होता (दृष्टिगोचर नहीं होता), तभी व्यापक प्रकाश का भान हो सकता है। व्यापक प्रकाश का भान होते ही ज्ञान होने लगता है कि सूक्ष्म शरीर अपने स्थूल शरीर से अलग होता जा रहा है। स्थूल है पंचभूतमय भौतिक आवरण। सूक्ष्म अर्थात् स्फटिकवत् चित्त। कारण का तात्पर्य है Source of Illiumination। स्थूल से सूक्ष्म सत्ता विविक्त होते ही आलोक की उपलब्धि होने लगती है। यह आलोक कारण केन्द्र से अभिनिसृत है। इस आलोक में समस्त जगत् का दर्शन होता है। इस स्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथमावस्था में अपने शरीर को छोड़कर अन्य रूप से प्रतीयमान सब कुछ का दर्शन सम्भव है। द्वितीय अवस्था में अपनी देह भी देखी जा सकती है। अर्थात् देह भी अन्य रूप से प्रतीयमान दृश्य के साथ एक श्रेणीयुक्त हो जाता है।

देखा जाता है आलोक में। दृश्य है अपना चित्त। देखता कौन है? देखता है जीव, सभी या द्रष्टा। इस व्यापक आलोक का उत्स (Source) है परमेश्वर। इसे वेद अथवा ब्रह्म भी कहते हैं। द्रष्टा के दृष्टिकोणानुसार जीव स्वरूपतः अणु है। व्यापक चित्त की योगावस्था में वही विभु है। स्थूल देह में चित्त को व्यावहारिक दिशा प्राप्त होती है।

●

प्रकाशतत्व

चित्त पर सतत प्रतिफलित हो रहे इस व्यापक आलोक का कोई हेतु नहीं है। यह शाश्वत है। यह है भगवान् की नित्यसामान्य कृपा। इसके अभाव में जीव प्रयत्न करके भी कुछ पाने में असमर्थ है। चित्त-क्षेत्र से अन्धकार-राशि अपसारित हो जाने पर भी (इस आलोक के बिना) चित्त अव्यक्त ही रह जाता। उसमें कुछ की, यहाँ तक कि अपनी भी स्फूर्ति नहीं रह जाती।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि इस प्रचेष्टा का मूल कहाँ है? मेघ हटने पर आलोक की उपलब्धि होती है। आलोक तो है ही, किन्तु मेघराशि को विच्छिन्न कौन करेगा? मेघसमूह को वायु हटाती है। वायु का एक सामान्य रूप भी है। इस सामान्य रूप में वह मेघराशि को हटा सकने में समर्थ नहीं है। कारण, वायु तो व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। उससे मेघ का अन्तर्विरोध कैसे हो सकता है? इसलिए मेघराशि को हटाने के लिए आवश्यक है, विक्षुब्ध अथवा विशेष वायु। वायु-प्रवाह (विशेष वायु) का मूल है सूर्य। सूर्य की विशेष किरणों से वायु प्रवाहशील होने लगता है। वस्तुतः अन्तर्मेघ अन्तःसूर्य की सामान्य किरणों का आवरक नहीं है। वह है द्रष्टा के साथ हो रहे किरण सम्बन्ध का आवरक। सूर्य की कृपा बिना उसकी अपनी व्यापक महाकृपा का अनुभव नहीं हो सकता। यही है दीक्षा कार्म। जीव की प्रयत्नशीलता निमित्त-मात्र है। वह तो विशेष कृपा से प्रसृत फल की सामान्य कर्णिका ही है।

कहा जा रहा है कि आँखें बन्द करने पर जीव का, प्रत्यगात्मा का अन्धकार परिलक्षित होता है। इस अन्धकार को दूरीभूत किये बिना ही स्थूलाभिमान विस्मृत होने की दशा में स्वप्न-दर्शन होता है। उपरोक्त प्रत्यगात्म अन्धकार दूरीभूत न करने से और स्थूल देह में लिप्त रहने से (स्थूल देहात्मबोध में स्थित रहने से), जाग्रतावस्था का उद्भव होता है। उपरोक्त अन्धकार को दूर भी नहीं किया है, अथच स्थूल स्थिति विस्मृत है, साथ ही चित्त भी प्रशान्त है, इसे सुषुप्ति कहते हैं। स्वप्नावस्था में मन अस्थिर रहता है। स्वप्नावस्था में विचित्रता यह है कि वहाँ अन्धकार में निमज्जितास्था रहते हुए भी दृश्य-दर्शन होता है। अन्धकार प्रतीत नहीं होता। वहाँ जिस दृश्यरूपी जगत् का दर्शन होता है, वह है वासना से ओतप्रोत स्वप्न जगत्।

जाग्रतावस्था में अन्धकार निहित है 'आन्तर वृत्ति' में। वहाँ बाह्य स्मृति जाग्रत् रहती है। जाग्रत् एवं स्वप्न; दोनों में मन की कार्यशीलता पूर्ण स्थित रह जाती है। जाग्रत् में इन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं, द्रष्टा भी कार्यरत है, तथापि प्रत्यवमर्श नहीं

रहता। सुषुप्ति में मन अक्रिय है, इन्द्रियसमूह भी प्रशान्त हो जाते हैं, किन्तु प्रत्यवमर्श भी अस्तमित रह जाता है। प्रत्यवमर्श के अभाव से द्रष्टा की निद्रावस्था की साक्षीभूतता फलवती नहीं होती। व्यक्ति यह नहीं समझा पाता कि 'मैं निद्रावस्था को देख रहा हूँ'। जाग्रदावस्था में वह द्रष्टत्व का अनुभव कर सकने में समर्थ है। स्वप्न एवं सुषुप्ति में प्रत्यवमर्श का अवसर ही नहीं है। एकमात्र जाग्रदावस्था में ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

●

दर्शनतत्व तथा ध्यान आदि

चक्षु बन्द करने पर अन्धकार दीखना समाप्त होने की स्थिति में ही देहात्मबोध की विच्छिन्नता हो सकती है। अन्धकार की विलुप्ति के साथ-साथ स्थूल देह और सूक्ष्म देह में पारस्परिक विच्छेद होने लगता है। जाग्रतावस्था में प्रत्यवमर्श की वृद्धि से भी यह सम्भव है। इसे ज्ञान कहते हैं। इस स्थिति में आलोकदर्शन करते-करते द्रष्टा को उपलब्धि होती है कि वह देख रहा है। यही साधना का लक्ष्य है।

चित्ताकाश में देव-दर्शन होता है। चित्त देवता का स्थान है। चिदाकाश स्थान है गुरु-दर्शन का। देव-दर्शन के पूर्व चित्तक्षेत्र में परिष्कार तथा आलोकोन्मुखता होना आवश्यक है। चित्ताकाश से चिदाकाश पर्यन्त के 'पथ' का नाम है ब्रह्मनाड़ी। चिदाकाश से समागत आलोक द्वारा चित्ताकाश अन्धकार विहीनता प्राप्त करता है, तत्पश्चात् प्रदीप्त होता है देवरूप में। इसी कारण कहते हैं कि गुरु के बिना देवता को कौन दिखला सकता है? वस्तुतः गुरु ही गुण क्षेत्र में देवरूप से आविर्भूत होते हैं। जो आलोक प्रवाह चिदाकाश से चित्ताकाश पर्यन्त अवरोह क्रम से उतरता है, वही पुनः आरोह क्रमानुसार चिदाकाश की ओर उत्थित होने लगता है। अतः यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि देवता साधक को गुरु-सान्निध्य तक पहुँचा देते हैं। इस प्रकार से क्षेत्रीय सगुण का पर्यवसान होता है चिदाकाशस्थ निर्गुण में।

हम सर्वप्रथम पूर्व क्षण के आकाश में एक परिष्कृत भाव का उदय देखते हैं। परिष्कार के पश्चात् सूर्योदय की स्थिति आती है। जो सूर्य उदित है, उसी के प्रभाव से आकाश प्रकाशमान होकर अन्धकार का उच्छेद करने में समर्थ होता है। उपरोक्त उदाहरण के समान देवाविर्भाव के पूर्व क्षण में चित्ताकाश में प्रकाश का संचार अनुभूति में अंकित होता है। वह प्रकाशित लगता है, देवता की ज्योति से। प्रथम चित्तशुद्धि, तत्पश्चात् देवदर्शन की उक्ति असार है। कारण, चित्त की शोधिका है देव-ज्योति। यहाँ एक सर्वमान्य सिद्धान्त की समालोचना आवश्यक है। रात्रिजनित अन्धकार एवं मेघजनित अन्धकार—दोनों दो प्रकार के अन्धकार हैं। सूर्योदय से रात्रि का अन्धकार विच्छिन्न हो सकने पर भी मेघान्धकार विच्छिन्न हो सकना असम्भव है। जीव में भी यही सिद्धान्त कार्यशील है। गुरु की सामान्य कृपा से (जीव का अनादिकालीन हृदयान्धकार विदूरित होने से) देवसूर्य उदित होते हैं। इतने पर भी स्थूल देहाश्रय निमित्तक आवरण (मेघावरण) शेष रह जाता है। इसीलिए साधकगण प्रकाश एवं प्रकाशक का सन्धान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। साधन कर्मरूपी

वायु से यह आवरण अपसारित हो सकता है। कभी-कभी मृत्यु के पश्चात् (अचिन्त्य कारणवशात्) इस मेघ की विच्छिन्नता से आलोक की अनुभूति सम्भव हो जाती है क्योंकि दीक्षा-काल में श्रीगुरु की सामान्य कृपा से रात्रिकालीन अन्धकार पूर्व में ही उच्छिन्न हो चुका था।

चित्ताकाश में देवाविर्भाव का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथमतः रूप का आविर्भाव, तत्पश्चात् उसमें चेतना का संचार, अथवा चेतन रूप का आविर्भाव। यह है ऊर्ध्व से निम्न में ज्योति का अवतरण। यह होता है हृदयक्षेत्र में, आज्ञाक्षेत्र में। पक्षान्तर से निम्नस्थ पंचभूतों का सारांश ऊर्ध्वगामी होने लगता है। इन सबका आविर्भूत ज्योति में समर्पण आवश्यक है। समर्पण द्वारा ज्योति पुष्टि सम्पादन प्रक्रिया का पूर्णत्व हो जाने पर ज्योति भी ऊर्ध्वमुखी बिन्दु में लौट जाती है। यह अर्पण है भोगदान या निवेदन। तदनन्तर स्थिति है प्रणाम की, अर्थात् आत्म-निवेदन। इस प्रक्रिया से साधक ऊर्ध्वगामी प्रवाह में समर्पित हो जाते हैं। ऊर्ध्वप्रवाह ऊर्ध्वबिन्दु पर जाकर प्रशमित होता है। यही है अद्वैतानुभूति। कालान्तर में वेगक्षय के साथ-साथ साधक स्वभूमि पर उतर आता है।

सब कुछ ऊर्ध्वोत्थित होने के साथ-साथ गन्ध-रस-तेज-वायु एवं शब्द भी ऊपर उठता है। देव में स्वयं की गन्ध नहीं है। वे इसी गन्ध से सुगन्धित होते हैं। इसी रस से रसान्वित, तेज से तेजान्वित होते हैं। इसी ज्योति से उद्भासित तथा इसी वायु से हिल्लोलित होने लगते हैं।

शब्द प्रकाशित होता है, शंख घण्टादिक की ध्वनि से। अन्त में है प्रणाम। प्रणाम के साथ ही साधक का सब कुछ एवं स्वयं साधक भी निवेदित हो जाता है। यहीं से प्रारम्भ है ध्यान, समाधि की स्थिति। ध्यानादिक के समय देहस्थ तड़ित् ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। सबकी गति मस्तकोन्मुखी होती है। योग (निरोध) के समय एक तीव्र वायु क्रमशः ऊपर उठती है। यही नहीं, सब कुछ ऊपर की ओर संचरण करता है। निम्नदेश की स्थिति शववत् प्रतीत होती है। इसी कारण ध्यानावस्था में यदि कोई स्पर्श कर देता है, उस स्थिति में प्राण की गति तत्क्षण ब्रह्मरन्ध्र से नीचे की ओर उतरने लगती है। इससे साधक को एक प्रबल आघात सहना पड़ता है।

ध्यान से स्वाभाविक व्युत्थान की दशा में वह तेज पैरों की ओर उतरता रहता है। इसलिए गुरु को प्रणाम करना श्रेयस्कर है। प्रणाम करने से प्रणम्य का तेज प्रणामकारी की ओर आगतोन्मुख रहता है। यद्यपि यह लोकोपकार है तथापि इस स्थिति में प्रणाम स्वीकार करने से साधक की क्षति होती है। इष्टदेवता का चरण अपने मस्तक पर धारण करके प्रणाम देने से क्षति की सम्भावना नहीं रहती। कारण उस स्थिति में साधक मात्र माध्यम है। जो तेज प्रणामकारी की ओर उन्मुख है, वह इष्ट- देवता से प्रवाहित होते-होते साधक में प्रदीप्तमान रहता है। जो नमस्कार करता

है, उसका नमस्कार साधक को नहीं, प्रत्युत् देवता को समर्पित है। इस कारण योगयुक्त न होने के पूर्व किसी का प्रणाम स्वीकार करना वर्जित है। जो योगयुक्त न हो (पिता-माता एवं गुरुजनों को छोड़कर) उसे प्रणाम भी नहीं करना चाहिये, अन्यथा कर्म- संस्कार का परस्पर समागम सम्भावित है। जो प्रणाम करता है, उसका अपना तेज मस्तक की ओर गतिशील होना चाहिये। वहाँ से वह प्रणम्य के चरणों में संचरण करता है। जो प्रणाम लेता है, उसका तेज चरणोन्मुख होना आवश्यक है। यदि प्रणम्य का तेज ऊर्ध्वगामी है, उस स्थिति में प्रणाम करने पर प्रणामकारी तक्षण समाधि में प्रवेश कर सकता है (इससे प्रणामकारी का दैहिक अहित भी सम्भव है, कारण अभी उसका आधारबल न्यून है)।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह देवता, गुरु और शिष्य का गुप्त रहस्य है। सकाम प्रणाम में गुरु का तेजस्रोत बहिर्मुख एवं अधोमुख होकर शिष्य में संचरणशील रहता है। उससे शिष्य की कामना परिपूर्ण होती है।

निष्काम प्रणामावस्था में गुरु का एवं देवता का श्रोत अन्तर्मुखी है। वह शिष्य या पूजक को अन्तर्मुखी धारा में आकर्षित रहता है। शिष्य का समस्त तेज मस्तक में संचित होने लगने की प्रक्रिया का यही प्रारम्भिक रूप है। इसे अभयदान भी कहते हैं। भगवद्दास्य की आकांक्षा के साथ साष्टांग प्रणाम की प्रक्रिया होनी चाहिये, कारण वहाँ स्निग्ध तेज कार्योन्मुखी है।

चैतन्य निराकार एवं साकार, उभय सत्ता में प्रतिफलित है। किसी आकार का निर्णय न रहने से वह निराकार है। समस्त आकार, उसमें सन्निहित है। निराकार चैतन्य है शिवरूप। साकार चैतन्य अर्थात् शक्ति। साकार चैतन्य में अनन्त भेद एवं आकार विद्यमान हैं तथापि महाशक्ति रूप से इनमें एकत्व भी प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रत्येक आकार एक-एक सामान्य और मूल रूप (Unit) है। वह मिश्रित नहीं है। गुण के राज्य में मूल (Unit) नहीं होता, फिर भी सब कुछ उस एक मूल से निबन्धित है। आकार अंशी नहीं है। वह है एक Unity। उसमें अंश नहीं, अतः क्रम की कल्पना कभी नहीं हो सकती। इसी कारण बद्धजीव क्रमशः कल्पना द्वारा मूर्ति-गठन नहीं कर सकते।

उदाहरण, गुलाब पुष्प का दृष्टान्त देता हूँ। चिन्मय गुलाब सर्वप्रथम हृदय में उद्भूत होता है। वास्तव में यह वास्तविक गुलाब की सूक्ष्माकृति है। इस सूक्ष्म गुलाब का बहिर्जगत् में, महाकाश में आनयन होने से, पंचभूत सम्पृक्त गुलाब पुष्प का आकार गठित होता है। यही है वह स्थूल गुलाब जिसे हम देखते हैं। किन्तु चिन्मय गुलाब (गुलाब पुष्प सृष्टि की इच्छा) वास्तव में शक्तिरूपा है, जगत् में प्रत्यक्षीभूत पांचभौतिक गुलाब में से पंचभूत एवं सत्वांश खींच लेने पर अवशिष्ट बचता है चिन्मय गुलाब वह इस स्थिति में विविक्त न रहकर चैतन्य-समुद्र में विलीन-सा प्रतीत

होता है। उसे 'गुलाब' की संज्ञा से पहचान सकना सम्भव नहीं रहता। ब्रह्मसमुद्र में डूबने से यही अवस्था हो जाती है।

जगत् की शेष सीमा है रंग। उसके पश्चात् वस्तु की सत्ता मिलती है। हम वस्तु को देख नहीं सकते। रंग ही देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का एक वर्ण होता है। वस्तु का आविर्भाव अर्थात् साथ-साथ रंग का प्राकट्य। प्रकारान्तर से उस समय रंग का ही प्रस्फुटन है। रंग के आविर्भाव से पृष्ठभूमि में स्थित रूप का सन्धान होने लगता है। रूप की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। रंग की भूमि में बीजवपन होना चाहिये। तीव्रतम एकमुखी चिन्तन से रंग की उपलब्धि होती है। वस्तु अथवा रूप की प्रभा ही रंग है। रंग का भेदन करने से ही रूप का प्रतिभासन हो सकेगा। जिस प्रकार ईश्वर योगमाया से समावृत रहते हैं, उसी प्रकार देवता,जीव तथा सभी वस्तु अपनी-अपनी वर्णात्मक प्रभा से आच्छन्न हैं। यह प्रभा योगमाया अथवा वर्णमय प्रकृति का क्षेत्र है। इसमें चिद्बीज का वर्णन करने पर रूप का आविर्भाव सम्भव हो जाता है।

स्थूल चक्षु द्वारा दृश्य-दर्शन में स्थूल प्रकाश सहायक है। यह है आग्नेयवर्ण का प्रकाश। सूर्य-किरण आग्नेय किरण है। चन्द्र-किरण भी आग्नेय किरण है, कारण वह कालाग्नि मण्डलस्थ है।

यह स्थूल आँखें बन्द करने पर जिस अन्धकारादि का दर्शन होता है, उसे मन देखता है। सूक्ष्म प्रकाश के वर्ण से सूक्ष्म जगत् परिदृश्यमान है। सूक्ष्म प्रकाश विशुद्ध चन्द्र का प्रकाश है। वह कालाग्नि मण्डलस्थ भौतिक चन्द्र का प्रकाश नहीं है। पृथ्वी पर विशुद्ध चन्द्र का प्रकाश उपलब्ध हो सकना दुष्कर है। इस विशुद्ध प्रकाश का उदय होने से चित्ताकाशस्थ वर्ण की अनुभूति प्रारम्भ हो जाती है।

इस मनरूपी चक्षु को बन्द भी कर सकते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में एक और चक्षु अवस्थित है। इसे बुद्धि अथवा प्रज्ञा का नेत्र कहते हैं। यह नेत्र इस कारण जगत् को देखता है। इसके दृश्य में विशुद्ध अन्तःसूर्य का प्रकाश कार्यकारी है। इस प्रकाश में समस्त कारण जगत् का दर्शन होता है।

इस बुद्धि के नेत्र को भी बन्द करने पर बोध के नेत्रों की उपलब्धि हो जाती है। इसके मूल में ब्रह्मज्योति ही कार्यकारी है। यह चन्द्र, सूर्य, अग्नि सबसे अतीत है। उसी की आभा से ये सब प्रकाशित रहते हैं। ब्रह्मज्योति प्रकृत साक्षी और महती शक्तिरूपा है।

सूक्ष्म जगतस्थ प्रकाश में चन्द्र की प्रधानता है। पृष्ठभूमि में सूर्य भी रहता है। स्थूल जगतस्थ प्रकाश में अग्नि प्रधान है। कारणजगत् के प्रकाश का स्रोत है, विशुद्ध सूर्य।

शिवलोकस्थ शिव-दर्शन और बाह्य शिव-दर्शन का प्रारूप पारस्परिक विभिन्नता से ओत-प्रोत है। बाह्य शिव-दर्शन है। शिवांग का दर्शन। यह शिवलोक में

स्फुलिङ्ग के समान निर्गत होता रहता है। शिवलोकस्थ शिव-दर्शन अन्य प्रकार का है। इसमें सर्व-प्रथम शिवलोक का प्रकाश अनुभूत होता है। इस आलोक से समस्त अन्तराकाश में प्रदीप्तता का आप्लावन हो जाता है। तदनन्तर शिवलोकस्थ भक्तगण एवं परिकरगण प्रत्यक्षीभूत होते हैं। आंशिक शिव-दर्शन में समस्त अन्तराकाश कैसे आलोकित हो सकेगा?

प्रत्येक आलोक में प्रत्येक वस्तु का दर्शन असम्भव है। समजातीय आलोक में समजातीय दृश्य का दर्शन सम्भव है। जहाँ ब्रह्मज्योति क्रीड़ा करती है, वहाँ जगत् नहीं है। वहाँ सब कुछ ब्रह्म ही है। यद्यपि वहाँ 'अहं ब्रह्म' 'इदं ब्रह्म' का प्रवाह है, तथापि है एकमात्र ब्रह्म।

वस्तुसमूह का एक अलग-सा प्रतिबिम्ब आकाश में भी भासित हो रहा है। वह साधारण लोगों की दृष्टि का विषय नहीं है। कारण, वे वस्तुसमूह को शुद्ध दृष्टि से देख सकने में अक्षम हैं। वास्तव में यहाँ पर बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब, दोनों एकात्मभावेन विद्यमान हैं। साधारणजन कुछ भी समझ नहीं सकते। जिनको ज्ञानचक्षु की प्राप्ति हो चुकी है, वे इस प्रतिबिम्ब को पृथक् रूप से देखने में सक्षम होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मादिक देवता किसकी आराधना में निरत हैं? वे योगानुध्यान करते हैं। उनका ध्येय है ज्योति। वह दिव्यज्योति नहीं, अपितु ब्रह्मज्योति है। ब्रह्मादिक देवगण की अपनी स्वज्योति है दिव्यज्योति। योगानुध्यान के समय उनकी दिव्यज्योति अस्तमित हो जाती है और ब्रह्मज्योति का आलोक छिटक उठता है। दिव्यज्योति का लोप (संकोच) होते ही वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

मनुष्य साधना करता है सिद्धि हेतु। संयम से उसकी अपनी प्रभा (रंग) विकसित न होकर केन्द्रीभूत होने लगती है। उसमे स्थिति में उसे न तो जगत् का अनुभव शेष रह जाता है और न जगत् ही उसकी अनुभूति का लेशमात्र स्पर्श पा सकता है। वह स्वयं निमग्न रहता है, अपने उपास्य देवता की ज्योति का दर्शन करने में। द्वितीया-वस्था में वह देवता का रूप-दर्शन प्राप्त करता है। चरमावस्था में स्वयं देवमय हो जाता है।

देवमयता की दो अवस्था है। क्रिया साधना के समय वह देवमय अनुभूति प्राप्त करता है, अन्य काल में देवता साधक में स्थित रह जाते हैं। मात्र क्रिया-काल में साधक देवता में स्थित रहता है। उस स्थिति में देवता ही योगानुध्यान में बैठे हैं, यह मानना चाहिये। इसके पश्चात् देवज्योति संकुचित हो जाती है, और ब्रह्मज्योति अपना प्रकाशन करती है।

साधारण मनुष्य की स्थिति क्षिप्त एवं मूढ़भावापन्न है। उनके लिए किसी भी अन्तःसाधना की आलोचना अनावश्यक है। द्वितीय श्रेणी में वे साधक परिगणित होते है, जिनका चित्त सत्त्वगुण के प्रभाव से अन्तर्मुखीन होने लगा है, तथापि स्थायी

अवस्था प्राप्त होने में विलम्ब है। इस श्रेणी के मनुष्य के लिए साधना की विशेष आवश्यकता है। साधनारूपी प्रयत्न से चित्तवृत्ति एकाग्रभूमि में उपनीत होने लगती है। वह इसी भूमि पर उत्थित होकर कार्यशील हो जाती है। एकाग्रभूमि में उत्थापन हो जाने से विक्षिप्तता की परिसमाप्ति सम्भावित है। अब चित्त भी एक लक्ष्य में निविष्ट हो जाता है। लक्ष्यात्मक वस्तु का प्रकाश अनुभूति का विषय बनकर व्यक्तित्व को अभिसिंचित करता रहता है।

इस प्रकार की एकाग्रअनुभूति पर आरूढ़ होने के साथ-साथ अन्तर्ज्योति का उदय अवश्यम्भावी है। ज्योति का उदय होते ही अव्यक्त एवं अप्रकाशित सत्त्व प्रकाशित होने लगता है। प्रथमावस्था में ज्योति का उदय सामायिक ही होता है। क्रमशः यह ज्योति स्थायी स्वरूप ग्रहण करने लगती है। इस स्थायित्व द्वारा ही निगूढ़ तत्त्व का क्रमिक प्रकाशन सम्भावित है। प्रकाशभूमि के अनन्तर निरोधभूमि स्थित है। एकाग्रता के पश्चात् निरोध का संचरण परमावश्यक है। ज्योति का उदय अर्थात् ज्ञान (प्रज्ञा) का उदय। ज्ञान का उद्देश्य है ज्ञेय को प्रकाशित करना। ज्ञेय के प्रकाशन से आकांक्षा विनिवृत्त हो जाती है। अज्ञान की प्रक्रिया उपशमित होने लगती है। निरोध का प्रस्फुटन निरपेक्ष रूप से स्वयमेव होता है। एकाग्रभूमि के अभाव में निरोध भूमि कैसे आयत्त होगी? एकाग्रभूमि का भी अतिक्रमण करना चाहिये। एकाग्रभूमि के अभाव में निरोध प्रक्रिया अपनाने से चित्त प्रकृति में लीन होने लगता है। प्रकृतिलीनता असम्प्रज्ञात अवस्थान्तर्गत है। इस प्रकार की असम्प्रज्ञात अवस्था योगपद वाच्य नहीं है। जो असम्प्रज्ञात अवस्था सम्प्रज्ञात के पश्चात् प्राप्त होती है, वही योगपद वाच्य है। ज्ञानो-दय के पश्चात् ज्ञान का भी निरोध होना चाहिये। इस क्रम का अनुवर्त्तन होने से अज्ञान की एकान्तिक निवृत्ति का सम्पादन तथा उपशमस्थिति का प्रकाश होने लगता है। ज्ञानोदय न होने से उपरोक्त प्रकृति में लय का अर्थ है जड़त्व। जड़त्व से अज्ञाननिवृत्ति कैसे हो सकती है? साधारणतया मनुष्य-मात्र का चित्त चंचल है। यह चंचलता विक्षेपकारिणी है। लय एवं विक्षेप, योगपथ में अन्तरायरूप से परिगणित है। इनसे अग्रगति का ह्रास होता है।

साधनावस्था में भ्रूमध्यस्थ ज्योतिचिन्तना का अत्यधिक महत्त्व हैं। इस ज्योति का शुद्धीकरण अत्यावश्यक है। अतएव योगीगण नवोदित सूर्य का अखण्ड मण्डलाकार रूप ही चिन्तनीय एवं उपादेय है। यही है बिन्दुधारणा। बिन्दु ही प्रकृत ज्योतिर्मय रूप से अनुभूति का विषय है। प्रतिदिन साधन-काल में इस ज्योतिर्मय बिन्दु की चिन्तना प्रत्येक के लिए हितकारी है। जाग्रत् अवस्था में भी (सभी समय) यथाशक्ति बिन्दु- चिन्तन का अभ्यास फलदायक है। प्रारम्भ में कल्पित बिन्दु होने पर भी यह है सवितृ-ज्योति का परिचायक। साधक इस शुद्ध ज्योति का निरन्तर दर्शन करते-करते एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मनुष्य की चित्तजनित विक्षिप्तता में

विकल्प की क्रीड़ा परिलक्षित होती है। विकल्प के दो प्रभेद हैं—शुद्ध एवं अशुद्ध। अशुद्ध विकल्प का त्याग तथा शुद्ध विकल्प में स्थिति होनी चाहिये। शुद्ध विकल्प ही निर्विकल्प परमपद का स्वरूप ग्रहण करता है। शुद्ध विकल्प की अवस्था में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की यथार्थ उपादेयता है।

मातृकाओं से भाषा की उत्पत्ति होती है। उन्हीं से चिन्ता-प्रवाह भी प्रसृत होता है। भाषा-ज्ञान ही विकल्पज्ञान का प्रारूप है। निर्विकल्प परमपद में भाषा का सर्वथा अभाव है। मातृका है वर्णसमष्टि। वर्ण भाषा में अंगीभूत रहते हैं। संसार की प्रत्येक भाषा मातृका से आविर्भूत है। मातृका अर्थात् विकल्प स्रोत। मातृकाओं की क्रियाशीलता रहते एकाग्रभूमि में प्रवेश पा सकना दुष्कर है। प्राचीन आचार्यगण इन मातृकाओं को विगलित कर एक बिन्दुरूप में परिणत करने की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार एक पिण्डीकृत सुवर्ण से भली-भाँति विविध अलंकरणों का उद्भव होता है, वैसे एक ही बिन्दु विभिन्न मातृकाओं के रूप में आत्मप्रकाश करता है। प्रत्येक भाषा मातृका से आविर्भूत है। मातृका स्वभावतः विकल्प स्रोत है। मातृका से उद्भव में देश-काल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह है अनादिकालीन प्रक्रिया। इस प्रक्रिया को विगलित करना आवश्यक है। मातृकायें विगलित होकर निर्विकल्प ज्ञान में सहायिका हो जाती हैं। षट्चक्र की साधना का एकमात्र उद्देश्य है, मातृकाओं को भंग कर उन्हें एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित करना। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त समस्त चक्रों का निर्माण मातृकाओं से हुआ है। ये सभी चक्र इड़ा एवं पिंगला की सहायता द्वारा इसकी क्रिया में सहायक होते हैं। मातृकाओं के विगलन से बिन्दु का गठन और ऊर्ध्वगति प्रारम्भ हो जाती है।

मातृका और बिन्दु की मध्यवर्तिनी अवस्था है नाद। नाद अर्थात् अन्तर्मुखी प्रवाह। प्रत्येक चक्र की मातृका नादरूप में परिणत हो बिन्दुरूपा हो जाती है। यहाँ एक रहस्य का उल्लेख करना आवश्यक है। एकमात्र सुषम्ना में ही ऊर्ध्वशक्ति की क्रिया संचरित रहती है। सुषुम्ना के अतिरिक्त सर्वत्र माध्यकर्षण निम्न प्रदेश की ओर खींचता रहता है। सुषुम्ना का सहाय्य लेने से अधोवर्ती चक्र की मातृका नादावस्था में बिन्दुरूप तक की यात्रा समाप्त कर ऊर्ध्वशक्ति में स्वयमेव चालित हो जाती है। इस प्रकार ऊर्ध्वगति होती है और ये मातृकायें आज्ञाचक्रस्थ सर्वोच्च बिन्दु में अधिष्ठित हो जाती हैं।

किसी तेजोमय पदार्थ की प्रभा देश एवं काल पर चतुर्दिक् पड़ रही है। इसी कारण किसी महापुरुष का आविर्भाव होने पर जितनी दूर तक यह तेज विकीर्ण होता रहता है, उतने स्थान पर्यन्त उस आविर्भाव का आभास होता है। सूर्योदय के समय किरणव्याप्त प्रदेश मे ही सूर्य की सत्ता का परिज्ञान होता है।

काल के साथ भी यह नियम है। किसी आविर्भाव के पहले यही जाना जा

सकता है कि आविर्भाव होने वाला है। आविर्भाव के पश्चात् भी यह ज्ञान हो सकता है कि किसी सुदूरवर्ती अथवा निकटवर्ती भूतकाल में कोई आविर्भाव हुआ था। सूर्योदय से पूर्व अरुण बेला में सूर्योदय का पूर्वाभास सम्भव है। इसी प्रकार सूर्यास्त के पश्चात् गोधूलि परिदर्शन करने से पूर्वकालीन सूर्योदय की सूचना प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार अतीत एवं अनागत के आविर्भाव की सूचना साधक प्राप्त कर सकते हैं।

एक व्यापक आलोक है। उसी एक आलोक में नाना प्रकार के खण्ड आलोक प्रतिभासित हो रहे हैं। ये नाना आलोक नाना प्रकार के धाम हैं। सबके मूल में व्यापक आलोक ही कारण है। धाम, नाम, रूप, लीला एवं अप्राकृत गुण, सभी आलोक के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। व्यापक आलोक में सब कुछ होते हुए भी— यह सब प्राप्त कर सकना दुष्कर कार्य है।

आलोक में अनुप्रविष्ट होने से आलोक-दर्शन नहीं होता। बाहर से (दूर से) आलोक को देखा जा सकता है। देखते-देखते, सर्वतोभावेन आलोकमय हो जाने के पश्चात् आलोक-दर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है, वह है रूप-दर्शन। इसी कारण सालोक्यावस्था में ज्योति-दर्शन नहीं किया जा सकता। वहाँ रूप-दर्शन ही हो सकता है। सालोक्यवस्था में रूप-दर्शन तिरोहित हो जाने की स्थिति में, तत्क्षणात् इसी आलोक में लीनता प्राप्त हो जाती है। रूपकेन्द्र पर्यन्त स्थिति हो जाने पर रूप-दर्शन नहीं होता। रूप की परावस्था की अनुभूति होने लगती है। यह है शक्ति का अनुभव। शक्ति से रूप का विकास सम्पादित होता है। शक्ति की परावस्था है, सत्ता या भाव। भाव के पश्चात् निर्गुण ब्रह्मसमुद्र लहराने लगता है। भाव ही इस समुद्र की तरंग है, कामभाव की विद्यमानता में रूप-दर्शन कैसे होगा? कामजय का उपाय है, एकमात्र ज्योति-दर्शन। ज्योति देखते-देखते कामादि विकार एवं वृत्तिरूपी संस्कार शुद्ध हो जाते हैं।

एक विराट् ज्योति स्फटिकवत् सर्वत्र छिटकी हुई है। यही है ब्रह्म-ज्योति। समस्त देवलोक इसी ज्योति में भासित होते रहते हैं। देवलोक भी एक प्रकार का आलोक है। सब में रंग (वर्ण) जनित वैचित्र्य प्रतिच्छवित होता रहता है। विवेक-पथ का आश्रय लेकर कैवल्य-पथ पर संचरण करते-करते इस व्यापक ब्रह्म-ज्योति में अपनी ज्योति को मिलाया जा सकता है। प्रारम्भ में अपनी ज्योति इस ब्रह्म-ज्योति से मिलित नहीं होती। एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि यह व्यापक आलोक ही निजलोक रूप से प्रतिभासित होता है। इसके चारों ओर शून्य की वेष्ठनी अनुभूत होती हैं। यह निजलोक स्वप्रकाशरूप है। सांख्याचार्य इसे कैवल्य कहते हैं। उपरोक्त शून्य ही मूला (प्रकृति) है। यह आलोक है द्रष्टा या पुरुष।

क्रमशः निज का आलोक इस व्यापक आलोक से मिलित हो जाता है। अर्थात् व्यापक आलोक ही स्थित रह जाता है। अब निज का (साधक का) आलोक

अपने वैचित्र्य का पूर्ण परिहार कर व्यापकालोकरूप में स्थित है। यही है ब्रह्मकैवल्य। आलोक की परावस्था में उपरोक्त दोनों प्रकार के कैवल्य में कोई प्रभेद नहीं रहता। यही है पूर्णावस्था।

इस प्रकार की कैवल्य स्थिति प्राप्त साधक आत्मनिष्ठ हैं। वे सांसारिक नियमन एवं क्रीड़ा में भाग नहीं ले सकते। इसके विपरीत जो निजालोक में वैचित्र्य का परिहार नहीं करते, अपितु उसके स्वाभाविक वैचित्र्य का स्फुरण एवं प्रसारण करने में समर्थ होते हैं, वे एक-एक लोक या क्षेत्र के केन्द्रस्वरूप हो जाते हैं। यह क्षेत्र है, बुद्ध-क्षेत्ररूपी दिव्यालोक। सभी दिव्यालोक व्यापक आलोक में समुद्र मध्यस्थित द्वीपपुंज- रूप से भासित हो रहे हैं। उसमें मिश्रित नहीं हैं। खण्ड भक्तिपथ के पथिक अपनी प्रीति तथा रुचि के अनुसार अपने-अपने इष्टलोक की प्राप्ति करने के पश्चात् वहीं विराजित रहते हैं। केन्द्र का आश्रय लेकर इन सब लोकसमूह में प्रवेश हो सकता है। केन्द्रस्थ देवता तथा भक्तगण, क्रमशः वहाँ के ईश्वर तथा जीव हैं। देवता तथा भक्त का पारस्परिक व्यवधान अस्तमित होते ही, चरम स्थिति में मात्र एक भाव शेष रह जाता है। समस्त भक्तगण अपने केन्द्रस्थ देवरूप के परिणति प्राप्ति करते हैं। यह भाव की अवस्था है। व्यापक आलोक में इस प्रकार में असंख्य भावसमूह प्रतिभासमान हैं। वे एक महासमुद्र की उच्छलित तरंग की भाँति अनुभूत होते रहते हैं। महाभाव और व्यापक आलोक, दोनों समानार्थक शब्द हैं। दोनों ही व्यापकतम हैं। यह युगल-स्वरूप है मानो एक ही वस्तु का उभय पृष्ठ।

इस व्यापक आलोक में प्रवेश करने पर उसके साथ यथार्थ मिलन सम्पादित हो सकता है। यथायथ प्रवेश न होने पर लय हो जाता है। लयावस्था होने पर निजालोक मात्र अवशिष्ट रह जाता है। उसमें व्यापकत्वानुभूति का अभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता रहता है।

आज्ञाचक्रस्थ बिन्दु में अधिष्ठित होने से प्रज्ञाज्योति विकसित होती है। यह शास्त्रों में वर्णित दिव्यचक्षु अथवा तृतीय नेत्र है। इस तृतीय नेत्र का उदय होने के पश्चात् चर्मचक्षु का आकर्षण समाप्तप्रायः हो जाता है। जिनका दिव्यनेत्र उन्मीलित हो गया है, उनके लिए प्राकृत जगत् का यथार्थ अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जो चर्मचक्षुओं द्वारा परिचालित है, उसके लिए दिव्यनेत्र का सन्धान अत्यन्त कठिन है। ज्योतिचिन्तना का सतत अभ्यास करते रहने से अन्तराकाश में चिन्मयरूप प्रस्फुटित होता है। इस स्थिति में लौकिक अवस्थानुरूप बाह्य जगत् का आभास तिरोहित रहता है। अन्तराकाश एवं अन्तर्जगत् का प्रस्फुटन होना प्रारम्भ हो जाता है। बाह्य आकाश से तात्पर्य है भूताकाश एवं चित्ताकाश। सांसारिक अवस्था में इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् अनुभूत होता है। इसमें रूप-रसादि से परिवेष्टित अनन्त बहिर्जगत् प्रकाशित है। चित्तवृत्ति की किंचित् अन्तर्मुखता में स्वप्नावस्था का उदय होने से स्वप्नमय

जगत् की स्थिति आती है। तत्पश्चात् घोर अज्ञानमय अवस्था में हृदयस्थ सुषुप्ति में, सुप्तता की अनुभूति सर्वविदित है। इसी का आवर्तन है संसार-चक्र। गुरु-कृपा द्वारा इस आवर्तन से छुटकारा मिलता है और अपनी ऊर्ध्वगति अनुभूति में आती है। यह शुद्ध जगत् के प्रस्फुटन की पूर्व सूचना है। इसमें आनन्दोदय एवं ऊर्ध्वशक्ति का चालन हो रहा है। भविष्यत् में यह चिदाकाशरूप से विकसित होता है। चिदाकाशरूप विकसित होने के पश्चात् ही देहात्मबोध की परिसमाप्ति होती है। मन और प्राण की क्रिया निःशेष हो जाती है।

पूर्णत्व पथिक का तृतीय नेत्र एवं चर्मचक्षु, दोनों उन्मीलित रहता है। तृतीय नेत्र की प्राप्ति के साथ-साथ जिनके चर्मचक्षु निमीलित हो जाते हैं, वे हैं देवता। तृतीय नेत्र के उन्मीलन काल में सबकी यही अवस्था होती है। देवगण में एकमात्र शिव के तीन नेत्र का वर्णन है। शिव परिवार के भी तीन नेत्र हैं। अन्यान्य सभी देवगण में मात्र एक नेत्र कार्य करता है, उनके लौकिक नेत्र कार्य नहीं करते। जब तीनों नेत्र कार्य करते हैं, तभी पूर्णत्त्व का पथ उन्मोचित होता है। वास्तव में सभी देवताओं को एक ही नेत्र है। शोभा के लिए दो चक्षु अंकित किये जाते हैं। साधारणतया साधकगण भी दिव्यचक्षु प्राप्ति के पश्चात् एक चक्षुधारी हो जाते हैं। वे सदैव दिव्यभावापन्न रहते हैं। लौकिक भावापन्न नहीं रहते। उनमें देहात्मबोध भी नहीं रहता। देहात्मबोध मायिक जगत् का बोध है। पूर्णत्व के लिए दिव्यबोध एवं मायिकबोध दोनों आवश्यक हैं। उभय अनुभव की पूर्ण प्रकाशमानता पूर्णत्व पथिक का सम्बल है। वे जीव होने पर भी शिव हैं। शिव होने पर भी उनमें जीवभाव की विद्यमानता है। वे जीव की प्रत्येक अवस्था से परिचित रहते हैं। ज्ञान का पूर्ण विकास इसी स्थिति में सम्भव है। पूर्णयोगी के तीनों नेत्रों का सुविकसित होना अत्यावश्यक है।

●

क्रम

सर्वप्रथम ज्योति-दर्शन, उससे पूर्व देहात्मबुद्धि का लोप। अब ब्रह्मावस्था का उदय होता है, तत्पश्चात् ज्योति के बीच बिन्दु एवं वृत्त की सीमा-रेखा परिलक्षित होती है। इसके पश्चात् बिन्दु में मूर्ति का प्रकाशन होता है। ज्योति की घनीभूतता से मूर्ति का आविर्भाव, यह है परमात्मावस्था।

इसके अनन्तर मूर्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। ज्योति का क्रमिक अवसान होने लगता है। चौसठ कला की पूर्ण परिपक्वावस्था के पश्चात् ज्योति अवशिष्ट नहीं रहती। यह है पूर्णावस्था की प्राप्ति। एक से उनचास कला पर्यन्त जीवकोटि की अवस्था है। पचासवीं कला जीव की श्रेष्ठतम अवस्था के रूप में परिगणित है। 51 से 60 कला पर्यन्त अत्यधिक विकास होता है। माया अस्तमित होकर विलीन होने लगती है। 64 कला पूर्ण होने पर माया भी पूर्णतया तिरोहित हो जाती है।

अन्तर्दृष्टि एक ही दृष्टि की दूसरी दिशा है। बहिर्दृष्टि खण्ड होती है। अन्तर्दृष्टि अर्थात् व्यापक दृष्टि। अन्तर्दृष्टि-प्राप्ति के पश्चात् जड़वाद या अध्यात्मवाद जैसी पृथक् स्थिति का लेश भी नहीं रहता। यह स्थिति तृतीय नेत्र उन्मीलित होने के पश्चात् आयत्त होती है। मनुष्य इन दोनों नेत्रों द्वारा खण्डभावेन देखने का अभ्यस्त है। अखण्ड-भाव से देखने के लिए तृतीय नेत्ररूपी अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन परमावश्यक है। तृतीय नेत्र से भूत-भविष्य वर्तमानात्मक समस्त दृश्य अनुभूत होते हैं। हमारी इन भौतिक नेत्रों की दृष्टि वक्र है, अतएव खण्ड-दृश्यसत्ता की अनुभूति होती है। आज्ञाचक्र के ऊपर एक ऐसा स्थान है, जहाँ से सब कुछ देखा और सुना जा सकता है। सर्वप्रथम ज्योति, तत्पश्चात् मण्डलाकृति, सर्वान्त में बिन्दु-दर्शन होता है। तदनन्तर मूर्ति गठित होती है। इस मूर्ति को हम गुरु भी कह सकते हैं, अथवा माँ भी कह सकते हैं। इस स्थान से बाहर दृष्टिनिक्षेप करने पर देहात्म-बोध विलुप्त हो जाता है, आवरण भंग होता है और साधक अपने स्वरूप को देख सकता है। यह मूर्ति ही यथार्थ विग्रहतत्त्व है। इस विग्रह में साधक का लय एवं प्रवेश भी सम्भव है। प्रवेश के पश्चात् दोनों एक हो जाते हैं।

जीव के लिए लय एवं प्रवेश अभिप्रेत नहीं है। उसके लिए प्रयोजनीय है— द्वैत, आस्वादन हेतु। इस बिन्दु पर स्थित होने के पश्चात् देहबन्धन नहीं रह जाता। मात्र चेतना की क्रीड़ा चलती रहती है। यह विशुद्ध चैतन्य है बोध। इस स्थिति में अनुभूति होती है कि समस्त विश्व ज्योति-सागर में प्रभासित है। कालरूपी भूत, भविष्य, वर्तमान अस्तमित हो जाते हैं। सबके साथ एकात्मिकता सुप्रतिष्ठ हो जाती है। व्यक्ति-भेद, जाति-भेद इत्यादि कालराज्य का व्यापार शेष नहीं रहता।

●

देवता का आविर्भाव

देवता को पुकारते ही उसे आसन, पाद्य, भोज्य देना होता है। यद्यपि यह सब मानसिक रूप से देना होता है। देवता जब अव्यक्त रहते हैं, तब तक कुछ भी नहीं चाहते। व्यक्त होते ही सब आवश्यकता पड़ती है। व्यक्त होकर जागरण की अवस्था में वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं और उत्तर भी देते हैं।

देवता को पुकारने का दो तात्पर्य है। प्रथमतः सम्बोधन या जागरण, अव्यक्त का व्यक्तीकरण। द्वितीयतः अभिमुख्य सम्पादन। तत्पश्चात् कथावार्ता-भावविनिमय। सत्त्वशुद्धि के साथ-साथ देवनिद्रा भंग हो जाती है। अपनी निद्रा भी भग्न हो जाती है। दोनों एक ही स्थिति की ओर संकेत-मात्र हैं। एक बार सत्त्वशुद्धि के पश्चात् (जागरण के पश्चात्) पुनः जागना या बुलाना नहीं पड़ता। सर्वदा जागृति ही जागृति है। प्रयोग करना या न करना स्वेच्छाधीन रहता है।

इस स्थिति में बाहर भी ज्योति रहती है। अपनी अव्यक्तावस्था में वह आत्मतत्त्व में निहित रह जाती है। अव्यक्त ज्योति अप्रकाशित है। वहाँ शिव-शक्ति में अभेद है। जब ज्योति बाहर पड़ती है (सत्त्व में पड़ती है) तब वह प्रकाश-मात्र संज्ञा से विभूषित हो जाती है। उसमें आकार गठित होने लगता है।

भीतर से बहिःप्रदेश में संचरित होती ज्योति को देखा नहीं जा सकता। वह शक्ति होने पर भी ज्योति अथवा प्रकाशरूप नहीं होती। सत्त्व में आते ही उसका ज्योतित्व प्रस्फुटित हो जाता है। विशुद्ध सत्त्व केन्द्रस्थ है। उसकी प्रभा विकीर्ण नहीं होती। जैसे सर्चलाइट है, सर्वदा एकाग्र, संहत। सत्त्व के बाहर की सीमा है, रजोवलय। वहाँ कण-समष्टि रूप में ज्योति का आभास प्राप्त होता है। जहाँ तक आभासरूप से ज्योति विकीर्ण हो रही है, वह क्रमशः तमोवलय रूप होता जाता है। वहाँ पहले तो मिश्रित अन्धकार है, तत्पश्चात् है गम्भीर अन्धकार।

मनुष्य-मात्र देवता है। विशुद्ध सत्त्व में वह षोडश वर्षीय या तदन्तस्थ आयुधारी है। यह है उसका स्वाभाविक शरीर। वृद्ध भी जब जगदम्बा की गोद में स्थित हो जाते हैं, तब वे भी बालक जैसे लगते हैं।

देवता जागृत होते ही खाद्य की कामना करते हैं। यदि न मिले तो पुनः निद्रित हो जाते हैं। खाद्य, आहार्य, जीवन-धारण का अवलम्बन—सब समान अर्थात्मक हैं। पूजा, ध्यान, जप, सत्कार, चिन्तन—देवता का खाद्य है। आलम्बन एवं विषय खाद्य होता है। यह है आधार। निराधार देवता (चैतन्य) अव्यक्त है। उसकी उपासना

नहीं होती, उसे आहार की आवश्यकता भी नहीं। कारण, वह निष्क्रिय है। सत्ता का संरक्षण अर्थात् क्रिया-सम्पादन। इसके लिए आधार एवं आहार आवश्यक है।

सत्त्व-सत्ता में चैतन्य का स्फुरण अपेक्षित है। चैतन्य का स्फुरण, संघर्ष (रजः) एवं आहार (तमः) सापेक्ष है। जब तक रजः-तमः का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक सत्त्व द्वारा चैतन्य धारण नहीं हो सकता। चैतन्य इस स्थिति में आहार विवर्जित हो जाता है। व्यक्त चैतन्य को आहार चाहिये। रजः, तमः एवं मन ही उसका आहार है। आहार न मिलने से व्यक्त चैतन्य भी अव्यक्तावस्था में निद्रित हो जाता है। उस समय सत्त्व की स्थिति भी असत्कल्प हो जाती है। संक्षेप में मूला प्रकृति (शून्य) से सत्त्व का अव्यक्तीकरण सम्पादित होता है, कारण वहाँ रजः एवं तमः का सम्बन्ध नहीं है।

वस्तुतः सत्त्व की व्यक्तावस्था हमारा अभिप्रेतार्थ है। व्यक्तावस्था चाहते हैं, तथापि वहाँ रजः, तमः नहीं चाहते। अव्यक्त सत्त्व चैतन्य-धारण में असमर्थ होने से असत्कल्प है। यद्यपि व्यक्त सत्त्व चैतन्य को व्यक्त रखता है, तथापि उसमें रजः एवं तमः का मिश्रण है। वह अनित्य एवं हेय है। प्रथम है जड़ समाधि (अव्यक्त चैतन्य)। वह हमारा ईप्सित नहीं। उसमें ज्ञान नहीं रहता। द्वितीयावस्था (व्यक्तावस्था) है वृत्तिज्ञान (सविषयक)। वह भी हम नहीं चाहते। यद्यपि उसमें ज्ञान है, तथापि शान्त होने के कारण दुःखपूर्ण है। सुख है, तथापि वह दुःख सन्निभ-सुख है।

हमारा ईप्सित है :—

1. चैतन्यमय दुःख-निवृत्ति, यह शुद्ध सत्त्व में (निर्मल, स्थिर सत्त्व में) सम्भव है।

2. आनन्द एवं अनुकूल बोध, यह तभी सम्भव होगा जब शुद्धसत्त्व में प्रवाह होगा, अथच प्रवाह आत्ममुखी है। आत्ममुखी प्रवाह का नाम है आनन्द।

●

ज्योति का द्वन्द्व भाव

मनुष्य विराजित है अन्धकाराच्छन्न स्थिति में। यह अज्ञानजनित आवरण उसके स्वरूप का आच्छादन करते हुए विद्यमान है। वह जिस आलोक का यत्किंचित् प्रकाश पाता है, वह बाह्य आलोक है, स्वरूप का आलोक नहीं है। चन्द्र-सूर्य-अग्नि-विद्युत्-नक्षत्रावली आदि का आलोक बाह्य आलोक-मात्र है। मनुष्य का आन्तरिक अन्धकार इन सब आलोक द्वारा तिरोहित नहीं होता। अन्धकार और आलोक की वार्ता कोई रूपक नहीं, अपितु वास्तविक स्थिति का लौकिक प्रकाश है। मनुष्य आँखें बन्द करने पर एक अन्धकाराच्छन्न स्थिति का परिचय प्राप्त करता है, जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। बाहर का अत्यन्त उज्ज्वल आलोक भी अन्तःस्थित इस अन्धकार-राशि का भेद नहीं कर सकता। बाह्य आलोक बाहर की वस्तु है। उससे केवल बाह्य पदार्थ आलोकित हो सकते हैं। बाह्य प्रकाश कभी भी आभ्यन्तरीण प्रकाश का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। आभ्यन्तरीण प्रकाश है आत्मा का अपना आलोक। यह बाह्य प्रकाश से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र है। इसका प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकता है। चक्षुद्वय बन्द करने पर जिस अन्तहीन अन्धकार का दर्शन होता है, उसका रहस्य अत्यन्त विचित्र है। इसके रहने तक प्रत्येक मनुष्य एक व्यापक अन्धकार में निमज्जित है। यह कोटि-कोटि जन्मार्जित संस्कारजनित पूंजीभूत तमः स्वरूप है, जिसे वैज्ञानिक Subconscious एवं Unconscious कहते हैं। यह अन्धकार ज्ञान द्वारा अपसारित होता है। अपसारित होते ही देहात्म-भाव की समाप्ति हो जाती है। विचार द्वारा देहात्म-बोध एवं प्रकृत मोह का अपसारण असम्भव है। सद्विचार के प्रभाव से देहात्म-बोध को स्तम्भित किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान के सम्यक् उदय होने तक उसका नाश कैसे होगा?

यह दिगन्तव्यापी अन्तरान्धकार हमारी सत्ता को आवेष्ठित कर विद्यमान है। चित्तशुद्धि (ज्ञानोदय) के पश्चात् इसका प्रभाव समाप्तप्राय हो जाता है। यह अन्धकार विकल्प समष्टि मात्र है। अतः इसके अवस्थान काल पर्यन्त हमारी स्थिति विकल्प भूमि तक ही होती है। दार्शनिक विचार द्वारा देहात्म-बोध स्तम्भित अवश्य होता है, किन्तु अनुभूति में देहात्म-बोध रहते देहबोधरहित अवस्था प्राप्त नहीं होती। जिनकी दृष्टि खुल गयी है, वे यह स्पष्ट देखते हैं कि चित्तशुद्धि होने के पश्चात् बाहर और भीतर एकमात्र चिदालोक विराजित है। ज्ञानीजन किसी को देखकर यह जान सकते हैं कि यह व्यक्ति चिदालोक से परिव्याप्त है अथवा नहीं। योगी आन्तरिक क्षेत्र में

स्वयं को इस विशाल आलोक मण्डली में सर्वदा स्थित देखता है। आलोक मण्डली अन्य कुछ नहीं, चिदालोक से आलोकित चिदाकाश-मात्र है। यही है शास्त्रवर्णित प्रभामण्डल का स्वरूप। इस प्रकार के व्यक्ति में देहात्म-बोध नहीं रहता, तथापि वे लोक-शिक्षण हेतु मध्याकर्षण शक्ति का आश्रय लेकर देह के माध्यम से व्यवहार करते रहते हैं। उनमें केवल खेचरी शक्ति क्रीड़ारत रहती है। खेचरी, भूचरी तथा दिक्चरी शक्ति योगी की स्वेच्छाधीन शक्तियाँ हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रत्येक मुक्त पुरुष एक ज्योति-मण्डल के मध्य अवस्थित-से प्रतीत होते हैं। अन्तरालोक का प्रस्फुटन होने पर ग्रहीतृभाव या ग्राहकत्व नहीं रह जाता। स्वयं का भी दर्शन परप्रमाता रूप से होता है। परप्रमातृ-भाव का उदय होने पर इस समग्र विश्व की अपने ही अन्दर अनुभूति होने लगती है। आत्मा में शिवत्वानुभूति के पश्चात् यह विश्व बाहर नहीं रहता, अपितु परप्रमाता के अन्तर्भुक्त हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार होने के पश्चात् जिस प्रकार अन्तराकाश में आलोकानुभूति होती है, उसी प्रकार बाह्य विश्व में भी पूर्णप्रकाशमय अहंरूप का अनुभव होने लगता है। यही है प्रेमराज्य।

अन्धकार वासना एवं संस्कार की समष्टि है। यह प्रत्येक देहधारी में विद्यमान है। जन्म जन्मान्तरीण समवेत कर्मसंस्कार उसमें निबद्ध हैं। ये सब वासनानुरूप एवं कर्माशय रूप होते हैं। जन्मक्रमानुसार क्रमबद्ध रूप से आवर्त्तनोन्मुखता परिलक्षित होती है। वासना एवं संस्कार वायु द्वारा परिचालित होते हैं। इन सब संस्कारों से मनुष्य के स्वसंचित कर्मों का सन्धान मिलता है। कर्मसंस्कारों में स्तर-स्तर पर काल का आवर्त्त स्पन्दित होता रहता है। इसका क्रम अत्यन्त दुर्लक्ष्य है। इसको देखने की शक्ति प्राप्त होते ही लक्ष-लक्ष जन्मान्तर का संस्कार प्रत्यक्ष हो जाता है। पहले इनके द्वारा अन्तर्दृष्टि आच्छन्न-सी रहती है।

मनुष्य में हृदय अत्यन्त रहस्यमय स्थान है। इसकी एकमात्र उपलब्धि होती है अन्तस्थ शून्य (आकाश) में। यह आकाश वायुमण्डल द्वारा आच्छादित है, अतएव मनुष्य को उनका सन्धान नहीं मिलता। यह चित्तशुद्धि के पश्चात् वायुहीन होकर प्रोज्ज्वलरूप से प्रकाशित होने लगता है। इसी स्थिति का नाम है 'अन्तर्देवता का आविर्भाव'।

उपरोक्त परप्रमातृ अवस्था में सब कुछ अहंरूप से प्रकाशित है। देश और काल एक हैं। इच्छानुरूप स्फुरण होने पर देश एवं काल स्व-स्वरूप में प्रकाशित होने लगते हैं। इस प्रकाशन से पूर्ण अहं भंग हो जाता है और उसके एकांश में परिच्छिन्न प्रमातारूपी मायिक द्रष्टा का उदय होता है। इस स्थिति के अन्यांश में मायिक प्रमातारूपी प्रमेय का उद्भव होता है। यह प्रमेय है शून्य। यह है भविष्यत् विश्व का आधार। प्रमाता और प्रमेय की विद्यमानता से सम्बन्ध का सृजन होता है। इस प्रकार अपरिच्छिन्न चिदालोक में इच्छा-शक्ति के प्रभाववश देश और काल के सहयोग से विश्वचित्र का

आविर्भाव अनुभूत होने लगता है। विश्व में देश-काल की विचित्र क्रीड़ा चलने लगती है। विश्वातीत स्थिति में एकमात्र अखण्ड अहं विराजित रहता है। निमीलन समाधि में विश्व तिरोहित होकर विश्वातीत सत्ता में मिलित हो जाता है। संसार-चक्र प्रतिष्ठित है देहात्म-बोध की भित्ति पर। एकमात्र पूर्ण प्रकाश स्थली है 'हृदय'।

बहिर्गत होने पर ही कोई किसी को देखने में समर्थ हो सकता है। यह सूर्य भौतिकदृश्य हैं अतः वे बाह्य हैं। वे किरणरूप में विकीर्ण हो रहे हैं। रश्मिरूप से अपना आत्मप्रकाश कर रहे हैं, तभी उन्हें देख सकना सम्भव हो रहा है, अन्यथा वे इन्द्रिगोचर नहीं हो सकते। वास्तविक सूर्य में रश्मियों का विकिरण नहीं है। अतः वे दृश्य नहीं हैं, उन्हें देख पाना सम्भव नहीं होता। वे हैं स्वप्रकाश आत्मा। जब सूर्य दृश्य हैं, तब द्रष्टा लिङ्गात्मा (देहधारी) है। शुद्धात्मा है, दोनों का साक्षी। साक्षी ही परमात्मा है। प्रकृत सूर्य का तात्पर्य है आत्मा। आत्मा से संलग्न एक स्तर है। उसका नाम है शुद्धसत्त्व। शुद्धसत्त्व की बाह्य दिशा में मिश्रसत्त्व अवस्थित है। शुद्धसत्त्व है एकरस, सदा युक्त। वहाँ विकिरण की सत्ता ही नहीं है। मिश्रसत्त्व अनेकानेक है। वह ऊर्ध्वमुख, एकमुख, निम्नमुख एवं बहुमुखी है। वह अपने एकमुख से मिश्रसत्त्व तेज को ग्रहण करता रहता है तथा अन्य मुखों से छोड़ता रहता है। बहुमुखता रजोगुण के कारण है। इसके भी बाहर की ओर, जहाँ तेज का लय हो जाता है वहाँ तमः का अवस्थान है। मिश्रसत्त्वरूपी जगत् का जो सूर्य है, वह दृश्यरूप है। प्रकृत सूर्य नहीं है। उसकी छाया-मात्र है। इसी मिश्रसत्त्व के कारण जगत् की स्थिति है, अन्यथा जगत् की तक्षण विलीनता सम्पादित हो जाती।

असीम में विरोधाभास नहीं रहता। सीमा का उदय होते ही दो पारस्परिक विरोधी शक्ति का द्वन्द्व परिलक्षित होता है। अन्तर्मुख-बहिर्मुख, केन्द्रमुख-बाह्यमुख, विद्या-अविद्या, अच्छा-बुरा, छोटा-बड़ा इत्यादि सीमावाचक स्थिति है। विरोध से वैषम्य सृजित होता है। सीमा का तात्पर्य है मध्यम परिणाम, अर्थात् अणु से महत् के बीच की स्थिति। सीमा में व्यक्तता रहती है। असीम तो नित्य अव्यक्त है।

संकोच की सबसे अन्तिम सीमा है अणुत्व। प्रसार की सबसे विशद सीमा है महत्। महत् से अतीत होते ही असीमत्व है। वहाँ न संकोच है न प्रसार।

प्रत्येक वस्तु में विरोधी शक्ति की क्रीड़ा चलती रहती है।

ऊपर उठते समय नीचे की वस्तु का सारतत्त्व लेना आवश्यक है। सारतत्त्व साथ लेकर ऊपर उठना चाहिये। यह प्रक्रिया ब्रह्मचक्र पर्यन्त चलती रहती है। ब्रह्मचक्र में प्रवेश होने के पश्चात् कुछ भी असार नहीं रह जाता। वहाँ आनन्द सार रूप से विद्यमान है। वहाँ की गति भी सरल गति है। Infinte में सरल रेखा का निःक्षेप करने पर चक्राकार हो जाती है। इसी का नामान्तर है 'रास'। अतः सस्त्रार चक्राकार (Circular) गतिशील है। जहाँ अगति है, वह है बिन्दु।

चैतन्य को घेरकर शुद्धसत्त्व स्थित है। यही है बिन्दु (महामाया)। बिन्दु में क्षोभ होता है। उसकी तरंगें हैं नाद एवं कला (अणु) शुद्ध तमः का भी क्षोभ होता है। शुद्ध तमः माया का नामान्तर है। उसकी तरंग है पंचमहाभूत के अणु Particles of Matter.

जागतिक (साधारण) दर्शन के समय चित् की प्रभा मन पर पड़ती है। मन की प्रभा चक्षु पर निपातित होती है। चक्षु की प्रभा आकर पड़ती है विषयों पर। जब किसी वस्तु को देखते-देखते मन तन्मय हो जाता है, तब चक्षु की प्रभा एकत्रित होकर विषयाकृति हो जाती है। मन की प्रभा भी विषयाकृति धारण कर लेती है। अर्थात् जब चक्षु की प्रभारेखा और मन की प्रभारेखा समानान्तर हो जाती है, समसूत्रता में आबद्ध हो जाती है, उस स्थिति में बाहर से वस्तु हटा लेने पर भी उसका दर्शन होता रहता है। उस स्थिति में विषयाकार चित्त ही दृष्ट होता है। उस समय जो देखा जाता है, वह है मनोमय अथवा भावमय। इसी प्रकार जब मन एवं अज्ञान, दोनों समसूत्रता में आबद्ध हो जाते हैं, उस स्थिति में दृश्य भी अज्ञानमय हो जाता है। जगत् भी अज्ञानमय प्रतीत होने लगता है। इस अवस्था का अतिक्रमण हुए बिना जगत् का चिन्मयत्व ज्ञान नहीं होता।

●

स्थूल तथा सूक्ष्म एवं आनन्द

स्थूल अवस्था में बाह्य जगत् इन्द्रियों का विकार है। सूक्ष्मावस्था में वह मानसिक विकार है। कारणअवस्था में वह है अज्ञान का विकार। इसके पश्चात् अर्थात् इन स्थितियों का अभिक्रमण करने के पश्चात् बाह्य जगत् आत्मविलास-सा प्रतीत होता है।

इन्द्रियों की प्रभा चतुर्दिक् पड़ रही है। उसमें तरंगें उठ रही हैं। यही है बाह्य जगत्। इन्द्रियों की प्रभा है भूताकाश। प्रभा पाँच हैं। इन पाँचों की समष्टि का ही नामान्तर भूताकाश है। इसका अतिक्रमण करने पर चित्ताकाश की उपलब्धि होती है। चित्ताकाश की तरंगों का नाम है भाव। ये साकार तरंगें हैं। चित्ताकाश में निस्तरंगता विद्यमान रहने पर भूताकाश में भी निस्तरंगता रहती है।

इसके अनन्तर कारणबिन्दु की अवस्थिति है। यह है अव्याकृत आकाश। कारण- बिन्दु में तरंग उठने पर ही चित्ताकाश तरंगायित होता है। कारणबिन्दु तरंगायित होता है महाकारणबिन्दु में स्वातन्त्र्यस्पन्दन से। कारण बिन्दु में कम्पन का अर्थ है प्रयोजन अथवा अभाव-बोध। स्वभाव के अभाव का उन्मेष। इसका स्वरूप है प्रार्थना अथवा इच्छा। उदाहरणार्थ, इच्छा उठती है 'मुझे फूल चाहिये'। यह अत्यन्त अस्फुट इच्छा है। इसके मूल में अज्ञान की सत्ता है। कारणबिन्दु में कारणअभाव का उन्मेष हुआ है। यह उन्मेष है इच्छा का उन्मेष। यह बीज है। यह अभाव-बोध चित्ताकाश तक अवरोह करता है। वहाँ यही भावरूप में प्रस्फुटित होने लगता है। यह भावरूप चित्त की विशेष तरंग के समान है। यह भाव तरंग भूताकाश पर्यन्त उतर कर स्थूल अथवा भौतिक पदार्थ की सृष्टि करती है। पूर्वोक्त कारण अब कार्यभाव में अपना आत्मप्रकाश करता है। यह है अभाव से भाव पर्यन्त की यात्रा। प्रार्थना की पूर्णता तथा इच्छा-शक्ति की फलप्रसृति, इसी का नामान्तर है। इसे सृष्टिरहस्य भी कह सकते हैं। इस विवरण से भूताकाश में देवाविर्भाव के रहस्य का परिज्ञान हो सकता है।

मैं एक घट देख रहा हूँ। देखते-देखते तन्मय होने पर दो अवस्थाओं की उपलब्धि होती है—

1. देखते-देखते बोध खो जाने पर 'मैं' ही घटरूप हो जाता हूँ। अर्थात् मेरा चित्त घटाकार है, परन्तु मैं बोधलुप्त हो जाने के कारण अचेतन हूँ। इसलिए स्वयं घटरूप हो जाता हूँ।

2. यदि बोध अवशिष्ट है, उस स्थिति में मेरा चित्त घटमय हो जाता है। मैं उसका द्रष्टारूप हो अलग विद्यमान रहता हूँ। बोधयुक्त होने के कारण मैं चेतन हूँ। इस स्थिति में मैं घटरूप होने पर भी उससे पृथक् हूँ। यही समाधि है। घटाकार चित्त दृश्य है, लिङ्ग, तथा द्रष्टा (चित्र) है कारण। इन दोनों के मिलन से आनन्द उद्रिक्त होता है। फल है द्वैतलोप।

चित्त को किसी भी इष्टरूप में प्राप्त किया जा सकता है। मैं उसका द्रष्टा (दृश्य का भोक्ता) रूप स्थित रहता हूँ। दोनों का मिलन होने पर आनन्द उमड़ उठता है। उपरोक्त घटाकार चित्त की तरह विश्वरूप चित्त का भी दर्शन सम्भव है। इस स्थिति में द्रष्टा कारण है। वह जिस दृश्यजगत् को देखता है, वह है साकार ज्ञान का समूह।

इस साकार ज्ञानसमूह के अन्तराल में निराकार की सत्ता है। उस स्थिति में दृष्टा एवं दृश्य एकरूप से मिलित हो जाते हैं। इसी विस्तृत ज्ञान का नाम है आनन्द।

एक दीपकलिका को देखता हूँ। इसकी प्रभा चतुर्दिक् विकीर्ण हो रही है। यह देखना सम्यक् देखना नहीं है। दोषपूर्ण दर्शन है। कारण दीपप्रभा विक्षिप्तावस्था में विद्यमान है। उसकी ज्योति हिलती रहती है। यह विक्षिप्तता उपसंहृत होने पर हिलती हुई ज्योति मानो दीपकलिका में लौट आती है और चतुर्दिक् कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसे अन्धकार अथवा शून्य भी कह सकते हैं। दीपशिखा एकाग्र हो गयी है, यह भी कहा जा सकता है। इस स्थिति का दर्शन सम्यक्दर्शन है। इसमें बाह्यता का मिश्रण नहीं रह जाता। यह अवस्था स्थायी होते ही दीपशिखा को वज्रभाव की प्राप्ति हो जाती है। वज्रभावापन्न दीपशिखा को कोई बुझा नहीं सकता। वह मृत्युहीन दीपशिखा है। मृत्यु बाह्य वस्तु का घातजनित आवरण है, जो अशुद्ध है, जिसमें लेशमात्र बाह्यता नहीं है, उसकी मृत्यु कैसे होगी?

प्रश्न उठता है कि उस वज्रभावापन्न दीपशिखा को देखूँगा कैसे? इसका उत्तर है कि उस समय मैं भी वज्रभावापन्न हूँ। मेरी इन्द्रियाँ उपसंहृत होकर मन में घनीभूत हो चुकी हैं। मन भी वज्रावस्था सम्प्राप्त कर चुका है। इस प्रकार के मन से वज्रावस्था प्राप्त दीपकलिका का दर्शन करने में मैं समर्थ हूँ। यदि कोई स्वशक्ति से दीपकलिका को वज्रभावापन्न कर सके और मैं द्रष्टारूप से सम्मुख आसीन रहूँ, उस स्थिति में मुझे वज्रावस्था स्वयमेव प्राप्त हो सकती है। उसके लिए पृथक् चेष्टा की आवश्यकता नहीं है।

उपरोक्त प्रक्रिया सबके लिए ग्राह्य नहीं है। कारण एक भी विक्षिप्त रश्मि का हठात् समावेश भयंकर स्नायविक आघात (Nervous Shock) पहुँचा सकता है। इस स्थिति में वज्रदीप का दर्शन मुझे मोहाच्छन्न कर सकता है। बोध-रक्षा नहीं हो सकेगी। इसलिए मन की आधारशक्ति की शनैः-शनैः अभिवृद्धि करनी होती है।

आधारशक्ति सुदृढ़ होने के पश्चात् वज्रमन के साथ वज्रदीप का योग होना चाहिये। उस स्थिति में जो कुछ भी देखा जायेगा, वही वज्रमय (स्थिर) हो सकेगा। उस स्थिति में सामान्य अवस्था के समान बहुत्व का दर्शन नहीं होता। जो कुछ भी ग्रहण करना हो अथवा ग्रहण करने की इच्छा का उदय हो, मात्र उसी का दर्शन सम्भव है। उस स्थिति में विक्षिप्तता का लेश भी नहीं है। मन का विकल्प भी समाप्तप्रायः है। साथ ही इच्छित वस्तु में भी मिश्रभाव अविशिष्ट नहीं रहता। उस स्थिति में जिसे देखा जाता है, मात्र उसी की सत्ता अवभासित होती है।

इस वज्रावस्था में अनेक रहस्य निहित हैं। इस अवस्था में सर्वान्त में चतुर्दिक् कुछ भी नहीं दिखता। केवल अपना दर्शन होता है। वज्र ही आत्मा है। मन स्वयं को देखता है। इसी का नाम है प्रज्ञा।

देहावस्थान-काल में इसका दर्शन ही होता है। इसमें स्थिति नहीं हो सकती। दर्शन का अर्थ है **उसके साथ स्वप्रकाशमय अथवा चैतन्यपूर्ण एक्य**। तत्पश्चात् इस स्थिति से पुनः अवरोह होता है।

इस दर्शन का रहस्य क्या है? जब तक संस्कार है, इच्छा है, तब तक यह भी तदनुरूप होता है। इच्छा-शक्ति से मन को आत्मभूमि अथवा वज्रभूमि पर्यन्त उन्नीत करने के पश्चात् इच्छा का मूल (प्रकाशकाल अर्थात् इच्छाउद्रेक का क्षण) प्राप्त होता है। तदाकार आत्मदर्शन होता है, (इच्छानुरूप आत्मदर्शन होता है), तथापि वहाँ इच्छा अथवा संस्कार शेष नहीं रहते, क्योंकि उनकी तृप्ति को निम्न प्रदेश तक संचारित करने का कौशल जान लेने पर सृष्टि होने लगती है। आत्मा (वज्र) अव्यक्त है। वह निराकार है। वही अनन्त आकारमय एवं अवर्णनीय भी है। यहाँ पर इच्छा का लय ज्ञान में होने लगता है। इसके पश्चात् उसके साक्षात्कार का क्षण आसन्न हो जाता है। वह इच्छा क्रियाशक्तिरूप से आविर्भूत होती है। लिङ्ग एवं संस्कार-क्षेत्र से उन्नति करते-करते, शोधित एवं घनीभूत करते-करते (वही इच्छा) शुद्ध ज्ञानरूप में परिणति प्राप्त करती है। यही है शुद्ध आकार।

●

लीला

अब क्रम वर्णन करता हूँ—

1. साधारण अवस्था-अहंकार है। मैं स्वयं को कर्त्ता एवं भोक्ता मानता हूँ। अतः ईश्वर सिद्ध नहीं है। वर्तमान कर्म ही कर्म है। वही मेरी इच्छा है।

2. उन्नत अवस्था—अहंकार की तीव्रता कम हो चुकी है। मोह की मात्रा भी न्यून है। मैं कर्त्ता हूँ परन्तु भेद यह है कि यह 'मैं' वर्तमान में स्थित नहीं है। मेरी इच्छा एवं चेष्टा बाधित होती है। कौन बाधा दे रहा है? द्वितीय और है कौन, जो बाधा देगा? मैं ही अपने को बाधा देता हूँ। मेरा पूर्वकर्म, संस्कार तथा वर्तमान कर्म बाधा देता है। यही मेरी प्रकृति है। इस अवस्था में पुरुषकार एवं प्रकृति, दोनों रहती है। साधारण अवस्था में प्रकृति की ओर दृष्टि नहीं जाती। इस वर्तमान अवस्था में ही उधर दृष्टि जाती है। प्राथमिक अवस्था में मोहवशात् प्रकृत सत्ता की ओर लक्ष्य नहीं होता। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अज्ञान-राज्य का भेद उद्घाटित हो जाता है।

3. इसके पश्चात् कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में मैं कर्त्ता नहीं हूँ, द्रष्टा-मात्र हूँ। प्रकृति ही सबकुछ करती है। यद्यपि वह मेरी ही प्रकृति है, तथापि अहंभाव के अभाव में उसके प्रति ममत्व नहीं है।

4. तदनन्तर प्रकृति के कर्तृत्व की अनुभूति नहीं रहती, कारण, उस स्थिति में क्रिया भी अव्यक्त है।

5. भगवान् की कृपा होती है। ज्ञात होता है कि वे ही कारयिता हैं। मैं कर्त्ता हूँ। कर्त्ता होने पर भी इस कर्तृत्व में भय एवं बन्धन नहीं है। यह है, दासत्व। मैं द्रष्टा एवं कर्त्तारूप हूँ, तथापि भगवान् की प्रेरणा से। वे हैं नियामक, मैं हूँ नियम्य। यही आश्रितभाव है। मैं देखता हूँ कि वे ही सर्वाधार हैं, सब कुछ कराते हैं। मेरे सब कुछ करने और कहने के मूल में उनकी ही सत्ता सत्तान्वित है। समग्र जगत् की समस्त क्रिया है उनकी इच्छा, पाप-पुण्य इस अवस्था में नहीं रहते।

6. उन्नतर अवस्था में क्रमशः यह ज्ञात होने लगता है कि वे ही कर्त्ता हैं। मैं देख रहा हूँ, वे सबकुछ कर रहे हैं। यह है अभिनय, लीला का सूत्रपात। मैं हूँ द्रष्टा, वे हैं अभिनेता। वे ही साक्षात्भावेन अनन्त अभिनय कर रहे हैं। यह अभिनय क्यों है? अभिनय का लक्ष्य है लीला-प्रस्फुटन, हमें दिखाने हेतु। अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। इस अवस्था में उनकी विश्वरूपता का, विश्वकर्मत्व का, ज्ञान होता है।

7. यह भक्ति का स्तर है। मैं देखता भी हूँ, और देखकर आनन्द पाता हूँ।

आनन्द अर्थात् लीला-दर्शनजनित उल्लास। पूर्वोक्त आश्रितावस्था में दर्शकभाव का उदय होने पर लीलानन्द सम्भोग का अधिकार प्राप्त होता है।

8. इस स्थिति का विकास होने पर देखता हूँ कि अब वे भी कर्ता नहीं हैं। वे मात्र द्रष्टा हैं। मैं उन्हें देखता हूँ। बाह्यलीला का लेश भी नहीं है। वे भी मुझे देख रहे हैं। परस्पर-परस्पर का दर्शन होता जा रहा है। यह प्रेम की स्थिति है। प्रेम से उनमें एक तरंग का उद्भव हो रहा है। मुझमें भी एक तरंग उठ रही है। दोनों तरंगें परस्पर मिलती जा रही हैं।

09. इसके पश्चात् आलिङ्गन है।

10. सर्वान्त में है रसस्थिति।

●

महायात्रा

सर्वप्रथम देखना, द्वितीयतः होना, अन्त में अतिक्रमण करना। पहले देवता का दर्शन होना चाहिये। तत्पश्चात् देवता होना पड़ता है। तृतीयावस्था में देवता का अतिक्रमण करना होगा। इस स्थिति के साथ-साथ देवता अपने अंगीभूत हो जाते हैं। वे स्वशक्ति-रूप में परिणति प्राप्त करते हैं।

देव-दर्शन क्यों नहीं प्राप्त करता हूँ? आवरण के कारण। आवरण-भंग ही साधना है। देवता को देखकर स्वयं देवरूप क्यों नहीं हो रहा हूँ? आवरण के कारण। यह है द्वितीय आवरण का भेद। देवता होकर भी देवतातीत क्यों नहीं हो रहा हूँ? आवरण के कारण। इसे भङ्ग करने से तृतीय आवरण का भेद हो जाता है।

प्रथम आवरण का भेद कर्म द्वारा होता है। द्वितीय आवरण का भेद होता है उपासना द्वारा। तृतीय आवरण का भेद होता है शक्ति द्वारा। उपासना का पर्यवसान है ज्ञान। इससे देवता के साथ अभेद की प्रतिष्ठा होती है। इसके पश्चात् कृपा द्वारा भक्ति स्वयमेव आविर्भूत होने लगती है।

देवता पंचमहाभूतों से आवरित हैं। आत्मा देवता द्वारा आच्छादित है। सर्वप्रथम पंचमहाभूत से देवता को विविक्त करना चाहिये, यही कर्म है। देवता विविक्त होकर प्रकट होते हैं। इस प्रकटीकरण से उपासना का प्रारम्भ होता है। फल है तादात्म्य- लाभ। तदन्तर ज्ञान द्वारा देवता से आत्मा को विविक्त (Extract) करना चाहिये। जब आत्मा पूर्णरूपेण विविक्त हो जाती है तब ज्ञान की परिसमाप्ति हो जाती हैं। एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मा से अभिन्न है। तदनन्तर भक्ति द्वारा परमात्मा को भी आत्मा से विविक्त करना चाहिये। परमात्मा की पूर्णता है भक्ति का चरम बिन्दु। अब परमात्मा एवं पूर्णब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं। चरम स्थिति में परमात्मा से पूर्णब्रह्म को विविक्त करना पड़ता है। इस विविक्तता की पूर्णता सम्पादित होने के पश्चात् ब्रह्मज्ञान भी शेष नहीं रहता। जो रह जाता है, वह है पूर्ण ब्रह्म।

प्रथमावस्था में पंचमहाभूत देवता के साथ सम्पृक्त रहते हैं। देवता प्रकाशित नहीं रहते। पंचमहाभूत ही प्रकाशित (अनुभूत) होता है। यह स्थिति रहती है, कर्महीन अवस्था पर्यन्त। कर्मरत होने के पश्चात् देवता पंचमहाभूत से असम्पृक्त हो जाते हैं। अब पंचमहाभूत देवता के अन्तर्गत, उनकी शक्तिरूप से अनुभूत होते हैं। पंचमहाभूतों की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यह है पंचमहाभूत पर विजय।

द्वितीय अवस्था में देवता आत्मा से सम्पृक्त रहते हैं। देवतारूप से आत्मा प्रकाशित रहती है। उपासना द्वारा आत्मा असम्पृक्त (अलग) होने लगती है। अब देवता आत्मा की शक्तिरूप से, आत्मान्तर्गत प्रकाशित होते हैं। उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। यह है देवता जय। उपासना के अन्त में देवता आत्मरूप से दर्शन देते हैं, जब कि उपासना के प्रारम्भ में आत्मा देवता-रूप में प्रतिभात हो रहा है।

तृतीय अवस्था, इसमें आत्मा परमात्मा के साथ सम्पृक्त रहते हैं। आत्मारूपेण परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ज्ञान से परमात्मा असम्पृक्त होते हैं। आत्मा की सत्ता परमात्मा में, उनकी शक्तिरूप से प्रकाशित होती है, पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। इसे आत्मजय कहते हैं।

चतुर्थावस्था में परमात्मा और पूर्णब्रह्म सम्पृक्त रहते हैं। भक्ति-बल से पूर्ण ब्रह्म असम्पृक्त होते हैं। परमात्मा अब अलग नहीं रह जाते, अपितु पूर्णब्रह्म की शक्तिरूप से प्रकाशित होते हैं। यह है परमात्मा जय।

पंचम अवस्था है पूर्णस्थिति।

कोई-कोई देवता अपने मण्डल के बाहर देखने में समर्थ नहीं होते। स्वमण्डल को भी निज ज्योतिरूप देखते हैं। जो भक्त उनके मण्डल में प्रविष्ट हैं, उन्हें भी ज्योति-रूप देखते हैं। जो भक्त अत्यन्त उन्नत हैं, उनकी ही आकृति (रूप) को देख सकते हैं। भक्त की उन्नत स्थिति में देवता भी निज रूपबोधयुक्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् स्वयं में भक्त की उपलब्धि करते हैं, और देखते हैं। यह है भक्त का उत्कर्ष अर्थात् सायुज्य। अन्त में निजबोधपूर्ण अवस्था अवशिष्ट रह जाती है। देवता और भक्त का द्वैतरूपी व्यवधान अस्तमित हो जाता है।

अपने मण्डल से व्यतिरिक्त मन्त्रप्राप्त साधक को तथा मन्त्र को देवता नहीं देख सकते। यह देख सकते हैं उस स्थिति में जब वह मन्त्र उसी देवता की ज्योति से ज्योतित होकर, उसी द्रष्टा देवता का मण्डलस्थ मन्त्र हो जाता है इस प्रकार कोई भी देवता अपने मण्डल से व्यतिरिक्त किसी को भी नहीं देख सकते। इतने पर भी उनकी करुणामय बाह्य दृष्टि की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी करुणामयी बाह्य दृष्टि के फलस्वरूप साधकजन सालोक्य की प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। करुणा-दृष्टि की भी एक सीमा (Limitation) है। अपूर्ण देवता को विश्वव्यापी करुणा-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। जिनकी करुणा-दृष्टि की अन्तर्भेदनशीलता अनन्त में प्रसारित है, वे बुद्ध पदवाच्य हैं। शान्त तथा सीमित को बोधिसत्त्व अथवा अन्य समानार्थक संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शान्त करुणा स्वकीय भाव से परिच्छिन्न रहती है, अतएव उक्ति है कि देवता सबको नहीं देखते।

सबको कौन देखता है? धर्म सबको देखता है। उसकी दृष्टि समान, व्यापक तथा सर्वत्र वर्तमान है। वह किसी की उपेक्षा नहीं करता। उसकी दृष्टि में करुणा नहीं

है। उसकी दृष्टि में है, न्याय एवं नियम। वह अखण्ड है। धर्म ही कर्म-फल देता है। उसमें त्रुटि, विच्युति को स्थान नहीं, अतः अलंघ्य है। जीव इसकी दृष्टि से भयभीत है। प्रति नेत्रस्पन्दन की प्रतिक्रिया इसी से संचालित होती है। धर्म साक्षी है। सबको देखता है। उसकी समदृष्टि द्वारा यह जगत् संचालित है।

जहाँ करुणा-दृष्टि का संचार हो चुका है, वहाँ धर्म की समदृष्टि कार्य नहीं करती। करुणा-दृष्टि से जीवोद्धार होता है। इस करुणा-दृष्टि का आश्रित होने पर अथवा इसकी सीमा में पड़ने पर धर्मराज्य की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। उसके लिए धर्मराज्य भी करुणामय हो जाता है। करुणा के बाहर नियम कार्य करता है। जब तक जीव अनाश्रित है, तभी तक देहात्मभाव में ग्रसित है। कर्तृत्वाभिमान मूलक कर्म का कर्त्ता है।

शुद्धसत्त्व की ज्योति एवं मलिन सत्त्व की ज्योति में पारस्परिक पार्थक्य विद्यमान है। शुद्धसत्त्व की ज्योति घनीभूतरूप है। उससे कोई भी जागतिक वस्तु देखना सम्भव नहीं है। साधक के सामने यदि वह ज्योति प्रस्फुटित होती है, उस स्थिति में मात्र साधक ही उसका अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं।

मलिन सत्त्व की ज्योति में मर्त्यलोक की सत्ता विद्यमान है। उससे सभी जागतिक वस्तुसमूह प्रकाशित हो सकते हैं। उसमें यह जगत् अन्तर्हित रहता है, अतः ज्योति निःक्षेप से जगत् प्रतीत होने लगता है।

प्रथम ज्योति है दिव्यचक्षु। यह मर्त्यलोक की वस्तु नहीं है। इसी ज्योति में दिव्यधाम मग्न रहते हैं। यह ज्योति अनन्त रूपमयी है। सभी प्रकार की ज्योति की पृष्ठभूमि में इसी ज्योति की कार्यकारिता विद्यमान रहती है। शुद्ध दिव्यज्योति देवता-भेद से विभिन्न है। जिस देवता की ज्योति का प्रकाशन होता है, उसी देवता के लोक में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। जिन्हें व्यापक सत्त्व का सन्धान प्राप्त है, वे एक देवलोक से अन्य देवलोक में यातायात कर सकने में समर्थ होते हैं। यही नहीं, पृष्ठभूमिस्थ शुद्धसत्त्व का सन्धान प्राप्त रहने से, देवलोक से अतीत स्थान में भी यातायात सम्भव है। यह प्रकाश अनासक्त प्रकाश है। आलोक एवं अन्धकार, दोनों में परिव्याप्त है।

जिस देवता का चिन्तन होगा, उन्हें देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, नारायण का दर्शन करने की इच्छा का उदय। भक्तिपूर्वक मन्त्र-जाप तथा एकाग्रता से, मूर्ति-चिन्तना से, मूर्ति में परिशुद्धि का संचार होता है। संस्कार से निजलोकस्थ नारायण के सम्मुख यह मूर्ति भासित हो उठती है। भासित होते ही उस पर नारायण का दृष्टिपात होता है। मूर्ति में सजीवता आती है, दृष्टि द्वारा। भक्ति-मन्त्रादिक के प्रभाव से नारायण का चित्त क्षुब्ध होता है। वे क्षणकाल के लिए बाह्य दृष्टि उन्मुक्त कर देखते हैं। मूर्ति पर उनकी दृष्टि केन्द्रित होती है। वास्तव में जिस मूर्ति पर दृष्टि पड़ती

है, वह है साधक द्वारा चिन्तनीय मूर्ति का प्रतिबिम्ब, जो निजलोकस्थ नारायण के सम्मुख भासित हो रहा है। यह मूर्ति है पृथ्वीस्थ साधक की आराध्या स्थूल मृण्मूर्ति का सूक्ष्मांश। नारायण द्वारा दृष्टि-निःक्षेप से वह सात्मक को उठती है। अभक्ति-अनाचार-प्रभृति का प्रतिबिम्ब नहीं बनता। बिम्ब वापस लौट आता है। प्रतिबिम्ब न बनने से अभक्ति, अनाचार आदि पर नारायण की दृष्टि नहीं पड़ती। वह वापस आकर साधक को ही आक्रान्त कर लेता है। इसी कारण अभक्त एवं अनाचारादि में देव-सन्निधान दुर्लभ है।

तत्पश्चात् नारायण की दृष्टि से जाग्रत् मूर्ति पर साधक की दृष्टि पड़ती है। नाम-चिन्तना करने से नाम पर नारायण की दृष्टि पड़ती है। नाम में चेतना का संचार होता है। नारायण की भावना करने से और अभक्ति इत्यादि न रहने से नारायण का दृष्टिपात अवश्यम्भावी है। उनकी दृष्टि पड़ती है, भावना करने वाले के ऊपर। भक्ति, एकाग्रता से सराबोर होने पर दृष्टिपात के साथ-साथ उस मूर्ति में नारायण का आविर्भाव भी हो सकता है। यही नहीं, नारायण उस मूर्ति से बाहर भी आकर प्रकट हो जाते हैं। और भी विकास होने पर साधक स्वयं उस मूर्ति में प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया में दिव्यचक्षु आवश्यक है। दिव्यचक्षु द्वारा समस्त प्रक्रिया का दर्शन सम्भव है।

सभी वस्तुसमूह का एक अलग प्रतिबिम्ब आकाश में पड़ता रहता है। वह साधारण लोगों की दृष्टि में नहीं आता। कारण साधारणजन वस्तु को शुद्ध दृष्टि से देखने में समर्थ नहीं होते। वे जिसे भी देखते हैं, उसका प्रतिबिम्ब बिम्ब में निमज्जित ही दिखता है। साधारणजन उसे देख कर भी नहीं जानते। ज्ञानचक्षु खुलने पर इस प्रतिबिम्ब की पृथक् रूप से उपलब्धि की जा सकती है। वह वस्तु से पृथक् होकर अवभासित होता है।

ब्रह्मादि देवगण किसकी आराधना करते हैं? वे साधन नहीं करते। कारण, वे साधक नहीं, अपितु सिद्ध भूमि पर आरूढ़ हैं। वे योग करते हैं। उनका ध्येय है ज्योति। यह दिव्यज्योति नहीं है। वे जिसका ध्यान करते हैं, वह दिव्यज्योति से भी श्रेष्ठतर ब्रह्मज्योति है। दिव्यज्योति तो ब्रह्मादि की अपनी ज्योति है। योग के समय दिव्यज्योति अवगुण्ठित हो जाती है और ब्रह्मज्योति का प्रकाशन होता है। दिव्यज्योति अवगुण्ठित होते ही ब्रह्मादि देवगण अदृश्य होकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

मनुष्य साधना करता है सिद्धि के लिए। संयम से उसका विकिरण केन्द्रीभूत होने लगता है। यह है एकाग्रता। इस स्थिति में वह जगत् को नहीं देखता। जगत् भी उसे नहीं देखता। वह देखता है उपास्य की ज्योति को। तत्पश्चात् देखता है देवता के रूप को और अन्त में स्वयं देवमय हो जाता है। देवमयता की दो अवस्था है। क्रिया के समय साधक देवता में स्थित है। अन्य समय देवता ही साधक में स्थित रहते हैं। क्रिया (अवस्था) में साधक देवता में स्थित रहते हैं। अन्य समय देवता साधक में

ओत-प्रोत भाव से विद्यमान हो जाते हैं। तदनन्तर जब देवता योगस्थ होते हैं, उसी समय साधक योगीपद वाच्य होता है। योगीपद पर आरोहण करते-करते दिव्यज्योति केन्द्रित होने लगती है। अब ब्रह्मज्योति का प्रस्फुटन होता है। इसके परे है महायोग की स्थिति अर्थात् ब्रह्मज्योति का तिरोधान।

शुद्ध सत्त्वस्थ देवता एकाग्रभूमि में स्थित रहते हैं। स्वयं में एकाग्रता की प्रतिष्ठा होने पर उनका साक्षात्कार सम्भव है। एकाग्रभूमि का नियम है—सदा एक वस्तु में निरत रहना। बाह्य व्यापार (जागतिक) में लगे रहने पर भी और नाना स्थानों पर जाते रहने पर भी एकाग्रता में न्यूनता नहीं आती, यदि एकाग्रता सुप्रतिष्ठ हो चुकी है। एक वस्तु में लक्ष्यस्थिति रहने पर भी एकांश से अन्य कार्य सम्पादित होते ही उपरोक्त एकांश एकाग्रकेन्द्र में लौट आता है।

ईश्वर स्वयमेव एकाग्रभूमि में स्थित हैं, वे निरोध में निरत हैं। अन्यान्य देव-देवीगण ईश्वर में निरत रहते हैं। इसी कारण ईश्वर हैं महायोगी। योगस्थ रहने पर भी निरोध तथा गुणातीतत्त्व से ओत-प्रोत रहते हैं। स्वयं ही स्वयं के ध्यान में निमग्न रहते हैं।

जो वृद्धिगत होता है, जिसमें विकास है, वह पूर्ण नहीं है। जिसके पश्चात् कोई अवस्था ही नहीं है, जिसकी अब अभिवृद्धि नहीं हो सकती, वही पूर्ण है। जिसका सर्वांश प्रकाशित है, कुछ भी अव्यक्त नहीं है, वह पूर्ण है। जगत् में जो पूर्णता अनुभूत होती है, उसमें क्रम-विकास की प्रक्रिया रहती है, जैसे पूर्णिमा। इसमें अब वृद्धि नहीं हो सकती। समस्त कलायें प्रस्फुटित हो चुकी हैं, तथापि ह्रास है।

मायातीत पूर्णिमा में न ह्रास है न वृद्धि। वह चिरकाल के लिए समभावापन्न, एक भावापन्न है। न घटती है और न उसमें कोई वृद्धि ही हो सकती है।

एक प्रबल ज्योति निकट रहने से उसके पास छाया भी पड़ती है। ज्योति के प्रतिकूल वस्तु की स्थिति रहने का फल है छायापात। छाया में निजांश भी है। ज्योति की अनुकूलता का है अर्थ-स्वच्छता। अनुकूलता में ज्योति भीतर चली जाती है, बाधा नहीं पाती। बाधाहीनता अर्थात् छायाहीनता। यही है देवभाव। देवता में छाया नहीं होती। ज्योति में वैषम्य-शक्ति भी रहती है। इसी कारण छाया का आविर्भाव होता है। ज्योति की साम्यशक्ति के कारण छाया नहीं पड़ सकती। साम्यशक्ति में गति नहीं है। वह आलोक एवं अंधकार में समाभावेन क्रियाशील है। न बाधा देती है और न बाधा पाती है। उसके लिए स्वच्छ एवं अस्वच्छ समान है। उसे दोनों के वैषम्य का विचार भी नहीं है और न द्वन्द्व है।

देह और ज्योति में पारस्परिक विरोध है। विरोध के कारण संघर्ष! फलस्वरूप छाया-सम्पर्क! देह से ज्योति-कणों को अलग कर देने पर ज्योति से भी देह-कण वियुक्त हो जाते हैं। फलतः ज्योति एवं देह परिशुद्धावस्था को प्राप्त होती है। यह है साम्य। देह एवं ज्योति, दोनों की साम्य शक्तिमय अवस्था।

जगत् उनकी विभूति है। क्रिया करते-करते उनकी अनेकानेक विभूति का प्रत्यक्ष होता है। उसमें तृप्ति नहीं है, शान्ति नहीं मिलती, क्षुधा नहीं मिटती। इन्द्रजाल से अभाव कैसे दूर होगा? वास्तविक वस्तु चाहिये। छाया से क्या हो सकेगा?

'ध्यानं निर्विषयं मनः' एक ओर विषय अथवा पंचमहाभूत है, मध्य में मन। मन से विषयों का उन्मोचन हो जाने पर आलम्बनरूप शेष है आत्मा।

●

क्षण का सूक्ष्मत्व

सब कालराज्य में अवस्थान करते हैं। काल का धर्म है परिणाम। प्राकृतिक वस्तु-समूह कालराज्य में अवस्थित है और परिणामशील है। परिणाम-क्रम में अतीत, अनागत एवं वर्तमान, तीन प्रकार के भेदों की गणना की जाती है। अतीत से चलती सृष्टि की धारा वर्तमान का भेद करते हुए अनागत की ओर प्रवहमान है, अथवा अनागत से बहती सृष्टि की धारा वर्तमान का भेद करते हुए अतीत की ओर प्रवाहित है। यह प्रवाह है काल-परिणामसूचक। काल का अर्थ यहाँ खण्ड-काल जानना चाहिये। आगमशास्त्र के अनुसार खण्ड-काल के ऊर्ध्व में महाकाल अवस्थित है, किन्तु उसमें परिणामधर्म का सर्वथा अभाव है। महाकाल समग्र विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में अक्षत भाव से विद्यमान है। जिन्होंने सांख्य-योगशास्त्र धारा की पर्यालोचना की है, वे जानते हैं कि परिणाम प्रकृति का धर्म है। परिणाम के साथ काल का नित्यसम्बन्ध है।

परिणाम के दो भेद हैं। सदृश परिणाम एवं विसदृश परिणाम। प्रकृति महाप्रलय के समय सदृशपरिणामयुक्त रहती है और सृष्टि के समय विसदृशपरिणामयुक्त। सदृशपरिणाम में प्राकृतिक उपादानों का कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति के उपादान हैं सत्त्व, रज, तम। सत्त्व सत्त्वरूप में, रज रजरूप में, और तम तमोरूप में स्पन्दित होता है। इसका नाम है, सदृशपरिणाम। इस परिणाम में तीन गुणों का मिश्रण नहीं होता। तीनों अपने रूप में परिणत हो जाते हैं, किन्तु विसदृश परिणाम में तीनों गुणों का परस्पर मिश्रण होता है और वैषम्य उत्पन्न होता है। इस मिश्रण के फलस्वरूप कोई सत्त्वप्रधान और कोई तमःप्रधान होते हैं। तीनों गुणों का यह मिश्रण गुणगत तारतम्य से होता है। किम्बहुना, सृष्टि के उदय-काल से काल-क्रीड़ा चल रही है। संहार-अवस्था में (अर्थात् सृष्टि की लयावस्था में) सदृश परिणाम रहता है। यह है प्रकृति की साम्यावस्था। सृष्टि-अवस्था में वैषम्य है। प्रकृति में गुणगत वैषम्य के कारण वस्तु की सृष्टि होती है।

प्रत्येक वस्तु प्रकृति का धर्म है। प्रकृति है धर्मी। यह वैषम्यरूप परिणाम तीन प्रकार के हैं—धर्मगत, लक्षणगत, अवस्थागत। एक ही प्रकृति विभिन्न धर्मरूप में परिणत होती है (अर्थात् विभिन्न वस्तुरूप में परिणत होती है)। वस्तु में लक्षणगत परिणाम के फलस्वरूप परिवर्तन होता है। यह है कालगत परिणाम का उद्भव। अनागत लक्षण से वस्तु वर्तमान लक्षण में उपनीत होती है और वर्तमान से अतीत-

अवस्था को प्राप्त होती है। शास्त्रों में इसे त्रिकालपरिणाम कहते हैं। इन तीन परिणामों में अतीत और अनागत के अन्तराल में विद्यमान वर्तमान के दो रूप हैं। प्रथम व्यापक, द्वितीय क्षणिक। प्रथम अधिक समय तक आत्मप्रकाश करता है किन्तु क्षणिक परिणाम मात्र क्षणकाल पर्यन्त स्थायी रहता है। इस क्षणिक परिणाम को कहते हैं अवस्थापरिणाम। काल-राज्य में इस प्रकार का परिणाम नित्य घटित हो रहा है। इसके कारण सृष्टि-धारा में एक क्रम परिलक्षित होता है। इसे पौर्वापर्य कहते हैं। काल का यह पौर्वापर्य सर्वत्र वर्तमान है। यह क्रम-काल का धर्म है। जो कुछ दिखता है, सभी में यह क्रम अवश्यम्भावी रूप से विद्यमान है। क्षण में कोई परिणाम नहीं है। काल क्रममय है, अतः क्रम से विकास होता है। जिसे हम क्रम विकास कहते हैं, वह है काल का व्यापार-मात्र। काल का आश्रयण करके ही क्रम-विकास सम्भव होता है। क्षण का एक और खण्ड है। स्पन्दनवशात् उसमें क्रम प्रतीयमान होता है। यह प्रतीयमान क्रम कालरूप से आत्मप्रकाश करता है। क्षण है मात्र एक और अद्वितीय। यह एक क्षण ही समस्त विश्व को प्रकाशित कर रहा है। कालस्थित जीव मन एवं इन्द्रियों द्वारा क्षण को पकड़ नहीं सकता। जब तक कालातिक्रमण नहीं होगा, तब तक क्षण का सन्धान असम्भव है। योगभाष्यकार व्यासदेव कहते हैं—'एक एव क्षणः तस्मिन् एवं क्षणे सर्व जगत् परिणामं अनुभवति' एकमात्र क्षण है। उसी एक क्षण में समग्र विश्व का परिणाम संघटित हो रहा है। क्षण ज्ञान है—अति कठिन एवं दुर्लभ। जीवगण एवं उनके इन्द्रियादि काल के अधीन हैं, अतएव वह क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता। जिसे हम लोग क्रम-विकास (Evolution) कहते हैं, वह काल का ही धर्म है। जब क्रम-विकास समाप्त होगा, तभी क्षण आत्मप्रकाश करेगा। क्रम समाप्त न होने तक क्षण-प्राप्ति असम्भव है। इसी प्रसंग में योगीगण की उक्ति याद रखनी चाहिये। वह उक्ति है—'गुणानां परिणाम क्रमसमाप्ति'। गुणों की परिणामगत क्रम- समाप्ति अपेक्षित है। खण्ड-दृष्टि से देखने पर उपलब्धि होगी कि 'गुणों के परिणाम की क्रम-समाप्ति ही पूर्णता है'। परिणामक्रम की समाप्ति से प्रकाश का (क्षण का) उदय सम्भव है। प्रकाश में न तो परिणाम है और न क्रम की ही कोई स्थिति है। अतः विकास पूर्ण होने पर प्रकाश (क्षण) का साक्षात्कार सम्भव होगा (विकास अर्थात् काल)।

विकास (काल) के मूल में बीज अवस्थित है। बीज का वपन क्षेत्र (खेत) में होता है और नाना प्रकार के परिकर्म द्वारा उसकी अभिव्यक्ति पुष्ट होती है। भूमि का जल द्वारा सिंचन, सूर्य-किरण, वायु-स्पर्श इत्यादि सहकारी करण-वर्ग द्वारा भूगर्भस्थ बीज अंकुरित होकर विकसित होता है। बीज-वपन का उद्देश्य है—वृक्ष की उत्पत्ति एवं फलों का आविर्भाव। सारी अवस्थायें क्रम-विकास से आविर्भूत हैं। वपन-काल में यह देखना होगा कि बीज वीर्यहीन न हो और मृत्तिका भी उर्वर हो। तत्पश्चात्

परिक्रमरूपी सहकारी कारणवर्ग भी प्रयोजनानुसार सहायक होना चाहिये, तत्पश्चात् काल अर्थात् ऋतुकाल भी विवेच्य है। इन सब कारण, अधिकरण की सम्यक् समष्टि के सम्यक् सम्मिलन द्वारा बीज से वृक्ष और फल प्रसवित होता है। फल की भी विभिन्न अवस्थायें अपक्व अवस्था से सपक्व अवस्था तक का इनका क्रम है।

यहाँ क्रम का अवलम्बन लेकर गुप्त भाव से विकास होता रहता है। मात्र मृत्तिका के नीचे ही गुप्त भाव से क्रम का विकास नहीं होता, अपितु वृक्ष भाव में परिणत होने में भी क्रम का गुप्त भाव निहित है। बीज का लक्ष्य है फल। वह गुप्तरूप से पुष्पादि में निहित रहता है। जब फल का आत्मप्रकाश होता है और फल परिपक्वता प्राप्त करेगा तभी बीज का पूर्ण आत्मप्रकाश घटित होगा। प्रकृति के राज्य में विकास से प्रकाश होता है। प्रकाशरूपी लक्ष्य है—विकास की सार्थकता। यह विकास है काल। यही है जगत् का धर्म। विकास का उद्देश्य है प्रकाश को प्राप्त करना, किन्तु प्रकाश है कालातीत। यह याद रखना होगा कि विकास के बिना भी प्रकाश है, किन्तु वह प्रकाश कालातीत जगत् का खेल है। काल-जगत् में एवं प्रकृति के जगत् में विकास का अवलम्बन लेकर ही प्रकाश की उपलब्धि होती है, यद्यपि प्रकाश की उपलब्धि होती है, तथापि प्रकाश नित्यसिद्ध है। परमेश्वरानुग्रह से कालातीत क्षण का अनुभव करने पर ज्ञात होगा कि अनन्त प्रकाश वहीं स्थित है। वह है विकासनिरपेक्ष, स्वतंत्र प्रकाश।

सद्‌गुरुगण जिस मन्त्र का दान करते हैं वह होता है बीजरूप। उसका वपन किया जाता है, शिष्य के हृदय-क्षेत्र में। इसमें बीजशक्तिरूपी वीर्य अवस्थित है। वह धीरे-धीरे शिष्य के परिकर्म द्वारा विकसित होता है। सुदीर्घ काल में अथवा अल्पसमय में, जैसे भी हो, विकास की पूर्णता आवश्यक है। विकास पूर्ण होते-होते वह इष्टदेवता- रूप में अभिव्यक्त होता है। इसका तात्पर्य है बीज की फलस्वरूप में अभिव्यक्ति। काल के जगत् से होकर ही कालातीत की स्थिति होती है। कालजगत् में बीज के बिना प्रकाश नहीं होता। प्रकाश स्वभावसिद्ध है, अतः वह बीज सापेक्ष नहीं होता। कालातीत महासत्ता में निर्जीव प्रकाश अखण्ड भाव से विद्यमान रहता है। काल-राज्य में प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है बीज का अवलम्ब लेकर और क्रम-विकास द्वारा। जब कालातीत सत्ता अपने स्वातंत्र्यवशात् आत्मप्रकाश करती है, तब बीज अपेक्षित नहीं होता। एक दिशा और है, जिसकी आलोचना करता हूँ। बीज से जैसे फल उत्पन्न होता है, वैसे ही पुनर्वार फल से बीज की उत्पत्ति होती है। यदि फल से बीज नहीं होता, तब विश्व-कल्याण कैसे सम्भव होता? फिर भी ऐसे बीज की भी अवस्थिति है जिससे पुनः फल आविर्भूत नहीं होता। साथ-साथ ऐसे फल की भी स्थिति है (अर्थात् प्रकाश है) जिससे पुनर्वार बीज आविर्भूत नहीं होता। अध्यात्म विज्ञान का अनुशीलन करने पर उपलब्धि होती है कि साधारण दृष्टि से

सिद्ध पुरुष तीन प्रकार के हैं। प्रथम हैं जिन्हें साधना द्वारा सिद्धि-लाभ हुआ है। इन्हें साधन-सिद्ध कहा जाता है। उपर्युक्त विकास और प्रकाश सम्बन्धी अवस्था है साधनसिद्ध अवस्था। साधना द्वारा विकास पूर्ण होता है और विकास पूर्ण होने पर प्रकाशरूप सिद्धावस्था का उदय होता है। जैसे साधन द्वारा सिद्धिलाभ होता है, वैसे ही कृपा से भी सिद्धि की प्राप्ति होती है।

साधना-सिद्ध एवं कृपा-सिद्ध दोनों प्रकार के साधक विकास-क्रम द्वारा प्रकाश (क्षण) की प्राप्ति करते हैं। साधनसिद्ध पुरुष अपने व्यक्तिगत पुरुषाकार द्वारा क्रमशः विकास (कालातीत अवस्था) प्राप्त करते हैं। इस विकास में किंचित् परिणाम में भगवत्कृपा विद्यमान रहती है। इस मार्ग में कृपा गौण है और पुरुषाकार प्रधान है पक्षान्तर से जो साधक कृपा के प्रभाव से जगत् का भेद कर सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं, उनमें कृपा प्रधान है (यद्यपि किंचित् परिणाम में पुरुषाकार भी अवस्थित है)। जैसे पक्षी एक पंख द्वारा आकाश में नहीं उड़ सकता, वैसे ही कोई भी कर्म मात्र पुरुषाकार द्वारा नहीं होता, या मात्र कृपा द्वारा भी नहीं होता। यद्यपि नामकरण होता है प्राधान्य के अनुसार, तथापि गौण भाव से द्वितीय की स्थिति रह ही जाती है। अतएव साधनसिद्ध एवं कृपासिद्ध दोनों में उभयभाव अवश्यमेव विद्यमान है।

दोनों प्रकार के साधक विकास-मार्ग का अवलम्बन लेकर क्रम अतिवाहित करते हैं। यह सत्य है कि कृपा-मार्ग के साधक के लिए यह अतिसामान्य हो जाता है। अवस्थाविशेष में क्रम तिरोहित भी हो जाता है। इस प्रकार से दो प्रकार के सिद्ध पुरुषों का वर्णन किया गया। ये दोनों काल-राज्य में वास करते हैं एवं सिद्धि-प्राप्ति के अनन्तर कालातीत में वास करते हैं।

तृतीय प्रकार के सिद्ध पुरुष होते हैं जिन्होंने काल का अतिक्रमण नहीं किया है, एवं कृपा-लाभ भी नहीं किया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के (अर्थात् पुरुषाकार द्वारा साधन-सिद्ध एवं कृपा-सिद्ध) सिद्धगण सादिसिद्धि हैं और यहाँ जिनका वर्णन किया जा रहा है वे हैं अनादिसिद्ध। ये कभी भी असिद्ध नहीं थे। सृष्टि के साथ-साथ इनका सिद्धरूप में आविर्भाव हुआ था। इनके मूल में न तो कृपा है और न साधना। अतः ये हैं नित्यसिद्ध। हमारे प्राचीन अध्यात्मसाहित्य में इन्हें दिव्यसूरि अथवा सूरि कहा जाता है। वेद ने इन सब सूरियों को इंगित करते हुए कहा है—

तद् विष्णोः परमं पदम्, सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीय चक्षुरातम्।
अर्थात् विष्णु का जो परमपद है, जिसे परव्योम कहा जाता है, वही है श्रीभगवान् का परमस्वरूप। ये समस्त सूरि या नित्यमुक्त ज्ञानीभक्त निरन्तर दर्शन प्राप्त करते रहते हैं। इन्हें अनादिसिद्ध या अनादिमुक्त कहा जाता है। ईसाई धर्म में भी यह स्तर देखा गया है।

अतः यह स्पष्ट है कि काल-राज्य एवं कालातीत राज्य, कोई भी शून्य नहीं

है। काल-राज्य से परम ज्ञान एवं भक्ति के प्रभाववश कालातीत राज्य में संचरण होता है। कालातीत राज्य में अनादिकाल से बहुसंख्यक सत्तायें विद्यमान हैं। क्षण (प्रकाश) एवं काल (विकास) के रहस्य की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि विकासहीन प्रकाश की स्थिति है एवं वह नित्य वर्तमान रूप है। नित्यधाम में साकार रूप की स्थिति का अनुभव करते हुए यह कहना सत्य है कि नित्य साकार मूर्ति क्रमहीन है। वह विकासहीन (कालरहित) एवं (क्षण) प्रकाशस्वरूप है। वहाँ कोई दिव्य रूप है नित्य बाल-मूर्ति में, कोई नित्यकिशोर और कोई है नित्य यौवन युक्त। यह समस्त बाल्य-यौवनादि अवस्था काल के अन्तर्गत नहीं है। यह दो प्रकार की है—अनादि एवं सादि, परन्तु दोनों हैं क्रमविवर्जित। जहाँ अनादि कैशोर या अनादि यौवन है वहाँ भी पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा नहीं है। काल प्रत्येक अवस्था में क्रमसिद्ध है, किन्तु कालातीत नित्यसिद्ध रूप है। वहाँ जो बालक है वह सर्वदा बालक ही है। जो युवक है वह सर्वदा युवक है, पूर्वापर भेद नहीं है। कालातीत होने के कारण वहाँ कालक्रम कार्य नहीं करता। एक और रहस्य उल्लेखनीय है। मनुष्य काल-राज्य में साधना करते-करते जिस अवस्था में प्रकृत-सिद्धि प्राप्त करता है एवं कालातीत में स्थित होता है, ऐसी स्थिति में वह अवस्था स्थायी हो जाती है। अर्थात् यदि एक ने 30 वर्ष की अवस्था में सिद्धि-लाभ किया एवं सिद्धि-लाभ के उपरान्त वे यदि वृद्धावस्था तक भी जीवित रहे तब नित्यावस्था में उनका 30 वर्ष का ही रूप स्थिर होकर रह जायेगा।

काल-राज्य मृत्यु-राज्य है। जहाँ तक काल का विस्तार है, वहाँ तक मृत्यु विद्य-मान है। काल का मुख्य कार्य है 'कलन'। अतः काल-राज्य में सर्वत्र सर्वदा परिणाम की क्रिया चल रही है। यहाँ क्रम है, पूर्वापर विभाग है और तदनुरूप वैचित्र्य है। पृथ्वी आदि पर छह भावविकार मिलते हैं। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते एवं नश्यते। ये षट् विकार कालगत परिणाम के छह रूप हैं। देवलोकों में साधारणतया तीन अवस्थान्तर्गत परिणाम कार्य करता है, आविर्भाव, स्थिति, तिरोभाव। वहाँ भी परिणाम सूक्ष्मरूप से है। इस कारण से काल-राज्य सर्वतः क्षरणशील होता है। यह खण्डकाल का रहस्य है। यहाँ अतीत, वर्तमान एवं अनागत का भेद विद्यमान है। महाकाल में ये भेद नहीं रहते। वहाँ सब नित्यवर्तमान रूप से ओत-प्रोत रहते हैं। जैसे समग्र विश्व भगवान् के अभेद रूप में एक अहं रूप से स्थित है, वैसे ही महाकाल-रूपा महासृष्टि में समग्र विश्व भगवान् में, नित्य वर्तमान इदंरूपेण भासित होता है। महाकाल-राज्य में समग्र विश्व विद्यमान रहता है नित्य स्रष्टा भगवान् के नित्य दृश्य रूप में। वहाँ काल के परिणामस्वरूप की क्रीड़ा नहीं रहती। खण्ड-काल में अवस्थित है अनन्त असीम मृत्यु-राज्य। फिर भी समस्त मृत्यु-राज्य एक प्रकार के नहीं हैं। पृथ्वी में सर्वत्र भोग-स्थान हैं। कर्मभूमि है एकमात्र

भारतवर्ष। यहाँ कर्मफल की उत्पत्ति एवं भोग दोनों होता है, जब कि अन्यत्र केवल भोग होता है। सर्वत्र अभिनव कर्म का जन्म नहीं होता। काल संकर्षण क्रिया के फलस्वरूप असंख्य काल राज्यों में प्रलय होता है और समग्र विश्व अखण्डभावेन महाकाल में अधिष्ठित, परिणामहीन और उदयास्तविहीन होकर परमात्मा के नित्यदृश्य रूप में परिणत होता है।

विश्व में दो विपरीत शक्ति कार्य कर रही है। एक है भगवत्-शक्ति या अनुग्रह-शक्ति। दूसरी है काल-शक्ति या तिरोधान-शक्ति। पूर्ण परमतत्त्व में ये दोनों शक्तियाँ परस्पर भेदरहित, अभिन्न रूप से, स्वतन्त्र स्वरूप की संज्ञा में कार्य करती हैं। जब परमेश्वर आत्मसंकोच करके जीवरूप में आत्मप्रकाश करते हैं, तब शक्ति की ये दोनों धारायें पृथक् हो जाती हैं। एक शक्ति जीवभाव या पशुभाव की पुष्टि करती है एवं द्वितीय शक्ति पशुभाव को निवृत्त कर परमस्वरूप में प्रत्यावर्त्तन करती है। अनुग्रह-शक्ति आत्मा को, परमस्वरूप को पुनः प्रतिष्ठित करती है। जो कालशक्ति निरन्तर बहिर्मुख प्रेरणा द्वारा जीव को संसार से जड़ित रखती है, जो शक्ति क्रमशः काल को स्वाधिकार से (कलनात्मिकता से) अपसारित करती है, उसी का नाम है काल-संकर्षण शक्ति। काल का धर्म है क्रम। काल-राज्य में क्रम का सहारा लेकर चलना पड़ता है। कालसंकर्षण का चरम लक्ष्य है क्रम का अतिक्रमण कर अक्रम स्वरूप में आत्मप्रकाश। कालसंकर्षण के फलस्वरूप काल में क्रमशः हटकर जाते हुए क्षण की प्राप्ति होती है। वहाँ निरन्तर परिणाम में मात्रागत तारतम्य है। भगवत्-कृपा के प्रभाववश यह मात्रागत तारतम्य क्रमशः स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में परिणत होता है। जितनी अधिक चैतन्य की अभिव्यक्ति होगी, काल की मात्रा उतनी ही क्षीण होती जायेगी। फलस्वरूप चैतन्यरूप में कालगत मात्रा का किंचित् प्रभाव भी नहीं रह जाता। वहाँ एक ही क्षण अनादि, अनन्त, प्रकाशरूप हो विद्यमान है। जब आवरण क्रमशून्य भाव से अपगत होता है, तब एकमात्र क्षण ही विराजित रहता है। अतः महाजनगण कहते हैं कि 'एक ही क्षण समग्र विश्व में परिणामों का संघटन कर रहा है'। काल-राज्य में विभिन्न स्तर हैं। प्रत्येक स्तर में कालगति की मात्रा में तारतम्य है। यह तारतम्य कालवेग की न्यूनता अथवा कालवेग की गतिमात्रा पर निर्भर करता है। जहाँ अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से काल की मात्रा क्षीण हो जाती है, वहाँ कालसन्धि प्रकाशित होती है और क्षण का प्रकाश सहजता से अनुभूत होता है। जब क्षण स्थायीरूपेण प्रतिष्ठित होता है, तब वहाँ काल का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। यह अवस्था कालसंकर्षिणी अवस्था है। क्रमहीन काल का नाम क्षण है। क्षण है नित्य एवं स्वप्रकाशमय। अनन्तकाल कहने से जो ज्ञातव्य होता है, वह एक दृष्टि से क्षण ही है, अन्य कुछ नहीं। काल-निवृत्ति के साथ-साथ अखण्ड स्वप्रकाशमय पूर्ण आत्मतत्त्व प्रकट हो उठता है निष्कल स्वातन्त्र्ययुक्त प्रकाशरूप से।

काल के साथ देशज्ञान नित्य संश्लिष्ट है। अतः काल-निवृत्ति के साथ ही देश- निवृत्ति हो जाती है। उस समय आत्मा देशकालातीत रहती है। इस अवस्था में निजसंकल्पानुरूप कोई भी देश या कोई भी काल आत्मा के निकट प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार योगी का नित्यत्व एवं व्यापकत्व प्रकट हो उठता है।

काल की गति आवर्तनशील है। इस आवर्त में समग्र विश्व अपनी-अपनी मात्रा के अनुसार आवर्तित होता रहता है। काल की सरलगति भी है। इसमें काल आत्मप्रकाश रहता है महाकाल रूप से। माया-राज्य पार होते ही काल की वक्रगति से छुटकारा मिलता है। उसके पश्चात् सरलगति प्रारम्भ होती है। काल की सरलगति का अवलम्ब लेकर केन्द्र स्थान में कालगति को स्थिर किया जाता है। स्थिर काल ही महाकालरूप में परिणति प्राप्त कर परमपुरुष रूप में आत्मप्रकाश करता है। सर्वदेश एवं सर्वकाल एक महाबिन्दु के मध्य प्रकाशमान होते हैं। अर्थात् तब योगी की इच्छा के साथ-साथ तद्वत् देश एवं काल प्रकाशित होता है। व्यवधान अथवा दूरत्व नहीं रह जाता।

महाप्रकाश का आविर्भाव होने पर किसी प्रकार के आवरण अपनी क्रिया नहीं कर सकते। आवरण तमोगुण का कार्य है। आलोक के आगमन से जैसे अन्धकार चला जाता है, यह भी ठीक उसी प्रकार की स्थिति है। चित्त की चंचलता सम्भूत होती है रजोगुण से। महाप्रकाश के उदय से रजोगुण भी अपसृत हो जाता है। चित्त में चांचल्य का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। चांचल्यशून्य चित्त में निरावरण प्रकाश आविर्भूत होता है। तब सब कुछ नित्यवर्तमान रूप से उपलब्ध होता है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि यह उपलब्धि 'अहं' रूप से न होकर 'इदं' रूप में होती है। इस समय जो अवस्था अभिव्यक्त होती है, वह महासृष्टि के भी अतीत की स्थिति है। इसे शास्त्रों में पूर्णाहन्ता कहा जाता है।

काल एवं महाकाल स्वरूपतः एक हैं फिर भी दोनों में पार्थक्य है। जगत्परिणाम के मूल में कालशक्ति क्रियारत है। प्रकृति में परिणामशीलता है, अतः सृष्टि की धारा द्वारा नियन्त्रित है। पातंजल दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि प्रकृति परिणामिनी है। परिणाम दो प्रकार के हैं सदृश एवं विसदृश। गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृति का निजस्वरूप है। वैषम्य से सृष्टि का उदय होता है। लय के तीनों गुण अपने-अपने रूप में लीन होकर सदृश परिणाम को प्राप्त होते हैं। प्रकृति का परिणाम स्वभावसिद्ध है तथापि गुणों का पाककर्म कालसापेक्ष है। गुणपाक के अभाव में विसदृश परिणाम अथवा तत्त्वान्तर परिणाम घटित नहीं होता। यदि तत्त्वान्तर परिणाम की सम्भावना नहीं हो, वैसी स्थिति में सृष्टि का उदय असम्भव होगा। सृष्टि के मूल में कर्म-संस्कार अवश्य है, तथापि अपक्व संस्कार से सृष्टि नहीं हो सकती। इसके लिए काल अपेक्षित है। महाभारत में उक्ति है—'कालः पचति भूतानि'।

तत्त्वान्तर परिणाम तीन प्रकार के हैं—धर्म, लक्षण एवं अवस्था। प्रकृति है धर्मी। वह जब धर्म रूप में परिणत होती है, तब यह होता है प्रथम परिणाम। तत्पश्चात् कालरूपी लक्षणपरिणाम आ जाता है। इसके तीन लक्षण हैं—अतीत, अनागत एवं वर्तमान। इसे त्रिकाल कहा जाता है। इस प्रकार धर्म सर्वप्रथम लक्षणपरिणाम में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् अनागत धर्म प्रवेश करता है वर्तमान रूप की परिणति में। यह परिणति होती है कारणव्यापार द्वारा। अकृत्रिम रूप में इसे स्वभाव कहते हैं। अनागत अवस्था में जो सत्ता वर्तमान रहती है, वर्तमान अवस्था में वही सत्ता रह जाती है। तथापि यह सत्ता अनागत अवस्था में अव्यक्त रहती है। कारणादि अभिव्यंजक द्वारा अभिव्यंजित होने पर वह वर्तमान रूप में स्थिति-लाभ करती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कारणव्यापार अनागत सत्ता को अभिव्यक्त कर वर्तमान रूप में परिणति प्राप्त अवश्य करता है किन्तु वह मात्र धर्मसत्ता को अव्यक्त अवस्था से व्यक्त नहीं कर पाता। धर्म परिणाम-काल में जब तक काल से युक्त नहीं होगा, तब तक वह अनागत लक्षण परिणामरूप नहीं हो सकता। लक्षण परिणामावधि वस्तु की व्यापक सत्ता है। वह परिणामशीला होने पर भी जब तक अव्यक्त है, तब तक उसमें क्षणिकपरिणाम का उदय नहीं होता। वर्तमान लक्षण में प्रतिक्षण परिणाम सम्भव होता है। यह है अवस्थापरिणाम। अतीतलक्षण में क्षणिक परिणाम का सन्धान नहीं मिलता। कालक्रम का अवलम्बन लेकर परिणाम अपना कार्य सम्पादित करता है। इस क्रम के द्वारा पूर्वापर का ज्ञान घटित होता है। वास्तव में यह क्रम क्षणक्रम ही है। योगी के अतिरिक्त इसे कोई समझ नहीं सकता। योगदृष्टि से काल है बौद्धपदार्थ। बुद्धि के बाहर काल नहीं है, वहाँ क्रम है। क्षणक्रम के अनुसार काल में परिणाम व्याप्त होता है। क्षण और उसके ऊपर योगीगण विवेकज ज्ञान-प्राप्त करते हैं। विवेकज ज्ञान विवेकज्ञान नहीं है। यह है अनौपदेशिक प्रातिभज्ञान। इस प्रातिभज्ञान का उदय होने पर त्रिकाल का पूर्ण ज्ञान प्रकाश पाता है, जिसमें कोई क्रम नहीं है। यह शब्दजनित ज्ञान नहीं है। अतः इसमें क्रम का प्रश्न नहीं उठता।

●

सृष्ट तथा तांत्रिक आयाम

तांत्रिक दृष्टि के अनुसार काल एवं महाकाल में पार्थक्य है। पूर्णत्व के मार्ग में आरोहण करने पर काल-राज्य का भेद करके महाकाल-राज्य में प्रवेश होता है। तत्पश्चात् महाकाल का भेद करके पूर्ण अखण्डराज्य में प्रवेश प्राप्त होगा। जिस प्रकार महाप्रलय का विवरण सुना जाता है, उसी प्रकार महासृष्टि का भी विवरण शास्त्रों में उपलब्ध है। महासृष्टि में अतीत, अनागत एवं वर्तमान संक्रान्त कोई भी भेद नहीं है। अनन्त सृष्टि की समग्र सत्ता वहाँ प्रकाशित है नित्यवर्तमान रूप से। वहाँ अनन्तसृष्टि इदम् रूप से प्रकाशमान है, अहमूरूप से नहीं। साधक वहाँ कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है। वहाँ अभाव का लेशमात्र नहीं है। वहाँ अतीत भी वर्तमान रूप है, अनागत एवं वर्तमान भी वर्तमान रूप से स्थित है। हमारा यह विश्व अवस्थित है काल-राज्य में। जिसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है वह काल के अधीन है, क्योंकि वहाँ सृष्टि, स्थिति एवं संहार है। इनकी संख्या अनन्त है। ब्रह्माण्ड की समष्टि से प्रकृत्यण्ड की सृष्टि हुई है। प्रकृत्यण्ड असंख्य हैं। वहाँ भी सृष्टि स्थिति एवं संहार है। समस्त प्रकृत्यण्ड की समष्टि मायाण्ड है। समस्त मायाण्ड असंख्य एवं एक प्रकार के हैं। यहाँ भी सृष्टि, स्थिति एवं संहार की क्रीड़ा विद्यमान है। मायाण्ड के ऊर्ध्व में शाक्त्यण्ड की स्थिति है। वहाँ काल-गति अन्य प्रकार की है। वहाँ निम्नस्तर की भाँति सृष्टि, स्थिति एवं संहार नहीं है, तथापि एक प्रकार से है भी।

काल की आलोचना करने पर सृष्टि और संहार की प्रासंगिक आलोचना आवश्यक है। सर्वप्रथम संहार का वर्णन करता हूँ, क्योंकि संहार के पश्चात् ही सृष्टि का उन्मेष बुद्धिगत होता है। प्राचीन आचार्यगण प्रलय को चार भागों में विभक्त करते हैं। यह आपेक्षित भाव है। प्रथम है नित्य प्रलय, द्वितीय नैमित्तिक, तृतीय प्राकृतिक एवं चतुर्थ है आत्यन्तिक प्रलय अथवा मोक्ष। नित्य प्रलय सर्वदा एवं सर्वत्र सूक्ष्मभावेन हो रहा है। निद्रा की अवस्था भी एक प्रकार का प्रलय है। समग्र जगत् में निरन्तर इस प्रकार का प्रलय घटित हो रहा है। नित्य प्रलय जगत् की विनश्वरता का प्रमाणरूप है। इस ब्रह्माण्ड के अधिपति का नाम है ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ। श्रुति के अनुसार इनकी आयु है सौ दिव्य वर्ष। जिसे हम ब्रह्माण्ड मानते हैं वह इन्हीं की देह है। आयु-समाप्ति के साथ ब्रह्मा की देह समाप्त हो जाती है। इसे भी महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलय के अनन्तर ब्रह्मा जीवन्मुक्त स्थिति में अवस्थान करते हैं। परब्रह्म के साथ तादात्म्य-लाभ करते हैं। वे समस्त ब्रह्मलोकवासियों के साथ

ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। महाप्रलय के पश्चात् अभिनव सृष्टि में एक अन्य ब्रह्मा कारण बनते हैं। यह अनादिकाल से होता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। ब्रह्माण्ड का यह ध्वंस प्राकृतिक प्रलय है। प्रचलित भाव में यही है महाप्रलय। प्राचीन जगत् का अवसान होकर नवीन जगत् का अभ्युत्थान इसी प्रकार होता है। ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होने पर जो प्रलय होता है, वह है नैमित्तिक प्रलय। यह आंशिक एवं पूर्ण दो प्रकार के भेद से होता है। आचार्यगण कहते हैं कि एक-एक मन्वन्तर के पश्चात् आंशिक प्रलय होता है। ब्रह्मा का एक दिन ही कल्प है। कल्पावसान में जो प्रलय घटित होता है, वह है कल्पप्रलय। एक कल्प अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनुओं का आविर्भाव-तिरोभाव हो जाता है। एक-एक मनु के तिरोभाव से एक-एक प्रलयावस्था का उदय होता है। मन्वन्तरप्रलय आंशिक प्रलय है और कल्पप्रलय व्यापक। दिनान्तर में जब ब्रह्मा सुप्त हो जाते हैं, तब समस्त जगत् सुप्तावस्था में निमग्न रहता है। इस समय भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक दग्ध हो जाते हैं। महार्लोक के ऋषिगण ताप से तापित होकर जनलोक में गमन करते हैं। तत्पश्चात् त्रिलोकी जलमग्न हो जाता है। उस समय ब्रह्माण्ड की प्राणशक्ति का आकर्षण कर भगवान् विष्णु शेष-शैय्या पर शयन करते हैं। यही है उनकी योगनिद्रा।

नित्यप्रलय एवं आत्यन्तिकप्रलय संश्लिष्ट है। पिण्ड से, किन्तु नैमित्तिकप्रलय एवं महाप्रलय का सम्बन्ध है ब्रह्माण्ड से।

सृष्टि, स्थिति तथा संहार काल के अधीन है। जन्म-मृत्यु तथा स्थिति भी काला-धीन ही है। इसके साथ मनुष्य का कर्मगत सम्बन्ध रहता है। कर्मानुसार आयु का विचार होता है। आयु के अनुसार कर्मफल का भोग करना होगा। जब तक भोग पूर्ण नहीं हो जाता तब तक भोगायतन देह धारण करके भोग भोगना ही होगा। भोग पूर्ण हो जाने पर भोगायतन देह निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर स्वकीय कर्मानुसार गति प्राप्त होती है। यह गति नाना प्रकार की हो सकती है। अधोलोक अथवा ऊर्ध्वलोक की ओर उन्मुख हो सकती है। इससे छुटकारा नहीं मिलता। जैसे-जैसे जन्म प्राप्त होता है, वैसे-वैसे उस-उस जन्म में मृत्यु का भी ग्रास बनना पड़ता है। पहले भी जन्म एवं मृत्यु का चक्र चल चुका है और भविष्य में भी चलता रहेगा। यह परम्परागत है, तथापि यह चक्र कब से प्रारम्भ हुआ था, इसका सन्धान ही नहीं मिलता। अतः यह अनादि है। सृष्टि अनादि है, स्थिति अनादि है तथा काल भी अनादि है। इसके आदि को खोज पाना सम्भव ही नहीं है। वास्तविक स्वरूप भी अनादि है, तथापि उसका काल से सम्बन्ध नहीं रहता। जब तक कर्म-सम्बन्ध है, तब तक काल-सम्बन्ध रहना अवश्यम्भावी भी है। कर्म के प्रभाव से ऊर्ध्व, मध्य अथवा अधोलोक में गति प्राप्त होती है। स्वर्ग अधः तथा ऊर्ध्व रूप से दो प्रकार का है। इन्द्रादि देवसमूह अधःस्वर्ग में स्थित रहते हैं। कर्मफल भोगार्थ अधःस्वर्गों में गति

प्राप्त होती है। ऊर्ध्वस्वर्ग में ज्ञानकर्म का समुच्चय फल परिलक्षित होता है। अर्थात् वहाँ कर्म का ज्ञान से सम्बन्ध हो चुका है। जिस प्राणी में कर्म के साथ-साथ ज्ञान का उदय हो जाता है, उसे ऊर्ध्व स्वर्गों में गति प्राप्त होती है। महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक ही ऊर्ध्व स्वर्गरूप है। ऊर्ध्व स्वर्गगति के अन्त में सत्यलोक-प्राप्ति होती है, जहाँ जाने पर जीवन्मुक्त स्थिति आयत्त हो जाती है। पराज्ञान, पराशक्ति, पराभाव का अन्त होने पर वास्तविक मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। जब तक ब्रह्माण्ड में स्थिति रहती है, तब तक भ्रमण चलता ही रहेगा। स्वरूपावस्था प्राप्त होते ही यह भ्रमण समाप्त हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि बिना गये ही जाना सम्पन्न हो गया! अर्थात् 'मैं' का स्फुरण होने पर यह अवस्था प्राप्त हो जाती है कि एक स्थान पर बैठे रहने पर भी सर्वत्र अपनी उपस्थिति का अनुभव होता रहता है। मनन से, विचार से, इस अवस्था को सोचा भी नहीं जा सकता। यह अवस्था ऐसी है जिसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि 'मैं कहीं भी नहीं हूँ, अथच सर्वत्र हूँ। मैं केन्द्रस्थ हूँ'। इस स्थिति के वर्णन का उपक्रम मात्र कल्पना का ही उपक्रम सिद्ध होगा। इसकी धारणा करना ही सम्भव है, यद्यपि वह भी कृपासापेक्ष है। इस एक स्थिति से ही समस्त वागाडम्बर का समाधान हो जाता है।

यह स्थिति जीवन्मुक्त स्थिति है। प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या इस स्थिति में संस्कार शेष रह जाता है? संस्कार का तात्पर्य है स्मृति। स्मृति में विश्वजगत् के समस्त दृश्य समाहित हो सकते हैं। विश्व का समाचार एकत्रित हो सकता है। संस्कार में स्मृति रहती है, क्रिया नहीं रहती। जीवन्मुक्त इस विशाल संस्कार दृश्य को देखकर भी, कहीं पर भी उससे युक्त नहीं होता। वह अच्छा-बुरा सबकुछ देखता है, तथापि वह इन दोनों से अतीत रहता है। समस्त रुचि उसी की रुचि है, अथच वह किसी रुचि से सम्पृक्त नहीं रहता। जिस देह में रहते-रहते उसमें जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त की है, उस देह के संस्कार देहावस्थान-काल में कार्यरत रहते हैं। जीवन्मुक्त इन संस्कारों में आबद्ध नहीं होता। देह रहते-रहते ही देहातीत स्थिति प्राप्त हो जाती है। अब 'देह है' यह भी नहीं कहा जा सकता और 'देह नहीं है' यह भी कहना सम्भव नहीं है। 'है' और नहीं है' इन दोनों से अतीतअवस्था प्राप्त हो जाती है। इसी बिन्दु पर समर्पण होता है। इस उच्चावस्था के अनन्तर ही समर्पण सम्पन्न हो सकता है। समर्पण के अनन्तर वह साकार (देहयुक्त) भी नहीं है, और निराकार (देहरहित) भी नहीं है। अथवा वह साकार भी है और निराकार भी है। वह किसी एक अवस्था में आबद्ध नहीं है। अतः वह सबकुछ है। साकार-निराकार में भी है। इस अवस्था से अतीत अवस्था में साकार भी है और निराकार भी है। दोनों है, तथापि दोनों में कोई क्रिया नहीं हो रही है। यही वास्तविक अवस्था है। प्राथमिक समर्पण देहस्थिति में

होता है, परन्तु चरम समर्पण के क्षण में देह रहती भी है और नहीं भी रहती। यही निष्कलावस्था है। इस कालातीत अवस्था में 'देह है' यह भी नहीं कह सकते और देह नहीं है यह भी नहीं कह सकते। भगवत् कार्यवश वहाँ से देह का आविर्भाव भी हो सकता है। बाह्य दृष्टियुक्त जीव इस रहस्य का अवलोकन कर सकने में सक्षम नहीं हैं। वे स्वाधिकार से अतिरिक्त देख ही नहीं सकते। जिसका जो भाव रहता है, वह वैसा ही देखता है। जहाँ कोई भाव कार्यरत नहीं है, उसे निरञ्जन तथा भावातीत स्थिति कहा जाता है। यह स्थिति भाव से आबद्ध नहीं है। समस्त भावों की समवेत क्रीड़ा यहाँ चलती रहती है। इसे सर्वभाव अवस्था कहते हैं। समस्त ज्ञान, समस्त भक्ति तथा समस्त भाव- समूह की क्रीड़ा इस स्थिति में चलती रहती है। व्यक्तता तथा अव्यक्तता, दोनों रह सकती है। यही स्वातन्त्र्य है। आत्मस्वरूप सदा विद्यमान है। वह क्रीड़ार्थ जैसा चाहता है, वैसा बन जाता है।

जीवन्मुक्त ही जीवन्मुक्त को पहचान सकता है। जो स्वयं मुक्त नहीं है, वह मुक्त पुरुष को कैसे पहचानेगा? केवल मात्र व्यक्ति की आकृति देखकर सन्धान नहीं मिलता। कौन किस भाव में है, यह ज्ञात करने के लिए, उसके भावजगत् में अनुप्रविष्ट होना आवश्यक है। जीवन्मुक्तावस्था, पूर्णावस्था अथवा इनसे भी अतीतअवस्था की प्राप्ति भाग्यवान को होती रहती है। जीवन्मुक्त के सभी कृत्य भगवदाराधन ही कहे जाते हैं। यही यथार्थ समाधि है। इसकी प्राप्ति आत्म-समर्पण से होती है। विश्वास के अभाव में समर्पण हो ही नहीं सकता। विश्वास द्वारा सरल पथ की प्राप्ति होती है। सरल पथ पर आरूढ़ होने पर सत्य का आकर्षण खींचने लगता है। यहाँ तर्क-वितर्क विचार प्रभृति का कोई स्थान ही नहीं है, प्रमाणादि की भी आवश्यकता नहीं है। अन्तःकरण ही प्रमाणरूप हो जाता है। यही सरल पथ का प्रभाव है। शिशु के समान सरल होने पर तत्त्व का सहज साक्षात्कार हो जाता है। सरल एवं अकृत्रिम शिशु भावावस्था में भगवत्-कृपा स्वयमेव प्राप्त होती है। भगवत्-प्राप्ति का अर्थ है भगवान् के प्रति स्वबोध का, निजबोध का अनुभव। यही है, भगवान् को प्राप्त करना। भक्त उन्हें प्राप्त करता है। ज्ञानी भी उन्हें प्राप्त करता है। यह एक ही स्थिति है, तथापि दोनों की प्राप्ति में मात्र कोणगत् अन्तर है। यह अन्तर अन्तर्दृष्टि में ही उद्भासित हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राप्ति के लिए यथार्थ आधार तथा योग्यता की आवश्यकता है। इस कारण प्रथमतः प्राप्ति कराकर तदनन्तर शिक्षण, तथा अभ्यास के द्वारा योग्यता का संचार कराया जाता है। यह उसी के साथ सम्भव होता है जिसका आधार यथार्थ तथा पक्व रहता है। एक बुद्धिमान बालक है। अभिभावक सर्वप्रथम उसे योग्य शिक्षक की प्राप्ति कराते हैं। तदनन्तर शिक्षक उसे विद्वान् बनाते हैं। यह दृष्टान्त लौकिक है, तथापि प्राप्ति के क्षेत्र में यह अपने आप भी घटित हो सकता है। अर्थात् स्वयं के अन्दर भगवत्-सत्ता का

स्वयमेव प्रकाशन भी हो सकता है। अभ्यासजनित प्रक्रिया की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस प्रसंग में सिद्धमाता का प्रसंग ज्ञातव्य है। वे श्रीकृष्ण के उपासना-काल में उपवास करती थीं। एक दिन कृष्ण सम्मुख आये। कहा, 'तुमने भोजन क्यों नहीं किया'। सिद्धि माँ ने उत्तर दिया, 'मैं उपवास करूँगी'। श्रीकृष्ण बोले, 'मुझे कष्ट दोगी? अच्छा मुझे खिलाकर पेट भरो।' सिद्धि माँ ने आदरपूर्वक भोजन कराया। अब भोजनोपरान्त कृष्ण कहते हैं, 'तुम प्रसाद भक्षण करो, यही तुम्हारा उपवास है'। यह कथा विचारणीय है। इसी प्रकार जगन्नाथपुरी में स्त्रीवर्ग को एकादशी व्रत नहीं करना पड़ता। यहाँ भी यही उदाहरण चरितार्थ होता है। स्वयं कुछ न करने पर भी समस्त क्रियायें स्वतः हो जाती हैं। भोजन करने पर भी उपवास का फल प्राप्त होता है अर्थात् उपवासजनित जो तेज निर्मित होना था, वह स्वतः निर्मित हो जाता है। यह है स्वयं के अन्दर स्वयं का घटित होना। श्रीकृष्ण सिद्धि माँ को बहुत चाहते थे। उन्हें अद्वैत के अन्दर नहीं जाने देते थे। जब सिद्धि माँ अद्वैत में अग्रसर होतीं, श्रीकृष्ण कहते, 'मुझे कष्ट मत दो। मुझे कष्ट हो रहा है।' वे इतना अधिक चाहते थे सिद्धि माँ को। उन्होंने बतलाया कि जिस अवस्था में हो, वहीं पर सब है। सब ही सत्य है। उन्हें उपदेश दिया फलतः सिद्धि माँ के मुख से कविता का प्रस्फुटन देखा गया, जब कि वे निरक्षर थीं। शरीर के ऊपर अपने आप मंत्रादि लिखा हुआ दृष्टिगोचर होने लगता। यह सब मैंने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा है। भगवान् की लीला अपूर्व होती है। उसे सर्वसाधारण के सम्मुख कहा भी नहीं जा सकता। सिद्धि माँ जब सोती थीं, तब अकेली नहीं रहती थी। उस समय वे काली-उपासना कर रही थीं। सब समय उनके साथ एक ही शय्या पर देवी काली भी सोतीं! ऐसा कहीं नहीं सुना गया। यह एक दिन की वार्त्ता नहीं है। इसे अनेक दिन देखा गया है। भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न होने पर उन्हें मनुष्य से भी अधिक अपना बना लिया जाता है। इतने पर भी भगवान् तो भगवान् ही रहते हैं। उनका पूर्णत्व नष्ट नहीं होता।

यह सब अत्यन्त ऊर्ध्वस्तरीय व्यापार है। आवश्यक है, संस्कार से मुक्त होना। एक संस्कार से एक प्रकार का भावारोपण होता है, अन्य संस्कार से अन्य प्रकार के भाव का आवेश होता है। उदाहरण के लिए, बहुत वर्षों जब ब्रह्मसमाज की सभा में तर्क सुनता, तब घर आकर उस पर घण्टों विचार करता। उस समय वैसा ही संस्कार था और वैसा ही भाव। अब उस तर्क का कोई मूल्य नहीं है। सबका मूल्य है, अथवा कोई मूल्य नहीं है। तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करना होगा। यही यथार्थ है। शब्द को लेकर तर्क, वितर्क, वितण्डा चलता है। निराकार ब्रह्म आराधक हैं। तब भी उनका चरण-स्पर्श करने को कहते हैं, निराकार का चरण कैसा? तथपि चरण का भाव न रखने से उनका पूजन कैसे होगा? अतः अनेक-अनेक स्तरों की विद्यमानता सिद्ध हो जाती है। सभी स्तर संस्कार एवं भावजनित हैं। सभी स्तरों का

सम्यक्ज्ञान आयत्त करने के लिए सम्यक् द्रष्टा-भाव का संचार होना आवश्यक है। देहाभिमान की स्थिति में द्रष्टत्व की अवस्था नहीं आ सकती। अतः देहाभिमान की निवृत्ति के अनन्तर द्रष्टत्व की स्थिति आती है, तदनन्तर स्वयं का स्वयं से मिलन होता है। यथार्थ द्रष्टत्व ही आत्मसमर्पण कहा जाता है। द्रष्टत्व की स्थिति में जो प्रत्यक्ष होता है, वही सत्य है। यथार्थ द्रष्टत्व का उदाहरण देता हूँ, मैं सूर्य को नहीं देख रहा हूँ, अथच देख रहा हूँ, अर्थात् जिसे देख रहा हूँ, उसके सम्बन्ध में किंचित् भी विचार का उन्मेष नहीं है, तब भी देख रहा हूँ। विचार का उन्मेष होते ही द्रष्टत्व समाप्त हो जाता है। यही संस्कार है। देख रहा हूँ, तथापि विचारोदय नहीं है, निरपेक्ष भाव से देख रहा हूँ। यह होते ही सूर्य तथा मेरा मिलन हो जायेगा। अब मैं ही सूर्यरूप हूँ। अतः सूर्य को नहीं देख सकता। अब जिसे देखूँगा, वह सूर्य नहीं है। कारण, मैं ही तो सूर्य हूँ। अब जो भी देखूँगा वही 'मैं' हूँ।

●

योगत्रयानन्दजी का उपदेश

हरिवंशपुराण में उल्लेख है कि रुद्र अग्निमय हैं, विष्णु सोमात्मक हैं। स्थावर, जंगम जगत् अग्निषोमात्मक है[1] जो विष्णु हैं वे ही रुद्र हैं, जो रुद्र हैं, वे ही पितामह हैं। एक ही मूर्ति रुद्र, विष्णु तथा पितामह-रूप से सृष्टि-स्थिति-लय का सम्पादन कर रहे हैं। ये ही पर्जन्यरूप से वर्षण करते हैं, ये ही वायुरूप से प्रकाशित होते हैं। ये ही सूर्यरूप हैं। तीनों में अन्योन्याश्रयत्व है। मुख्य विष्णु तथा शिव हैं। ये दोनों नित्यसम्बद्ध हैं। [2]योगवाशिष्ठ के अनुसार उष्णात्मक तेज अर्क है या अंग्नि है। शीतात्मक तेज सोम है। इस अग्नि तथा सोम से ही जगत् सृष्ट हुआ है। जिस अग्नि और सोम से जगत् सृष्ट है उसका स्वरूप क्या है? ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के कार्यरूप से तथा पारस्परिक कारणरूप से अवस्थित हैं। उभय एक-दूसरे को पर्याय-क्रम से [3]अभिभूत करने के लिए सचेष्ट हैं।

कभी अग्नि की जय होकर सोम की पराजय होती है, तो कभी सोम की विजये से अग्नि पराभूत हो जाता है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी ऐसा ही कुछ मानते हैं।[4] ऋग्वेद, शतपथ, प्रश्नोपनिषद्, मैत्र्युपनिषद् में इन पदार्थद्वय का स्वरूप विशद रूप से वर्णित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि जड़विज्ञान ने अग्नि तथा सोम को ही जगत् का कारण माना है। जड़विज्ञान जड़ है, अतएव उसने अग्नि तथा सोम का जड़रूप ही लक्षित किया है। वह अग्नि तथा सोम के अभ्यन्तर में स्थित चिन्मय पुरुष को नहीं देख सका है। जड़विज्ञान में जो मैटर तथा एनर्जी है, वह अग्नि तथा

---

1. 'रुद्र मग्निमयं विद्याद्विष्णुः सोमात्मकः स्मृतः। (हरिवंश)
अग्निषोमात्मकं जैव जगत् स्थावर जङ्गमम्'।
2. एते चैव प्रवर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च। (हरिवंश)
........तस्माद् एकत्वमायातौ। रुद्रोपेन्द्रौ तु तौ पुरां ॥
3. 'अग्निषोमौ मिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते। (योगवाशिष्ठ)
पर्यायेण समं चेतौ प्रतीयेते परस्म्परम्।।'
4. "It has been observed with reference to heat thus viewed, that it would be as correct to say, that is observed, or cold produced by motion, as that heat is produced by it. This difficulty ceases when the mind has been accustomed to regard heat and cold as themselve motion, i.e. as corelative expansions and constractions, each being evidenced by relation and being inconceivable as an abstraction"-(Correlation of Physical Forces, p. 68 by Grove).

सोम से भिन्न है। श्रुति ने अग्नि तथा सोम को यथाक्रम से आनन्द-अन्न, प्राण-रयि, भोक्तृ-भोग्य आदि संज्ञा से अभिहित किया है। सत्व, रज, तमात्मक प्रकृति भोग्या है और चिन्मय पुरुष भोक्ता है। उक्त है—

तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषोऽन्तस्थः। (मैत्र्युपनिषद्)

ज्ञान तथा क्रियाशक्ति सम्मूर्च्छित प्रकृति का आद्यविकार आद्यपरिणाम महत्तत्त्व है, उसके साथ विशेषान्त[1] को अन्न या सोम कहा गया है। पाश्चात्य विज्ञान यदि जड़वादी नहीं होता, यदि वह वेद शास्त्रोपदिष्ट अग्नि सोम का (प्रकृति-पुरुष) यथार्थ स्वरूप लक्ष्य करने में समर्थ होता, तभी वह पूर्ण विज्ञान हो सकता था। ऐसी स्थिति में वह अग्नि-सोम के अन्तस्थः पुरुष हरि-हर अथवा शिव-राम का साक्षात्कार कर सकने में समर्थ होता। उसे इन पदार्थद्वय के अन्तःस्थ चैतन्य पुरुष के अस्तित्त्व में अविश्वास नहीं होता। जब तक साक्षात्कारात्मक विशुद्ध सत्यज्ञान का विकास नहीं हो जाता, तब तक कोई पूर्ण आनन्द का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि वैज्ञानिकों को यह उपलब्धि हो चुकी है कि परिणाम चक्र की परिसमाप्ति होती है, तथापि उन्हें यह अनुभव नहीं है कि अग्नि-सोम (शिव-राम) के अभेद दर्शन के अभाव में परिणामचक्र की समाप्ति हो सकना असम्भव है। जगत् अग्निषोमात्मक है। प्राण तथा रयि स्थलजगत् के उपादान कारण हैं। अग्नि तथा सोम भोक्तृ तथा भोग्य शक्ति के वाचक हैं। विश्व जगत् हरिहरात्मक (अग्निषोमात्मक) है। एक ही महासत्ता त्रिधा होकर विश्वसृष्टि, स्थिति तथा लय का कार्य करती है। क्या इन वेदमूलक शब्दों से मनुष्य कृतार्थ हो सकेगा? कदापि नहीं। वैखरी शब्द द्वारा किसी भी पदार्थ का तत्त्वज्ञान सम्भावित नहीं है। वैखरी शब्द द्वारा मात्र वैकल्पिक ज्ञान होता है। ऋग्वेद संहिता[2] में अग्नि तथा सोम के स्वरूप-निर्णयार्थ जो कुछ अंकित है, आधुनिक विज्ञान उससे अधिक नहीं कह सकता। वैज्ञानिक मोटर-मोशन, मैटर-एनर्जी-स्पिरिट आदि से जिस पदार्थ को लक्ष्य करते हैं, वह अग्नि-सोम ही है। वेदोक्त अग्निसोम, उपनिषदोक्त अग्निसोम, प्राण-रयि, पुराणोक्त अग्नि-सोम, ब्रह्मा-विष्णु-शिव, उमा गौरी, सीता-राधा, गायत्री-सावित्री, प्रकृति-पुरुष, भोतृ-भोग्य भी स्वरूपतः भिन्न नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार अखिल देववर्ग भी अग्निसोमात्मक ही हैं। अतः हरि-हर का एकत्व भी वेदोक्त तथ्य है। प्राण का एक अंश अग्नि, तेज, आलोक, सूर्य, चन्द्र आदि रूप से, द्वितीय अंश सोम, जल, पृथ्वी, आदि भोग्यरूप से आविर्भूत हैं। ये दोनों पारस्परिक क्रिया द्वारा जगत्सृष्ट करते हैं[3] रुद्रहृदय उपनिषद् के अनुसार रुद्र सर्वदेवात्मक हैं। सभी देवता शिवात्मक हैं। रुद्र

1. 'विशेष'—हमारे लिए प्रत्यक्षयोग्य पृथिव्यादि भूतसमूह 'अन्त'—शेष पर्व समाप्ति= विशेषान्त।
2. ऋग्वेद संहिता, मण्डल 2, सूक्त 40
3. ऋग्वेद, मंडल 1, सूक्त 931

के दक्षिण पार्श्व में रवि, ब्रह्मा तथा अग्नि हैं, वाम में उमा, विष्णु तथा सोम हैं।[1] वेद ने रयि तथा प्राणरूप पदार्थद्वय को यथाक्रम से आदित्य (सूर्य, अग्नि) तथा चन्द्रमा (सोम) कहा है।[2] मूर्तपदार्थ मात्र ही रयि है। अमूर्त पदार्थ भोक्ता है। दृश्य की इष्टानिष्टरूप से उपलब्धि को भोग कहते हैं।[3] जो अपरिणामी है, जिसका विश्लेषण करने से एकाधिक पदार्थ नहीं मिलते, वह भोक्ता है, वही ज्ञाता है, वही द्रष्टा है। अतः असंग चिन्मय पुरुष ही भोक्ता, ज्ञाता तथा द्रष्टा है। प्रकृति अथवा जो कुछ प्राकृत है, प्रकृतिसम्भूत है, प्रकृति का कार्य है, वह भोक्ता नहीं है।

यदि अग्नि तथा सोम को समझना है, तब वेदाश्रय लेना ही होगा। पाश्चात्य विद्वानोक्त मैटर तथा एनर्जी के वर्णन से उन्हें समझ सकना असम्भव है। क्योंकि पाश्चात्य विद्वान् अभीतक मैटर तथा एनर्जी के सन्दर्भ में निश्चित सिद्धान्त का वरण नहीं कर सके हैं। सर विलियम कूपर का कथन है कि—'50 वर्ष पूर्व जड़वाद अथवा प्रकृतिवाद ही स्वतः परितोषजनक संशय-निवारक (Self Satisfying Theory) था। वैज्ञानिक यह मानते थे कि केवल मैटर द्वारा ही सर्व प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती है। आज स्पिरिट नामक पदार्थ का भी अस्तित्त्व माना जाने लगा है। वे आज यह मानने लगे हैं कि मैटर स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है। वह स्वतन्त्ररूपेण कोई भी कार्य नहीं कर सकता। वह किसी प्रकृष्ट शक्ति द्वारा नियमित है। सर ओलिवर लाज, फ्लामेरियन आदि ख्यातनामा वैज्ञानिक एवं विचारक अदृष्ट, नियतकर्मकारिणी, विद्यमान, सर्वनियामिका तथा मैटर के अन्दर प्रवेश सामर्थ्यवान शक्ति का अस्तित्त्व मानने लगे हैं। फ्लामेरियन कहते हैं हम जिसे मैटर कहते हैं, वह वैज्ञानिक विश्लेषण की सूक्ष्म अवस्था में अदृश्य हो जाता है और उस क्षण विश्व को आधारभूत सर्वकार्य कारण समर्थ स्पन्दनात्मिका नित्य प्रवृत्तिमयी शक्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वह शक्ति क्या है? इस सन्दर्भ में उनकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकी है।[4] जर्मन वैज्ञानिक कहते हैं

---

1. 'सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाशिवात्मकाः।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्नयः।।
वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः।
या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स हि चन्द्रमाः।।'
2. 'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा' (प्रश्नोपनिषद्)
3. 'दृश्यस्य स्वरूपोपलब्धिर्भोगः।'
'इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणं भोगः' (योगसूत्रभाष्य)
4. Fifty years ago, Materialism, or Naturalism was the self satisfying theory, the scientists were prone to believe that matter, is itself, offered a complete explation of existence. Today then is hardly a man working in the physical laboratory who denies the independent existence of spirit in this short period physicists have learned that matter, instead of

कि, 'सिवाय नित्यभूत भौतिक शक्ति के मैं किसी अतीन्द्रिय पदार्थ का अस्तित्त्व नहीं मानता। जो इन्द्रियातीत पदार्थ के अस्तित्त्व को मानते हैं, वे मूर्ख हैं। 'कालान्तर में इन्हीं की उक्ति है कि, 'मैटर स्पिरिट के बिना तथा स्पिरिट मैटर के बिना नहीं रहता।' मैटर अनन्तरूपेण व्याप्त पदार्थ है। स्पिरिट या एनर्जी बोधात्मक, मननशील, प्रेक्षापूर्वकारी पदार्थ है।[1] मैटर तथा मोशन (भूत एवं स्पन्दन) कभी पृथक् होकर नहीं रह सकते। प्रकृति ही निद्रितरूपेण पाषाण में है। उद्‌भिज (वनस्पति) में, स्वप्नावस्था में तथा मनुष्य में जाग्रदावस्था में विराजित रहती है।[2]

जो महाचिन्मय होने पर भी बृहत् पाषाणवत् स्थित है, जो जड़ किंवा जड़ का अन्तःस्वरूप है, अर्थात् वस्तुजात के, जड़ चेतन के अन्तर्बहिर्देश में जो चैतन्य व्याप्त है, वही परमात्मरूप है।[3] प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रजः, स्थितिशील तमः, कभी भी पृथक् रूप से अवस्थान नहीं कर सकते। ये

---

dominating, is dominated by some Superior Force, and right down the ranks of the learned, there is to be observed a feeling of expectancy and belief in further important and standing revelations.

Sir William Crooks, Sir Oliver Lodge, Flammarion, the great French scientist, and score of equally famous men in very civilised country in the world, recognising this unseen, ever working, all compelling power above, behind and surrounding and interpenetrating matter, are in true, ever watching and investigating it in the hope of tracing it to its source and, by nothing the effect of its operation, of applying it eventually to the practial uses of life. In connection herewith Flammarion says, "what we call 'matter' vanishes when scientific analysis thinks to grasp it. But find as the suport of the universe and the origin of all From, Force, Dyamic element."

(*Spiritual Science*, by Sir W.E. Cooper, page 13)

1. "On the countrary, we hold with Geothe that "matter cannot exist and be operative without spirit, nor spirit without matter". We adher firmly to the pure. Unequivocal monism of Spinoza. Matter, or infinity extend substance and spirit (or energy) or sensitive and thinking substance are the two fundamental attributes, or principals, properties, of the all embracing divine essence of the world, the universal substrance"

(*The Riddle of Universe*, by Haeckel. page 8)

2. "Matter and motion are never found apart. Nature sleeps in stone, dreams, in plant and wakes in Man".
3. 'यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत् स्थितम्। जडं वा जडमेवान्तस्तद्रूपं परमात्मनः'

(योगवाशिष्ठ)

अन्योन्यमिथुन वृत्तिक हैं। ये ही भूत और इन्द्रियों के ग्राह्य एवं ग्रहण के कारण हैं। ये ही दृश्य किंवा ज्ञेय भी हैं। हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा, स्पन्दन-शक्ति) जगत् की उत्पत्ति के पूर्व भी स्थित था। यही जगत् का अद्वितीय स्वामी ईश्वर है। हिरण्यगर्भ[1] ही विस्तीर्ण पृथ्वी और आकाश का स्थिर आधार है। जो आत्मद है, जो बलद है, सभी जिनकी उपासना में रत हैं, जिनका शासन अंगीकार करके चलते हैं, देवगण जिनके शासनाधीन हैं, जिनकी छाया अमृत है, जिनकी शरण लेने से अमरधाम प्राप्त होता है, जिनकी शरण के अभाव में दुःख होता है,[2] उन हिरण्यगर्भ में प्रजाकाम होकर पूर्वकल्प में, कल्यादि में तप किया था। जन्मान्तरभावित श्रुति प्रकाशित ज्ञान की पर्यालोचना की थी। श्रौत (वेद प्रकाशित) ज्ञान की पर्यालोचनारूप तप करके सृष्टिसाधनभूत रयि तथा प्राण (अग्नि-सोम) रूप युग्म का उत्पादन किया। ये दोनों बहुधा सृष्टि करें यह संकल्प किया।[3] अग्नि सोम के साथ युक्त होकर एक योनित्व को प्राप्त होता है।[4] शतपथ ब्राह्मण[5] में तथा बृहदारण्यक में अमूर्त्त तथा मूर्त्तरूप भूतसमूह का वर्णन है। उक्त श्रुति में मूर्त्तभूत को 'मूर्त्त, मर्त्य, स्थित तथा सत्' इन चार विशेषणों द्वारा विशेषित किया गया है। जो परिच्छिन्न है, जो अर्थान्तर, अन्यवस्तु का विरोधी है, वह मर्त्य है। मरणधर्मा, परिणामी है। अतः वह मूढ किंवा जड़ (Inert) है। ज़ो स्थित है, वही सत् भी है। वही विशेष्यमान विशेषतः निर्देश्य असाधारण धर्मयुक्त भी है। श्रुति ने इसी कारण उक्त चार विशेषणों का अंकन किया है। चिन्तन से ज्ञात

---

1. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। (ऋक्संहिता)
2. 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्या देवाः।
यस्याछायाऽमृतं यस्य मृत्युः।' (ऋक्संहिता)
3. 'तस्मै स होवाच प्रजाकोमो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राण चेत्येतौ में बहुधा प्रजाः करिष्य इति।' (प्रश्नोपनिषद्)
'प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृधुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सन् जगत् वक्ष्यामीत्येवं विज्ञानवान् यथोक्तरी तद्मावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजाना स्थावरजङ्गमानां पति सन् जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषय तर्पोऽन्वालोचयदतप्यत। अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौत ज्ञानमन्त्रालोच्य स सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्व मुत्पादितवान्। रयि च सोममन्नं प्राणां चाग्निमत्तारमेतावग्निषोमा.....' (शाङ्करभाष्य)
4. 'अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः।
अग्निषोमअयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम्।।'
5. 'द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्त्त चैवामूर्त्त एव च' (बृहदारण्यक)

होता है कि मूर्त्तत्वादि धर्मचतुष्टय परस्पर सम्बद्ध हैं। अव्यभिचारी हैं। मूर्त्तत्वधर्म विशिष्ट ही मर्त्य है। वह इतरपदार्थों से विशेष्यमाण असाधारण धर्मयुक्त भी है, जिसमें मूर्त्तत्वादि ही चार धर्मों में से एक धर्म है, उसमें और धर्म भी विद्यमान हैं। शतपथ तथा बृहदारण्यक ने सूर्य को मूर्त्तभूत त्रय का सारतम रस कहा है। सूर्य से ही मूर्त्त भूतत्रय की उत्पत्ति होती है। इनके विशेष विभाग भी होते हैं। जिन्होंने सूर्य-रश्मि को पृथ्वी की समस्त गति अथवा कर्म का कारण कहा है,[1] उनका इस श्रुति वाक्य से सामरस्य सिद्ध होता है। अमूर्त्तभूत द्वय (वायु एवं आकाश) अमूर्त्त होने के कारण अमृत हैं। अस्थितगतिशील हैं। अन्य वस्तु के विरोधी अथवा अन्य के द्वारा विरुध्यमान नहीं हैं। वे व्यापी हैं। मूर्त्त भूतत्रय के समान चक्षुरादि इन्द्रियगम्य असाधारण धर्म से युक्त नहीं हैं। एतरेय आरण्यक में जल तथा पृथ्वी को भोग्यभूत, तेज और वायु को भोक्तृभूत और आकाश को पृथिव्यादि चार भूतों का आवपन (आधार) कहा है।[2]

जिसे भोग किया जाता है, जो भोग का विषय है, वह भोग्य है। जो भोग करता है, वह भोक्ता है। विश्व-जगत् भोक्तृ-भोग्य का सम्बन्धात्मक है। भोक्तृ-भोग्य सम्बन्धाभाव में कोई क्रिया नहीं होती। भोक्तृ-भोग्य के सम्बन्धजनित परिणाम को हम क्रिया, कर्म, भोग आदि नामों द्वारा लक्ष्य किया करते हैं।

दर्शनशास्त्रोक्त ग्राहक-ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य, विषयी और विषय (Subject and Object) वेदोक्त अन्नाद (जो अन्न का भक्षण करते हैं) और अन्न, यथाक्रमेण भोक्तृ तथा भोग्य के ही पर्याय हैं। विश्व का तत्त्वानुसन्धान करने के लिए भोक्तृ तथा भोग्य, इन दो का स्वरूपदर्शन अवश्यमेव करना चाहिये। ऋग्वेद के अनुसार अग्नि विश्वजगत् का भोक्ता है तथा सोम भोग्य। एक अग्नि ही अग्नि-वायु तथा आदित्य के रूप से (त्रिविध रूप से) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में प्रतिष्ठित है। अग्नि या वायु को ऋग्वेद ने भोक्ता की संज्ञा से युक्त किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद ने जड़रूप अग्नि (Fire) तथा वायु (Air) को भोक्ता नहीं कहा है। वेद कहते हैं कि परमेश्वर ने माया द्वारा विश्वजगत् की सृष्टि करने के अनन्तर स्वयं सृष्टजगत् में

---

1. It is interesting to note that all or almost all energy now available has been derived at sometime or other from the Sun. Plants are enabled by means of the green pigment chlorophyll to absorb energy from the Sun's rays. Some of this energy is available for preparing the food of the plant out of carbondioxide, water, salts from the soil, The food not immediately needed is stored aways in leaves, etc. Animal feed upon this stored energy, and man upon animals and plants, so that it is virtue of solar energy that men do their work.

(*Properties of Matter*, page 52, by Wagsaff.)

2. एतरेय आरण्यक, तृतीय अभ्याय

अनुप्रवेश करके गुणभेदानुसार इसका भोक्तृ-भोग्य रूप से विभाग किया है।[1] तमोगुणाधिक्य के कारणभूतों का भोग्यरूप से और सत्त्वगुण के आधिक्यवशात् जीवगण का भोक्तृरूपेण विभाग किया है। पृथिव्यादि भूतचतुष्टय को भोक्तृभूत तथा भोग्यभूत रूप भागद्वय में विभक्त करने से अवश्य ज्ञातव्य तथ्य का प्राकट्य हुआ है।

विज्ञान ने धन तथा ऋण (Positive and Negative) रूप शब्दद्वय के व्यवहार तथा धन एवं ऋण तत्त्व की व्याख्या द्वारा प्रवृत्ति तथा संस्त्यान (Power and Resistence) का स्वरूप प्रदर्शित किया है। रसायन तन्त्र ने दाह्य-दाहकरूप शब्दद्वय के प्रयोग द्वारा जिस तत्त्व की व्याख्या की है, ऐतरेय आरण्यक ने पृथिव्यादि भूतचतुष्टय के भोक्तृ-भोग्यरूप में विभाग द्वारा उससे व्यापकस्तर तथ्य प्रदर्शित किया है। विज्ञान ने मात्र जड़तत्त्व का वर्णन किया है। मात्र विज्ञान व्याख्यात तथ्य का रूप-दर्शन करने से उद्देश्य-सिद्धि नहीं हो सकती। जो यथार्थ भोक्ता (ईश्वर) के रूप का दर्शन करना चाहते हैं, वे विज्ञान के माध्यम से उनका दर्शन नहीं कर सकते। ऐतरेय आरण्यक ने सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमेश्वर का, जीवात्मा तथा दृश्य पदार्थों का स्वरूप प्रदर्शन करने के लिए भूत-चतुष्टय का भोक्तृ-भोग्यरूपेण विभाग किया है। अतएव ऐतरेय ब्राह्मण के उपदेश को हृदयंगम करने से मनुष्य यथार्थ भोक्ता का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो सकेगा।

विज्ञान ने परिच्छिन्न सत्य का अंकन किया है। ऐतरेय आरण्यक ने अपरिच्छिन्न सत्य तक जाने के मार्ग पर प्रकाश-प्रक्षेपण किया है। रसायनोक्त अंगार (Carbon) तथा जलजनक (Hydrogen) को दाह्यभूत माना है। अंगार तथा जलजनक दाह्यभूत क्यों है? वह इसका उत्तर प्रस्तुत करता है। सत्य तो यह है कि विशेष भाव से सामान्य में जाना, कार्य का कारणानुसन्धान करना, अल्प से भूमा होने की चेष्टा करना, केन्द्र की ओर गमन करना, सभी योग साध्य है। अतः मनुष्य (जो मनु की सन्तान हैं, जो मननशील हैं) दुःख-निवारणार्थ, उन्नति हेतु योगाभ्यास करते हैं।[2] राजयोग विचार का

1. 'मायासहितपरमेश्वरः सर्वजगत् सृष्टवा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। (ऋक्संहिताभाष्य)

2. असम्प्रज्ञात तथा सम्प्रज्ञात रूप द्विविध योग से यह ज्ञात होता है कि योग के अभाव में ज्ञान-विज्ञान का आविर्भाव नहीं हो सकता तथा कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। दर्शन को सम्प्रज्ञात का फल कहा जाता है। पाश्चात्यगण आज पर्यन्त ग्राह्य विषय पर एकाग्रचित्त नहीं हो सके हैं। यह ग्राह्य विषय सूक्ष्म ग्राह्य विषय है। यहाँ तक कि पातंजलोक्त अथवा व्यासोक्त सूक्ष्म ग्राह्य की सीमा-रेखा पर्यन्त भी उन्नीत नहीं हो सके हैं। उक्त है—

Concentration without is illustrated when the individual dose work upon nature, such as learing a trade, a profession, a science, an art or carrying on a business etc. To which he devotes his whole

तथा हठयोग प्राणसंयम का वाचक है। 'शिव' का अर्थ है जिसमें सब शयन करते हैं, श्रान्त होने पर जिनकी गोद में सो जाते हैं, विश्राम करते हैं, वे शिव हैं। राम शब्द का अर्थ है, जो रमणीय हैं, संसार विरक्त, नित्यानन्द की इच्छा वाले जिनमें रमण करते हैं, जो हृदयाभिराम हैं, वे राम हैं। प्राण का निरोध होने से चित्त का निरोध होता है तथा चित्तस्पन्द निरुद्ध होने से प्राण का निरोध हो जाता है। जो प्राणपवन स्पन्द है, वही चित्तस्पन्द है।[1] वृत्तिरूप चित्त वृक्ष के दो बीज हैं, प्रथम प्राण परिस्पन्द, द्वितीय दृढ़ भावना[2]। अतएव चित्तवृत्ति निरोध रूप योगाभ्यास हेतु प्राणस्पन्दनिरोध तथा विचार का आश्रय लेना होगा। एक ही साथ हठ तथा राजयोग का अभ्यास करना आवश्यक है।[3] देवीभागवत् के अनुसार मूलप्रकृति भुवनेश्वरी से प्राण की अधिष्ठातृ राधा तथा बुद्धि की अधिष्ठातृ दुर्गा का आविर्भाव हुआ है। इन्हीं के द्वारा जगत् परिचालित होता है।[4] महाविराट् से लेकर क्षुद्रतम अणु पर्यन्त मूल प्रकृति के अधीन हैं प्राणाधिष्ठातृ राधा तथा बुद्धि की अधिष्ठातृ दुर्गा की प्रसन्नता के अभाव में, इन शक्तिद्वय की साम्यावस्था (Equilibrium) के अभाव में, मुक्ति असम्भव है। विचार बुद्धि के अधीन है। योग प्राणाधीन है।[5] प्राणस्पन्द के निरोध से चित्तस्पन्द का निरोध साधित होते ही अग्नि तथा सोम का तत्त्व तथा उनका अभेद दर्शन आयत्त होने लगता है।[6]

---

attention. Concentration within is illustrated when the individual thinks of 'God', 'Spirit', 'Heaven', 'Religion', 'Worship', 'Peace', 'Nirvana', 'Enernity'.

(Concentration, by Lovell)

1. 'य: प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्द: स एव हि'। (अन्नपूर्णोपनिषद्)
2. 'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिण:'।।
   'एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना'। (वही)
3. 'हठं बिना राजयागो राजयोगं बिना हठ:।।
   न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्ते समभ्यसेन्।। (हठयोगप्रदीपिका)
4. 'मूलप्रकृतिरुण्यिा: संविदो जगदुद्भवे। प्रादुर्भूत युग्मं प्राणबुद्धयधिदेवतम्।
   जीवानाञ्चैव सर्व्वेषां नियन्तृप्रेरकं तदा। तदीधानं जगत् सर्व विराडादि चराचरम्।
   यवन्तयो: प्रसादो न तावन्मोक्षो हि दुर्लभ:'। (श्रीमद्देवीभागभागवतम्)
5. 'मूलप्रकृतिरुपिण्या। परसंविदो भुवनेश्वर्य्या:
   सकाशाज्ञगदुद्भवे सति पमश्टिव्याष्टिप्राणानामथिदैबतं
   राधाशक्तिरूपं तथा समष्टिब्यष्टिबुद्धिनामथिदैवतं दुर्गारूपनिति शक्ति युग्मं प्रादुर्भूतमिति पूर्वकथा स्मरति'। (टीका)
6. 'यत् एतच्छाक्तियुग्मं प्राणबुद्धयाधिदैवतं तत:
   सर्वनियन्तृ भवतीत्याह तदधीनमिति। मोक्षे इति।
   बुद्धि प्राणसंयमाधीनौ हि योगविचारौ तदधीनस्तु मोक्षस्तथा
   च बुद्धिप्राणाधिदेवताप्रसादमन्तरा स दुर्लभ एवेत्यर्थ।' (वही)

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि हठयोग तथा राजयोग यथाक्रम के शिव तथा राम (विष्णु) ही आदि उपदेष्टा हैं। अतएव शिव एवं राम का एकीकरण ही अग्नि-सोम का एकीकरण है। यही सर्वसिद्धि का मूल है। यही है चिरशान्ति का सम्बल।

शंका होती है कि परमात्मा हस्त-चरणादि के अभाव में कैसे कार्य करता है? यदि हस्त-पादादिक के अभाव में ही परमात्मा कार्य करने में सक्षम है, उस स्थिति में उसे हस्त-पादादि युक्त जन्म ग्रहण की क्या आवश्यकता? उत्तर यह है कि भ्रूणावस्था में जीव के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की अभिव्यक्ति नहीं होती है। बीज से ही अंकुर, तदनन्तर शाखा-प्रशाखा विशिष्ट वृक्ष का उदय होता है। अव्यक्त अथवा शक्तिरूप में अवस्थित भाव का व्यक्तावस्था में आनयन का एक विज्ञान है। इसे जान लेने पर ज्ञात होगा कि हस्त-पादादि अङ्गादिविहीन भ्रूण कैसे मानव-रूप में आविर्भूत होता है? जो असत् है, जो नहीं है, वह कभी सत् नहीं होता। अविद्यमान का जन्म नहीं होता। सूक्ष्म रूप से अवस्थित भाव ही स्थूल रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। अतः यह सिद्ध है कि हस्तपादादि अव्यक्त शक्ति में विद्यमान थे।

जो असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जो सत् है, वह कभी असत्-रूप ध्वंस को प्राप्त नहीं होता। डॉ. बुकनर, डॉ. ड्रेपर, अध्यापक हेकेल, हर्बटस्पंसर, सर हैमिल्टेन आदि विद्वानों ने भी सत्यकार्यवाद का ही आश्रय लिया है। साधारणतः नव आविष्कृत इतरेतर सम्बन्ध तत्त्व आर्यों के सिद्धान्त के ही समान हैं। नवीन वैज्ञानिक तथा दार्शनिकों में से अनेक ने मुक्तकण्ठ से इसी प्रकार के सिद्धान्तों के प्रतिपादन का साहस किया है।[1] इतने पर भी पाश्चात्य विद्वान् भारत के सिद्धान्तों का तात्पर्य नहीं समझ सके हैं। 'शिव की सृष्टि, स्थिति, लय प्रवाहरूप से नित्य है। सूर्य-चन्द्र इस सृष्टि से पूर्व इसी प्रकार विद्यमान रह चुके हैं,' आदि वेदमूलक वचनों पर पाश्चात्यों की श्रद्धा नहीं है।

प्रश्नोपनिषद् में उक्त है कि सर्वपदार्थ ही स्वयम्प्रकाश परमात्मा में सम्यक्रूपेण अवस्थान करते हैं।[2] यहाँ पर सर्व से क्या लक्षित होता है, इसे भी श्रुति ने बतलाया

1. Never can nothing become something nor something nothing .... "The univese or matter with its properties, conditons or movments, which we name force, must have existed from and will exist to all eternity, or in other words the universe can not have been created. (Force & Matter, P. 19, Prof. L. Buchener)

2. "The doctrine of conservation and correlation of Force yield as its logical issue the time worn oriental emanation therory, the doctrines of evolution and development strike at that of successive creative acts. Now the Asiatic theory of emanation and absorpotion is seen to be in harmony with this grand idea". (The Conflict Between Religion & Science, p. 358 Dr. Draper)

है। यहाँ 'सर्व' द्वारा कार्य-कारणात्मक निखिल विषयजात् का तात्पर्य ध्वनित होता है। स्थूल तथा सूक्ष्मभूत, क्षेत्रादि, पंचज्ञानेन्द्रिय, वागादि पंचकर्मेन्द्रिय, मन-बुद्धि चित्त-अहंकार-क्रियाशक्ति रूप प्राण उपाधियुक्त जीवादि भी इसी परमात्मतत्त्व में विद्यमान रहते हैं। सभी परमात्मतत्त्व से ही आविर्भूत होते हैं।[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् तथा आरण्यक में उस परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। उनमें उक्त है कि जिस उपादान से ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त अखिल सर्ग की उत्पत्ति, प्राणधारण, वृद्धि तथा विपरिणाम होता है, जन्मादिकारणभूत उन सच्चिदानन्द को जानने की इच्छा करना चाहिये।[2] पाणिनिदेव कहते हैं कि जायमान की जो प्रकृति है, उसमें पंचमी विभक्ति होती है[3] 'जिससे समग्र भूत उत्पन्न होते हैं, भूतों की जो प्रकृति है।' इस सन्दर्भ में सन्देह होता है कि क्या ब्रह्म ही विश्व प्रकृति हैं? प्रकृति शब्द से पाणिनिदेव ने क्या कहा है? वृत्तिकार पण्डितराज जयादित्य कहते हैं कि प्रकृति शब्द, कारण अथवा हेतुमात्र का वाचक है।[6] पाणिनिदेव ने प्रकृति शब्द द्वारा उपादान तथा निमित्त रूप कारण द्रव्य को लक्ष्य किया है। भगवान् पतंजलिदेव तथा कैयट के मत में प्रकृति शब्द उपादान कारण का वाचक है। भट्टोजी दीक्षित कहते हैं कि 'ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते, अर्थात् ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ से प्रजावर्ग की उत्पत्ति होती है।' ब्रह्मा जगत् के निमित्त कारण हैं। 'ब्रह्मणः' शब्द का सगुणस्वरूप स्वीकार करने पर उसका उपादानत्व सिद्ध हो जाता है। मायाशबल या सगुण ब्रह्म ही विश्व के उपादान कारण कहे गये हैं। हरिदीक्षित कहते हैं कि 'प्रकृति' शब्द उपादान कारण के संकेतार्थ प्रयुक्त हुआ है। भाष्य तथा कैय्यट सम्मत यही मत युक्तिसिद्ध है। 'प्रकृति' शब्द का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता है। नागेश भट्ट कहते हैं कि 'प्रकृति' शब्द उपादान कारण के संकेतार्थ प्रयुक्त हुआ है। 'हेतु' अर्थात् उपादान कारण। 'जनितकर्तुः प्रकृति' का भाष्य

---

1. 'स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्त एवं ह वैतत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यम् चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चहं-कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च। एव हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।।' (प्रश्नोपनिषद्)
2. यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति—तैत्तरीय
3. 'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः।। (पाणिनी-1-4-30)
4. 'प्रकृति कारणं हेतुं'। (काशिका)

करते-करते पतंजलिदेव कहते हैं कि, 'अपक्रामान्ति तास्तेभ्यः। यद्यक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति? सन्ततत्त्वात्।' (महाभाष्य) इसका भावार्थ यह है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, उससे वह अपगमन करता है। उससे वह निर्गत होता है तथा जिससे जो अपक्रमण करता है, उसमें फिर वह देखने में नहीं आता। यही लौकिक नियम है। इतने पर भी सृष्टितत्त्व का विमर्श करने पर इस नियम का व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण क्या है?

वैशेषिक के अनुसार परमाणु विश्व का उपादानकारण है। परमाणु में विश्व-कार्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह नहीं है कि विश्व-कार्य का परमाणु से अपक्रमण हुआ है। परिणामवादी सांख्यदर्शन के अनुसार जन्म-नाश, सृष्टि-लय, प्रकृतिगत आविर्भाव-तिरोभाव लक्ष्यरूप परिणामद्वय के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि इस मत में भी कारण से कार्य का अपक्रमण कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। जिससे जो अपक्रान्त होता है, उसमें फिर वह देखने में नहीं आता। इस लौकिक नियम के विपर्यय का क्या कारण? उत्तर है 'सन्ततत्त्वात्'। प्रकृति के सन्तततत्त्व के, सर्वव्यापकत्व के या विच्छेदराहित्य के कारण ऐसा होता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रकृति न हो। जो सत् है, जो विद्यमान है, उसका जन्म कैसे होगा? जो असत् है, वह उत्पन्न कैसे होगा? सत् तथा असत् रूप पक्षों के अतिरिक्त अन्य कोई पक्ष हो ही नहीं सकता। इस स्थिति में यह शंका होना स्वाभाविक-सी है कि 'अंकुर उपज रहा है, जगत् की सृष्टि हो रही है' आदि शब्दसमूह का प्रयोग क्यों किया जाता है? इसमें कोई दोष नहीं है। बुद्धि व्यवस्थापित अर्थ का, अव्याकृत या सूक्ष्मावस्था में विद्यमान भाव की कर्तृकरणादि कारक द्वारा अभिव्यज्यमान अवस्था विशेष ही जन्म शब्द द्वारा आख्यात है। भगवान् पतंजलिदेव एवं पूज्यपाद कैयट के वचनों का तात्पर्य यही है कि कार्य से कारणस्वरूप भिन्न नहीं है। जो जिसका व्यापक है, जिसके गर्भ में जो धृत है, वह उसका कारण है। जो सब का परम कारण है; जो किसी का विकार नहीं है, वह परब्रह्म है। कार्य कभी भी कारण से विच्छिन्न नहीं होता। कोई वस्तु वस्तुतः नयी नहीं है।

'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' या कर्तृवाच्य में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से 'प्रकृति' पद सिद्ध हो जाता है। अतः क्तिन् प्रत्यय से सिद्ध प्रकृति शब्द का अर्थ है 'जिसके द्वारा जिससे अथवा जिसमें कुछ कृत हो तथा प्रकृष्टरूपेण करने का भाव अथवा प्रक्रिया'। पूज्यवाद वाचस्पति मिश्र ने भी प्रकृति शब्द का अर्थ किया है 'जो उत्पादन करता है।'। 'प्रकारोतीति प्रकृति, प्रधानं सत्वं रजस्तमसो साम्यावस्था'—(तत्त्वकौमुदी) अर्थात् जो करती है, सत्व-रजः तथा तमः, रूप गुणत्रय की

साम्यावस्था है वह प्रकृति है। विज्ञानभिक्षु[1] कहते हैं कि साक्षात् अथवा परम्परारूप से प्रकृति ही निखिल जगत् की उपादनकारण है। प्रकृति ही प्रकृष्टरूपेण पदार्थसमूह का परिणाम- साधन करती है। 'अजा', 'शक्ति', 'प्रधान', 'अव्यक्त', 'तमः', 'माया', अविद्या इत्यादि प्रकृति के पर्याय हैं।

ऋग्वेद में उल्लेख है—'तम आसीत्' (अष्टमाष्टक) अर्थात् जैसे नैश तमः सर्व पदार्थसमूह को आवृत्त किये रहता है, वैसे ही आत्मतत्त्व आवरक होने के कारण मायापर्याय भावरूप अज्ञान 'तमः' शब्द द्वारा उक्त हुआ है[2]। 'जनिकर्तुः प्रकृति' इस पाणिनीय सूत्र में प्रयुक्त प्रकृति शब्द उपादानकारण का वाचक है। यही शंकराचार्य भी कहते हैं।[3] अर्थात् उक्त पाणिनीय सूत्र में प्रयुक्त प्रकृति शब्द को उपादान कारणवाची ही जानना चाहिये। ब्रह्म ही जगत् की प्रकृति (उपादानकारण) है। ब्रह्म ही इसका निमित्तकारण है। यह स्वयं विकृत होकर कार्यत्व को प्राप्त होता है। कार्यरूपेण परिणत हो जाता है। इसे उपादान अथवा समवायिकारण कहते हैं। यही चरकसंहिता में कार्ययोनि है।[4] मृत्तिका तथा सुवर्ण यथाक्रमेण घट तथा कुण्डल के उपादानकारण हैं। कार्य से भिन्न होकर जो कार्य का उत्पादन करता है, वह निमित्तकारण है। कुलाल तथा स्वर्णकार यथाक्रम से घर तथा कुण्डल के निमित्त कारण हैं। यदि ब्रह्म को जगत् के उपादान तथा निमित्त कारणरूप परिज्ञात न किया जा सके, उस अवस्था में श्रुति की 'प्रतिज्ञा' तथा दृष्टान्त का लोप हो जाता है। श्रुति के अनुसार एक[5] को जानने से सबका ज्ञान होता है। सृष्टि के पूर्व एक ही अद्वितीय पदार्थ था। अन्य नहीं था। यदि ब्रह्म को उपादान तथा निमित्त का कारण स्वीकार न करें, उस स्थिति में 'एक को जानने से सबका ज्ञान होता है' तथा 'एक के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं है' श्रुति की यह प्रतिज्ञा असिद्ध रह जाती है।

---

1. 'प्रकृतित्वं साक्षात्परम्परयाऽखिलविकारोपादानत्वं प्रकृष्ठा कृतिः परिणामरूपा अस्या इति व्युत्पतः। प्रकृतिः शक्तिरजा प्रधानमव्यक्तं तमो मायाऽविद्येत्यादयः प्रकृते पर्यायाः'। (सांख्यसार)
2. 'यथा नैशतमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत् आत्मतत्त्वस्यापरकत्वान्मायापरसंज्ञ भावरूपा ज्ञानमात्र तम इत्युच्यते।' (सायणकृत भाष्य)
3. 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'। (वेदान्तसूत्रभाष्य)
4. 'कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते।' (चरक, विमानस्थान)
5. 'यतः इतीयमपि पञ्चमी यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते इत्यत्र जनिकर्तुः प्रकृति रित विशेष-स्मरणात् प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या, निमित्तत्वन्त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधि गन्तव्यम्'। यथा हि लोके मृतसुवर्णादिकमुपादान कारणां कुलालसुवर्णकारादी-नधिष्ठातृनपेक्ष्य प्रवर्त्तने, नैव ब्रह्मण उपादानकारणस्य स्वतोऽन्याऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीय-मित्यवधारणात्।' (शारीरकभाष्य)

तैत्तिरीय आरण्यकभाष्य में पूज्यपाद सायणाचार्य कहते हैं कि—'जिसके द्वारा कार्य प्रकृष्टरूप से कृत होता है; उत्पादित होता है, वह प्रकृति है।' इससे यह प्रतिपन्न होता है कि जिस प्रकार मृत्तिका घट का उपादानकारण है, वैसे ही प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। यद्यपि निमित्तकारण कुलाल द्वारा ही घटोत्पत्ति होती है, इस कार्य में उसी की कारकता है तथापि घट कार्योत्पादन में कुलाल का प्रकर्ष नहीं है[1]। कुलाल सर्वदा घटकार्य का अनुगमन नहीं कर सकता। अतः कार्य के प्रति उपकार प्रकर्ष के कारण उपादानकारण का ही प्रकृष्टत्व सिद्ध होता है, निमित्तकारण का सिद्ध नहीं होता।[2]

यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि यह प्रकृतित्त्व (उपादानकारणत्व) ब्रह्म का है, अथवा माया का है? निर्गुण ब्रह्म का प्रकृतित्त्व उत्पन्न नहीं होता। अतः प्रकृतित्त्व माया का है, निर्गुण ब्रह्म का नहीं है।[3] श्वेताश्वतर में उक्त है कि माया प्रकृति है तथा महेश्वर मायी (माया जिनकी शक्ति है) हैं।[4] इस अवस्था में ब्रह्म को शक्ति कहना कहाँ तक उचित है? उत्तर में सायणाचार्य कहते हैं कि इसमें कोई दोष नहीं। माया ब्रह्म की शक्ति है अतः यह माया का स्वातन्त्र्य नहीं है।[5] श्वेताश्वतर भी माया को ब्रह्म की शक्ति मानता है।[6]

कार्य के कारणानुसन्धान में प्रवृत्त पुरुषों की स्थूल-सूक्ष्म दृष्टि अथवा विचारशक्ति के भेद से साधारणतः जितने भी स्थूल सिद्धान्त हो सकते हैं, श्वेताश्वतर श्रुति ने प्रश्नोत्तर-विधा से उनका विचार किया है। यथा—' क्या जगदुत्पत्ति के प्रति ब्रह्म ही कारण है? कार्य कारणवान् होता है। अन्तः और बहिः या स्थूल एवं सूक्ष्म,

---

1. 'यतः इतीयमपि पञ्चमी यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते इत्यत्र जनिकर्तुः प्रकृतिरित विशेषस्मरणात् प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या, निमित्तत्वन्त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्'। यथा हि लोके मृतसुवर्णादिकमुपादान कारणं कुलालसुवर्णकारादीन-धिष्ठातृनपेक्ष्य प्रवर्त्तने, नैव ब्रह्मण उपादानकारणस्य स्वतोऽन्याऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्।' (शारीरकभाष्य)
2. प्रकर्षेण क्रियते उत्पद्यते कार्यमनयेति व्युत्पत्या प्रकृतिरूपदानं मृदादिकम्। यद्यपि निमित्तकारणेन कुलालेनापि घट उत्पाद्यते तथापि कुलालस्य तदुत्पादने प्रकर्षो नास्ति। नहि कुलालो मृत्तिके व कार्ये घटे सर्वदाऽनुगच्छति। तस्मात् कार्य प्रत्युपकार-प्रकर्षादुपादानवत् प्रकृतिः'। (तैतिरीय आरण्यक भाष्य)
3. 'ननु प्रकृतित्त्वं माया एव न तु ब्रह्मणः'। (तैत्तिरीय आरण्यकभाष्य)
4. 'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिकं तु महेश्वरम्।
5. 'नायं दोषः मायना ब्रह्मशक्तित्वेन स्वातन्त्राभावात्'। (तैत्तिरीय आरण्यक भाष्य)
6. 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वेताश्वतर)

इन दो अवस्थाओं से युक्त होता है। हम लोगों ने कहाँ से जन्म लिया है? सृष्टि होने पर किसके द्वारा जीवजगत् जीवित है? किसके कारण नियमित होकर सभी सुख-दुःख भागी होते हैं?[1]

यह लक्षित होता है कि काल के क्रोड़ में पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। काल में स्थित रहते हैं तथा काल में ही लीन हो जाते हैं। काल ही सर्व परिणाम का हेतु है। अतः क्या काल ही जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है? यह लक्षित होता है कि प्रत्येक पदार्थ का स्वभावसिद्ध धर्म है। अग्नि की उष्णता तथा जल का शैत्य स्वभावसिद्ध धर्म है। क्या पदार्थगत स्वभावों की यह प्रतिनियता शक्ति ही जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु है? अथवा नियति अदृष्ट अथवा पूर्वजन्मकृत पुण्यपापात्मक कर्म ही जगत् का कारणरूप है? क्या जगत् बिना कारण उत्पन्न है? कोई कहते हैं कि पुरुष विज्ञानात्मा जगत्योनि है, अतः क्या पुरुष को ही जगद्योनि कहा जाये? अपिच यह भी जिज्ञास्य है कि कालादि उपरोक्त पदार्थ में से प्रत्येक स्वतन्त्ररूप से जगत् का कारण है अथवा इनके समूह से जगत् की उत्पत्ति हुई है?[2]

कालादि जगत् का कारण है, यह सिद्धान्त दृष्टिविरुद्ध है। यह परिलक्षित होता है कि संहत् देशकाल निमित्त से ही कार्योत्पत्ति होती है। अतः क्या यही सिद्धान्त ग्राह्य है कि कालादि का समूह ही जगत् सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है? क्या यही सत् सिद्धान्त है? नहीं, ऐसा नहीं है। संहति तो परार्था होती है। जो परार्थक, परतन्त्र है, वह कभी जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय नियम-लक्षण का कारण नहीं हो सकता। वह आत्मभाव से किसी कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में क्या जीवात्मा कारण है? नहीं, ऐसा भी नहीं है। जीवात्मा परतन्त्र है। वह सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म के वशीभूत है। कर्मानुगत आत्मा का त्रैलोक्य के सृष्टि-स्थिति नियम में सामर्थ्य नहीं रह सकता[3]। केवल मात्र युक्ति की सहायता से जगत् का सृष्टि, स्थिति, लयकारण यथार्थरूप से निरूपित नहीं हो सकता। सृष्टितत्त्व दुर्व्विज्ञेय है। सर्वज्ञ जगत्स्रष्टा के अतिरिक्त कोई भी सृष्टितत्त्व का यथार्थ रहस्य नहीं जानता। यह ऋग्वेद का मत है। बहिर्दृष्टि के द्वारा अध्यात्मतत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता। इसको यथार्थ रूप से जानने के लिए चित्त को अन्तर्मुख करना, एकाग्र करना, चित्तवृत्ति का निरोध करना आवश्यक है। श्वेताश्वतर में उक्त है कि ब्रह्म वेदनशील, ब्रह्मतत्त्वनिर्णयतत्पर पुरुणगण जब तर्क-विचार द्वारा निःसन्दिग्धरूपेण परम पुरुष का, परमकारण का निरूपण नहीं कर सके, तब उन्होंने 'घातव्यस्वीकारोपाय' ध्येय या चिन्तनीय विषय का भाव ग्रहण

---

1. 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठिताः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहेः ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।' (श्वेताश्वतर)
2. 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यम्'। (वही)
3. 'संयोग एषां न तु नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।' (वही)

करने के एकमात्र निश्चित साधन ध्यानयोग का आश्रय लिया। इससे ज्ञात हुआ कि स्वगुणनिगूढ़ा प्रकृति कार्यभूत पृथिव्यादि द्वारा की द्योतनात्मक, मायी महेश्वर अथवा परमात्मा की आत्मभूता (अस्वन्त्रता-अपृथक्भूता) शक्ति, त्रिगुणमयी प्रकृति या माया ही विश्व जगत्कारण है। 'देवात्मशक्ति' पद के भाष्यकार ने इसकी कई व्याख्या की है, अर्थात् ईश्वर में अवस्थिता शक्ति, अथवा परमेश्वर की आत्मभूता, जगत् के उदय, स्थिति तथा लय की हेतुभूता, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, रजः-तमः तथा सत्व की निगूढ़ा शक्ति। अथवा देव, आत्मा तथा शक्ति जिन परब्रह्म के अवस्था भेद हैं, उन परब्रह्म की प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर की स्वरूपभूता, ब्रह्मरूप से अवस्थिता परात्परतरा शक्ति-देवात्मशक्ति। अथवा देव की द्योतानात्मक, प्रकाशस्वरूप की-ज्योतिसमूह की-ज्योतिरूप की-प्रज्ञान-घनमय परमात्मा की नियमविषयक शक्ति।[1]

परमेश्वर ही काल, स्वभाव तथा आकारादि भूतों के अधिष्ठाता हैं। वे ही इनके नियामक हैं। उन्होंने उनको नियमित कर रखा है। ये उन्हीं के निर्देशवर्ती हैं। उन्हीं के आदेशानुसार कार्य करते हैं। विश्व का कारण तत्त्व जानने के लिए स्वदेशी-विदेशी, आस्तिक-नास्तिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक सुधीगण की गम्भीर गवेषणा द्वारा परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों का स्थापन हुआ है। श्वेताश्वतर श्रुति ने 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्या' वचन द्वारा सब का समाहार किया है। इस श्रुति में केवल मत-संग्रह ही नहीं किया गया है, प्रत्युत् दूषित सिद्धान्त के दोषों का प्रदर्शन करते हुए, अन्त में एक प्रकृत सिद्धान्त का उपदेश किया है। अतः श्रुति ही निखिल ज्ञान-विज्ञान की प्रसूति है। वेद ही विश्वजगत् की सृष्टिस्थिति तथा लय के कारण हैं। वेद तथा ब्रह्म एक ही है।

अब प्रश्न यह है कि जिन ब्रह्म को विश्व का उपादानकारण 'प्रकृति' कहा गया है, क्या वह ब्रह्म निरूपाधिक है? क्या निर्गुण, कूटस्थ अथवा अद्वितीय परमात्मा ही जगत् का उपादान या निमित्त कारण है? श्वेताश्वतर में यह स्पष्टतः उक्त है कि अद्वितीय परमात्मा का स्वतः कारणत्व, उपादानत्व तथा निमित्तत्व उत्पन्न नहीं होता। सोपाधिक ब्रह्म ही जगत् के उपादान तथा निमित्त कारण हैं[2]। द्योतनात्मक महेश्वर की

---

1. 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।'(श्वेताश्वतर)
'ध्यानंनाम चित्तैकाग्रयं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्यस्वीकारोपायस्तमनुगताः समाहिताः अपश्यन्। दृष्टवन्तः देवात्मशक्तिमिति।' (श्वेताश्वतरभाष्य)
'अथवा देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां तु जगदुदयास्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्मविष्णु-शिवात्मिकां शक्तिम्। तथाचोक्तम्' शक्तयो यस्य देवरूप ब्रह्मविष्णु शिवात्मिका इति। (श्वेताश्वतरभाष्य)
2. 'अद्वितीयस्य परमात्मनो न स्वतः कारणमुपादानत्वं निमित्तत्वं च।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य)

जो आत्मभूता, अस्वतन्त्र, अपृथकृभूता शक्ति है, श्रुति ने उसे विश्व का उपादानकारण कहा है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि साक्षात् ब्रह्म का जगत् प्रकृतित्त्व 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (वेदान्तसूत्र 1/4/22)' इस सूत्र का तात्पर्य नहीं है।[1]

प्रकृति और पुरुष के योग से ही विश्वजगत् सृष्ट होता है। ऋग्वेदसंहिता के अनुसार अविकृतिरूपा (जो किसी की विकार या कार्य नहीं है) तथा अखिल विकारों की मूलप्रकृतिरूपा त्रिगुणात्मिका शक्ति तथा प्रकृति के उदासीन पुरुष, इच्छा-शक्ति, इन दोनों से महदादि सप्त तत्त्व (महत्तत्व तथा पंचतन्मात्र) की उत्पत्ति होती है। यथार्थ तो यह है कि प्रकृति तथा पुरुष के योग से विश्वजगत् सृष्ट होता है। इतने पर भी पुरुषांश के अविक्रियत्व के कारण तथा प्रकृत्यंश के विकारशीलत्व के कारण, प्रकृत्यंश ही प्रपंचाकार में परिणत हो जाता है। अतः ऋग्वेद ने 'अर्धगर्भा' का प्रयोग किया है। महादादि सप्त तत्त्व ही विश्वप्रपंच के आन्तर तथा बाह्य रूप पदार्थ के बीजस्वरूप कारण हैं। ये महदादि सप्त तत्त्व विष्णु के (र्स्वव्यापक पुरुष के) एकदेशवर्त्ती एकपदाश्रित हैं। उन्हीं की शक्ति हैं[2]। पुरुष तथा प्रकृति एक ही ब्रह्म के रूपद्वय (Dual aspect) हैं। वेदान्तदर्शन में ब्रह्म ही जगत् की प्रकृति हैं। इसके प्रतिपादनार्थ 'आत्मकृते परिणामात्' सूत्र की रचना की गयी है। अर्थात् ब्रह्म ने अपने आपको ही परिणामित किया है। यह श्रौतार्थ भी ब्रह्म की उपादानकारणता तथा निमित्तकारणता को अभिव्यक्त कर रहा है। विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि अन्यकारण-निरपेक्ष ईश्वर ने अपने से ही सर्व परिणाम का साधन किया है। इस उपदेश से प्रमाणित होता है कि ईश्वर की उपाधि नित्य है।

भगवान् यास्क कहते हैं कि देवतागण आत्मा से सर्वकार्य सम्पादित करते हैं। पातंजलदर्शन में उक्त है कि अविद्यादि पंचविधक्लेशहेतु, धर्माधर्मरूप कर्म, कर्मफलविपाक (जाति, आयु एवं विभाग), तदनुकूल आशय (वासना, संस्कार) से जो रहित है, वह पुरुष विशेष ही ईश्वर पदवाच्य है। उपरोक्त सब चित्त के धर्म हैं, पुरुष धर्म नहीं हैं। इतना आवश्यक है कि जैसे सेना की जय-पराजय ही राजा की जय-पराजय है, तदनुरूप पुरुष के फलभोगादि के कारण भी पुरुष के ही हैं, ऐसा समझा जाता है। जिसका इस प्रकार के फलभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है, वही ईश्वर है।[3] इस प्रकार

---

1. 'तथा साक्षात् ब्रह्मणों जगत्प्रकृतित्त्वमपि नास्य सूत्रस्यार्थः। अस्मिन् पादे शक्तेरेव प्रकृतत्त्वत्।' (विज्ञानमृतभाष्य, विज्ञानभिक्षुकृत्)
2. 'यद्वासप्तार्धगर्भाः सप्त महदंकारौ पंचतन्मात्राणीति मिलित्वा सप्तसंख्यानि तत्त्वानि अर्द्धगर्भाः अविकृति रूपाः विकाराश्रयायाः मूलप्रकृतेः प्रकृतिविकृते-रुद्रासीनस्यात्मनस्योत्पन्नत्वादर्धाशेन प्रपंचकारेण परिणामादर्धगर्भाः पुरुषांशस्यावि क्रियत्वादित्यभिप्रायः अतएव तेषां प्रकृतिविकृतित्त्वं यस्यादेवं तस्माद्भुवनस्य रेतः कारणं कारणभूतानि तान्येव विष्णोव्यप्तिस्य पुरुषस्य विधर्मणि प्रदिशा प्रदेशेन तिष्ठन्ति। (सायणभाष्य)
3. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' (पातंजलदर्शन 1/24)

जिन्होंने साधना द्वारा इस अवस्था को आयत्त किया है, वे भी ईश्वर ही हैं, ऐसी शंका हो सकती है। इसका समाधान यह है कि मुक्त पुरुषों का मुक्ति के पूर्व अविद्यादि सम्बन्ध था, परन्तु यथोक्तलक्षण ईश्वर का कभी भी अविद्यादि सम्बन्ध नहीं था। ईश्वर को कर्मफल सम्बन्ध की कोई आशंका नहीं है, जब कि प्रकृतिलीन व्यक्ति लय के अवसान के पश्चात् पुनः कर्मफल सम्बन्धाक्रान्त हो सकता है। ईश्वर सदा ही मुक्त है। वह ऐश्वर्यशाली है।[1]

क्या ईश्वर का यह स्वाभाविक उत्कर्ष सनिमित्त है या निर्निमित्त? क्या इसका कोई प्रमाण है? अथवा प्रमाण नहीं है? भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्र ही ईश्वर के उत्कर्ष का प्रमाण है। अब शंका होती है कि शास्त्र में जो प्रतिपादित है, वह भ्रान्तिरहित यथार्थ है, इसका क्या प्रमाण है? ईश्वर का प्रकृष्टसत्व ही शास्त्र का प्रमाण है। शास्त्र ईश्वर-विरचित है, अतः वही प्रमाण है। वह भ्रमप्रमाद रहित है। उक्त उत्कर्ष तथा शास्त्रसमूह ईश्वर के प्रकृष्ट सत्व में वर्तमान रहते हैं। (प्रकृष्ट सत्त्व=विशिष्ट चित्त) शास्त्र तथा ईश्वर का सम्बन्ध चिरकाल से है। इससे यह प्रतिपन्न होता है कि ईश्वर सदैव मुक्त है और सदैव ऐश्वर्यशाली है। ईश्वर का ऐश्वर्य (प्रकृष्ट सत्व) साम्य तथा आतिशय्य रहित है। किसी का भी ऐश्वर्य ईश्वर की समानता नहीं कर सकता। जिनका ऐश्वर्य सबसे अतिरिक्त है, जिनके समान ऐश्वर्य किसी का नहीं है, जहाँ ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, जहाँ ऐश्वर्य की अन्त्य सीमा है, वही ईश्वर है। इसीलिए श्वेताश्वतर में उक्त है कि उनके समान, किंवा उनसे अधिकतर कोई भी नहीं है। ऐश्वर्य, ज्ञान, इत्यादि सभी उपाधि के धर्म हैं, प्रकृष्ट सत्व के धर्म हैं। ईश्वर उपाधि के वशीभूत नहीं है। उपाधि उसके वश में है। साधारण जीव उपाधि के वशीभूत होते हैं। संसारानल में दह्यमान जीवजगत् का उद्धार करने के लिए ईश्वर उपाधि को स्वीकार करते हैं।

कार्येन्द्रिय की प्रकृति ही अनुप्रवेश (आपूरण) द्वारा स्व-स्व विकारों का अनुग्रहण करती है। इस अनुप्रवेश में प्रकृति धर्मादि निमित्त की अपेक्षा करती है। जब एक जाति से अन्य जाति में परिणाम होता है, तब अन्तर्निहित प्रकृति समूह के मध्य जो उपयुक्त अवसर प्राप्त करती है, वही अनुप्रविष्ट एवं आपूरित होकर अपने अनुरूप कारण को परिणत कराने लगती है। सब कुछ प्रकृतिगत आपूरण से ही होता है। मनुष्य देवता है, नरक में जा सकता है। वह जो कुछ हो सकता है, उस होने की

---

1. 'अविद्यादयः क्लेशाः कुशलकर्माणि तत्फलं विपाकः तदनुगुणा वासना आशयाः ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जया पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। योह्यनेन भोगेन अपरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्वबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरबन्धकोटिः सम्भाव्येते नैवमीश्वरस्य स तु सदैवमुक्तः सदैवेश्वरः इति' (योगसूत्रभाष्य)

प्रकृति उसमें विद्यमान रहती है। अतः जितने भी परिणाम हो सकते हैं, उनकी प्रकृति जीवसमूह की कारणशक्ति में अन्तर्निहित रहती है।

ऐश्वर्य सम्पन्नता योगीगण में भी होती हैं। वे एक होकर भी अनेक हो सकते हैं। अनेक होकर पुनः एक हो जाते हैं। सिद्धयोगी के एक चित्त से बहुविध, अनेक चित्तसमूह की उत्पत्ति हो सकती है। वे एक शरीर से शब्दादि विषय का भोग करते हैं, अन्य शरीर से उग्रतप करते रहते हैं। वे अपने शरीरों का प्रतिसंहार करने में भी समर्थ होते हैं।[1] जो प्रकृति के नियम के अनुसार अभ्युदयशील हैं, जो योगाभ्यास द्वारा असाध्य तथा अविश्वास्त अद्भुत कर्म करते हैं, वे ही नित्य योगी तथा ऐश्वर्यवान् हैं। वे बिना पद के गमन, बिना कर्ण के श्रवण, बिना चक्षु के ही दर्शन में समर्थ हैं। पतंजलिदेव कहते हैं[2] कि जब योगी स्वेच्छा से अनेक शरीर धारण करता है, तब उन शरीरों में अस्मिता से ही संकल्प के कारण अनेक चित्त का प्रादुर्भाव होने लगता है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि अस्मिता ही चित्त का उपादान है। योगीगण संकल्प प्रभाव से निर्माण चित्त की सृष्टि करते हैं। प्रत्येक निर्माण शरीर चित्तयुक्त होता है। नित्य ऐश्वर्यवान् ईश्वर माया अथवा उपाधि द्वारा जीवोद्धार के हेतु से शरीर ग्रहण करते हैं। वे स्थूल करणादि की अपेक्षा के बिना ही सब कृत्य करने में सक्षम हैं, तथापि स्थूल शरीर धारण के अभाव में करुणा की क्रिया सम्यक् पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकती। जिस कारण से सूक्ष्मतया अवस्थित शक्तियों की स्थूलाभिव्यक्ति होती है, जिस कारण से गमन शक्ति पद आदि (पैर) रूप करण की अपेक्षा रखती है, जिस कारण से ग्रहण शक्ति हस्त (हाथ) का निर्माण करती है, उस कारणवशात् करुणामय परमेश्वर हस्तपादादियुक्त हो जाते हैं। वे अनन्यापेक्ष होकर मात्र स्वशक्ति से शरीर धारण करते हैं। अपनी शक्ति से ही उनका उद्भव होता है।[3] श्रीकृष्ण का भी यही कथन है।

योगीगण स्थूलकरण के अभाव में भी स्थूलकरणनिष्पाद्य कृत्य करते रहते हैं। यह आप्तोपदेश है। पृष्ठ (पीठ) द्वारा देखा जाता है। घ्राण द्वारा सुना जाता है। यह श्रुति का कथन है।[4] जिन्होंने पाश्चात्य विज्ञान का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि पेशी, स्नायु, शिरा, धमनी आदि यन्त्र समूह 'सेल' (Cell) नामक पदार्थोद्भूत

---

1. 'एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः। भूत्वा यस्मास्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्ततः।।
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि। एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः।।
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च प्राप्नुयात् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।'
2. 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।' (पातंजलदर्शन 4/4)
3. अथ जन्मकर्म्मणों दिव्यत्वात्। (शाण्डिल्यसूत्र)
4. घ्राणतः शब्दं शृण्वन्ति पृष्ठतो रूपाणि पश्यन्ति। (मंजूषाधृत श्रुति)

हैं। मैकलिस्टर (Maklister) का कथन है कि सभी प्रोटोल्पाज़्म बाह्यशक्ति द्वारा प्राणन् व्यापार निष्पादनार्थ एवं बलविसर्गार्थ उत्तेजित हो सकते हैं। अनन्यसहाय प्रोटोल्पाज़्म प्राणधारणोपयोगी समस्त कार्य निष्पादित कर सकता है। जब जीवजाति के उन्नति विधायक, वृद्धि, विपरिणाम विकास जनक पृथक्करण व्यापार का प्रारम्भ होता है, तब अनेक सेलों में शरीर कर्म निष्पत्तिरूप श्रम का विभाग हो जाने से, कोषात्मक शरीरविधानांश की संकोचनशीलता का आधिक्य होते ही पेशी गठित होने लगती है। मेरे विचार से पातंजलोक्त जात्यन्तर परिणाम का मूल्य पाश्चात्य क्रमविकासवाद से अधिक है। अतः जब एक प्रोटोल्पाज़्म सर्वकार्य समर्थयुक्त है, उस स्थिति में ईश्वर सर्वशक्ति युक्त प्रकृति के द्वारा स्थूलकरणादि के अभाव में भी सर्वकर्म सम्पादन कर सकते हैं।

●

यंत्रोपासना

प्राचीन काल से ही भारत में किसी न किसी रूप में यंत्रोपासना प्रचलित रही है। यज्ञों की वेदी भी यंत्राकृति में बनायी जाती है। शास्त्र के अनुसार आदिसत्ता का आदिस्पन्द ही प्राण रूप में परिणत होता है। प्राणसत्ता ही देवसत्ता का मूल कारण है। दैवीसत्ता में ऊर्ध्व प्राण तथा जीव सत्ता में अधः प्राण की कार्यकारिता परिलक्षित होती है। यंत्र पूर्ण रूप से दैवीसत्ता के ऊर्ध्व प्राणस्पन्दरूप चितिशक्तिमत्ता का स्वरूप है। कालान्तर में धारणाशक्ति की न्यूनता हो जाने के कारण ऋषियों ने यन्त्र के स्थान पर देवताओं की मनुष्याकृति प्रतिमाओं का विधान किया है। वस्तुतः देवताओं की रूपकल्पना पारमार्थिक सत्य नहीं है। उनका वास्तविक स्वरूप उनकी सत्ता के स्पन्दन का प्रसार, अर्थात् शक्तिप्रसार का अंकन मात्र होता है, जो यन्त्रात्मक है। उदाहरणार्थ, त्रिपुरसुन्दरी चतुर्बाहुयुक्ता हैं। सिद्धस्वतन्त्रानन्दनाथ कहते हैं कि बहुचतुष्टय मात्र बाह्य एवं प्रतिभासिक कल्पना ही है। संकेतमात्र है। पारमार्थिक नहीं है। सत्य तो यह है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय लक्षण से उपलक्षित यन्त्रस्वरूपिणी त्रिपुरसुन्दरी की चतुर्विध दशा ही इनकी चार भुजायें हैं।

शिवलिङ्ग यंत्र—शिवलिङ्ग अत्यन्त प्राचीन उपासना प्रतीक है। यह भी एक प्रकार का यंत्र ही है। मेदिनीकोष के अनुसार लिङ्गशब्द प्रतीक का वाचक है। यंत्र-समूह अपने-अपने देवमण्डल में कार्यरत संवित् चेतना शक्ति के प्रतीक होते हैं। शिवलिङ्ग शिव की महाचेतना का स्वरूपभूत यन्त्र है। अभिनवगुप्त ने शिवलिङ्ग को अभयपद का प्रतीक माना है। शिवलिङ्ग का निर्माण भी यंत्रविधि से होता है। इसे स्तरत्रय में बनाने का विधान है। भूमिस्थभाग को चतुष्कोणाकृति बनाते हैं। उसके ऊपर अर्थात् मध्यभाग को अष्टकोणात्मक वेदी के रूप में बनाया जाता है। ऊपर का वह भाग जिस पर जल, पुष्प तथा बिल्वपत्र आदि चढ़ाते हैं, उसे गोलाकृति बनाया जाता है। यह गोलाकृति शिवलिङ्गात्मक यंत्र का बिन्दु-क्षेत्र है।

छिन्नमस्ता यंत्र—यह नेपाल के पुरश्चर्यार्णव नामक ग्रन्थ में चित्रित है। इस यंत्र के मध्य में साकार मूर्ति का प्रदर्शन किया गया है। वृत्त के बाहर 24 त्रिकोण प्रभामण्डल के रूप में अंकित हैं। ये तंत्रोक्त प्राणसंक्रान्ति का द्योतन कराते हैं। प्रभा-मण्डल के बाह्यभाग में महाघोर अन्धकार प्रदर्शित किया गया है। यह अज्ञात अन्धकार अज्ञात अव्यक्त का प्रतीक है। कहा गया कि संवित् रूप से अर्थात् अव्यक्त से सर्वाग्र में प्राणोदय हुआ था 'प्राक् संविदप्राणे परिणता'। यह प्राण संवित् 24

संक्रान्तियों से संयुक्त है। प्रत्येक संक्रान्ति में 900 बार प्राण का आवागमन (श्वसन) होता है। अतः अहोरात्र (दिन-रात) की 24 संक्रान्तियों में 24×900=21600 बार श्वसन क्रिया सम्पन्न होती है। यही जीवन है। इसी प्राण संक्रान्ति में अर्थात् श्वास-प्रश्वास के मध्य में स्थिति प्राप्त होने से छिन्नमस्ता महाविद्या का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है। यही वज्रवैरोचनी यंत्र भी है। यह यंत्र आधिदैविक विपत्ति का शमन करता है और राहुग्रहकृत बाधा का नाशक है।

कालियंत्र—यह अनुत्तर तंत्रोक्त यंत्र है। इनका स्वरूप घोरकृष्णवर्णा, घटाटोप के समान गहन है। घटाटोप अन्धकार में सब कुछ समाहित होकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार कालीरूपी घटाटोप में समस्त विकल्प समूह तिरोहित हो जाते हैं। इसका सकाम प्रयोग किसी भी विपत्तिजनित परिस्थिति को प्रविलीन कर लेता है। निष्काम महाभाग साधक इसका आश्रय लेकर अपने देहात्मबोध तथा चित्त विकल्प का विलीनीकरण कर देते हैं। अन्तस्थ त्रिकोणत्रय उद्बुद्ध आत्मशक्ति के प्रतीक हैं। अर्थात्, अप्रतिहत इच्छाशक्ति, कालातीत ज्ञान तथा अनन्त क्रिया ही काली का यथार्थ स्वरूप है। इसके पश्चात् तीन वृत्त (वृत्तत्रय) का अंकन है। वृत्त का तात्पर्य है वलय। इसी वलय में (स्थूल-सूक्ष्म तथा कारणरूप देहावस्था में) काली आत्मगोपन करती हैं। कुण्डली वलय में गोपित महाशक्ति अपने अन्तःप्रसारण से विमुख होकर बहिः प्रकाशन रूप जगत् में निमज्जित हो जाती है। यह बहिः प्रकाशन ही अष्टदलों के रूप में यंत्र में अङ्कित है। यह अष्टदल ही अष्टप्रकृतिरूप देह अथवा जगत् है। पंचमहाभूत, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार रूप बहिः विकास की समष्टि ही जगत् है। त्रिकोणरूप से अन्तः स्फुरित शक्ति का आत्मगोपन ही वृत्त है। बाह्य विकास ही अष्टदल है। शक्ति का विकास अनन्त होता है। उसका कोई ओर छोर ही नहीं है। शान्त साधक अनन्त का ध्यान कैसे कर सकेगा? अतः चतुष्कोणरूपी आधार में साधक की आराध्य सत्ता का प्रकाश गुणरूप में अवस्थित रह कर उसे प्रबोधित करता रहता है।

अनुत्तर तंत्र के अनुसार इस यंत्र की बाह्य एवं आन्तर, उभय उपासना श्रेयस्कर है। भावना के अनन्तर क्रमशः अष्टदल, वृत्त को उत्तीर्ण करते हुए त्रिकोण में काली का संस्पर्श प्राप्त होने लगता है।

यंत्राकृति मन्दिर—भारत में अनेक मन्दिर शिवलिङ्गरूपी यंत्र की आकृति के बने हैं। इनके निर्माण में आधारभाग को चतुष्कोण, मध्यभाग को अष्टकोण तथा ऊर्ध्वभाग को गोलाकृति बिन्दुरूपी रचित किया गया है। ये सब मन्दिर शिव के अनन्तरूप के द्योतक हैं।

दक्षिणभारतस्थ अनेक मन्दिर यंत्रस्वरूप में निर्मित है। मन्दिर का मुख्य भाग प्रासाद है।

प्रासाद जहाँ से प्रारम्भ होता है, वहाँ धरातल में चतुष्कोण वेदी बनती है। यहीं से प्रासाद की भित्ति उठायी जाती है। इसके अन्दर पुनः एक चतुष्कोण का निर्माण होता है। यह गर्भगृह है। प्रासाद के ऊर्ध्वभाग में अमृत कलश का स्थान है। यही मन्दिररूपी यंत्र का बिन्दु-स्थान है। प्रासाद के चतुष्कोण से लेकर अमृतकलशपर्यन्त अष्टप्रकृति (पंचमहाभूत+मन+बुद्धि+अहंकार=8) के विकास का साकार चित्रण लता, गुल्म, पशु, पक्षी, मिथुनयंत्र, देव, दानव, मानव आदि के रूप में प्रस्तर पर उत्कीर्ण रहता है। अतः मन्दिरों का निर्माण भी यंत्राकृति मानना चाहिये। प्रत्येक प्राचीन मन्दिर के निर्माण में यह तथ्य परिलक्षित होता है।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की यंत्रात्मिकता स्पष्ट है। इसी प्रकार भारतीय साधन-धारा में प्रत्येक देवी-देवता का यंत्र स्वरूप उपलब्ध होता है। यंत्र शरीरात्मक होते हैं। जैसे मानव देह का स्थूल-सूक्ष्म कारणरूप त्रिस्तर है, उसी प्रकार यंत्र भी स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप से तीन प्रकार के होते हैं। साधक अपनी स्तरानुरूप उन्नति के अनुसार इनके त्रिस्तर स्वरूप का साक्षात्कार करने में सक्षम हो जाता है।

●

प्रकृति तथा माया

माया, प्रकृति, प्रधान, अविद्या, अज्ञान, शक्ति प्रभृति एक ही तत्त्व के अनेक नामान्तर हैं। इनका पृथक् अर्थ भी जानना आवश्यक है।

माया—इसका उदाहरण इन्द्रजालवत् है। इन्द्रजाल द्वारा देशकालनिरपेक्ष रूप से वस्तु-सृष्टि प्रतीत होती है। एवंविध असंग तथा अद्वितीय ब्रह्म समस्त जगत् व्यवहार को जिसके द्वारा संघटित कराता है, वह माया है। एक अचिन्त्य शक्ति की क्रिया स्पष्ट हो रही है, परन्तु उसका रहस्य-भेदन नहीं हो रहा है। देवी-भागवत् के अनुसार माया शुद्ध सत्वरूपी शक्ति है।

प्रकृति—प्रकृष्ट रूप से सर्वजगत् उत्पादनकारिणी, सृष्टि की तमोगुणप्रधान उपादानकारणस्वरूपा! प्र=सत्वगुण, कृ=रजोगुण, ति=तमोगुण। सृष्टि की उपादान रूप प्रकृति तमोगुणप्रधाना है। त्रिगुणात्मिकत्व ही प्रकृति का लक्षण है। प्र=प्रकृष्ट, कृति=सृष्टि। अर्थात् सृष्टि-रचना में जो उत्कृष्ट है।

प्रधान—प्रलय में सर्वकार्य को स्वयं में लीन करके जो निष्क्रियावस्था प्राप्त करती है, वही प्रधान है।

अविद्या—ब्रह्मविद्या द्वारा नष्ट होती है, अतः अविद्या है।

शक्ति—जो सर्वदा चेतन से अभिन्न है। कदापि ब्रह्म से वियुक्त नहीं है। श=ऐश्वर्यवाचक, क्ति=पराक्रम। अर्थात् समस्त ऐश्वर्य, शुभ एवं पराक्रमदात्री।

माया, कहने मात्र से सभी अर्थ स्फुरित हो जाते हैं। यह त्रिगुणात्मिका है। माया कारण है, समस्त जगत् कार्य है। प्रत्येक वस्तु सुख, दुःख तथा मोहात्मक है। अर्थात् एक ही वस्तु से कभी सुख, कभी दुःख, कभी मोह उत्पन्न होता है। ये तीनों यथाक्रम से सत्व, रजत् तथा तमस् के परिणाम हैं। कारण, गुण अपने कार्य में विद्यमान रहता है। वेदान्त-मत से कार्य कारण से भिन्न नहीं है। अतः जगत् भी उसी प्रकार का है। वेदान्त में अनेक स्थल पर माया के रूपद्वय में शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान रूप को ही माया कहा गया है। मलिन सत्त्वगुणप्रधान रूप को अविद्या कहते हैं। शुद्धसत्त्व प्रधान=जो रजः, तमः द्वारा अभिभूत नहीं होता। मलिन सत्व प्रधान=जो रजः, तमः द्वारा अभिभूत हो जाता है।

शक्ति के दृष्टिकोणानुसार विचार करने पर माया की ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति का सन्धान प्राप्त होता है। जो कार्योत्पादन में समर्थ है, वह शक्ति है रजःप्रधान सत्वप्रधान ज्ञानशक्ति प्रकाशमाना है। क्रियाशक्ति दो प्रकार की है। प्रथम है तमःप्रधान

आवरण-शक्ति। इसमें ब्रह्म प्रकाशमान नहीं है। इसे आवरण-शक्ति कहते हैं। द्वितीय है रजःप्रधान विक्षेपशक्ति। यह समस्त प्रपंचसृष्टि का कारण है। माया स्वीय आवरण-शक्ति द्वारा अविद्या अथवा अज्ञानरूप से वस्तुतत्त्व को आवृत्त कर देती है। विशेष शक्ति द्वारा नानाविध मिथ्यासृष्टि का भान होता है। जैसे अज्ञान द्वारा रज्जु में सर्पभान होने लगता है। इससे जीव मिथ्या अनर्थरूप संसाराबद्ध हो जाता है।

उक्त है कि माया अपने आश्रय रूप चेतन को मोहाच्छादित नहीं करती। (स्वाश्रय—अव्यामोहकरी माया) इसका वह रूप जो चेतन को मोहाच्छादित करता है, अविद्या (स्वाश्रयव्यामोहकरी अविद्या) कहलाता है। अतः माया के आश्रय ईश्वर, चेतन मोहमुक्त तथा सर्वज्ञ हैं। अविद्या का आश्रय जीव, चेतन मोहमुग्ध है।

ब्रह्म एक है, अद्वितीय, अपरिच्छिन्न तथा सर्वभेदशून्य है। भेद तीन प्रकार के होते हैं। सजातीयभेद अर्थात् जैसे एक वृक्ष से अन्य वृक्ष में भेद होता है, विजातीयभेद अर्थात् जैसे मनुष्य तथा वृक्ष में भेद है। स्वगतभेद अर्थात् जैसे वृक्ष की शाखा में तथा उसके पत्तों में, फल-पुष्पादि में भेद है। ब्रह्म अखण्ड तथा एकरस है। उसमें स्वगत तथा सजातीयभेद नहीं है। सर्वव्यापित्व होने के कारण, उसके अतिरिक्त भी कुछ नहीं है, अतएव विजातीयभेद भी (ब्रह्म में) परिलक्षित नहीं हो सकता। इस कारण यह कहना होगा कि ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है। तब जीव-जगत् की सत्ता क्यों है? उत्तर है कि जीव ब्रह्म ही है, (जीवो ब्रह्मैव नापरः)। जगत् भी उससे भिन्न नहीं है। ब्रह्म ही जगत्रूपेण प्रतिभासित हो रहा है। इसका कारण है अज्ञान। ब्रह्म ही मिथ्या जगत्रूप में प्रतीयमान हो रहा है। यह माया का कार्य है। रज्जु को रज्जुरूप से उपलब्ध कर लेने पर सर्पभान नहीं रह जाता। ब्रह्म को ब्रह्मरूप से जान लेने पर जगत् की मिथ्या प्रतीति समाप्त हो जाती है। अतः अज्ञान ही ज्ञाननाशक है, यह त्रिकाल में भी सत्य नहीं है। रज्जुज्ञान न होने तक सर्पसत्ता का तथा ब्रह्मज्ञान न होने तक जगत्सत्ता का अपलाप कदापि नहीं हो सकता। अतः माया असत् नहीं है। कारण, इसकी एक बार प्रतीति तो हो ही रही है। जो सर्वदा नहीं है, जिसकी प्रतीति भी नहीं है, वही असत् रूप है। जैसे बन्ध्या-पुत्र। बन्ध्या-पुत्र कहने से अभावात्मकबोध होता है। यह विकल्प ज्ञान कहा जाता है। उक्त है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'—(योगसूत्र)। रज्जुसर्प कहने से भावात्मक 'है' रूप बोध होता है। इस प्रकार असत् एवं मिथ्या का पारस्परिक भेद विदित होता है। दोनों की ही वास्तविक सत्ता नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मिथ्या की प्रतिभासिक सत्ता अनुभूत होती है, किन्तु असत् की कोई प्रातिभासिक सत्ता भी अनुभूत नहीं हो सकती। अतएव 'इदं' प्रत्यय से संकेतित जगत् को मिथ्या कहते हैं, असत् नहीं कह सकते। इससे सिद्ध होता है कि माया अथवा अज्ञान सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है। अतः माया को सदसत् विलक्षण कहते हैं।

जो सत् है, वह त्रिकाल में सत् ही है। त्रिकाल में उसका नाश नहीं हो सकता। वह असत् अथवा मिथ्यारूप नहीं हो सकता। अर्थात् जो सर्वकाल में है, वह किसी निर्दिष्ट कालमान में भी 'नहीं है' संज्ञा से संकेतिक नहीं किया जा सकता। जिसकी सत्ता प्रातिभासिक है, वह त्रिकाल में सत्य नहीं है, तथापि वह मात्र प्रतिभास काल पर्यन्त ही सत्य प्रतीत-सी होती है। 'असत्' तो किसी भी कालमान में सत्रूप नहीं है। माया को दार्शनिकगण मिथ्या कहते हैं। वस्तुतः माया की कोई सत्ता नहीं है। जिसकी सत्ता ही नहीं है, वह आलोचना का विषय भी नहीं है। इसका उत्तर यह है कि बन्ध्या-पुत्र किसी काल में भी न होने पर, आलोचना का विषय तो हो ही जाता है। हम किसी भी ऐसी वस्तु को नहीं जानते जो सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है। ऐसी वस्तु मानव-मस्तिष्क से परे है जो सत् भी है और असत् भी। कारण, कोई वस्तु है और नहीं है, एक साथ नहीं कहा जा सकता। इसी कारण माया को अनिर्वचनीय भी कहते हैं। जागतिक दृष्टिकोण से जागतिक जन्म-मरणादि व्यापार उसके ही द्वारा सिद्ध होते हैं। अतः उसे अभाववस्तु भी कैसे कह सकते हैं? अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं है। अज्ञान तो ज्ञान के विपरीत रूप का द्योतक है। एक मात्र प्रमा-ज्ञान द्वारा इस अज्ञान का नाश होता है। ज्ञान द्वारा जिसका नाश होता है, उसे एकबारगी 'नहीं है' नहीं कहा जा सकता। अतः माया को भाववस्तु कहा गया है।

माया अनादि है। जगत् प्रपञ्च, जीव आदि माया के कार्य हैं, अतः वे माया के जनक नहीं हो सकते। ईश्वर माया की आवरण-शक्ति नहीं है। जगत् मूल में जो विक्षेप-शक्ति है, वह भी ईश्वर के अधीन है। जीव-सृष्टि ईश्वरान्तर्गत होने के कारण माया भी उनमें है, किन्तु वे माया एवं अविद्या के ज्ञाता हैं। जैसे ऐन्द्रजालिक क्षणमात्र में चित्चमत्कारात्मक विचित्र वस्तु का उत्पादन करता है, तथापि वह यह जानता रहता है कि यह सब मिथ्या है; अतः वह उनके द्वारा अभिभूत नहीं होता। ईश्वर ज्ञानस्वरूप होने के कारण मायाधीन नहीं हैं, वे नित्य-शुद्ध-बुद्ध हैं। यह कारणब्रह्म के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। कारणब्रह्म के अधीनस्थ जो ईश्वरगण हैं, वे कार्यब्रह्म कहे जाते हैं। वे मायाधीन हैं। इनका ईश्वरत्व मायाधीन है। क्योंकि मायायुक्त होने से ही ईश्वरत्व होता है। माया, जीव तथा ईश्वर—तीनों अनादि हैं। अब यहाँ शंका होती है कि ज़ब तीनों ही अनादि हैं, तब कौन किसका कारण होगा? तीनों अनादि हैं, तथापि इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध विद्यमान रहता है। शुद्ध चेतन भी माया का जनक नहीं हो सकता। ऐसा कहने से ब्रह्म भी विकारयुक्त सिद्ध हो जायेगा। ब्रह्म के विकारी होते ही ब्राह्मी-स्थिति रूप मोक्ष भी मिथ्या हो जाता है। कारण यह है कि तब मोक्ष-दशा में भी ब्रह्म में माया की उत्पत्ति को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार के मोक्ष के लिए उपदिष्ट शास्त्रोक्त प्रणाली की भी निष्फलता सिद्ध हो जाती है। अतएव माया का कोई भी जनक-जननी नहीं है। इस कारण माया

अनादि है। 'ज्ञानोदय से माया का नाश होता है' इस उक्ति द्वारा माया शान्त सिद्ध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी युक्ति द्वारा माया के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता, फलतः वह अनिर्वचनीय है।

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि माया अनादि है, तब उसे शान्त-नाशयुक्त कैसे कहा जा सकता है? अनादि के अन्त का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता। इसके उत्तर में विज्ञजन कहते हैं कि अनादि वस्तु के अन्त का दृष्टान्त है। जैसे घटोत्पत्ति के पूर्व घट का अभाव था, वह अभाव आदिशून्य था, तथापि घटोत्पत्ति के अनन्तर वह अभाव 'शून्य' हो जाता है, नहीं रह जाता। अतः कहा गया है कि तर्क, विचार द्वारा जिसका निर्णय नहीं हो सकता वही माया है। माया को किसी वस्तुरूप में स्वीकार करने पर अद्वय अखण्ड वस्तु में द्वैतोत्पत्ति हो जाती है। माया को स्वीकार कर लेने पर ब्रह्म का अद्वयत्व कहाँ रहेगा? कल्पित सर्प द्वारा रज्जु की कोई हानि नहीं होती। मरुमरीचिका के कल्पित जल द्वारा मरुस्थल सिक्त नहीं हो सकता। अतः माया द्वारा ब्रह्म की अद्वयता की हानि नहीं हो सकती। माया वास्तविक सत्ता नहीं है। यह केवल प्रतिभासित होती है। माया मिथ्या है, तथापि उसकी प्रतीति क्यों हो रही है? इसका उत्तर कौन देगा? अनिर्वचनीय का निर्णय कौन करेगा? कार्य एवं प्रमाण से इन प्रश्न का निराकरण हो सकना सम्भव नहीं है। माया अनादि तथा अमूल होने पर भी जगत् की मूल स्वरूपा है। जगत्रूपी कार्य ही माया के अस्तित्त्व का प्रमाण है। इसी कारण माया के अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मृत्तिका के नीचे सुवर्ण छिपा है। जो इस तथ्य को नहीं जानते, वे उस मृत्तिका पर मात्र यातायात ही कर सकते हैं। सुवर्ण-प्राप्ति नहीं कर सकतें। इसी प्रकार सुषुप्ति-काल में जीवगण ब्रह्मलोक के प्रान्तर पर उपस्थित होकर भी अज्ञानावृत् होने के कारण ब्रह्म को जान सकने में अक्षम से रह जाते हैं। ब्रह्म में अविद्या नहीं रहती, यह तर्कसंगत नहीं है। शास्त्र ने ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का उपदेश दिया है। अर्थात् ब्रह्म में अविद्यारोप स्वीकार न करने पर 'सदेव इदं सर्वः' (यह दृश्यमान जगत् सद्रूप ब्रह्म है) 'नेदं द्वैतमस्ति अब्रह्म' (ब्रह्मातिरिक्त इस दृश्यमान द्वैतरूप नाना विभिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है) इत्यादि ब्रह्मैकत्व ज्ञानोपदेश की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इन सब श्रुतिवाक्य से यह स्पष्ट है कि यदि बन्धन का हेतुभूत अज्ञान ब्रह्म में नहीं रहता, उस स्थिति में 'ब्रह्मज्ञान बन्धन का नाश करता है' की उक्ति अर्थहीन हो जाती। जो जहाँ नहीं है, उसकी वहाँ से निवृत्ति कैसे हो सकती थी?

अविद्या तो जो दृष्ट होता है उसमें है। जिसे आश्रय करती है, उसमें है। अर्थात् जिसमें अविद्या है, वह कहता है कि मुझमें अविद्या है। अतः आत्मा की अविद्याच्छन्नता भासित होती है, तथापि यह प्रत्यक्ष भासमानता नहीं है। इसे अनुमान द्वारा जाना जाता है। अब प्रश्न करते हैं कि वह किसको दृष्ट होती है? यहाँ

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न से यह भासित होता है कि उसने अविद्या को देखा है, साथ ही, अविद्या जिसे आश्रय करके स्थित है, उसे भी देखा है। अतः जब देख ही लिया है, तब इस प्रश्न का कोई औचित्य ही नहीं है। यहाँ उदाहरण देते हैं कि गायें चर रही हैं। उनके चरवाहे को देख कर फिर यह प्रश्न नहीं उत्थित होता कि इस गोष्ठ का चरवाहा कौन है? अब यहाँ शंका होती है कि गोष्ठ एवं चरवाहा तो नेत्र प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु अविद्या प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अतः उक्त प्रश्न सार्थक है। इसके उत्तर में कहा गया है कि यदि अविद्या एवं अविद्यावान् प्रत्यक्ष का विषय है, उस स्थिति में उसे जानने की चेष्टा ही नहीं होती। अब प्रश्न करते हैं कि अविद्या सर्वदुःख हेतुरूप है। यह कहाँ से आयी तथा इसे कैसे विनष्ट करना होगा? उत्तर है कि जिसकी अविद्या है, वह उसे नष्ट करेगा। इस पर प्रश्नकर्त्ता कह सकता है कि अविद्या तो मेरी है! उत्तर है कि तब प्रश्नकर्त्ता अविद्या को जानता है। अतः अविद्यावान् आत्मा को भी जानता है। यह शंका होती है कि जानना तो सत्य है, किन्तु यह प्रत्यक्षरूप ज्ञान नहीं है। अतः यह अनुमान- जनित ज्ञान है। उत्तर यह है कि इस परिस्थिति में अनुमान का हेतुरूप सम्बन्ध ज्ञान (व्याप्तिज्ञान) कैसे जन्मा? यदि आत्मा ही ज्ञाता है तब ज्ञान के विषय ज्ञेय का जो आत्म-सम्बन्ध है, उससे कुछ भी जानना सम्भव नहीं होता और अविद्या के परिणाम दुःखत्वादि दोष से आत्मा दूषित न होती। ज्ञेय, ज्ञातृत्व सम्बन्ध हेतु किसी दोष की भी आशंका नहीं होती। अतः आत्मा को ज्ञाता कहना उचित नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञातृत्व तो आत्मा में आरोपित होता है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है, ताप-क्रिया उस पर आरोपित है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा पर ज्ञातृभाव का आरोपण हो जाता है। अब शंका कहते हैं कि यदि सभी ब्रह्म हैं, उस स्थिति में अप्रबोध, अज्ञान किसे होगा? उत्तर यह है कि अज्ञान प्रश्नकर्त्ता को ही है। अर्थात् प्रश्नकर्त्ता भी ब्रह्म ही है, तथापि वह अविद्याच्छन्न अनुभूति कर रहा है। यदि प्रश्नकर्त्ता स्वयं को ब्रह्म, नित्यप्रबुद्ध जानता, तब कहीं भी अप्रबोध नहीं है। प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न ही अज्ञान का फल है।

इस सब प्रश्नोत्तर से यह ज्ञात होता है कि एवंविध प्रश्न निरर्थक है कि ब्रह्म में अविद्या-संचार कैसे हुआ है? किसी भी पदार्थ का आगमन देश-काल वस्तुसापेक्ष है। अर्थात् वह किसी देश, काल तथा वस्तु-माध्यम से आयेगा। देश-काल तथा वस्तु अविद्या का रूप है। अतः अविद्या से ही अविद्या आती है, यही कहना उचित प्रतीत होता है, परन्तु इस बात में कोई संगति नहीं है। इसी कारण कहा गया है कि 'अविद्या कहाँ से आती है?' यह प्रश्न ही निरर्थक है। शुद्ध ब्रह्म में अविद्या का लेशमात्र नहीं है। अविद्या शुद्ध ब्रह्म का आश्रय लेकर विद्यमान है। वह अनादि है, अतः शुद्ध ब्रह्म ही अनादि होने के कारण उसका आश्रय है। अविद्या ही शुद्ध ब्रह्म का आवरण है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म कभी भी अविद्याग्रस्त नहीं होता। यह आवरण ब्रह्म

के लिए नहीं है। आवरण जीव के लिए है। अनादि माया से जीव की दृष्टि आच्छादित हो जाती है। अब जीव 'ब्रह्म' नहीं है तथा मैं 'ब्रह्म' को नहीं जानता, इस प्रकार का अभिमान करने लगता है। मेघ द्वारा आवृत्त सूर्य को देख सकना सम्भव नहीं है। वह द्रष्टा का मत है। किन्तु सूर्य ज्योतिहीन नहीं हो जाता। सूर्य ज्योति मेघावरण से लुप्त नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म की ज्योति अविद्यावरण से उच्छिन्न नहीं हो सकती। शुद्ध ब्रह्म का लाभ होने पर 'अविद्या नामक भ्रम का कभी अस्तित्त्व था' यह भी बोध नहीं रह सकता। यह भी ज्ञातव्य है कि जब तक जीव अविद्या माया के वेष्ठन में हैं, तब तक यह जानने की चेष्टा करना कि 'अविद्या कहाँ से जन्मी' पशुश्रम के समान व्यर्थ प्रयास है। अविद्यागर्भ में रहने तक अविद्या को नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्मात्मज्ञान हो जाने पर अविद्या का अस्तित्त्व ही नहीं रह जाता। इसी कारण माया को अनिर्वचनीय कहा गया है। माया का रहस्य अत्यन्त निगूढ़ है, अज्ञेय है। आचार्य शंकर कहते हैं कि 'माया के सन्धान में जाने से कोई लाभ नहीं है। वह कहाँ से आयी है? इसे जानने की चेष्टा करने में कोई इष्ट-सिद्धि नहीं है। व्यक्ति का प्रयोजन है ब्रह्मात्मज्ञान।'

अनेक विद्वानों का मत है कि शंकराचार्य के पूर्व मायावाद नहीं था। यह कथन निरर्थक है। मायावाद का मूल वेदों में भी प्राप्त होता है। महाभारत में मायावाद का अंकन है। यह श्रीमद्भागवत का भी मान्य तथ्य है।

●

तत्व तथा उसका साक्षात्कार

तत्त्व-दर्शन क्या सम्भव है? तत्त्व शब्द पारिभाषिक है। विभिन्न दर्शनों में विभिन्न प्रकार से इस शब्द का प्रयोग किया गया है। विभिन्न दर्शनों की विभिन्न विचार-पद्धति के अनुसार तत्त्व एक, दो अथवा अनेक हो सकता है। इस स्थल पर तत्त्व शब्द का अर्थ है 'अशेष जीव जड़ जगत् समन्वित उत्पत्ति स्थितिध्वंसशील इस विश्व का जो मूल कारण है, जिससे सब उद्भूत है, जिसमें सब स्थित है, जिसमें सब विलीन होगा, जो स्वभावतः देशकालातीत होने पर भी देशकालाधीन समस्त पदार्थ का आश्रय एवं नियामक है, उसे ही तत्त्व कहा जाता है।'

तत्त्वस्वरूप का प्रतिपादन हमारा उद्देश्य नहीं है। मानव-चित्त की किस अवस्था में विश्वजगत् के मूल तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है, तथा इस साक्षात्कार के द्वारा तत्त्व सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध होना सम्भव है, अथवा नहीं, यही विचार-बिन्दु है। एक तथ्य से सभी सत्यानुसन्धित्सु विचारशील व्यक्ति एकमत हैं। वह यह है कि विश्वजगत् का मूलतत्त्व तथा मनुष्य के निज जीवन का मूलरहस्य सामान्य दृष्टि से अगोचर है। उस पर एक प्रगाढ़ आवरण आच्छन्न है। इस आवरण को सम्यक्रूप से एवं समूलरूप से हटाकर तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर सकना सम्भव है, अथवा नहीं, यही विचारणीय है।

इस सन्दर्भ में महापुरुषों तथा तत्त्ववेत्ताओं ने उपायद्वय का निर्देशन किया है। जो प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि अभ्यास द्वारा सविकल्प अथवा निर्विकल्प समाधि में उपनीत हैं, उनकी ध्यानानुभूति का विवेचन दो प्रकार से करना उचित होगा। प्रथमतः उनके प्रत्येक साधना-स्तर की अनुभूति का यथायथ रूप से विश्लेषण तथा द्वितीयतः व्युत्थित अवस्था में उनके सम्मुख जगत्-स्वरूप का क्या रूप रहता है, इसकी विवेचना। इससे तत्त्व सम्बन्धित आवरण का उन्मोचन हो सकता है। एकमात्र समाधियुक्त अथवा समाधिज प्रज्ञायुक्त योगीगण ही इस सन्दर्भ में स्पष्ट दिशा-निर्देश दे सकते हैं। जिनको ध्यान-समाधि प्रभृति की यथार्थ अनुभूति नहीं है, उनके लिए ऐसा कर सकना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

द्वितीय उपाय है मनोवैज्ञानिक[1] (आधुनिक मनोविज्ञान यहाँ तात्पर्यार्थ नहीं है) विधान द्वारा चित्त के स्तरों का विश्लेषण। इससे यह ज्ञात होगा कि कौन सा स्तर

1. यहाँ मनोविज्ञान का तात्पर्य है सूक्ष्मशरीरस्थ मन की सत्ता में प्रवेश तथा वहाँ के संस्कार-जनित संवेग का अवलोकन।

तत्त्व-साक्षात्कार के लिए उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त है। जिनकी वैज्ञानिक दृष्टि है, वे इसी पद्धति का अवलम्बन करते हैं। इसके अनुसार मानव का चित्त मुख्यतः तीन प्रकार का परिलक्षित होता है, चंचल, एकाग्र तथा निरोधयुक्त। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त मुख्यतः चंचल अवस्था में क्रियाशील रहता है। कभी-कभी चंचलता से उपरत होकर एकाग्रता का अनुभव भी करता है। प्रगाढ़ सुषुप्ति में चित्त निरुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक जीवन में चित्त की यही तीन अवस्था होती है। जब साधक ध्यान का अभ्यास करते हैं, उस स्थिति में भी चित्त की उपरोक्त अवस्थात्रय का अनुभव होने लगता है। ध्यानाभ्यासी साधक उस चंचल स्थिति को क्रमशः एकाग्र एवं निरुद्ध दशा में परिवर्तित करने के लिए सचेष्ट रहता है।

यहाँ यह शंका उत्थित होती है कि यदि साधारण अवस्था के ही समान ध्यानाभ्यास में भी चित्त की अवस्थात्रय का उद्वेलन होता है, तब ध्यानाभ्यास का क्या प्रयोजन? उत्तर यह है कि कोई भी साधक केवल-मात्र एकाग्रता अथवा निरोध के ही उद्देश्य से ध्यानाभ्यास नहीं करता। प्रत्येक साधक का एक लक्ष्य है। वह अन्यान्य विषयों से चित्त को प्रत्याहृत करके, अपने अभीष्ट विषय में चित्त को एकाग्र करने के लिए तन्मय होकर साधना करता है। इस प्रकार की बहुकालव्यापिनी एकाग्रता, तन्मयता का उदय स्वाभाविक रूप से हो ही नहीं सकता। स्वाभाविक रूप से जिस विषय की ओर चित्त आकृष्ट होता है, वहाँ कुछ काल के लिए एकाग्रता का अनुभव अवश्य होता है, तथापि उस पर व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति अथवा विचार-शक्ति का कोई प्रभुत्व न होने के कारण, उस सम्बन्ध में (एकाग्रता के सन्दर्भ में) व्यक्ति की कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। इसी प्रकार सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा की स्थिति में भी चित्तवृत्ति निरुद्ध-सी हो जाती है। किसी-किसी विषय के प्रति अत्यधिक अभिनिवेश के कारण, उस भाव के प्रति (उस विषयजनित भाव के प्रति) निरोध के समान अवस्था की उपलब्धि होती है, तथापि उससे व्यक्ति को अभीप्सासिद्धि नहीं होती। यही कारण है कि साधकगण अपने-अपने संस्कार तथा विचार के अनुरूप लक्ष्यसिद्धि के लिए ध्यानपरायण हो जाते हैं। चित्त की अवस्था के अनुरूप स्वाभाविक तथा ध्यानलब्ध एकाग्रता तथा निरोध के विषय में पार्थक्य न रहने पर भी स्वाभाविक एकाग्रता को उद्देश्यमूलक कहा गया है।

साधक ध्यानतत्पर होने पर गुरुपदेश, शास्त्रोपदेश, किंवा स्वकल्पना अथवा अनुमान के आधार पर एक ध्येय वस्तु का निरूपण अथवा निश्चय करते हैं। ध्येय-व्यतीत ध्यान सम्भव ही नहीं होता। विभिन्न श्रेणी अथवा सम्प्रदाय के साधक विभिन्न प्रकार की धारणा अथवा कल्पना का प्रतिपादन करते हैं। साधक के अधिकार स्तर भेद से धारणा (कल्पना) का परिवर्तन भी हो सकता है। प्रत्यक्षतः एक स्तर में ध्येयावलम्बन से ध्यानाभ्यास किया जाता है। एक विशेष ध्येयावलम्बन द्वारा साधक

स्व-चित्तवृत्ति को उसी ध्येय में संलग्न तथा समाहित करके प्रयत्नरत हो जाता है। वह तद्विरोधी चित्तवृत्तिसमूह का निराकरण करने में तत्पर रहता है। जाग्रदावस्था में पूर्वसंस्कार-प्रभाव से नाना प्रकार के चाञ्चल्य की क्रीड़ा होती रहती है। इसी कारण साधक के लिए किसी एक विषय में चित्तैकाग्र्य आयाससाध्य है। चांचल्यवशात् एक ही समय में विभिन्न विषयों का उदय-विलय होते रहने के कारण साधक एक अभीष्ट ध्येय में चित्त संलग्न करने के लिए अभ्यासरत रहता है। क्षणकाल के लिए ध्येय-बिन्दु पर एकाग्रता होते ही संस्कार-प्रभाव से उद्भूत विषय चित्त को आच्छन्न कर लेते हैं। फलतः विक्षेप तथा चांचल्य के साथ साधक का युद्ध चलता रहता है। इसे योगशास्त्र प्रत्याहार श्रेणी के अन्तर्भुक्त करता है। विषयों से चित्त को प्रत्याहृत करके ध्येय के साथ संलग्न रखना ही प्रत्याहार है। सुदृढ़ संकल्प द्वारा प्रत्याहार सिद्ध होने पर चित्तचांचल्य का प्रशमन होता है और ध्येय वस्तु मे किंचित् एकाग्रतारूप 'धारणा' का उदय होने लगता है। इस स्थिति में भी ध्येय के साथ चित्त पूर्णतः लग्न नहीं हो सकता। चित्तचांचल्य से धारणा में भी विरुद्धधर्मी स्पन्दनात्मक क्रिया होने लगती है। क्रमशः अभ्यास द्वारा ध्येय के साथ चित्त की सुदृढ़ लग्नता के फलस्वरूप ध्येयविषय सुस्पष्टरूपेण भासित होने लगता है। अब चित्त भी एकवृत्तिक धर्मग्रहण करके ध्येय विषय से दृढ़रूपेण संलग्न होने लगता है। अन्यान्य चित्तवृत्ति अनुद्बुद्ध संस्कार रूप से चित्त के निम्नस्तर में स्थित हो जाती है।

ध्यान की गम्भीरता एवं स्थायित्व में तारतम्य है। वह अभ्याससापेक्ष है। कभी-कभी यह गम्भीरता इतनी प्रगाढ़ हो जाती है, जिससे चित्त का स्रोत कार्यतः बद्ध हो जाता है। साधक का परिस्फुट अहंबोध भी नहीं रह जाता, ध्येय तथा ध्यानवृत्ति के मध्य कोई विभेद भी उपलब्धिगोचर नहीं हो सकता। यह एकाग्रता की चरमावस्था है। इसे सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधि कहते हैं। अभ्यास की दृढ़ता से यह अवस्था क्रमशः गम्भीरतम एवं दीर्घकालस्थायिनी हो जाती है। अब ध्येय भी अन्तर्निहित हो जाता है। चित्त की ध्येयाकार वृत्ति नहीं रह जाती। चित्त की इस सर्ववृत्ति निरुद्ध स्थिति को असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में भी चित्त वर्तमान रहता है, अन्यथा व्युत्थान कैसे होता? तथापि चित्त कैसे अवस्थान करता है, किस रूप में अवस्थित रहता है, यह जानने का भी उपाय नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि कौन सी अवस्था कैसे अनुभूत होती है? साधक-साधना में जिसे ध्येयरूप से स्वीकार करता है, प्रत्याहारकालीन चंचलावस्था में उसके स्वरूप का चित्त पर यथार्थ प्रतिफलन नहीं हो सकता। उस स्थिति में इच्छा न होने पर भी पूर्वसंस्कार तथा अभ्यासजनित नाना चिन्ता-भावना द्वारा चित्त आन्दोलित होता रहता है। यहीं साधक स्व-प्रयत्न द्वारा पूर्वसंस्कारों को उपेक्षित करके स्वध्येय वस्तु पर संलग्न होने लगता है। ध्यान की ध्येयदर्शनरूप अवस्था द्विविध है। प्रथम

में स्पर्श-मात्र होता है, द्वितीय में स्थिति हो जाती है। स्पर्श-मात्र का तात्पर्य है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का स्पर्श जो ध्यानज ध्येय से सम्प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, ध्यान में किसी दिव्यात्मा का आविर्भाव होता है। उसके शब्द का श्रवण, अंग का स्पर्श, रूप का दर्शन, रसास्वाद तथा गन्ध का आघ्राण, सभी स्पर्शसंज्ञावाच्य है। प्रत्येक इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय का स्पर्श करती हैं। इतने पर भी यह वास्तविक दर्शन नहीं है। कारण यह है कि काल बीतने पर यह आविर्भाव पुनः तिरोधान में परिवर्तित हो जाता है। अतएव ध्यान में दृढ़स्थिति होना आवश्यक-सा है। स्पर्श को अभास- रूप कहते हैं। इससे व्यापक परिवर्तन संगठित नहीं हो सकता। मात्र आनन्द होता है, तथापि यह भी एक प्रकार का विषयरस ग्रहण ही है। परिवर्तन का तात्पर्यार्थ है एक अस्थायी अवस्था से अन्य अवस्था की प्राप्ति के कारण स्थिति-भाव का आविर्भाव। स्थिति अवस्था रसहीन होती है। वेदान्तसार के अनुसार समाधि के चार अन्तराय हैं—लय, विक्षेप, कषाय तथा सुखास्वाद। अतः स्थिति-अवस्था रसास्वादहीन होने के कारण अन्तरायविहीन होती है।

लय अवस्था अनेकांश में निद्रा के समान है। यह मूढ़भाव है। गौडपादाचार्य कहते हैं कि लयावस्था में भी चित्त को सम्बोधित करते रहना चाहिये, जिससे वह जगा रहे। लयभाव तत्त्वज्ञान—विरोधी है। विक्षेपकाल में चित्त को शान्त रखना चाहिये। पतञ्जलि के अनुसार चित्तविक्षेप में रजोगुण प्रधान कारण है। कषाय का तात्पर्य है राग, द्वेष, मोह। मधुसूदन सरस्वती तथा सदानन्द के अनुसार स्तब्धता ही कषाय है। कषाय प्रशमित होता है विज्ञानरूप विवेवज्ञान द्वारा। समाधि में चित्तैकाग्र्य की प्राप्ति होती है। आचार्य कहते हैं कि इस अवस्था में सुखास्वादन नहीं करना चाहिये। 'नास्वादयेत सुखं तत्र'। सुखास्वाद ही भोग है। यहाँ प्रज्ञावलम्बन द्वारा निःसंग रहना चाहिये। इससे चित्स्वरूप में स्थायित्व प्राप्त होता है। चित्त निश्चल एवं एकीभूत हो जाता है। अतः सुखास्वादनरूप रस-ग्रहण की स्थिति ही समाधि का विघ्न, अन्तराय है। लय, विक्षेप, चलन, तथा आभासन (विषयाकार में प्रतिभासन) से मुक्त चित्त ही ब्रह्म है। चित्त की यह निराभास अथवा अनाभास अवस्था ही निर्विकल्प दशा है। इसे आचार्यगण चिन्तनाशून्य अवस्था भी कहते हैं। लंकावतार सूत्रानुसार चिन्तनाशून्य अवस्था ही बुद्धभूमि है। आचार्य गौड़पाद ने इसे अकथ्य उत्तम कहा है। समाधि अन्तरायरूप रसास्वाद हेय है।

निर्विकल्प समाधि अभ्यास से चित्तनैपुण्य होता है। इस स्थिति में भी परमात्म वस्तु में चित्त का लय होता है तथापि यह समाधि का अन्तराय नहीं है। जब आलस्यवश चित्त की स्थिति मूर्च्छना में रहती है, तथा वह बाह्य विषयों से विरत रहता है, तब उस पर प्रत्यगात्म प्रकाश नहीं पड़ता। अब स्तब्धता के समान जड़ता का आविर्भाव होने लगता है। यही वह लय है, जो समाधि का अन्तरायरूप है।

विक्षेप के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। साधना का अन्तरायरूप राग त्रिविध है। बाह्य, आभ्यन्तर तथा वासनारूप। पुत्र, कन्या, ऐश्वर्य, कीर्ति आदि में अनुरक्ति है, वह बाह्यराग है। मनोमय कल्पना राज्य में विचरण ही आभ्यन्तर राग है। तृतीय राग में वृत्तिरूपता नहीं है। यह संस्काररूप है। अनेक जन्मों के बाह्य तथा आभ्यन्तर रागानुभव से उत्पन्न संस्कार को ही राग कहते हैं। इस संस्कार राग से कलुषित हो रहे चित्त को प्रयत्न द्वारा अन्तर्मुख किया जाता है। यह अन्तर्मुख चित्त चैतन्य का संस्पर्श न मिलने के कारण गन्तव्यबिन्दु पर स्थित होने के पूर्व स्तब्ध होने लगता है। अखण्ड वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील चित्त को रागादि संस्कार अभिभूत करके स्तब्ध बना देते हैं। अतएव अखण्ड वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। यही समाधि का अन्तराय कषाय है।

हठयोगीगण कहते हैं कि योग की आरम्भ, घट, परिचय तथा निष्पत्ति अवस्थाओं में क्रमशः उत्तरोत्तर ग्रन्थि-भेद होने के कारण आनन्दाभूति होने लगती है। इससे एक की उपेक्षा दूसरे में अधिक आनन्द है। प्रथम अवस्था में किंचित् ग्रन्थि-भेद होने के कारण आनन्द, द्वितीय में ततधिक ग्रन्थि-भेद होने के कारण प्रथमावस्था से अधिक आनन्द होता है। यह परमानन्द है। तृतीय में और अधिक ग्रन्थि-भेद होने के कारण चित्तानन्द का उदय होने लगता है। इन आनन्दत्रय का त्याग करके और ऊपर उठना चाहिये। सभी आनन्दों में क्रम हैं। वे परिमित हैं। परिमितरूप होने के कारण इन सभी में विषय रहता है। तदनन्तर चतुर्थावस्था में सहजानन्द होता है। सहजानन्द में विषय-रस नहीं है। यह अपरिमेय आनन्द है। इसे स्वाभाविक आत्मसुख कहते हैं। यही राजयोग है। स्वरूपानन्द रूप सहजानन्द की स्थिति भोग से परे है। पातंजलोक्त सम्प्रज्ञात समाधि में आनन्दावस्था का आस्वाद प्राप्त होता है। इस आनन्द का अतिक्रमण करना आवश्यक है। अतिक्रमण के अनन्तर अस्मिता में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। तत्पश्चात् विवेकख्याति के प्रभाव से स्वरूपावस्थान होता है। प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतानुसार काम से कलंकित जगत् के व्यक्ति के कलुषित चित्त को साधना द्वारा निष्काम ज्योतिर्मय चित्तरूप में परिणत किया जा सकता है। यही रूपचित्त है। रूपचित्त ही ध्यानचित्त है। ध्यानचित्त में ध्यानांग रूप में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता रहती है। अन्तिम अवस्था में मात्र एकाग्रता की ही सत्ता अवशिष्ट रह जाती है। अब एकावलम्बन में चित्त निश्चिन्त हो जाता है। इस वर्णना से स्पष्ट है कि सर्वान्त में सुखरूप रसास्वादन का परित्याग करके अग्रसर होना चाहिये, अन्यथा एकावस्था प्राप्त नहीं होती। ध्यानचित्त में सुख नहीं है। वहाँ उपेक्षा एवं एकाग्रता अवस्थित रह जाती है। एकाग्रता की पूर्णावस्था ही अपर्णा है। यही पूर्ण समाधि है। अब चित्त जाग्रत् रहता है, परन्तु इन्द्रियसमूह की बाह्यगति रुद्ध हो जाती है। बाह्यइन्द्रियाँ स्व-स्व आलम्बन से सन्निकर्षयुक्त रहती हैं, तथापि मनस्कार (मन

से योग) का अभाव रहने के कारण विषय-सम्पर्क नहीं हो पाता। यही यथार्थ एकाग्रता है। इसमें चित्त का समाधान हो जाता है और वह पदार्थ का यथार्थ स्वभाव ज्ञात कर लेता है। यही है प्रज्ञा का उदय तथा तृष्णाक्षय। रूपध्यान ही शमथ है। शमथ से चित्त बलशाली, शुद्ध तथा सूक्ष्म होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को अनित्य, दुःखमय तथा शून्यरूपेण उपलब्ध करना चाहिये। यही विशुद्ध ज्ञान है। अब चित्त को निर्वाण में लगाया जाता है। इससे वास्तविक शान्ति का सन्धान मिल जाने पर भी शान्त्यावस्था का उदय होने के कारण निर्वाण का मार्ग अवरुद्ध-सा रहता है। इस तृष्णा के कारण रूपलोकों में (उच्चस्तरीय देवलोक में) दिव्यजन्म की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु निर्वाण नहीं मिलता। अतः रसास्वादन सर्वथा वर्जनयोग्य है।

साधक का दर्शन आंशिक दर्शन है। साधक में आंशिक भाव रहता है। ब्रह्म निरंश है। अतः उसका दर्शन ही अखण्ड दर्शन है। पूर्ण का दर्शन सदैव पूर्ण होता है। इसे ही यथार्थ स्थिति कहते हैं। ब्रह्म अखण्ड है, अतः उसका आंशिक दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। साधक को उसकी अपूर्ण अवस्था में जो दर्शन मिलता है, वह यथार्थ न होकर मात्र दर्शनाभास है। ध्यान में यह आभास ही प्राप्त होता है। आभास से जीवन में परिवर्तन कैसे होगा? जो आकारध्यान करते हैं, वे रूप के उपासक हैं। वे इच्छानुसार अथवा गुरु परम्परानुसार किसी रूप का ध्यान करते हैं। जो निराकारोपासक हैं, वे रूप अथवा मूर्ति का ध्यान नहीं करते। यह सब आभासरूप ध्यान कहा गया है। यह सब एकांश ध्यान है। अब यह प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये? एकांश ध्यान से सर्वांश पूर्ण की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसके समाधानार्थ एकांश तथा सर्वांश के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। साधारणतः जिस अंश को चित्त आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है, उस अंश के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता का प्राकट्य चित्त में हो ही नहीं सकता। यह यथार्थ शक्ति नहीं है। एक के साथ अन्य का भेद सम्बन्ध रहना एक लौकिक नियम है। यद्यपि अंश तथा अंशी मूलतः अभिन्न थे, तथापि अभी भेद की ही प्रधानता है। इस परिस्थिति में एक अंश का ध्यान करते रहने से सर्वांश को कैसे धारण किया जा सकेगा? यह मान्यता भी युक्तिसंगत है। योगीगण कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का अन्य जातीय वस्तु के साथ तादात्म्यपूर्ण सम्बन्ध रहता है। अतः सर्वांश में अंश है तथा अंश में सर्वांश है। इस प्रकार बाह्यदृष्टि में प्रधान अंश ही दृष्टिगोचर होता रहता है। अन्य अंश बाह्यतः प्रच्छन्न रह जाते हैं। अन्तर्मुखी दृष्टियुक्त साधक के लिए कुछ भी गुप्त नहीं है। उसे यह उपलब्धि होती है कि प्रत्येक वस्तु में समस्त विश्व भासमान है तथा प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि में परमकारण सन्निहित है। गुरुशक्ति के प्रभाव से अन्तर्मुखी दृष्टि की प्राप्ति के फल से सभी वस्तुओं में समस्त विश्व की सत्ता भासित होने लगती है। अर्थात् सर्वत्र चैतन्य का प्रसार अनुभूत होने लगता है। उसे सद्गुरु की शक्ति का अनुग्रह

मिलता है। निर्विचार चित्त से सद्गुरु की आज्ञा का पालन करने से ऐसा होता है। यही वह उपाय है, जिससे एकांश के ध्यान से सर्वांश का प्रतिफलन होने लगता है।

ध्यान शब्द अनेकार्थवाचक है। साधक की अपनी-अपनी भावभंगी के अनुसार ध्यान का अर्थ भासित होता है। वास्तविकता तो यह है कि ध्यान का एक वास्तविक तथा एक अवास्तविक भेद विद्यमान है। साधक-मण्डली में प्रचलित अनेकविध ध्यान को अवास्तविक ही कहना पड़ता है। 'आनन्दास्वाद तथा तन्मयता से ध्यान में वास्तविकता का संचार होता है।' यह भी अवास्तविक मान्यता है। अधिकांश स्थल पर ध्यानकाल में चित्त एक प्रकार के ध्यानजनित आनन्द में मग्न हो जाता है। अर्थात् मन आत्मविस्मृत-सा हो उठता है। इस प्रकार का ध्यान वास्तविक नहीं कहा जा सकता। आनन्द का आस्वादन समाधि का अन्तराय, विघ्नस्वरूप कहा गया है। वास्तविक ध्यान अवस्था में अज्ञानसम्भूत भाव की सत्ता ही नहीं रहती। सम्यक् ध्यानावस्था में एक अचेतन तथा जाग्रत् भाव की विद्यमानता अक्षुण्ण रह जाती है। वेदान्त में सुषुप्ति के दो भेदों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम है 'सुखमहमस्वापनम्' अर्थात् खूब आनन्द से सोना। द्वितीय है 'न किञ्चित् वेदितम्' अर्थात् मैंने कुछ भी नहीं जाना। प्रथम है रसास्वादन। द्वितीय को अज्ञानावस्था कहते हैं। वास्तविक ध्यान- काल में इन दोनों की सत्ता ही नहीं रहती। यथार्थ ध्यान का आनन्द भोगानन्द नहीं है। वह 'मूल का आस्वादन' अथवा स्वरूपानन्द है। इसी कारण वास्तविक ध्यान के पश्चात् ब्रह्मानन्द भी रसहीन-सा प्रतीत होने लगता है। वास्तविक ध्यान का प्रधान लक्षण है वैराग्य। इस वास्तविक ध्यान में गाढ़ता के साथ विश्व की मूलभूत प्रकृति के प्रति स्वाभाविक वैराग्य का उन्मेष होने लगता है। नित्य-अनित्य का विवेक स्वसत्ता में संचरण करने लगता है।

अब वैराग्य तत्त्व भी विवेचित किया जा सकता है। वैराग्य का तात्पर्यार्थ है वितृष्णा। योग शास्त्रानुसार वैराग्य द्विविध है। पर वैराग्य तथा अपर वैराग्य। काम्य तथा भोग्य वस्तु के प्रति वितृष्णा ही अपर वैराग्य है। इस जगत् से लेकर लोक-लोकान्तर पर्यन्त किसी भी भोग्य वस्तु के प्रति आसक्ति का अभाव परवैराग्य कहलाता है। यह अनासक्ति जगत् अथवा बाह्यविषयों के प्रति विरक्ति तुच्छत्व बुद्धि अथवा द्वेष रूप कदापि नहीं है। यह भोगाकांक्षा के विराम के कारण विषयों के प्रति उदासीनता- मात्र है। अब शरीर तथा मन के उपादान इस प्रकार से परिवर्तित हो जाते हैं कि उनमें विषय सम्बन्ध का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस स्थिति में विषयस्पर्श की सम्भावना भी चित्त को व्याकुल कर देती है। हृदय में धधकती वैराग्य-अंग्नि के रहते सांसारिक सुख कभी भी तृप्तिकर नहीं हो सकते। वैराग्य में जगत् की वस्तुओं से उपेक्षा का भाव नहीं रहता। वैराग्यवान जगत् की वस्तुओं को चित्त से ग्रहण ही नहीं करता।

इससे भी ऊर्ध्व स्थिति परवैराग्य की है। जब चित्त भोग्य पदार्थ समूह-मात्र से ही विरक्त न रहकर परिणामशील जगत् के मूल उपादानों के प्रति वैराग्यवान हो जाता है, उस अवस्था में यह वितृष्णा ही परवैराग्य पदवाच्य है। परवैराग्यावस्था में लोक-लोकान्तर के ऐश्वर्य भी तुच्छ प्रतीत होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि तथा उससे जनित प्रज्ञा एवं विवेक ज्ञान तक से वितृष्णा हो जाती है। गुण संश्लिष्ट रूप से आत्मस्वरूप का दर्शन न होने तक परवैराग्य का उन्मेष नहीं होता। परवैराग्य के साथ-साथ संस्कारात्मक चित्त भी यथायथरूपेण निरुद्ध हो जाता है। परिणामस्वरूप चित्तस्वरूप आत्मा की स्वरूपप्रतिष्ठा सम्पन्न हो जाती है। यहाँ विषय के स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है। जिसमें विष है और जो हानि पहुँचाकर अन्धकार में ले जाता है, वही विषय है। जिसमें विषय की गन्ध नहीं है, उसे निर्विष अर्थात् अमृत कहते हैं। वास्तव में विषयरूप कुछ भी नहीं है। एकमात्र अखण्ड ज्ञान ही विद्यमान है। इतने पर भी मनुष्य कालाधीनता के कारण, देहबोध की प्रधानता से, अनात्म में आत्मभावना हो जाने से सभी कुछ को विषयरूप में ग्रहण करने लगता है। बन्धनों का उच्छेद होते ही विषय भी प्रविलीन हो जाते हैं।

ध्यान के प्रसंग में विक्षेप भी ज्ञातव्य है। विक्षेप का कारक है मन। मन की चंचलता तो सर्वज्ञात तथ्य है। मन को स्थिर करने के लिए साधना का प्रयोजन स्वीकार करना ही होगा। साधन-ध्यान के लिए पार्श्ववर्त्ती स्थितियों की अनुकूलता भी महत्त्वपूर्ण है। चंचलता के कारणसमूह से दूर ही रहना श्रेयस्कर है। मनस्थैर्य के उपरान्त किसी भी सावधानी की आवश्यकता नहीं रह जाती। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान परिवेश में अनुकूलता अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। चित्तविक्षेप के अनेक कारण स्वयं ही आ उपस्थित होते हैं। इसी कारण मन की स्थिरता कष्टदायक प्रतीत होती है। सर्वत्र ही चित्तविक्षेप के कारण उपस्थित हो जाते हैं, अतः उन विक्षेपों के रहते हुए भी कौशल द्वारा चित्तविक्षेप समूह का शमन करना चाहिये। मनुष्य ऐसी शक्ति का धारक है जिसके माध्यम से वह बहुत्व में भी एकत्वान्वेषण कर सकता है। इस एकत्व को वह बुद्धि में एकत्रित भी कर सकता है। अतः एक की ओर लक्ष्य रखना ही चाहिये। चतुर्दिक् विक्षेप से घिरे होने पर भी, एक ओर दृष्टि निविष्ट रखने से विक्षेप समूह प्रभावहीन होने लगता है। एक समय ऐसी अवस्था हो जाती है, जब विक्षेपों के रहने पर भी चित्त में विक्षिप्तता नहीं आती। इसका कारण है दृष्टि की अन्तर्मुखता। यदि कोई यह विचार करता है कि 'जब लहर नहीं रहेगी, तब नदी में गोता लगाना चाहिये', यह विचार ही त्रुटिपूर्ण है। कारण, नदी में तो सर्वदा लहर उठती ही रहती हैं। सर्वश्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि लहरें भी उठती रहें और डुबकी लगाते रहें। इसी प्रकार यह सोचना कि 'जब विक्षेप नहीं रहेगा, तब एकाग्र होकर ध्यानाभ्यास करूँगा' व्यर्थ का विचार है। इस प्रतीक्षा से यह अच्छा है कि विक्षेपपूर्ण अवस्था में ही ध्यानाभ्यास में लग जाना।

ध्यानराज्य में विश्वास की महिमा की इयत्ता ही नहीं है। आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला है 'विश्वास'। विश्वास के अभाव में अनन्तपथ पर अग्रसर हो सकना असम्भव-सा है। श्रद्धा तथा विश्वास का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। श्रद्धा ही ज्ञानोदय का प्रधान कारण है। योगसूत्र के उपायों में श्रद्धा को सर्वोच्च माना गया है। इससे विशुद्ध प्रज्ञा का उदय होता है। वैष्णवगण भी विश्वास को आधाररूप से स्वीकृति देते हैं। ईसाई धर्मावलम्बी लोगों ने विश्वास, आशा तथा दानरूप त्रिकृत्य में विश्वास को सर्वप्रधान माना है। अतएव विश्वास की महत्ता सिद्ध हो जाती है। सन्दिग्ध चित्त दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। 'संशयात्मा विनश्यति'। सर्वभौम दृष्टि के अनुसार अल्पाधिक मात्रा में विश्वास सर्वत्र विद्यमान है। जब विश्वास की मात्रा न्यून है, तब वह संशयाच्छन्न है। न्यूनता रहने पर भी उसका बीज पूर्णतः विलुप्त हो ही नहीं सकता। संशयाकुल चित्त में भी विश्वास-बीज की विद्यमानता रहती है। अनुकूल स्थिति में यही विश्वास-बीज क्रमशः विकास को प्राप्त होता है।

नृद्देह (मनुष्य-देह) अत्यन्त दुर्लभ है। अनगिनत योनियों में परिभ्रमण के उपरान्त इस देवदुर्लभ नरदेह की प्राप्ति होती है। केवल-मात्र इसी देह में पूर्ण भगवत्- प्राप्ति सम्भव है। यह भी असन्दिग्ध है कि प्रत्येक मानव भगवत्-प्राप्ति कर सकता है। यद्यपि विश्वास का विषय तथा लक्ष्य भिन्न हो सकता है, तथापि विश्वासविहीन मनुष्य का कहीं भी अस्तित्त्व ही नहीं है। सत्संग अथवा कृपा के प्रभाव से अन्तस्थ विश्वास-बीज का प्रस्फुटन होने लगता है। वास्तव में सत्संगादि के द्वारा किसी बाह्य प्रदेश से विश्वास नहीं आता, प्रत्युत् मनुष्य में बीजरूपेण निहित विश्वास का ही अंकुरण होने लगता है। क्रमशः वह बाह्यतया अभिव्यक्त होता है। इस तत्त्व के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक मात्र स्व का ही विश्वास किया जाता है। जिसे हम स्वात्मीय मानते हैं, उसी का विश्वास करते हैं। अन्य को आत्मीय मानने पर विश्वास के मूल में शिथिलता आ जाती है। इस व्यवहार जगत् में आत्मा-अनात्मा शब्द का प्रयोग करते हैं। मूल में एक सत्ता होने पर भी हम (जागतिक दृष्टिकोण के कारण) आत्म-अनात्म रूप विभाग के लिए विवश हैं। आत्मा ही अपना है। यही यथार्थ 'स्व' है। आत्मा को अपना निजस्व मानना ही विश्वास है। आत्मा को अनात्मा मानना ही अविश्वास है। वस्तुतः अनात्मरूप कुछ भी नहीं है। सर्वत्र आत्मदर्शन होने पर अनात्मभाव की सत्ता विलुप्त हो जाती है। अब सब कुछ आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। यही यथार्थ विश्वास है।

अविश्वास-विश्वास की क्रीड़ा मन के द्वारा होती है। मन ही विश्वास अथवा अविश्वास का निर्णय लेता है। मन को यथार्थ विश्वास के योग्य बनाना ही साधना है। मन साधना द्वारा पुष्ट होता है। ध्यान की सफलता मन की पुष्टि पर आधारित रहती है। मन परमवस्तु को पाकर पुष्ट हो जाता है। अन्य किसी उपाय से मन की पूर्ण

पुष्टता सम्पादित नहीं हो सकती। सांसारिक तत्त्व तथा रससमूह से जिस तृप्ति का अनुभव होता है, वह सामयिक तृप्ति है। मन कभी भी सामयिक पुष्टि से तृप्त नहीं हो सकता। कुछ काल के पश्चात् उसमें पुनः चंचलता का समावेश होने लगता है। परमवस्तु से जो पुष्टि होती है, उससे मन अनन्तकाल के लिए तृप्त हो जाता है। उसमें स्थिरता तथा व्युत्थानरहित अवस्था का संचार होने लगता है। वह परमशान्त होकर परमसत्ता से एकरसता को प्राप्त करता है। वह स्वभाव की धारा में गतिशील होने लगता है। यथोचित पुष्ट मन द्वारा साधना करने पर जड़समाधिरूप विघ्न बाधित नहीं करते। पुष्ट मन स्वयं को जानना चाहता है। परिणाम यह होता है कि वह उचित क्षण में अपनी उपलब्धि कर लेता है।

परमासिद्धि के लिए ध्यान-साधना की विशेष उपादेयता रहती है। कतिपय महाभाग्यवान ध्यान साधनादि के अभाव में ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं। यह फल-प्राप्ति पूर्व जन्मार्जित सुकर्मरूप साधना का प्रतिफल है। अहैतुकी कृपा से भी यह अवस्था सम्प्राप्त हो जाती है। यह अलौकिक स्थिति सार्वजनीन नहीं है। यहाँ क्रममार्ग का वर्णन किया जा रहा है, जो सार्वजनीन होता है। अहैतुकी कृपा श्रीभगवान् का स्व-स्वातन्त्र्य है। वह विवेचना का विषय ही नहीं है। सामान्यतः सिद्धि-प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना का आश्रय लेना ही होगा। साधना व्यर्थ नहीं जाती। एक जन्म में फलप्रसवा न होने पर भी साधना का बीज संस्काररूप से संरक्षित हो जाने के कारण उसकी पुष्टि पर-पर जन्मों में होने लगती है। कई साधक अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इस स्थल पर पूर्वजन्मार्जित साधना इह जन्मार्जित से युक्त होकर त्वरित फल प्रदान करती है। इन सब अपवादों के होने पर भी समुचित रूप से ध्यान-साधना का दीर्घकालीन अभ्यास अत्यावश्यक है। लक्ष्यरूपी प्रकाश-किरणों के आविर्भाव पर्यन्त ध्यान-साधना में विघ्न नहीं पड़ना चाहिये। अखण्ड तैलधारारूप से ध्यान करते रहने से सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ समय अथवा काल परिणाम का विचार करना उचित नहीं है। काल की गणना बाह्यतत्त्वरूप से होती है, तथापि काल पूर्णतः आन्तरिक तत्त्वरूप है। अतः जिस कार्य की सिद्धि एक वर्ष में होती हो, तीव्र वेग से करने पर वह कार्य 10 माह में सम्पन्न हो सकता है। संवेग की तीव्रता तारतम्य से काल की मात्रा भी घट जाती है। अतएव स्थूल दृष्टि से यह निर्णय नहीं हो सकता कि किस ध्यान-साधना द्वारा कितने समय में फल की प्राप्ति हो सकेगी? साधक के प्राणभरे प्रयास के सम्मुख बाह्यकाल को संकुचित होना पड़ता है। वास्तव में काल एक ही है। उसमें बाह्यान्तर रूप विभेद कीं सत्ता ही नहीं है। इस सूक्ष्मता का परिदर्शन महाज्ञानी सिद्ध ही कर सकते हैं। फल-प्राप्ति में विलम्ब का कारण तथा फल प्राप्ति में शीघ्रता का कारणज्ञान सामान्यावस्था में नहीं किया जा सकता। जिस कर्म से जिस फल का विकास होना अवश्यम्भावी है, उस फल का उदय नहीं होने तक विश्वास तथा

श्रद्धायुक्त होकर ध्यानाभ्यास करना अत्यन्त श्रेयस्कर कहा गया है। गुरु-परम्परा के अनुसार क्रियमाण ध्यान-साधना का अनुष्ठान फलाकांक्षा रहित होकर करते रहना चाहिये, तभी फल-प्राप्ति होती है।

महायोगी पतंजलि कहते हैं कि दीर्घकाल पर्यन्त नैरन्तर्य तथा आदर के साथ ध्यान-साधना में निरत रहने से साधक का आधार दृढ़ होने लगता है। नैरन्तर्य का तात्पर्यार्थ है, निरवच्छिन्न साधना। साधना की धारा में व्यवधान पड़ने से प्रकृति का पर्दा साधना-धारा के सम्मुख पड़ जाता है। साधना के प्रति श्रद्धा की न्यूनता भी व्यवधानकारिणी है। श्रद्धा-विश्वास का उदय ही सिद्धि का लक्षण है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं', की उक्ति अक्षरशः सत्य है। श्रद्धा-विश्वास तथा दीर्घकालीन अध्यवसाय से आधार दृढ़ हो जाता है। बौद्धों की दशधा पारमिताओं में वीर्यपारमिता की गणना की जाती है। पतंजलि के अनुसार उपाय-मार्ग में श्रद्धा के अनन्तर ही वीर्य की गणना की गयी है। वीर्य ही दृढ़ता है। सांसारिक प्रतिबन्ध, बाधा तथा विपर्यय में भी मन का लक्ष्य अखण्ड की ओर रहना चाहिये। इससे कभी न कभी अखण्ड का संस्पर्श मिल जाता है। संस्पर्श द्वारा क्षणार्ध काल में पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में कालपरिणाम ही नहीं रहता। यह प्राप्ति कालावाच्छिन्न नहीं है। यह क्षण किसे, कब प्राप्त होगा, यह कोई नहीं जान सकता। क्षण अपने आविर्भाव के साथ-साथ स्वयं को पूर्ण तथा अखण्डरूपेण प्रकाशित करता है। क्षणाविर्भाव ही परमतत्त्व का आविर्भाव है। यही है कालान्धन का क्षयीकरण।

कतिपय योगीगण कहते हैं कि ध्यान करते-करते मन का लय हो जाता है। अब एक ऐसी अवस्था की प्राप्ति होती है, जहाँ चित्त समस्त आलम्बनों का त्याग करते हुए निरालम्बावस्था में स्थित हो जाता है। ज्ञेय विषय के सम्पर्क से चित्त विषयों में रंजित होकर उस अवस्था को ग्रहण कर लेता है। इसे तदाकाराकारित अवस्था कहते हैं। यह रंजन प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रियों के माध्यम से होता है। परिणत दशा में इन्द्रिय सहाय्य की आवश्यकता ही नहीं होती। विषयसम्पर्क से चित्त विक्षुब्ध होकर परिणामरूपी विषयाकार को प्राप्त हो जाता है। यह विषयाकारिता ही चित्तवृत्ति है। चित्त सदैव वृत्ति-अवस्था में नहीं रह सकता। वृत्ति की निवृत्ति के साथ-साथ वृत्ति अपना रूप बदल कर संस्कार रूपवासना की आकृति धारणा करते हुए, चित्त में बीजरूपेण सन्निहित होने लगती है। अब वृत्तिरहित चित्त को संस्काररूपता प्राप्त होने लगती है। समय पर उद्दीपक कारण तथा वातावरण के सम्पर्क से इन संस्कारों का पुनर्जागरण होता है। अब संस्कार फिर से वृत्ति के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस कारण चित्त स्थिर न रहकर चंचल बना रहता है, क्योंकि वह परिणामशील है। संस्कारावस्था में भी चित्त का सूक्ष्म स्पन्दन विनिवृत्त नहीं होता। केवल-मात्र आत्मस्व-रूपावस्था ही निःस्पन्दावस्था है। यह संस्कारातीत है।

पुष्टता सम्पादित नहीं हो सकती। सांसारिक तत्त्व तथा रससमूह से जिस तृप्ति का अनुभव होता है, वह सामयिक तृप्ति है। मन कभी भी सामयिक पुष्टि से तृप्त नहीं हो सकता। कुछ काल के पश्चात् उसमें पुनः चंचलता का समावेश होने लगता है। परमवस्तु से जो पुष्टि होती है, उससे मन अनन्तकाल के लिए तृप्त हो जाता है। उसमें स्थिरता तथा व्युत्थानरहित अवस्था का संचार होने लगता है। वह परमशान्त होकर परमसत्ता से एकरसता को प्राप्त करता है। वह स्वभाव की धारा में गतिशील होने लगता है। यथोचित पुष्ट मन द्वारा साधना करने पर जड़समाधिरूप विघ्न बाधित नहीं करते। पुष्ट मन स्वयं को जानना चाहता है। परिणाम यह होता है कि वह उचित क्षण में अपनी उपलब्धि कर लेता है।

परमासिद्धि के लिए ध्यान-साधना की विशेष उपादेयता रहती है। कतिपय महाभाग्यवान ध्यान साधनादि के अभाव में ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं। यह फल-प्राप्ति पूर्व जन्मार्जित सुकर्मरूप साधना का प्रतिफल है। अहैतुकी कृपा से भी यह अवस्था सम्प्राप्त हो जाती है। यह अलौकिक स्थिति सार्वजनीन नहीं है। यहाँ क्रममार्ग का वर्णन किया जा रहा है, जो सार्वजनीन होता है। अहैतुकी कृपा श्रीभगवान् का स्व-स्वातन्त्र्य है। वह विवेचना का विषय ही नहीं है। सामान्यतः सिद्धि-प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना का आश्रय लेना ही होगा। साधना व्यर्थ नहीं जाती। एक जन्म में फलप्रसवा न होने पर भी साधना का बीज संस्काररूप से संरक्षित हो जाने के कारण उसकी पुष्टि पर-पर जन्मों में होने लगती है। कई साधक अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इस स्थल पर पूर्वजन्मार्जित साधना इह जन्मार्जित से युक्त होकर त्वरित फल प्रदान करती है। इन सब अपवादों के होने पर भी समुचित रूप से ध्यान-साधना का दीर्घकालीन अभ्यास अत्यावश्यक है। लक्ष्यरूपी प्रकाश-किरणों के आविर्भाव पर्यन्त ध्यान-साधना में विघ्न नहीं पड़ना चाहिये। अखण्ड तैलधारारूप से ध्यान करते रहने से सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ समय अथवा काल परिणाम का विचार करना उचित नहीं है। काल की गणना बाह्यतत्त्वरूप से होती है, तथापि काल पूर्णतः आन्तरिक तत्त्वरूप है। अतः जिस कार्य की सिद्धि एक वर्ष में होती हो, तीव्र वेग से करने पर वह कार्य 10 माह में सम्पन्न हो सकता है। संवेग की तीव्रता तारतम्य से काल की मात्रा भी घट जाती है। अतएव स्थूल दृष्टि से यह निर्णय नहीं हो सकता कि किस ध्यान-साधना द्वारा कितने समय में फल की प्राप्ति हो सकेगी? साधक के प्राणभरे प्रयास के सम्मुख बाह्यकाल को संकुचित होना पड़ता है। वास्तव में काल एक ही है। उसमें बाह्यान्तर रूप विभेद कीं सत्ता ही नहीं है। इस सूक्ष्मता का परिदर्शन महाज्ञानी सिद्ध ही कर सकते हैं। फल-प्राप्ति में विलम्ब का कारण तथा फल प्राप्ति में शीघ्रता का कारणज्ञान सामान्यावस्था में नहीं किया जा सकता। जिस कर्म से जिस फल का विकास होना अवश्यम्भावी है, उस फल का उदय नहीं होने तक विश्वास तथा

श्रद्धायुक्त होकर ध्यानाभ्यास करना अत्यन्त श्रेयस्कर कहा गया है। गुरु-परम्परा के अनुसार क्रियमाण ध्यान-साधना का अनुष्ठान फलाकांक्षा रहित होकर करते रहना चाहिये, तभी फल-प्राप्ति होती है।

महायोगी पतंजलि कहते हैं कि दीर्घकाल पर्यन्त नैरन्तर्य तथा आदर के साथ ध्यान-साधना में निरत रहने से साधक का आधार दृढ़ होने लगता है। नैरन्तर्य का तात्पर्यार्थ है, निरवच्छिन्न साधना। साधना की धारा में व्यवधान पड़ने से प्रकृति का पर्दा साधना-धारा के सम्मुख पड़ जाता है। साधना के प्रति श्रद्धा की न्यूनता भी व्यवधानकारिणी है। श्रद्धा-विश्वास का उदय ही सिद्धि का लक्षण है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं', की उक्ति अक्षरशः सत्य है। श्रद्धा-विश्वास तथा दीर्घकालीन अध्यवसाय से आधार दृढ़ हो जाता है। बौद्धों की दशधा पारमिताओं में वीर्यपारमिता की गणना की जाती है। पतंजलि के अनुसार उपाय-मार्ग में श्रद्धा के अनन्तर ही वीर्य की गणना की गयी है। वीर्य ही दृढ़ता है। सांसारिक प्रतिबन्ध, बाधा तथा विपर्यय में भी मन का लक्ष्य अखण्ड की ओर रहना चाहिये। इससे कभी न कभी अखण्ड का संस्पर्श मिल जाता है। संस्पर्श द्वारा क्षणार्ध काल में पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में कालपरिणाम ही नहीं रहता। यह प्राप्ति कालावाच्छिन्न नहीं है। यह क्षण किसे, कब प्राप्त होगा, यह कोई नहीं जान सकता। क्षण अपने आविर्भाव के साथ-साथ स्वयं को पूर्ण तथा अखण्डरूपेण प्रकाशित करता है। क्षणाविर्भाव ही परमतत्त्व का आविर्भाव है। यही है कालान्धन का क्षयीकरण।

कतिपय योगीगण कहते हैं कि ध्यान करते-करते मन का लय हो जाता है। अब एक ऐसी अवस्था की प्राप्ति होती है, जहाँ चित्त समस्त आलम्बनों का त्याग करते हुए निरालम्बावस्था में स्थित हो जाता है। ज्ञेय विषय के सम्पर्क से चित्त विषयों में रंजित होकर उस अवस्था को ग्रहण कर लेता है। इसे तदाकाराकारित अवस्था कहते हैं। यह रंजन प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रियों के माध्यम से होता है। परिणत दशा में इन्द्रिय सहाय्य की आवश्यकता ही नहीं होती। विषयसम्पर्क से चित्त विक्षुब्ध होकर परिणामरूपी विषयाकार को प्राप्त हो जाता है। यह विषयाकारिता ही चित्तवृत्ति है। चित्त सदैव वृत्ति-अवस्था में नहीं रह सकता। वृत्ति की निवृत्ति के साथ-साथ वृत्ति अपना रूप बदल कर संस्कार रूपवासना की आकृति धारणा करते हुए, चित्त में बीजरूपेण सन्निहित होने लगती है। अब वृत्तिरहित चित्त को संस्काररूपता प्राप्त होने लगती है। समय पर उद्दीपक कारण तथा वातावरण के सम्पर्क से इन संस्कारों का पुनर्जागरण होता है। अब संस्कार फिर से वृत्ति के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस कारण चित्त स्थिर न रहकर चंचल बना रहता है, क्योंकि वह परिणामशील है। संस्कारावस्था में भी चित्त का सूक्ष्म स्पन्दन विनिवृत्त नहीं होता। केवल-मात्र आत्मस्व-रूपावस्था ही निःस्पन्दावस्था है। यह संस्कारातीत है।

ध्यानावस्था में चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अवस्था का वरण करते हुए निवृत्तिगामी हो जाता है। जिस प्रकार स्थूल आलम्बन का आश्रय लेने पर चित्त में स्थूलत्व का संचार होता है, उसी प्रकार सूक्ष्मावलम्बन के प्रभाव से चित्तावस्था भी सूक्ष्म हो जाती है। समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म आलम्बन ध्यान की ही विषयीभूत ग्राह्यवस्तु रूप है। वितर्कानुगत समाधि में अव्ययीरूप स्थूलावलम्बन की विद्यमानता रहती है। तदनन्तर सूक्ष्मावलम्बन को ग्रहण करते समय समस्त सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी प्रकाशन होने लगता है। प्रकृति के अन्तःस्थित समस्त सूक्ष्म रूप तथा ग्राह्यसत्ता साधक के समक्ष आत्मप्रकाश करने लगते हैं। समस्त स्थूल तथा समस्त सूक्ष्मसत्ता क्या है? इसे आयत्त करने के पश्चात् कारणरूपी आलम्बन का आश्रयण लेकर ध्यान का प्रवर्तन होने लगता है। यही ध्यान गाढ़ता की स्थिति में सानन्द समाधिरूप हो जाता है। अब चित्त स्थूल एवं सूक्ष्म विषयसमूह के मूल का भेदन करते-करते स्वयमेव ज्ञान के कारणरूप में प्रकटित हो जाता है।

इस स्थिति में प्रज्ञा के समक्ष ज्ञेयरूपी पृथक् सत्ता का अस्तित्व नहीं रह जाता। चित्त अपने स्वरूप में (ज्ञातारूप में) विश्रान्त होने लगता है। यह है सम्प्रज्ञात समाधि का उच्चतम शिखर। यहाँ 'मैं हूँ' रूप से प्रकाशमान सत्ता का बोधमात्र अवशिष्ट रह जाता है। बाह्यतः ग्राह्य सत्ता नहीं रह जाती। कारणरूपी ग्रहण प्रक्रिया भी अस्तमित हो जाती है। दोनों का विलीनीकरण होता है चित् स्वरूप में। एकमात्र चित्त 'अस्ति'- रूप में अपने आपमें विराजित हो जाता है। यह है विश्व की बीजावस्था। ज्ञानादि अनन्त विभूतिसमूह उस अणुरूप अस्मिता का आश्रयण करते हुए प्रकाशित होते हैं। यह अस्मिता सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि की केन्द्र-बिन्दुरूप है। चित्तैकाग्र्य वृत्ति का उदय होते ही इस केन्द्र-बिन्दु में स्थिति हो जाती है। यह अस्मितारूप ग्रन्थि ही हृदय-ग्रन्थि है। यद्यपि यह उच्चतम अवस्था है तथापि यह अवस्था भी अविवेक एवं अज्ञान का ही परिवर्तित रूप है। चित् तथा अचित् रूप मूल ग्रन्थि का उच्छेदन हुए बिना चित्तवृत्ति के जाल से छूटकर संस्कार अवस्था में उन्नति हो सकना असम्भव है। अस्मिता क्षेत्र में सर्वज्ञत्व तथा सर्वविषयक ज्ञान का उद्भव होता है।

अस्मिता का विनाश होना आवश्यक है। अस्मिता का विनाश जिस विवेकज्ञान द्वारा होता है, वह सर्वज्ञत्व से भी अतीत की स्थिति है। इसमें चित्त क्रमिक रूप से निरोधयुक्त होता जाता है। चित्त के निरोध की क्रमवृद्धि को ही विवेकज ज्ञान का क्रम- विकास कहा जा सकता है। इस क्रम-विकास का पर्यवसान होता है विवेकख्याति के अन्तिम क्षण में। सर्वान्त में विवेकख्यातिरूप महाज्योति का निरोध होते ही आत्मा गुणमुक्त होकर स्व-स्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान की पूर्णता द्वारा ज्ञानोदय सम्भव है। चित्त (मन) तब भी

विद्यमान रह जाता है। तदनन्तर असम्प्रज्ञान समाधि में प्रज्ञा भी निरुद्ध दशा को प्राप्त करती है। अर्थात् ज्ञानोदय के साथ ही अज्ञान विनिवृत्त हो जाता है और अज्ञान की निवृत्ति होते ही ज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। यह है आत्मस्वरूपावस्थान। अतः ध्यान से ज्ञान की प्राप्ति तथा ज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थान—यह क्रम शास्त्रों ने कहा है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत चित्त का लय एक स्थिति-मात्र है। जहाँ चित्त का लय स्वीकृत है, वहीं चित्तगत व्युत्थान को भी स्वीकार करना ही होगा। भगवान् के परमधाम में (आत्मस्वरूप में) स्थिति प्राप्त होते ही व्युत्थान की सत्ता समाप्त हो जाती है। यही शास्त्रोक्त सिद्धान्त है। गीता[1] ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। अतएव चित्त के लय की इच्छा करना अनुचित है। ज्ञानोदय के समय चित्त स्वयमेव निरुद्ध हो जाता है। लय-अवस्था निरुद्धस्थिति नहीं है। उसमें मानो चित्त दब-सा जाता। अतएव चित्तस्थ अज्ञान तथा अनर्थक्रम यथावत् रह जाता है। इस कारण लयावस्था को अविहित मानते हैं। ज्ञानोदय-काल में चित्त की स्थिति दग्ध वस्त्र-खण्ड जैसी हो जाती है। अतः ज्ञान ही वांछित है। मन की लयावस्था में ऐसा नहीं होता। उसमें मन पुनः व्युत्थित होता है। अतः विक्षेप के समान यह भी अन्तरायरूप विघ्न है।[2] चित्त को सतत जाग्रत् रखना चाहिये। एकमात्र विवेक-ज्ञान से ही चित्त में चेतना आती है।

ज्ञानी योगी कहते हैं कि चित्तावस्था रहने पर भी ऐसी स्थिति उत्पन्न की जा सकती है कि चित्त का न रहने जैसा अनुभव होता रहे और चित्तावस्थाविहीन स्थिति में भी समस्त कार्य सम्पादित होते रहें। इसी कारण अर्हत् जीवन्मुक्तों के चित्त को मात्र क्रियाचित्त कहा गया है। यह अतीव उच्च स्थिति है। अर्हत् से पूर्व अवस्था है अनुगामी। इसमें भी क्रियाचित्तोदय नहीं हो सकता। बुद्धगण क्रियाचित्त को माध्यम बनाकर उपदेश-प्रदान करते हैं। क्रियाचित्त का अर्थ यह है कि चित्त में क्रिया तो है परन्तु उसका विपाक नहीं हो रहा है। जब तक चित्त में कुशल (भले) अकुशल (बुरे) की चिन्ता शेष रहती है, तब तक प्रत्येक क्रिया से विपाक उत्पन्न होता रहता है। इसी कारण कर्मबीज उत्पन्न होते तथा वृद्धि प्राप्त करते रहते हैं। चित्त में तृष्णा का संस्कार अति सूक्ष्मरूपेण विद्यमान रहता है। इसी का परिणाम है अनुरूप फलविपाक। जब रागाग्नि के नाश के साथ चित्त का अनुशय (तृष्णा) दग्ध हो जायेगा, तभी उस चित्त में क्रिया रहने पर भी शुभाशुभ फलों का सृजन नहीं होगा। यह चित्त होकर भी अचित् ही है। यही मनोनाश का यथार्थ रूप है।

शुद्ध चित्त के अपने आप ध्यानोन्मुख होने पर भी ध्यान होता है। स्वाभाविकी

---

1. 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।'
2. 'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्।।' (गौड़पादाचार्य)

ध्यानावस्था यही है। इस अवस्था का उदय होने पर प्रयत्नकृत् ध्यान नहीं करना पड़ता। चित्त स्वतः ध्यानमग्न होने लगता है। जैसे निद्रा के आगमन के साथ-साथ, बिना प्रयत्न किये ही समस्त इन्द्रियसमूह अपने विषयों से हट जाते हैं, वैसे ही स्वाभाविक ध्यान-काल में अन्तर्मुखता का संचार स्वयमेव होने लगता है। निद्रा न लगने पर भी निद्रामग्न होना कष्टसाध्य तथा समयसापेक्ष है। ध्यान के सन्दर्भ में भी यही नियम प्रयुक्त होता है। स्वाभाविक उन्मुख दशा के अभाव में यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता। अस्वाभाविक होने पर भी कृत्रिम उपाय का सहाय्य लेना आवश्यक है कृत्रिम उपाय ही सर्वमान्य उपाय है। पतंजलि के अनुसार समाधियोग तथा क्रियायोग रूप से योगद्विविध हैं जो अन्तर्मुख है। उसी के लिए समाधियोग का विधान किया गया है।

समाधियोग के ज्ञान के पहले मनस्तत्व जानना अतीव आवश्यक है। मन का प्राप्तव्य है आनन्द। इसी स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए वह विषय-विषयान्तर में दौड़ता रहता है। विषयों में स्थायी आनन्द नहीं मिलता। आस्वादन में नवीनता नहीं रह जाती। अतः नवीन आनन्दार्थ पुनः कर्मरत तथा अन्वेषणरत होना पड़ता है। यही है मन की चंचलता का प्रधान कारण। चंचलता के कारण मन की तृप्ति नहीं होती। मन को शान्त करने के लिए उसे स्थायी आनन्द की झलक दिखलाना आवश्यक-सा है। स्थायी आनन्द की प्राप्ति होते ही मन समापित होता है तथा आत्मस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। मन का स्वभाव है कल्पना करना अथवा कल्पित नानात्व के साथ मनःकल्पित क्रीड़ा करना। इसका समाधान यह है कि नानात्व है ही नहीं। जो कुछ है वह एक है। इस 'एक' का साक्षात्कार हो जाने पर सर्वत्र इस 'एक' का ही दर्शन होने लगता है। अब भेद का इन्द्रजाल द्रष्टा को मुग्ध अथवा विभ्रान्त नहीं कर सकता। इस अवस्था में मन जहाँ कहीं भी क्यों न दौड़े, सर्वत्र उसे एक का ही दर्शन प्राप्त होगा। वह कहीं भी जाने पर उस 'एक' को ही पाता है। उसमें लीन होने लगता है। वह सर्वत्र जगन्माता को देखता है और उनसे उन्मुक्त हो रहे निर्मल रस का पान करता है। यह संसार ही उसके समाधान तथा आनन्दधामरूप समाधि की स्थिति ग्रहण करने लगता है।[1] अब अवनि, आकाश, अनल, अनिल तथा अम्बु एवं शत्रु-मित्रादि भी उस 'एक' के लीलाविलासरूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं।

यह एक, सदा सर्वत्र विद्यमान होने पर भी सबको भासमान नहीं होता। यह सब जिस समय जिसके निकट भासित होता है, उस समय वहीं पर उसका मन विश्रान्त हो जाता है। शान्त मनःस्थिति में वहीं पर उसकी एकाग्रावस्था होने लगती है। धारक मन की योग्यता के तारतम्यानुसार देशगत एवं कालगत भेदभासित होता है। एक बार मन की एकाग्रता हो जाने पर योग्यता के तारतम्य की स्थिति समाप्त हो जाती है। कारण यह है कि 'वह अब एक है। एक था, एक ही रहेगा'। इस

1. 'यत्र यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः'।

एकातिरिक्त सबकुछ मन की ही वंचना है। अनन्त में भी एक ही भासमान है। यह 'एक' सत्ता नाना प्रकार से सर्वकाल में प्रकाशित होती रहती है। मन की एकाग्रता में 'एक' का आविर्भाव होने के अनन्तर मनः कल्पित नानात्व का तिरोधान हो जाता है। अथच यह भी कह सकते हैं कि सबकुछ रहता है उस 'एक' के लीलामय आत्मप्रकाश में। अब ज्ञात होता है कि यह 'एक' ही सबका कारण है। उसी से सबकुछ सृष्ट होता है। यही है महाज्ञान। इस अवस्था में प्रकाश-अप्रकाश, स्थिति-गति, अनन्त प्रकार के विरुद्ध धर्म, सभी इस महान् ऐक्य में समन्वित हो जाते हैं। अतः एक ही अनन्त है, अनन्त ही एक है।

दृष्टि खुलने के अनन्तर ज्ञान होता है कि स्वयं ही गुरु है। स्वयं ही शिष्य है, स्वयं ही सब एवं अनन्त है। स्वयं ही अकेला अथवा अद्वितीय भी है। उभय अवस्था में कोई भेद नहीं है। स्वयं ही मृत्यु है, स्वयं जीवनरूप अमृत भी है। मृत्यु अथवा अमृत उस एक का ही प्रकाशरूप प्रतीत होने लगता है। वही देह है, वही मन है। एकमात्र 'स्व' की ही अवस्थिति है। यहाँ अन्य की प्रतीति को कोई अवकाश ही नहीं है।[1]

मन के विकास के उपरान्त भी शरीर-सत्ता स्थित रहती है। देह ज्ञान का बाधक नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष देहावस्थान-काल में ही उपदेश प्रदान करते हैं। उनके मन की कार्यकारिता परिसमाप्त है। त्रिपुटी भी विश्रान्त है, अतः उन्हें उपदेशाधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त महाज्ञान में देह रहे अथवा न रहे, इसका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। 'तत्त्वविशुद्धकार' ज्ञानधनाचार्य कहते हैं कि— 'ब्रह्मभाव-प्राप्ति के अनन्तर ही गुरुपद प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त महाज्ञान में देह रहे अथवा न रहे, इसका प्रश्न ही उत्थित नहीं होता' ब्रह्म अपरोक्ष तथा एकरस है। उसका परोक्ष ज्ञान पूर्ण भ्रम है। कारण यह है कि जो परोक्ष ज्ञान प्राप्त है, वह भ्रमयुक्त ज्ञान है। भ्रान्तज्ञानयुक्त व्यक्ति तत्त्वोपदेश देने का अधिकारी नहीं है। उपासना द्वारा सोपाधिक ज्ञान प्राप्त करने वाले ब्रह्मविद्या के यथार्थ उपदेशक नहीं हो सकते। शब्द प्रमाण से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही गुरुपद प्राप्त होता है। प्रमाण के द्वारा वस्तु तत्त्व साक्षात्कृत होने पर अज्ञान की सत्ता नहीं रह जाती। यद्यपि अज्ञान दग्ध हो गया परन्तु वह उसी प्रकार (किंचित कालपर्यन्त) सत्तायुक्त प्रतीत होता है; जैसे जला हुआ कपड़ा कुछ क्षण पर्यन्त अपनी आकृति में ही बना रहता है। अविद्या तथा उसके कार्यरूप अज्ञान के दग्ध हो जाने पर कार्य-कारण तो दग्ध प्रतीत होने लगता है तथापि आत्मरूप का दर्शन नहीं मिलता। अतः अविद्याजन्य जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्तिरूप अवस्थाओं से ज्ञान का सम्बन्ध ही नहीं है।

---

1. 'आपु हि गुरु सो आप हि चेला, आपु हि सब और आपु अकेला,
आपु हि मीच जियन पुन आपु हि तन मन सोई
आपु हि आप करे सो कहे, कहाँ सो दूसर होई' (मलिक मुहम्मद जायसी)

अन्यमत से जीवन्मुक्त अवस्था में भी पूर्णरूपेण मन निवृत्त नहीं होता। जब तक शरीर की सत्ता रहती है, तब तक उससे मनःसंस्कार युक्त भी रह जाता है। इस मत से मन के अभाव में देहपात (मृत्यु) अवश्यम्भावी है। अर्थात् किंचित् अविद्या अवशिष्ट रह जाती है। जीवन्मुक्ति साधकावस्था नहीं है। वह सिद्धावस्था है। आचार्य ज्ञानधन के मतानुसार वेग का क्षय होने तक प्रारब्ध की सत्ता शेष रहती है। संस्कार अथवा अज्ञान का तनिक लेश रहने के कारण देह तथा इन्द्रियाँ प्रतिभात होती हैं। मण्डन मिश्र शांकरमत को नहीं मानते। सामान्यतः बाण छूट जाने के पश्चात् नहीं रुकता, अर्थात् जिसने बाण चलाया है, वह उसे नहीं रोक सकता। छोड़ने के पूर्व रोका जा सकता है। प्रारब्ध कर्म छूटे हुए बाण के समान है। भोग से ही उसका क्षय होता है। मण्डन मिश्र का कथन है कि छोड़े गये बाण को भी रोक सकना सम्भव है। यदि बीच में प्राचीर खड़ी कर दें, अथवा विपरीत दिशा से बाण छोड़कर पूर्व वाले बाण से टकरा दिया जाये। मण्डन मिश्र के अनुसार स्थितप्रज्ञ पुरुष साधक कोटि के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। वे सिद्ध नहीं हैं। जीवन्मुक्त भी शरीर छूटने पर ही मुक्त हो पाता है। उससे पूर्व मुक्त नहीं हो सकता। अतएव मृत्युपर्यन्त किंचित् अविद्या संस्कार अवस्थित रहता है। अविद्या संस्कार का लेश रहने पर भी जीवन्मुक्त भाग्य अथवा बन्धनाधीन नहीं हो सकता। प्रारब्ध कर्म स्वफल दे सकते हैं। प्रारब्ध द्वारा सत्यज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। सत्यज्ञान स्थिति में संचित तथा अनागत कर्म विनष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म शेष रहने पर क्षति नहीं होती। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार जीवन्मुक्तावस्था हो ही नहीं सकती। यह अर्थवाद मात्र है। साधक की उत्साह-वृद्धि के लिए जीवन्मुक्ति का उपदेश दिया जाता है। वेदान्त परिभाषाकार के मतानुसार जीवन्मुक्ति तो मुक्ति ही नहीं है। इसमें मुक्ति की हेतुभूत विद्या पूर्णरूपेण नहीं रहती। अर्थात् मुक्ति का सम्यक् एवं पूर्ण प्रकाश नहीं रहता। यह अवश्य है कि साधनस्थिति परिसमाप्त हुई रहती है। मुक्ति भी आसन्न रहती है, अतएव यह मुक्तिपद है। वेदान्ती विद्वानों के अनुसार जीवन्मुक्ति में कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहता, अर्थात् प्रारब्ध भी नहीं रहता। ये सभी आचार्य जीवन्मुक्ति को सिद्धावस्था मानते हैं।

अब क्रिया तथा मन की दिशायें विवेच्य हैं। कहा जाता है कि क्रिया तथा मन की दो पृथक्-पृथक् दिशायें हैं। उभय दिशायें सहगामिनी रहती हैं। दोनों में तारतम्य भी रहता है। किसी अवस्था में क्रिया की प्रधानता रहती है, कहीं मन प्रधान रहता है। यह अवस्था मनुष्य की प्रकृति के अनुसार नियन्त्रित होती है। कभी-कभी स्वभाव की गति के प्रभाव से आसनादि प्रक्रिया स्वतः होने लगती है। यह क्रिया प्रधानता की दिशा है। जब मन्त्र आदि का आविर्भाव होने लगता है, तब मन की प्रधान दिशा आयत्त हो जाती है। जो अन्तः में रहकर साधक को इस प्रकार की गति का संचालन करते हैं, वे ही गुरु हैं।

इस प्रसंग में संस्कार की चर्चा अनेक स्थलों पर की गयी है। संस्कार अर्थात् भाव अथवा पदार्थ की एक सूक्ष्म छाप! यह अङ्कन मन पर होता है। अनुभव अथवा क्रियारूपी अवस्था में संस्कार उद्भूत होते हैं। अनेक संस्कार उत्थित होकर स्मृतिरूप हो जाते हैं। अपर संस्कार हृदय में सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। अतः विद्वानों ने वासना तथा कर्माशय के भेद से इन संस्कारों का वर्गीकरण किया है। सभी संस्कारों का उत्पत्ति-स्थान तथा विकास-स्थान अन्तःकरण ही है। आत्मा में तो संस्कारों की सत्ता ही नहीं रहती।

मन के ज्ञान के साथ ही कर्म का ज्ञान साधक के लिए प्रधान कर्त्तव्य है। गीता में कर्म की महिमा का गायन करते हुए इसे कर्मयोगरूप से योग की संज्ञा प्रदान की गयी है। कर्म दो प्रकार से सम्पादित हो सकते हैं। प्रथम फलाकांक्षायुक्त, द्वितीय सेवा की इच्छा से। प्रथम है कर्मभोग। उस स्तर में प्रतिष्ठा आदि कर्मफल को कर्त्ता भोगरूप में ग्रहण करता है। करते समय फलाकांक्षा विद्यमान रहती है। द्वितीय प्रकार का कर्म ही कर्मयोग है। इस स्तर में सेवा-भाव द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है। अर्थात् जो परमेश्वर कराना चाहे, वह कराना। यह शरीर उनका यंत्र है। वे इसे जैसे चाहे चलावें। यह कर्म मनुष्य को मुक्ति की दिशा में गतिमान करता है। यह कर्म परमेश्वर से युक्त स्थिति में ही सम्पादित होता है। इसमें शोक, ताप, दुःखादि के लिए स्थान नहीं है। यही कर्म पूर्ण स्वरूप से भी संयुक्त होता रहता है। यह त्रुटिरहित कर्म है। इसमें कर्तृत्वाभिमान का अत्यन्ताभाव है। गीता में 'योगस्थः कुरु कर्माणि' रूप से ऐसे ही कर्म का उपदेश दिया गया है। इस कर्मानुष्ठान में यह सावधानी अपेक्षित है कि कर्तृत्वाभिमानजनित त्रुटि न हो।

जब तक स्वरूपावस्था का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक कर्म करना ही होगा। बिना किये छुटकारा नहीं मिल सकता। प्रकृति कर्मरूपा है। देह, प्राण, मन आदि प्रकृति के ही कार्यविशेष हैं। अतः आत्मा जब तक प्रकृति सम्बन्ध से मुक्त न हो, तब तक कर्म से त्राण नहीं मिल सकता। कर्म के अनेक भेद हैं। कर्त्ता के अधिकार तथा योग्यता-भेद से कर्म के भी भेद हैं। अधिकार एवं योग्यता के अनुसार कर्म की व्यवस्था की जाती है। सकाम कर्म की बात ही क्या, निष्काम कर्म भी अभाव का कर्म है। निष्काम कर्म को आत्मदर्शन की पूर्वावस्था कहते हैं। तप, स्वाध्याय, ईश्वर- प्राणिधान, योग के अष्टांग, उपासना, भजन, साधन, अन्तर्योग, बहिःयोग, ज्ञानमार्ग, नैतिकता, लौकिक व्यवहारादि सब कर्मान्तर्गत ही हैं। ये सभी कर्म वैविध्यपूर्ण हैं। अनुष्ठानभेद, अधिकारभेद, लक्ष्यभेद के कारण पृथक्वत् प्रतीत होते हैं, तथापि सर्वकर्म के मूल में अपरोक्ष आत्म-साक्षात्कार का अभाव विद्यमान रहता है। फलाकांक्षा से रहित निष्काम कर्म भी स्वभाव की अनुल्लंघनीयता के कारण फल उत्पन्न करता है। अर्थात् निष्काम कर्म का भी फल अवश्यमेव होता है। कर्म

करने वाला इस फल को स्वीकार करने के लिए विवश है। उसे निष्काम कर्म के फल को स्वीकार करना ही होगा। चित्तशुद्धि तथा प्रसन्नता ही निष्काम कर्म का फल है। फल की ओर भ्रूनिक्षेप न रहने पर भी जागतिक नियमानुसार फलोदय होता है। इसका कर्ता फल-भोग करता रहता है।

साधारण सकाम कर्म के मूल में मलिन वासना ही कारण है। ऐहिक तथा पारलौकिक सिद्धि के उद्देश्य से कृत् महान् पुण्यकर्म भी सकाम कर्म की श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। गुरु पर निर्भरता तथा आज्ञा-पालन भी सकाम कर्म ही है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सकाम कर्म विशुद्ध कर्मरूप है। यहाँ गुरु की इच्छा पूर्ण करना ही वासनारूप है, अतः यह वासना वरेण्य है। अनेक विद्वानों का मत यह है कि आत्मदर्शन के अभाव में निष्काम कर्म नहीं हो सकता। यह सार्वभौम मत नहीं है। आत्मदर्शन होते ही निष्काम एवं सकामरूप सभी कर्म परिसमाप्त हो जाते हैं। आत्मदर्शन द्वन्द्वातीत अवस्था है। द्वन्द्वावस्था के अभाव में कर्म हो ही नहीं सकता। आत्मस्वरूपावस्था में न तो द्वन्द्व है और न कर्म। उस अवस्था में केवल मात्र आत्मा की ही सत्ता अवशिष्ट रह जाती है। गुरु, शिष्य, गुरु की प्रीति तथा कर्म, आत्मस्वरूप में प्रविलीन हो जाता है। अतएव जब तक इन सबकी पृथक् सत्ता प्रतिभात होती रहती है, तब तक वास्तविक आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

सामान्यतः जिसे निष्काम कर्म कहा जाता है, वह सब निष्काम कर्म नहीं है। ग्रन्थि-भेदन के अनन्तर ही निष्काम कर्म सम्पन्न हो सकता है। ग्रन्थि-भेदन के अनन्तर सुख-दुःख, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान साधक का स्पर्श नहीं कर सकते। तब जो कुछ भी होता है, वह सब स्वभाव का कर्म है। इसमें नाम तथा यश की आकांक्षा नहीं रह जाती। फलाभिलाषा परिसमाप्त हो जाती है। क्षुद्र अहंभाव की निवृत्ति होने पर ही फलाकांक्षा विनिवृत्त होती है। अब साक्षी की तथा दृष्टि की स्थिति प्राप्त होती है। साधक अनुभव करता है कि शरीर चल रहा है। वह उसका परिचालक नहीं है। शरीर जैसे भी चले, उससे साधक विचलित नहीं होता। विचलितावस्था को साक्षीभाव नहीं माना जाता। इस द्रष्टत्व (साक्षित्व) से एक निर्मल आनन्द-भाव का उदय होता है। यही गीतोक्त योगस्थ कर्म है। इसके भी दो रूप हैं—

1. देह का परिचालक मैं नहीं हूँ। यह बोध जाग्रत् रहने के कारण देह के प्रति ममता नहीं होती तथा कर्तृत्वज्ञान नहीं होता।

2. देह द्वारा अनुष्ठित कर्म का फलाफल मैं नहीं देखता। सिद्धि-असिद्धि अच्छा-बुरा, स्तुति-निन्दा में समत्व भासित हो रहा है। यही योगस्थ कर्म है। न तो कर्म में ममत्व है और न फल का बोध!

गुरु-शक्ति—अब यह शंका होती है कि निष्कामकर्म योग्य आधार में स्वयमेव स्फुरित होता है। तब क्या कारण है कि गुरुगण शिष्यों को आदेश देते हैं?

कर्म का मूल है कर्तव्य-बोध अथवा राग। फलाकांक्षा त्याग ही राग का त्याग है। अतः निष्कामकर्म रागमूलक कर्म नहीं है। गुरु के आदेश से तथा शास्त्र की आज्ञा से कर्म के प्रति कर्तव्य-बोध का उदय होता है। इससे कर्मप्रवृत्ति जागृत होती है। इस बोध से कर्म करने की प्रवृत्ति का उदय होता है। शंका होती है कि यहाँ शिष्य साक्षीभावापन्न किस प्रकार से है? यदि कोई कर्तव्यत्व ज्ञान द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने के अनन्तर कर्मानुष्ठान करता है, उस स्थिति में उसे कर्तृत्व की प्राप्ति अवश्यमेव होती है। इसका समाधान यह है कि शिष्य के स्वाधीन होने के कारण उसमें किंचित् पौरुष विद्यमान रहता है। यह स्वातंत्र्य जीवमात्र में जिस मात्रा में विद्यमान रहता है, उसमें उसी मात्रा ही स्वतन्त्रता रहती है। यदि किंचित् स्वतन्त्रता न रहती, तब उसे गुरु आज्ञा नहीं दे सकते थे। अस्वतंत्र है जड़। जड़ पदार्थ का कर्म में नियोग नहीं हो सकता। यह किंचित् स्वतन्त्रता ही अधिकारीभेद से इच्छा के रूप में जीवहृदय में आत्मप्रकाश करती है। गुरुगण शिष्य से मुख्य कर्ता बनने के लिए कदापि नहीं कहते। वे शिष्य को निमित्त-मात्र बनने के लिए कहते हैं। गुरु स्वयं कर्ता रहते हैं, जो कुछ भी करना होता है, वह स्वयमेव करते रहते हैं। शिष्यरूपी जीव को गुरु के समक्ष आत्म-समर्पण करके उनका यन्त्र बनाना होगा। इस अवस्था में गुरु-शक्ति इस यंत्र का आश्रय लेकर कार्यरत हो जाती है। शिष्य स्वाधीन है, अतः उसे अपनी इच्छा को गुरु-इच्छा में मिला देना पड़ता है। यही योगस्थ कर्म पूर्ण करने का विधान है। यदि शिष्य अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा के साथ नहीं मिला देता, उस स्थिति में वह गुरु के साथ युक्त नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप विश्व-विधान के साथ ममत्व की रक्षा भी नहीं कर सकता। जब तक मोह तथा कर्तृत्वाभिमान प्रबल रहता है, तब तक आत्म-समर्पण की स्थिति नहीं आ सकती। गुरु की इच्छा रहती है कि शिष्य अनुकूलत्व प्राप्त करे तथा उसमें आत्म-समर्पण की भावना का संचार हो। इससे वह अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें द्रष्टा अथवा साक्षी-भाव का उदय होता है। अब ज्ञात होता है कि गुरु ने शिष्य को ग्रहण कर लिया है तथा वे ही उसके देहस्थित यंत्रों एवं देह का संचालन कर रहे हैं। यह वह अवस्था है जिसमें शिष्य साक्षी बनकर अपने शरीर के इन समस्त क्रियासमूह को भगवान्रूपी गुरु द्वारा चालित होते देखकर भगवद्-इच्छा का अनुभव करता है। इसे ही यथार्थ निष्काम कर्म कहते हैं।

हमें अन्य शंका उत्थित होती है। यदि जागतिक गुरु का आदेश नियम-विरुद्ध है तब उसका पालन करना चाहिये अथवा नहीं? यदि शिष्य जागतिक गुरु में ही वास्तविक गुरुभाव का स्थापन कर सके, उस स्थिति में उसका समाधान अति सहज है। 'आज्ञागुरुणामविचारणीया' गुरु की आज्ञा पर तर्क, ऊहापोह आदि नहीं करना चाहिये। यदि आज्ञा अनुचित होगी, तब उसका पालन करते समय ईश्वरीय इच्छा से बाधा तथा विघ्न आते ही रहेंगे। यहाँ ईश्वरीय विधान कार्यरत हो जाता है तथा

अनुचित इच्छा की पूर्ति में ईश्वर विघ्न डाल देते हैं। इस प्रकार गुरु-आज्ञा के उल्लंघन होने का अपराध भी नहीं होता तथा अनुचित कार्य का आचरण सम्पन्न नहीं होता। अतएव साधारण अधिकारी के लिए (जिसे गुरु-ज्ञान नहीं हो सका है, तथापि उसे गुरु का कार्य करना पड़ रहा है) यह आवश्यक है कि आदेश के सन्दर्भ में उचित-अनुचित की शंका उठने पर अपनी विचार-शक्ति के द्वारा कर्त्तव्य का निर्धारण करे। इसी कारण साधारण व्यक्ति को चाहिये कि शरीर एवं गुरुवाक्य के साथ युक्ति का समन्वय करने की चेष्टा करे। सम्यक् गुरु-ज्ञान न होने पर भी सद्विचार द्वारा चलने से गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। केवल मात्र शास्त्र पर आश्रित रहने से कर्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता। 'केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः'।

किसी स्थिति में अन्तःकरण की सूक्ष्म इच्छा उदित होकर आज्ञारूप में अनुष्ठान की प्रेरणा देने लगती है। यह अन्तःकरण का भाव गुरु की आज्ञा नहीं है, अतएव उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये। जो शुद्ध सत्व में अथवा सत्व की पराकाष्ठा पर्यन्त उन्नीत हो चुके हैं, केवल वे ही अन्तःकरण की प्रवृत्ति का अनुसरण करने के अधिकारी हो सकते हैं। साधारण जीव के अन्तःकरण की प्रवृत्ति यथार्थ शुद्ध प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव उस प्रवृत्ति का अनुसरण करना विहित नहीं होता। इच्छा का उदय पूर्वसंस्कार से होता है, तथापि उस इच्छा को व्यवहार तथा क्रियारूप में परिणत करना उचित नहीं है। यहाँ संयम की आवश्यकता प्रतीत होती है। संयम का फल है कि इच्छा होने पर भी कृति नहीं हो सकती, अथवा कृति होने पर भी चेष्टा नहीं हो सकती। संयम का कार्य है इच्छा की चेष्टा का निरोध। कर्तृत्वाभिमान रहने तक वह इच्छा चेष्टारूप में परिणत होती है। इतने पर भी यह ज्ञात रखना चाहिये कि योगस्थ व्यक्ति की इच्छा का चेष्टारूपेण विकास नहीं होता। अन्तर्यामी पुरुष इसमें बाधा उत्पन्न कर देते हैं।

जो आप्तकाम हैं, उनकी क्रिया को कर्म की संज्ञा देना उचित नहीं है। आप्तकाम की क्रिया तो स्वातंत्र्य का विलास है। यह क्रिया भी निष्काम कर्म नहीं है। निष्काम कर्म के समय स्वभाव का स्रोत बहता रहता है और आत्मा दृश्य रूप में विद्यमान रहता है। वह अभी भी वास्तविक द्रष्टा नहीं है। कारण यह है कि इस अवस्था में एक शान्त तथा स्निग्ध आनन्द उच्छलित होता रहता है। सभी क्रियाओं में एक गम्भीर रस की अनुभूति होती रहती है। अब साधक अपने इष्ट की तृप्ति में स्वतृप्ति का अनुभव करता है। यद्यपि यह कर्म साधारण कर्मों से विलक्षण है, तथापि यह सब कर्मरूप ही है। इस स्थिति में भी वासना चित्त में विद्यमान रह जाती है। इसका प्रमाण यह है वासना के संस्पर्श से ही आनन्द का आस्वादन हो सकता है। आनन्द तभी प्राप्त होता है, जब आनन्द-प्राप्ति की वासना सत्तायुक्त हो। अतः यह आनन्द भी सीमित आनन्द है। अबाधित, अकुण्ठित भूमानन्द नहीं है। आत्मदर्शन की

अवस्था में एकमात्र आत्मा ही अवस्थान करती है। अन्य किसी की सत्ता नहीं रहती। स्वरूपावस्था के साथ ही भोक्ता तथा भोग्यभाव का विलीनीकरण हो जाता है। आत्मदर्शी के सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। वह कर्म-बन्धन से स्वतन्त्र हो जाता है, अब उसे चाहे जो भी भाव आये, वह अपने आपमें उस भाव के साथ क्रीड़ारत हो जाता है। आत्मज्ञ के लिए यह क्रीड़ा उसका 'स्वरूप' है। वह सबकुछ में स्वयं को ही क्रीड़ारत देखता रहता है। वह भिन्न रहकर भी अभिन्न है। अथच अभिन्न होकर भी भिन्नवत् प्रतीत हो रहा है। इस क्रीड़ा में भी उसकी स्वरूपावस्था यथावत् रह जाती है।

आत्मज्ञानी महापुरुष सम्पूर्ण जगत् को लीलारूप देखता रहता है और सदा, सतत आत्मस्वरूप से युक्त रहता है। वह देहधारी होने पर भी मुक्त है। आत्मदर्शन की पूर्वावस्था में यह दृष्टि नहीं रहती। आत्मदर्शन होते ही यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है। एक ऐसी भी अवस्था है जिसमें मात्र कर्म के लिए कर्मानुष्ठान किया जाता है। फल के लिए कर्मानुष्ठान नहीं किया जाता। यह कर्तव्य सम्पादन की प्रेरणा से किया गया कर्म नहीं है। यहाँ कर्म करने वाले की प्रीति एकमात्र कर्म करने में ही रहती है। लौकिक अथवा अलौकिक प्रयोजनार्थ वह कर्म नहीं करता। इस अवस्था में भगवान् ही कर्मरूप धारण करके प्रकट होते हैं। कर्म करते-करते कर्म की निवृत्ति भी स्वतः हो जाती है। कर्मी कर्म में अनुरक्त होकर विवश के समान कर्म करता रहता है। इस श्रेणी के कर्मों का लक्ष्य लोकहित अथवा विश्व-कल्याण भी नहीं है। अतः यहाँ शंका हो सकती है कि तब कर्म कैसे स्वतः समाप्त हो जाता है? इसका समाधान यह है कि किसी भी प्रकार से चित्तैकाग्र्य होते ही ज्ञानोन्मेष होने लगता है। एकाग्रावस्था में यत्र-तत्र बिखरा तेज घनीभूत हो उठता है। अब अन्तकरण ज्ञान से अलोकित हो जाता है। इस स्थिति में हृदय-ग्रन्थि का उच्छेद हो जाना स्वाभाविक-सा है। इससे समस्त सन्देह उच्छिन्न हो जाते हैं और सर्वकर्मक्षय का मार्ग प्रशस्त हो उठता है। महासत्ता सर्वत्र समानभाव से विद्यमान रहता है। एकाग्रता न होने के कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। जब सम्पूर्ण लक्ष्य कर्म में रहता है, उस स्थिति में चित्तैकाग्र्य का उदय होता है। एकाग्रावस्था में कर्म-त्याग होना अवश्यम्भावी है। अब अपकर्म की सम्भावना नहीं रहती। वास्तव में एकमात्र नित्य वस्तुरूप परमात्मा की सत्ता रहती है। जो यह नहीं देख सकते, वे सर्वत्र कालग्रस्तता तथा अनित्यरूपत्ता देखने को विवश हैं। वे नानात्व को देखते हैं। यही है काल-प्रवाह और इसे ही जगत् का परिवर्तन भी कहा जा सकता है। नित्यवस्तु से योग होते ही परिवर्तन की समाप्ति हो जाती है। बाह्यकर्म तथा साधनारूप आन्तरिक कर्म की सत्ता भी प्रविलीन हो जाती है। सदा विराजित परमात्मा ही विद्यमान रह जाता है। यह सदैव से है। अतः सबकुछ मुक्त है। कर्म भी नित्यमुक्त है। कहीं कोई बन्धन नहीं है। जो कुछ भी दुःखानुभूति है, वह कल्पित ही है।

साधना में भाव तथा कर्मरूप दो मार्ग कहे जाते हैं। दोनों का एक-दूसरे के साथ अभिन्न सम्बन्ध भी है। भाव में भी कर्म है। कर्म में भी भाव की ही सत्ता अन्तर्निहित रहती है। जहाँ जो प्रधान है, वहाँ उसका नाम प्रधान हो जाता है। भावशक्ति में भाव की प्रधानता रहती है। ऐसी स्थिति में हृदय आनन्द से आलुप्त हो जाता है। यद्यपि इस आनंन्द का कोई मूल्य नहीं है तथापि यह बन्धन होने पर भी एक रुचिकर बन्धन है। इसी कारण इसे बन्धन मानने में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। आनन्दबद्धता के कारण भावातीतावस्था पर्यन्त आरोहण सन्दिग्ध हो जाता है। इसका यह कारण है कि भाव को खण्डत्व से ओतप्रोत माना जाता है। भावावस्था अपूर्ण अवस्था है। भाव पूर्ण होने पर ही मार्गावरोध समाप्त होता है। भाव की पूर्णता भगवत्-स्पर्श द्वारा होती है। पूर्ण के स्पर्श से ही पूर्णत्व प्राप्त होता है। कर्म के सन्दर्भ में भी यही नियम उचित प्रतीत होता है। पूर्ण कर्म द्वारा बन्धन से त्राण प्राप्त होता है। वह स्वभाव की गति में बाधक नहीं हो सकता।

कर्म तथा कर्मफल संयोजन से संसार का आधार प्रकट होता है। कर्तृत्वाभिमान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्तृत्वाभिमान से ही कर्मफल भोग का वातावरण निर्मित होता है। कर्म के दो भेद हैं, शुभ और अशुभ। इन दोनों का फल भी पर्याय क्रम से सुख तथा दुःखरूप कहा गया है। कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का सामान्य नियम यह है कि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। शास्त्र कहते हैं कि जिस अधिकरण अथवा आधार में कर्त्तृत्व होगा, उसी अधिकरण में भोक्तृत्व की भी स्थिति होगी। इस कर्म के कर्त्ता को स्वयमेव कर्मफल का भोग करना होगा, कर्म कोई करे, फल कोई पाये, ऐसा नहीं होता। कार्यकारण की दृष्टि से ऐसा होना स्वाभाविक है। कतिपय विद्वान् कर्मवाद के पोषक हैं। वे जन्मान्तर नहीं मानते। इन्हें भी उपरोक्त सिद्धान्त मान्य है। इन सिद्धान्तों पर विश्वन्याय आधारशिला प्रतिष्ठापित है। करुणा तथा प्रेम को इस सिद्धान्त से बाहर कहा जाता है, तथापि वे इसका उल्लंघन करते प्रतीत नहीं होते।

यह कर्मवाद का सामान्य नियम है। यह सुसंगत तथा सर्वमान्य मत है। इसमें भी अवान्तर रहस्य सन्निहित हैं। व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि विराट् सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध है। मूल में एक ही जीव है। अतः सृष्टि से नाना जीवभाव की अभिव्यक्ति में भी ज्ञानीजन 'एक जीव' ही देखते हैं। मूल में जीव एक तथा अभिन्न है। काल-प्रभाव से तथा कर्म-विकास के कारण नाना संख्या में जीवगण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन बहुसंख्यक जीवों में अनन्त प्रकार की विचित्रता विद्यमान रहती है। गुण, कर्म, भाव, रुचि तथा सामर्थ्यगत भेद जीव सृष्टि में परिलक्षित होता रहता है। मूलतः जीव एक है, तथापि बाह्यदृष्टि के कारण बाह्यसृष्टि में आकर नाना हो गया है। इन बहुसंख्यक जीवसमूह में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य विद्यमान रहता है। इस नानात्व में भी

एक का अन्य के साथ अभेदमूलक अनुप्रवेशात्मक सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहता है। अतः प्रत्येक जीव सर्वजीवात्मक है। गुणादि पार्थक्य के कारण जीवों में पार्थक्य है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है। यही नियम ऊपर कहा गया है। इस मूल नियम का खण्डन न होने पर भी इसकी एक परिपूरक दिशा है। अतः जब कोई भी कृत्य एक व्यक्ति करता है, तब आंशिक रूप से उसका फल समग्र विश्व को भोगना पड़ेगा। यह नियम भी गलत नहीं है। इसका कारण यह है कि मूलतः समस्त जीव 'एक जीव' का बहिःप्रकाशन है और सबका एक-दूसरे के साथ अभेद सम्बन्ध अनादि काल से विद्यमान है। अंश का तारतम्य रहने पर भी विश्व की अन्तिम रेखा पर्यन्त उस कर्म का प्रभाव होता है। निकट में प्रभाव अधिक पड़ता है, दूर में प्रभाव कम पड़ता है। इस कारण यहाँ किसी का कर्म एक व्यक्ति के व्यक्तिगत कर्म के रूप में प्रतीत होने पर भी अवचेतन रूप से वह समस्त विश्व का कर्म है। कर्तृत्वाभिमान के कारण व्यक्ति इसे नहीं मानता। यह विश्व शक्ति की क्रिया कही गयी है[1]। अन्ततः यदि कोई सुख-दुःख का भोग करता है, तब वह अपने कर्म से सुखादि का भोग कर रहा है, तथापि यह अंशतः विश्व कर्म का ही फल है।

इसी प्रकार हम भी प्रत्येक के लिए कर्मफल का भोग करते हैं और हमारे कृत कर्म का फल भोग अंशतः समस्त विश्व को करना पड़ता है। इसी कारण प्रत्येक कर्म-सम्पादन में हमारा एक दायित्व है। व्यष्टि का फल समष्टि को तथा समष्टि का फल व्यष्टि को भोगना ही पड़ता है। सूक्ष्मानुशीलन से परिज्ञात होता है कि इस फलोत्पति की अनन्त धारायें हैं। इसमें रक्तगत दैहिक सम्बन्ध एक प्रधान धारा के रूप में परिगणित है। यह धारासमूह ऊर्ध्व-अधः सम-अन्तराल रूप में चतुर्दिक् परिव्याप्त-सा रहता है। रक्तगत सम्बन्ध तथा इच्छामूलक भाव सम्बन्ध ही इस धारा के नियामक रूप कहे गये हैं। विज्ञजन कहते हैं कि प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कर्म का फल कर्त्ता के साथ सात पीढ़ी पूर्व तथा सात पीढ़ी पश्चात् तक होता है। सात पीढ़ी पर्यन्त रक्त की विशिष्टता प्रबलतर रूप से रहती है। इसे योगीगण ही समझ सकते हैं।

कर्म से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म की पूर्ति होने पर ही फलाविर्भाव होता है। कारणों की समष्टि से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसमें तनिक भी अपूर्णता रहने पर वैगुण्य के कारण फलाविर्भाव नहीं हो सकता। जीव की स्थिति अल्पज्ञता से आच्छादित है। उसकी शक्ति भी सीमित है। वह पूर्व कर्मसमूह से ग्रस्त है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि भी संस्काराच्छादित है। इस स्थिति में कर्म में अपूर्णता रह जाना स्वाभाविक-सा है। वह विधिपूर्वक, विशुद्धतया कर्म करने में समर्थ नहीं है। सभी परिस्थितियों में कर्म-पद्धति के अन्त में भगवत्-स्मरण की व्यवस्था की जाती है। स्वयं सरल होकर यथाविधि, यथाशक्ति कर्म करे। अन्त में अज्ञानजनित त्रुटि के लिए श्रीभगवान् से क्षमा-याचना करे। अपूर्ण कर्म को एकमात्र श्रीभगवान् ही पूर्ण करने में समर्थ हैं। कृतकार्य की त्रुटि के लिए उनसे ही क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये।

इससे वे वैगुण्यजनित त्रुटिसमूह को क्षमा कर देते हैं। अब कर्म से फलोत्पत्ति होने लगती है।

जीव जो कुछ प्राप्त करता है, वह सब उसी परमपद से प्राप्त करता है। जीव का कर्तृत्व-बोध तथा किंचित् स्वातंत्र्य भी वहीं से प्राप्त हुआ है। जीव स्वयं भी वहीं से आया है। जीव की शक्ति, जीव स्वरूप, सब कुछ आगन्तुक है। वास्तव में मूलभूत जीव स्वयं में ही असीन है। जब वह अपने मूलभूत स्थान में था, उस समय उसे स्वबोध नहीं था। आश्चर्य तो यह है कि उसे स्वावरण का भी बोध नहीं था। अतः भगवान् ने उसे पृथक् बोध देकर अपने से विविक्त कर दिया। पृथक्ता के साथ-साथ उसे कर्तृत्वाभिमान तथा स्वाधीनइच्छा की प्राप्ति हुई है। अब जीव का यह कर्तव्य हो जाता है कि इसे वह भगवान् की ओर ही नियोजित करे। यही जीव के जीवत्व की सार्थकता है। जीव ने अपनी सभी शक्तियों से यह समझ लिया है कि भगवान् दूर हैं, उन्हें पाना दुष्कर है और वह भोगोलिप्त होकर परमेश्वर प्रदत्त स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर रहा है। अतः स्वयं को पाने की सभी प्रक्रिया कर्मरूप नहीं है। इतने पर भी यह अकर्म भी नहीं है। इस प्रक्रिया में जीव का कर्तृत्वाभिमान सफल हो जाता है।

कर्मप्रसंग में आयुतत्त्व भी विवेच्य है। आयुष्य-काल में ही कर्म सम्पन्न हो सकता है। योगशास्त्र के अनुसार आयु विपाकोन्मुख कर्म के विपाकत्रयान्तर्गत एक विपाक- रूप ही है। कर्म प्राक्तन तथा क्रियमाणरूपेण द्विधा विभक्त है। वर्तमान में अनुष्ठित कर्म ही क्रियमाण कर्म है। इसकी उत्पत्ति के मूल में अविवेक तथा तत्मूलक देहात्मक ज्ञान का रहना आवश्यक-सा है। क्रियमाण कर्म उत्पन्न होने के साथ-साथ अपने अनुरूप संस्कार की छाप चित्त पर छोड़कर नष्ट हो जाता है। इसे कर्माशय कहते हैं। एक के पश्चात् एक-एक कर्मों के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं। अनादिकाल से इसी तरह कर्म-संस्कार संचित होते आ रहे हैं। इन्हें ही संचित कर्म कहते हैं। ये अतीत से सम्बन्ध युक्त होने के कारण प्राक्तन रूप से प्राक्तन कर्म कहे जाते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि सभी संचित कर्म फल प्रसवयोग्य नहीं होते। अपरोक्ष ज्ञान से संचित कर्मों का उच्छेदन हो जाता है। अनेक संचित कर्म तद्विरोधी पुरुषार्थ से नष्ट हो जाते हैं। अनेक संचित कर्म अपने समान के अतिप्रबल कर्म में मिलित होकर स्व-अस्तित्व को खो देते हैं। किसी कर्म का क्रमिक परिणाम परिलक्षित होता है। किसी का विपाक अनियत होता है। उनका विपाक होगा भी, अथवा नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं है। प्रबल कर्म का फल इसी जीवन में प्राप्त होने लगता है। यही नियति का स्वरूप है। मृदु कर्म का विपाक हो भी सकता है, किंवा विरोधी कर्मावस्थिति में नहीं भी हो सकता। प्राक्तन कर्म पर वर्तमान कर्म का प्रभाव अवश्यमेव परिलक्षित होता है। यह प्रभाव वर्तमान कर्म के मात्रा-प्राबल्य के अनुपात में तीव्र अथवा मन्द हो सकता है। क्रमिक रूप से क्रियमाण कर्म का जो प्रभाव है, वह

मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। मरणासन्नावस्था में चित्त में उन्मिषित भाव ही मुमूर्षु का शेष (अन्तिम) कर्म है। इसके अनन्तर इह जन्म जन्य कर्म हो ही नहीं सकता। इसी कारण इस कर्म की शक्ति अत्यधिक प्रबल होती है। यह किसी भी कर्म द्वारा अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। यह अन्तिम कर्म उद्रिक्त होने के साथ-साथ संचित कर्म-भण्डार से स्वानुरूप कर्म-संस्कार को आकर्षित कर लेता है।

उक्त समस्त कर्म विपाकोन्मुख कर्म के संस्कार हैं। ये अन्तिम कर्म को केन्द्र बनाकर उसके अङ्ग के रूप में मात्रागत तारतम्य के अनुसार सजने लगते हैं। अन्त में सब मिलित होकर एक समष्टि कर्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। भक्त अथवा उच्चकोटि के साधक की मृत्युकालीन स्थिति में भगवद्-उन्मुखता रहती है। इसीलिए मृत्यु-काल में तीव्र अन्तर्मुखीन गति का उदय होता है। यही है स्वाभाविक एकाग्रता किंवा स्वाभाविक योग। इसके फल से उक्त कर्मसमूह घनीभूत होकर पिण्डाकृति धारण करते हैं। इस पिण्ड के केन्द्र में मृत्युकालीन भाव का कर्मबीज विद्यमान रह जाता है। यह कर्म पिण्डरहित हो जाने पर ही देह-त्याग का कृत्य होता है। इस सन्धि-क्षण में विगत जीवन की विविध घटनायें अत्यल्पकाल में चलचित्र के समान मुमूर्षु की चेतना में प्रकट होने लगती हैं। इसी समय भावी जीवन का रूप भी प्रकट होता है। मृत्यु-काल में उदित ज्योति में ही समस्त दृश्यों की अभिव्यक्ति होती है। यह कर्मपिण्ड ही प्रारब्धपिण्ड है। यह प्राक्तन कर्म का विपाकोन्मुख अंश है। तात्पर्य यह है कि अनन्त प्राक्तन कर्मराशि में से जितने कर्म फल देने को तत्पर हैं, वे ही प्रारब्ध कर्मरूप हैं। प्रारब्ध का मुख्य फल है सुख-दुःख-भोग। यह होता है शरीर से। अतएव शरीर ही प्रारब्धफल है। यह देह कितनी आयु का अधिकारी है, यह भी प्रारब्ध द्वारा ही निश्चित होता है। देह में स्थिति के कालमान का नाम है आयु। अतः विदित होता है प्रारब्ध के तीन विपाक होते हैं। विपाकत्रयरूप फल परस्परतः संश्लिष्ट रहते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि समस्त कर्मों के विपाकत्रय नहीं होते। ये विपाक हैं जन्म, आयु तथा भोग।

विपाकयुक्त कर्म को त्रिविपाक कर्म कहते हैं। जहाँ मात्र आयु तथा भोग है, वह है द्विविपाक कर्म। एक विपाक वाला एक विपाक कर्म है। मृत्यु-काल में जो कर्म प्रारब्ध का रूप लेता है, वह त्रिविपाक युक्त है। जीवित काल में मृदुकर्म का एक ही विपाक होता है। यदि जीवित काल का कर्म मध्यमशक्तियुक्त है, उसमें विपाकद्वय होते हैं। वर्तमान देहानुष्ठित कर्म अत्यन्त तीव्रवेग-युक्त होने पर ही इस जीवन में फल दे पाता है। अन्यथा उसका फल परवर्ती जीवन में प्राप्त होता है। जब तक प्रारब्ध क्षय नहीं होगा, नूतन भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती। वर्तमान जन्म में ऐसे भी कर्मों का अनुष्ठान सम्भव है, जिनसे भोग-प्राप्ति के साथ-साथ आयु जनित ह्रास-वृद्धि भी हो सकती है। यह विपाक कर्म है।

वर्तमान कर्म की तीव्रता अत्यधिक होने पर वर्तमान देह को बदलकर अन्य देह की प्राप्ति की जा सकती है। तीव्र क्रियमाण कर्म आयुवृद्धि करते हैं। यह क्रियमाण कर्म है भगवत्-कृपा, इष्ट का अनुग्रह, मन्त्रशक्ति-प्रभाव अथवा महापुरुष का आशीर्वाद। जब आयु की वृद्धि हो सकती है, तब इस वृद्धि की सीमा-रेखा का निश्चय कर सकना भी सम्भव नहीं है। दो-चार मास की वृद्धि, सौ अथवा चार सौ वर्षों की भी वृद्धि हो सकती है। आयु-वृद्धि उत्कट कर्म से, अथवा अनुग्रह से, किंवा अन्य व्यक्ति के आयुदान से भी हो सकती है। कालातीत के लिए आयु-सीमा ही नहीं रहती। जैसे श्रीभगवान् की कोई आयु नहीं है, वैसे ही चैतन्यमय पुरुष भी आयुरहित है। कारण यह है कि वे कालाच्छन्न नहीं हैं।

मनुष्य स्व-अधिकार के अनुसार इस एक को स्व-स्थिति मान लेता है। यह पूर्णत्व नहीं है। पूर्ण में रूप तथा अरूपगत भेद ही नहीं रह जाता। प्रथमतः खण्डशः तथा अन्त से पूर्णतः उपलब्धि करनी चाहिये। इस अवस्था में रूप तथा अरूप का समन्वय करना ही निष्काम कर्मरूप कर्तव्य है। बोध तथा अबोध के अतीत की स्थिति को प्राप्त कर लेना कर्म नहीं है। यह स्वभावरूप होने के कारण यथार्थ अकर्म है।

जिसे 'स्व' की अभिज्ञता नहीं है, उसका अन्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी ज्ञान है, वह सब भ्रमपूर्ण है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सत्ता से तुलना करके ही 'पर' का ज्ञान आयत्त कर सकता है। जब 'स्व' का ही ज्ञान अज्ञान तमस् से आच्छादित है, तब 'पर' का ज्ञान भी भ्रान्ति से आच्छन्न ही कहा जायेगा। अतः स्व का अभ्रान्त ज्ञान ही प्रत्येक व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिये। 'स्व' को जानते ही विश्व एवं विश्वातीत का रहस्य उद्घाटित हो उठता है। जिसे 'स्व' (आत्मा) की अभिज्ञता प्राप्त है, वही यथार्थ ज्ञानी है। सभी में वही ज्ञान विद्यमान है, जो उन्हें इन्द्रियों से प्राप्त होता है। हमें ऐसी स्थिति की किंचित् भी अभिज्ञता नहीं है, जिसमें हमें इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त न हो। वर्तमान में इन्द्रियाँ ही वे माध्यम हैं जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित, निरपेक्ष ज्ञान को हम वर्तमान स्थिति में ग्रहण नहीं कर सकते। वर्तमान में इन्द्रियाँ ही वे माध्यम हैं, जिनसे हमें ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रिय-विरहित ज्ञान हमारी अभिज्ञता में नहीं आ सकता। उस ज्ञान को धारण करने का सामर्थ्य ही इन्द्रियों में नहीं है। हम इन्द्रियरहित ज्ञान-धारण में अक्षम हैं। यही विडम्बना युग-युगान्तर से मानव को ग्रसती रहती है और यही पुनरावर्तक चक्र का मूल है।

सामान्यतः मनुष्य अपना बोध देहोऽहं रूप में करने को विवश है। 'मैं' कहने मात्र से वह अपने शरीर को दृष्टिपात करने लगता है। अर्थात् 'मैं' ही शरीर है। वह चक्षुरादि इन्द्रियुक्त, हस्तपादादि अंगों से मण्डित देहरूपी नराकृति को ही 'मैं' रूप से जानता है। यथार्थ सत्य तो यह है कि शरीर-इन्द्रियादि से सम्पृक्त होने पर भी

इनसे असम्पृक्त है। उसका स्वरूप मन, वाणी प्रभृति का विषय नहीं है। उसकी सत्ता पूर्णतः देहातिरिक्त है। देह का अनुभव करने वाला ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञातव्य विषयरूप देह से असम्पृक्त, पृथक् है। देह अहं का उत्पादक नहीं है। जीव की सत्ता देह से पूर्व तथा देह के अनन्तर भी रहती है। अतएव वह स्वभावतः देहातीत होकर भी सीमाबद्ध, जरामरण-नाशयुक्त तथा परिच्छिन्न है। इस देह में अहंभावना के कारण 'मैं' भी परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता रहता है। सत्य तो यह है कि 'अहम्', 'मैं' देह में परिच्छिन्न है ही नहीं। यह परिच्छिन्नता ही दुःख का कारण है। दुःख किसी को भी प्रिय, अभीप्सित नहीं रहता। सभी सुख का अन्वेषण करते रहते हैं। अतएव देह से पृथक् भावना का विस्तार करने से परिच्छिन्नता का विलीनीकरण हो जाता है।

जीव देह नहीं है, यह निर्विवाद है। अब यह शंका होती है कि तब जीव का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में सामान्यतः यह ज्ञात होता है कि जीवमात्र आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया द्वारा स्थायित्व पुष्टि तथा सत्ता की प्राप्ति करता है। यह क्रिया स्पन्दनात्मिका है। प्राथमिक स्तर में श्वास का नासिका मार्ग पर्यन्त आवागमन ही आकर्षण-विकर्षण है। विकर्षणावस्था में श्वास का बहिर्गमन नासिका से होता है। फलतः घात-प्रतिघात, किंवा क्रिया-प्रतिक्रिया नियमान्तर्गत एक सूक्ष्म स्पन्दन क्रमशः विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपूरादि क्रिया से उतरता हुआ नीचे जाता है। विकर्षण के अनन्तर आकर्षण क्रिया-काल में वायु नासारन्ध्र से अन्दर प्रवेश करती है। इससे ऊर्ध्वमुखी स्पन्दन उदित होकर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञाचक्र से होते हुए मस्तिष्काभिमुखी होता है। अब यह ऊर्ध्वगति पुनः विकर्षण में जा पड़ती है। यही है श्वास प्रक्रिया। इस क्रिया के साथ वायु से अधिक सहस्त्रार चक्र का सम्बन्ध है। वायु सम्बन्ध प्रतीत होने का यह कारण है कि सब कुछ चतुर्दिक् वायु से ओत-प्रोत है। वायु इस प्रक्रिया का कारण कदापि नहीं है। इसका कारक है सहस्त्रार। इन्हीं आकर्षण-विकर्षणात्मक स्पन्दन को अहं कहते हैं। जब तक मनुष्य इस प्रक्रिया की वायु पर निर्भरता का अनुभव करता है, तब तक वह देहात्म-बोध से ओत-प्रोत रहता है। यह क्रिया अहम् उत्पादक रूप से सुपरिचित है। मनुष्य इस क्रिया का उत्पादक नहीं है। वास्तव में यही क्रिया मनुष्य के अहंबोध का कारण है। यह क्रिया मनुष्य की इच्छा से प्रतिबन्धित, किंवा परिचालित नहीं होती। यह स्वयंचालित क्रिया है। इसी क्रिया के मात्रागत स्पन्दनों का विभिन्न मात्रा में, विभिन्न चक्रों से संस्पर्श हो जाता है। विज्ञजन कहते हैं कि मूलाधारचक्र से संस्पर्श का मात्रागत तारतम्य होने पर काम-भाव, स्वाधिष्ठान से कामातिरेक, मणिपूर से क्षुधा, अनाहत से दया, विशुद्ध से प्रेम, भ्रूमध्य से ज्ञान का विकास संघटित होता है। जिस चक्र पर इसका विशेष मात्रा में संस्पर्श होता है, उस चक्र में तदनुरूप भावस्पन्दन का प्रवाह होने लगता है। जीव सामान्यतः इस क्रिया का अतिक्रमण करने में असमर्थ है। वह इस क्रिया के प्रभाव से कठपुतली के समान संचालन करने को विवश है।

क्रिया का यह नियम है कि जहाँ जो भी क्रिया अवस्थित है, वहाँ तदनुरूप स्पन्दन भी विद्यमान रहते हैं। जहाँ निःस्पन्दता है, वहाँ क्रिया का अभाव है। अतएव जीव का अस्तित्त्व तथा कर्तृत्व स्पन्दन पर आधारित है। स्पन्दन जीवन का लक्षण भी है। इसके क्रमिक परिवर्तन के कारण मनुष्य का ज्ञान भी परिवर्तित होने लगता है। एक जातीय स्पन्दन से अन्य जातीय स्पन्दन का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। स्पन्दन तथा काल (ऊग्स) में अटूट सम्बन्ध रहता है। अर्थात् विभिन्न काल में विभिन्न जातीय स्पन्दन सक्रिय रहते हैं। परिणामस्वरूप मनुष्य में विविध विचार तथा कार्येच्छा का उदय होता है। यही कारण है कि एक जातीय स्पन्दन के रहते व्यक्ति जिस कार्य को उचित मानता है, अन्य जातीय स्पन्दन का उदय होते ही उसी कार्य को अनुचित समझने के लिए विवश हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि स्पन्दनात्मक क्रिया विषय स्वरूप को अपने अनुरूप प्रकाशित करती है। जीवमात्र स्पन्दनात्मिका क्रिया से ही परिचालित होता है। यह क्रिया उसे जैसा नाच नचाती है, वैसा नाच व्यक्ति नाचने के लिए उद्यत हो जाता है। जीव जब तक एक अवस्था में हैं, तब तक वह उसी के अनुरूप ही क्रिया-कलाप करता है। उस अवस्था को वर्तमानावस्था रहते वह अन्य प्रकार की क्रिया अथवा विचार करने में असमर्थ है। क्रिया का अथवा विचार का परिवर्तन भी स्पन्दनाधीन है।

क्रिया कहने से किसी अन्य, इतरसत्ता अथवा कार्य का द्योतन नहीं होता। क्रिया अर्थात् संचालन रूप स्पन्दन। जीवन पदार्थ (प्राणी) का मान उसके स्पन्दन से ही हो सकता है। स्पन्दनहीन मृत है। क्या यह संचालन आधार से होता है? क्रियारूप स्पन्दन आधारविहीन नहीं है। इसका आधार है देहातीत अहम्! निष्क्रिय सत्ता ही प्रकृत अहम् रूप है। वही आत्मा भी है। इसी कारण क्रियामूलक स्पन्दन के परिचालित रहने पर निष्क्रिय का ज्ञान (अवधारणा) नहीं हो सकता। आकर्षण-विकर्षण की जो क्रिया देहमध्य में चलती रहती है, उसी के मूल में आत्मा विराजित है।

विषय को पुनः स्पष्ट किया जाता है। जिस क्रिया मूल में अहंबोध विद्यमान है, उसी के साथ मनुष्य की भावना तथा अनुभव का अविच्छेद्य सम्बन्ध भी विद्यमान रहता है। क्रिया के अभाव में भाव भी अभावरूप हो जाता है। स्पन्दन की क्रिया जिस अवस्था में रहती है, उस समय वैसा ही भाव उन्मिषित होता है। अतः क्रियानुरूप भाव तथा भावानुरूप क्रिया की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में सर्वत्र यह स्पन्द-नात्मक क्रिया विद्यमान रहती है। जहाँ क्रिया है, वहाँ शब्द भी है। दोनों का अन्यो-न्याश्रयत्व है। क्रिया की मृदुता के साथ-साथ शब्द भी मृदु हो जाता है। क्रिया स्पन्दन तीव्र होने पर शब्द में भी तीव्रता संचरित होने लगती है। अतः क्रिया एवं शब्द का अभेदत्व सिद्ध है। क्रिया, भाव तथा शब्द मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहते हैं। गुरुप्रदत्त कौशल की सहायता से क्रिया, भाव अथवा शब्द में से

किसी एक का परिवर्तन कर देने पर सम्पूर्ण अस्तित्व का परिवर्तन हो जाता है। इनके परिवर्तन के अभाव में मनुष्य का मूलभूत परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि होता भी है तब स्थायी परिवर्तन नहीं होता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्पन्दनात्मिका क्रिया का परिवर्तन अत्यन्त दुष्कर है। हठयोगीगण तीव्र प्रयत्न द्वारा क्रिया का परिवर्तन करने में सफल हो जाते हैं, यद्यपि यह प्रक्रिया अत्यन्त कष्टसाध्य है। यह सार्वजनीन साधना नहीं है। तुलनात्मक रूप से शब्दाश्रय अथवा भावाश्रय द्वारा मनुष्य का पूर्ण परिवर्तन साधित कर सकना सरल है। ध्वनि द्वारा क्रिया-परिवर्तन को राजयोग अथवा मन्त्रयोग कहते हैं। राजयोग शुद्धतः ध्वनियोग नहीं है। उसमें ध्वनि के साथ-साथ भावना का संस्पर्श रहता है। भावयोग से क्रिया-परिवर्तन हठात् साधित नहीं होता। कारण, भावोद्रेक मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाधीन नहीं है। अतः शुद्ध ध्वनियोग सरल पथ है। भाव का उद्रेक किसी कारण की अपेक्षा रखता है, किन्तु ध्वनि का उच्चारण कभी भी किया जा सकता है। ध्वनि का उच्चारण करने से ध्वनिगत स्पन्दन उच्चारणकर्ता के भाव तथा क्रिया का परिवर्तन कर देता है। ध्वनि की सहायता से आत्मज्ञान मार्ग के समस्त अवरोध दूर हो जाते हैं।

क्रिया एवं ध्वनि में पारस्परिक सम्बन्ध विद्यमान रहता है। इस सन्दर्भ में देह की मूलभूत क्रिया (आकर्षण-विकर्षण) का विश्लेषण करना चाहिये। मनुष्य में श्वास क्रिया के मूल में जिस आकर्षण-विकर्षण का अस्तित्त्व है, वह भी ध्वनि के साथ साक्षात्रूपेण सम्बद्ध है। इसका अर्थ यह है कि श्वास ग्रहण-काल में तथा श्वास बहिर्गत् करते समय एक ध्वनि विद्यमान रहती है। और भी सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होगा कि ग्रहणावस्था में एक ध्वनि है और श्वास की निष्क्रमणावस्था में अन्य ध्वनि की सत्ता विद्यमान है। ग्रहण-काल में 'अ' ध्वनि तथा निष्क्रमण-काल में 'ह' ध्वनि का अस्तित्त्व रहता है। यही अ, ह, बोधरूपी ध्वनि अनुस्वार से मिलकर 'अहम्' का अनुभव करती है। अहम् कोई कल्पित शब्द नहीं है। यह यथार्थ तथा मूलभूत ध्वनि का प्रत्यक्ष रूप है। अ का ह से अन्योन्याश्रयत्व है। यह सृष्टिकाल का सम्बन्ध है। यद्यपि अव्यक्तावस्था के अन्तिम क्षण में, किंवा व्यक्तावस्था के पूर्व क्षण में मात्र अ का ही अस्तित्व रहता है, तथापि सृष्टिकाल में अ तथा ह, परस्परतः पृथक् हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि यदि मात्र आकर्षण का ही अस्तित्व रहता, उस अवस्था में सम्पूर्ण सृष्टि ही अव्यक्त रह जाती। मात्र विकर्षण का अस्तित्त्व रहने से तो अणु-परमाणु विच्छिन्न हो जाते। यह प्रलयावस्था है। प्रलयावस्था में मात्र विकर्षणरूपी 'ह' का ही अस्तित्त्व रह जाता है, अर्थात् वह प्रधान हो जाता है। इसी कारण सृष्टि के सन्तुलन के लिए दोनों विद्यमान रहते हैं। अतः स्वरूपावस्था में उन्नीत होने के लिए 'ह' का ह्रास करना होगा। तन्त्र-शास्त्र ने इसी का संकेत हार्धकला के रूप में दिया है। इसके ह्रास के साथ-साथ बहिर्मुखता का भी क्रमिक लोप होने लगता है। सर्वान्त

में अक्रियावस्था में स्थिति होती है। यही है वास्तविक साधनापथ! प्रत्येक साधन-मार्ग में प्रकारान्तर से, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इसी 'ह' की क्रिया का ह्रास किया जाता है। जिस साधना द्वारा यह विकर्षण क्रिया स्तिमित होती है, वही यथार्थ साधना है। यही यथार्थ दीक्षा है।

इस क्रिया की मृदुता के साथ-साथ धारणा तथा अव्यक्तीभूत शक्तियाँ विकसित होने लगती है। धारणा शक्ति का पूर्ण जागरण होने पर अभ्रान्त ज्ञानधारण की योग्यता आ जाती है। इतिपूर्व अभ्रान्त ज्ञान को धारण कर सकना दुष्कर है। विकर्षणावस्था- रहित जागरण ही निर्भ्रान्त ज्ञानावस्था है। यह ज्ञानरूप मार्ग सप्तर्षिगण द्वारा उपदिष्ट है। उन्हें विदित था कि 'अहंम' की किसी भी क्रिया में हस्तक्षेप न करने पर भी विकर्षण अस्तमित हो सकता है। यही है ध्वनि-प्रक्रिया जो 'अ' तथा ह के अन्तर्गत कही गयी है। 'अ' की अनेक स्थिति है। सर्वाग्र में इसे कण्ठस्थ 'अ' ही जानना चाहिये। 'ह' मूलाधारस्थ है। अतः प्रारम्भ में यह स्पन्दनात्मक क्रिया कण्ठ से मूलाधार पर्यन्त ही अनुभूत होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आकर्षण-विकर्षणात्मक ध्वनि का उच्चारण देह द्वारा नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, मृत शरीर में यह क्रिया परिलक्षित नहीं होती। अतएव ध्वनि का कर्त्ता देह नहीं है। उससे मात्र ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि देहान्तर्गत स्पन्दनात्मिका क्रिया ऊर्ध्वोत्थित होती है, तदनन्तर उसमें निम्नगामिता की गति प्रत्यक्ष होती है। यह क्रिया कौन करता है? यह अव्यक्त से संचालित होती है। देह अथवा देहाभिमानी जीवात्मा इसका संचालक नहीं है। इसका कर्ता है 'ईश्वर' जो यंत्री के रूप में अहमूरूपी हृदयमध्य में विराजमान है। यही कर्ता इस क्रिया से सम्बद्ध रहता है। इसी क्रिया द्वारा हृदयस्थ ईश्वर का अस्तित्त्व भी प्रमाणित हो जाता है। यह क्रिया ही ईश्वर का स्पन्दनात्मक अस्तित्त्व है, जो स्वकर्त्ता से सम्बद्ध है। इस क्रिया के तनिक परिवर्तन से ही देही के भावादि परिवर्तित होने लगते हैं। गीतोक्त उक्ति के अनुसार यंत्रीरूप में अवस्थित होकर ईश्वर यथाविधि देहयंत्र तथा देहाभिमानी जीव को संचालित करता रहता है। वह स्पन्दनात्मिका क्रिया द्वारा संचालन कृत्य सम्पन्न करता है। यह स्पन्दन ही सृष्टि की मूल ध्वनि है। सृष्टि के पूर्वक्षण पर्यन्त यह स्पन्दन अन्तर्लीन रहता है। सृष्ट्योन्मुखी होने के अनन्तर यही मूल ध्वनि सृष्टि तथा देह की संचालिका बन जाती है। इस स्पन्दन क्रिया के माध्यम से ईश्वर तथा जीव का पारस्परिक सम्बन्ध (योग) बना रहता है। यह ईश्वर तथा जीव के मध्य एक रज्जु है। यही क्रिया देहाभिमानी जीवात्मा को शरीर में वर्तमान रखती है। उसमें यथेच्छित परिवर्तन कराती है। जीवात्मा का इस क्रिया पर कोई आधिपत्य नहीं होता। यह स्पन्दनात्मिका क्रिया ही उसे रज्जुरूप से बँधे मर्कट (बन्दर) के समान, जैसा नाच चाहे, वैसा नचाती रहती है। इतने पर भी जीव स्वयं को कर्त्ता

मानकर कर्तृत्वाभिमान रूप बन्धन में आबद्ध हो जाता है। उसे गीता में 'अहङ्कार विमूढ़' की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह अभिज्ञता हो जाने पर कि क्रिया ही सबकुछ का संचालन कर रही है, व्यक्ति में द्रष्टत्व का विकास होने लगता है। तब कर्तृत्वाभिमानरूप बन्धन उच्छिन्न हो जाता है।

जीव इस क्रिया को स्वेच्छा से नहीं रोक सकता। यह सुषुप्तावस्था में भी अस्तगत नहीं होती। अहर्निश अविरामगति से गतिशील रहती है। अब जीव का प्रधान कर्त्तव्य है, इस क्रिया के मूल केन्द्र का, उत्स का, अनुसन्धान करना। यह स्पन्दनात्मिका क्रिया हमारे देहरूप व्यष्टि जगत् में चल रही है। इसी प्रकार यही क्रिया समष्टिरूप महाब्रह्माण्ड में चलती रहती है। इसी क्रिया द्वारा समष्टि का तथा व्यष्टिदेह का नियमन होता रहता है। समष्टि तथा व्यष्टि से अतीत अवस्था में (यहाँ समष्टि एवं व्यष्टि का भेद नहीं है) भी यह अन्तर्लीन रूप से विद्यमान रहती है। वहाँ इसके नियामक श्री भगवान् हैं। समष्टि में इसके नियामक परमात्मा हैं तथा व्यष्टि जीवदेह में इसके नियामक हैं हृदयस्थ ईश्वर। ऊर्ध्वस्थ क्रिया ही अधःस्थ क्रिया की नियामिका होती है, अर्थात् अभेदभूमि की क्रिया समष्टिगत क्रिया का नियमन करती है। समष्टिगत क्रिया ही व्यष्टिगत क्रिया की नियामिका बन जाती है। अतएव व्यष्टिगत क्रिया को पूर्णतः जानने के लिए समष्टिगत क्रिया का आश्रय लेना ही होगा। इसी प्रकार अभेदभूमि की क्रिया का साक्षात्कार होते ही समस्त समष्टिगत एवं व्यष्टिगत क्रिया का रहस्य विदित हो जाता है। कारण यह है कि क्रिया का संचालक सर्वदा क्रियास्थल से ऊर्ध्व में रहता है। उच्चभूमि के संचालक के निम्नस्थ देश में क्रिया होती है। यही कारण है कि साधक को भी ऊर्ध्वोत्थित होना पड़ता है।

जीवात्मा तो निम्नभूमि में रहता है। वह उच्चस्थ नियामक का सन्धान पाने के लिए कैसे अग्रसर होगा? ईश्वर तथा जीवात्मा के मध्य का सम्बन्ध एक रज्जु से योजित है। जैसे रज्जु को पकड़कर उच्चातिउच्च शिखर पर आरोहण करते हैं, वैसे ही देहस्थ क्रिया स्पन्दन के साहाय्य से ईश्वर-भूमि पर्यन्त आरोहण किया जा सकता है। अतः स्पन्दन क्रिया को ही लक्ष्य एवं आश्रय बनाना चाहिये। स्पन्दन में एक अव्यक्त ध्वनि विद्यमान रहती है। यह कल्पित ध्वनि नहीं है। जैसी क्रिया वैसी ध्वनि। क्रिया की अपेक्षा ध्वनि का आश्रय लेना अत्यन्त सुगम मार्ग है। गर्भावस्था में यह ध्वनि शिशु-कण्ठ में विद्यमान रहती है। वह कण्ठ से निम्नगामी नहीं होती। अतः गर्भावस्था में द्वैतज्ञान नहीं रहता। जब यह क्रिया शिशु-कण्ठ से अधोगामी होने लगती है, तभी शिशु भूमिष्ठ हो जाता है। उस समय बहिर्गत न होने पर, गर्भ में मर जाता है। अर्थात् जब यह क्रिया अपने कण्ठगत प्राथमिक रूप अ से हरूपी निम्नावस्था की ओर प्रभावित होने लगती है, तब अहम् बोध का उदय होने लगता है। यह 'अहम्' देहाऽहंबोधरूप है। जब तक यह अहम् बोध देह से जड़ित रहता है,

तब तक देह भी अवस्थित रहता है। इस अहम् बोध का विराम होने के साथ-साथ मृत्यु आसन्न हो जाती है। जब तक अहमात्मक क्रिया है, तब तक देह है।

विषय को अन्य प्रकार से परिभाषित किया जा रहा है। 'ह' के अभाव में विकर्षण समाप्त हो जाता है। अहम् में 'ह' मध्य में विद्यमान है। यह अ तथा म का योजक है। 'ह' का विलोम ही विकर्षण का विलोम है। अ तथा म दोनों आकर्षणात्मक हैं। इन अ+म द्वारा अन्तर्मुखी आकर्षण प्रारम्भ हो जाता है। यही प्रणव है। प्रणव में विकर्षणात्मक 'ह' नहीं है। अतः प्रणव जागतिक दृष्टि से निष्क्रिय तथा अपरिवर्तनीय है। 'ह' के अभाव में क्रिया तथा ध्वनि की अन्तर्लीनता सम्पादित होती है। अब मात्र अ तथा म रूप प्रणव विद्यमान रह जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हकार के लोप के साथ-साथ अ तथा म के मध्य में 'उ' कार की सत्ता का भान होता है। वास्तव में यह मध्यस्थ 'उ'कार जागतिक स्वर 'उ' नहीं है। यह मध्यस्थ शक्ति है, जो अनुस्वार युक्त है। प्रणव की सत्ता विकर्षणविहीन है अतः यहाँ आकर्षण की भी सत्ता नहीं रहती। इसी प्रणव से बहिर्दशा में 'ह' का 'ह्' (हलन्त रूप में), मृदुरूप में उद्गम होने से आकर्षणात्मक 'अ' का बहिर्गमन भी अवश्यम्भावी हो जाता है। क्रमशः बहिर्गमन के कारण 'ह' कार भी बाह्य विकास की ओर अग्रसर होता है। फलतः स्थूल देह की उत्पत्ति भी इसी की क्रमिक दशा से होती है। अ तथा ह के बाह्योन्मेष काल में स्थान चतुष्टय के गठन के साथ-साथ इ, ऋ, ऌ तथा उ का स्वररूप में आविर्भाव होता है। स्थान चतुष्टय हैं तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ। यहाँ पर आकर्षणात्मक स्पन्दनों की क्रमिक अवस्था के कारण 14 स्वर वर्ण आविर्भूत होते हैं। अ-ह की निम्नगामी गति के कारण 'अ' स्वर का बहिःप्रकाशन कण्ठ देश से होता है। तदनन्तर इ से युक्त ए की उत्पत्ति होती है। यह मूर्धा में होती है। तदनन्तर अब संकोच विकासात्मक आकर्षण-विकर्षण क्रियाजनित घात-प्रतिघात से एकार के संयोग से ओ एवं औ का उदय होता है। तालु, कण्ठ तथा ओष्ठ के घात-प्रतिघात से ठ उदित हो जाता है।

अब व्यंजनवर्ण समूह गठित होते हैं। अ ह क्रिया का प्रारम्भ होने के साथ देह-गठन सम्पन्न हो जाता है। (यह देह वास्तविक स्थूल देह नहीं है। इसे आदिदेह समझना चाहिये) तदनन्तर आदिदेही अपने पंचेन्द्रियसमूह द्वारा इन्द्रियग्राह्य विषयों को समझने की चेष्टा करता है। पाँच इन्द्रियों तथा उनके पाँच विषय (रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध) सब मिलाकर 5×5=25 भेद हो जाते हैं। यह 25 भेद ही क, च, त, ट, प वर्ग के 25व्यंजनों के कारण हैं। जब विलोम के क्रम से तालु, मूर्धा, ओष्ठ तथा कण्ठ पर्यन्त विक्षेपण होता है, तब य, र, ल, व रूप 4 व्यंजन और प्रकाशित होते हैं। स्थूल देहस्थ प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय ग्राह्य विषयों को जानने की चेष्टा की जाती है। अतएव आत्मा ही पंचधा विभक्त होकर जीवरूप में परिणत हो जाती है। इसे

जीवस्थिति कहते हैं। 5 इन्द्रिय ग्राह्य विषयों में विभक्त आत्मा की स्थिति 1/5 हो जाती है। इससे प्रणव की 5 आकर्षणात्मक ध्वनिरूप ङ, ञ, ण, न, म, का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार विकर्षण के प्रभाव से विकर्षणात्मक श, ष, स; विसर्ग तथा अनुस्वार का उदय होता है। क, च, त, ट, प वर्ग के 25 व्यंजन स्पर्श वर्ण हैं। स्पर्श सर्वव्यापी है, अतः त्वचा भी शरीर में सर्वत्र विद्यमान है। जीव की समस्त अनुभूति स्पर्शात्मिका है। अतः विषय ज्ञान के लिए प्रयोज्य शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध युक्त 25 व्यंजन स्पर्श वर्ण कहे जाते हैं। क तथा ग गति अथवा प्राण मृदुता के द्योतक हैं। ख, एवं घ गति तथा प्राण प्राबल्य के द्योतक हैं। ङ अनुनासिक है। इसमें स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार आकर्षणाधिक्य में स्पन्दन अल्प प्राण अथवा अल्प गतियुक्त तथा विकर्षणाधिक्य में महागति की अवस्था में रहता है।

जब विभक्त आत्मा इन्द्रियग्राह्य वस्तु को 5 बार समझने में परिश्रान्त होकर पुनः स्वरूपावस्था में लौटने को उद्यत होता है, तब पुनः आकर्षण-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही है आनुनासिक वर्ग (ढ, ञ, ण, न, म) तथापि देहाध्यास के कारण विभक्त आत्मा स्वरूपावस्था में न जाकर पुनः देह में लौट आता है। यही विकर्षण है। अ के आकर्षण का विकर्षण है 'श'। 'ण' का विकर्षण है 'स'। म का विकर्षण है अनुस्वार। ङ का विकर्षण है विसर्ग। विसर्ग काल का विकर्षण अतिप्रबल है। इसमें अकार का लेश भी नहीं रहता। अतः यह परित्याज्य (विसर्ग) है। विसर्ग से तीव्र विकर्षण को मानव-देह सहन ही नहीं कर सकता। विसर्ग की महाक्रीड़ा महाप्रलय-काल में होती है।

●

अपने आपमें प्रगति

प्रकाशात्मा—जैसे दर्पण में अपनी छवि प्रतिभात होती है, उसी प्रकार ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर उसमें समग्र विश्व का दर्शन हो जाता है। यहीं उपलब्धि समाप्त नहीं हो जाती। इसके पश्चात् विश्वातीत स्थिति में आरोहण करना चाहिये। इस स्थिति में विश्व का विलीनीकरण हो जाता है। इसी प्रकार शक्ति से अतीत अवस्था उपलब्ध करनी होगी। प्रकाशस्वरूपता आत्मस्वरूप की चरम सीमा है। इसमें शक्ति की भी सत्ता प्रविलीन हो जाती है। एकमात्र स्वरूपप्रकाश अवशिष्ट रह जाता है। यदि अन्धकाराच्छन्न कक्ष में स्वरूपदर्शन युक्त प्रकाशात्मा का आविर्भाव होता है, उस स्थिति में ज्योतिविहीन कक्ष में भी उनके प्रत्येक रोमकूप का प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसे प्रकाशात्मा को देखने के लिए सत्वगुण का भी प्रयोजन नहीं है। वहाँ प्रकाश नहीं है, तथापि देखना सम्भव है। जो कुछ अनन्त द्योतित प्रकाश में देखते, उससे भी कोटि-कोटि गुणितरूप में प्रकाशात्मा को देखना सम्भव है। बाह्य प्रकाश न रहने पर भी बोध में बिन्दु-बिन्दु तक को देखा जा सकता है। यही यथार्थ प्रकरण है। प्रकाशात्मा का आलोक पूर्णिमा के चन्द्रालोक से भी कोटि गुणित स्निग्ध होता है। यह सत्त्वगुण नहीं है। त्रिगुणातीत शुद्धसत्त्व है। यही चित्‌शक्ति है। माँ की अंगद्युति है। जिसे प्रकाश (अन्तःप्रकाश) कहा जाता है, वहाँ माँ की स्थिति नहीं है। वह मात्र ब्रह्मप्रकाश है।

स्वयंप्रकाश अवस्था परमाद्वैतावस्था है। जो कुछ है, वह एक ही है। द्वितीय रूप कुछ भी नहीं है। अथच यदि देखने की इच्छा हो, तब उस एक में ही सब कुछ की विद्यमानता परिलक्षित होने लगती है। दो हो जाता है, अथच दो नहीं है। दो अर्थात् द्रष्टा तथा दृश्य। यद्यपि पृथकत्व का अनुभव इच्छा मात्र से होने लगता है, तथापि वहाँ पृथक्‌ता नहीं है। जैसे वाष्प, जल एवं बर्फ। साधारण से दृष्टि से इनमें पार्थक्य है। विज्ञान-दृष्टि से तेजाधिक्य होने पर जल ही वाष्प है। घनीभूतावस्था में वही बर्फ है। इसी प्रकार ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् गुणगत तारतम्य के कारण पृथक् होने पर भी एक ही हैं।

आत्मस्वरूप में शक्ति का विकास जहाँ तक पूर्ण होता है, वहाँ तक स्थिति प्राप्त होती है। जो अग्रसर नहीं होता, वह जहाँ तक पहुँचा, वहीं स्थित हो जाता है। दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न साधक शक्ति-विकास का भी अतिक्रमण करते हैं। अतिक्रमणावस्था में शक्ति, शक्तिमान का कोई भेद नहीं है। वहाँ शक्ति भी है,

शक्तिमान भी है, तथापि है एक तत्त्व में। यही है साधक की यथार्थ बोधस्वरूपता। बोधस्वरूपता में उन्नीत साधक को ज्ञात होता है कि जगत् के अनन्त वैचित्र्य में भी वही एक विराजित है। वही अनन्त है। अनन्त ने उस एक का ही आश्रयण किया है। वह 'मैं' रूप एवं स्व-प्रकाशित तत्त्व है। अद्वैत का यथार्थ तात्पर्य अब तक प्रकाशित नहीं हो सका है। अद्वैत कहने से एक सीमाबद्धता प्रतीत होती है। अर्थात् अद्वैत है, अतः द्वैत नहीं है। अद्वैत तथा द्वैत रूप दो सत्ता का आभास होता है। सत्य तो यह है कि अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि भी एक ही है।

महागति—जीवन में अभाव तथा स्वभाव की गति कार्यरत रहती है। सामान्य जीव अभाव की गति से ओतप्रोत रहते हैं। संस्कार के कारण विभिन्न अभाव का अनुभव करते रहना पड़ता है। अभाव का बोध होने पर उसे हटाने की चेष्टा की जाती है। यह सफल नहीं होती। एक अभाव के हटते ही अन्य अभाव सम्मुख दण्डायमान हो जाता है। जैसे घोर आतप से तप्त को तृषानुभव होता है। जल पीने पर भी तृप्त सर्वकालिक नहीं होती। कालान्तर में पुनः प्यास लगती है। अतः जगत् अभावमय है। अपूर्ण सदा अभावमय रहता है। जीव को अभाव की गति में चंचल होते ही रहना है। अभाव की तृप्ति सम-सामायिक होती है। यह तृप्ति का आभास-मात्र है। जागतिक धारा अभाव की धारा है। अतः इस धारा में बहते रहने तक अभाव का अनुभव करना ही होगा। समग्र सृष्टि इसी अभाव से आच्छन्न है। अतः चिरतृप्ति का अन्वेषण करना चाहिये। प्रत्येक अभाव के साथ स्वभाव की गति (धारा) विद्यमान है। प्राणी का चैतन्याभाव, जागृति की न्यूनता प्रभृति के रहते स्वभाव की धारा का संस्पर्श नहीं मिलता। गयाधाम में फल्गु नदी धरती के गर्भ में बहती रहती है। इसी प्रकार स्वभाव की धारा भी आभ्यन्तरीण रूप से प्राणी के अन्तरतम में विद्यमान है। गुरु-कृपा, महापुरुष अथवा ईश्वर की कृपा से, धैर्यावलम्बनपूर्वक अध्यवसाय युक्त होकर इस धारा में अवगाहन करते रहने से वह स्थिति आयत्त होती है, जो अनन्तकालीन अभाव का समाधान कर देती है। अभाव की धारा में अपूर्णता का ज्ञान ही स्वभाव है। एक बार भी इसका संस्पर्श मिल जाने से प्राणीगण चिरकाल के लिए निश्चिन्त हो सकते हैं।

स्वभाव की गति प्राणिमात्र में विद्यमान है। जब तक जीव विषयरूप जगत् से उदासीन नहीं होता, तब तक स्वभाव की धारा स्वात्मप्रकाश नहीं करती। जब जगत् के अभाव के कारण चतुर्दिक् निराशा व्याप्त हो जाती है, तब स्वभाव की धारा स्वयमेव स्फुरित होने लगती है। गुरु का कार्य है जीवन को स्वभावोन्मुखी महागति प्रदान करना।

मन की गति द्विविध है। वह बहिर्मुखता में विषयों की ओर तथा अन्तर्मुखता में भगवान् की ओर गतिशील हो जाता है। भगवान् की ओर गतिशीलता में मौनावलम्बन तथा वाक्-संयम सहायक रहता है। वाक्-संयम से मन की क्रिया नहीं

रुकती। प्राथमिक अवस्था में क्रिया रहती है तथा बोलने की प्रवृत्ति भी रहती है। अभ्यास की दृढ़ता के साथ-साथ मन गम्भीर हो जाता है तथा उसकी क्रियोन्मुखता भी शिथिल होने लगती है। अब स्वाभाविक रूप से वाक् संयम होता है। बोलने की इच्छा समाप्त-सी हो जाती है। सर्वान्त में मन की क्रिया भी नहीं रहती। अब भगवत्-कृपा से भगवान् के प्रति निर्भरता का संचार होने लगता है। यह है चिन्ताहीन अवस्था। अर्थात् मन को आत्मा में स्थिर करने से चिन्ता नहीं रह जाती। भगवान् में संलग्न मन पवित्र होता है। मन में जागरण होता है। देह पवित्र हो जाती है। विषय-चिन्तन से शक्ति क्षीण होती है। भगवत्-चिन्तन से शक्ति का उपचय होता है। वाक्-संयम के अनन्तर विषय चिन्तना अनुचित है। ऐसी अवस्था में मौनव्रत व्यर्थ हो जाता है। बलात् वाक्-संयम करने में विषय स्मरण ही होगा और इन्द्रियाँ आघात प्राप्त होने से रुग्ण हो जाती हैं। अन्तर्मुखी मन में भगवत्-चिन्तन का कार्य प्रारम्भ हो जाना स्वाभाविक है। इस स्थिति में स्वभावतः बोलने की इच्छा ही नहीं रह जाती।

मौनावलम्बन से विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। मौनावलम्बन के साथ-साथ अन्य उत्कृष्ट साधना का अभ्यास करना और-और श्रेयस्कर है। इससे अज्ञानावरण दूर हो जाता है। ज्ञान स्वयम्प्रकाश है, वह किसी के प्रभाव से उद्भूत नहीं होता। मौन साधना के प्रभाव से शरीर में स्थैर्य का संचालन होने लगता है।

योगवाशिष्ठ में पंचविध मौन का उल्लेख मिलता है। (1) वाचिक मौन अर्थात् वाणी से न बोलना (2) समाधि मौन अर्थात् कुछ भी नहीं देखना। (3) काष्ठमौन अर्थात् इन्द्रिय तथा मन पर वश करना। (4) सुषुप्त मौन अर्थात् आत्मा और पदार्थ समूह में अभेतत्त्व ज्ञान। (5) आत्ममौन अर्थात् आत्मा में जाग्रत् होना। यह सर्वोत्तम मौन है।

मौन के अनन्तर श्रवण तत्त्व का परिज्ञान आवश्यक है। प्रथमश्रवण है जब श्रोता अन्य के मुख से सुनता है। अन्यश्रवण वह है जिसमें श्रोता सुन कर भी नहीं समझता। जो समझ में नहीं आता, उसे कोई भी सुनना नहीं चाहता। यह लौकिक नियम है। आध्यात्मिक जगत् में श्रवण ही साधनांग है। श्रवणनिरपेक्ष होना ही सिद्धि है। श्रवण का विषय चित्ताकर्षक न होने पर भी वाक्यजनित नैसर्गिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव के कारण उसे सुनना विहित माना जाता है। यहाँ यह भी धारणा परिव्याप्त है कि यदि श्रवणगत भाषा अथवा विषय को श्रोता नहीं समझता, उसे कोई फल नहीं मिलता। यह धारणा सर्वमान्य नहीं है। क्योंकि श्रवणगत् विषय श्रोता की बुद्धि, विचार अथवा सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं रखता। वेद अपौरुषेय है। महापुरुषों के वाक्य उनकी स्वानुभूति से ओतप्रोत रहते हैं। इन वाक्यों में गुप्त चैतन्य शक्ति निहित रहती है। ये वाक्य लौकिक शब्दरूप नहीं हैं। इन वाक्यों के स्पन्दन-मात्र से मनुष्य का जीवन परिवर्तित होने लगता है। इन वाक्यों में निहित चेतना-शक्ति को प्राप्त करने के लिए

पूर्ण श्रद्धा के साथ इन वचनों को सुनते रहना चाहिये। शुद्ध श्रद्धा से सिंचित होने से इन वाक्यों की चैतन्य-शक्ति पुनर्जाग्रत् हो उठती है। वह अपना आत्मप्रकाश करने लगती है। इनकी शक्ति से देह, प्राण, मन का आवरण दूर हो जाता है।

समझ में न आने पर भगवद्वाणी को सश्रद्धभावेन सुनते रहना चाहिये। यह सुनना कभी भी निष्फल नहीं होता। अनेक बार सुनने से साधकान्तःकरण का आवरण विदूरित होने लगता है। अतः समझ में न आने पर भी भगवद्-कथा, सत्प्रसंग आदि को सुनना चाहिये। केवल सुनने मात्र से अनुभव मार्ग उन्मुक्त होने लगता है। सद्ग्रन्थ पाठ, सत्कथा-श्रवण, सत्कीर्त्तन, स्थूल दृष्टि से परस्परतः विभिन्न प्रतीत होने पर भी गुण में अभिन्न हैं। सभी का अवलम्बन है भगवत्-प्रसंग। जिसकी जिस प्रसंग में रुचि होती है, वह उसे सुनता है। यथार्थ श्रवण होने पर मनन स्वयमेव होने लगता है। मनन का मुख्य उद्देश्य है संशय को हटाना। मनन ही दृढ़ निश्चय के उपरान्त कार्य- रूप में परिणत होने लगता है। अनुभवशून्य श्रवण से भी (न समझ में आने वाले) पूर्ण अनुभव का प्रकाश हो जाता है।

महायोगीगण दीक्षार्थी को दीक्षा देने से पूर्व उसके प्राक्तन जन्म-संस्कार को देखते हैं। सामान्यतः तीन जन्मों का विचार करना चाहिये। साधन संस्कार तथा प्रकृतिगत इष्टभाव के वैशिष्ट्य का निरूपण करने के लिए तीन जन्मों में अर्जित कर्म एवं साधन संस्कार जनित चित्तदशा तथा रुचि के अनुकूल इष्ट का निर्णय किया जाता है और तदनुसार मात्रा में शक्ति-संचार दीक्षा प्रदान की जाती है। इससे यह ज्ञात होता है कि तीन जन्म के संस्कारों का सापेक्षरूप से परिदर्शन करने के अनन्तर ही भावी साधना का ज्ञान हो सकता है। जिस पथ के प्रति पूर्वजन्म में साधक की रुचि रही है और उसने परिश्रम किया है, उसी मार्ग का साधन संस्कार साधक में विद्यमान रह जाता है। वर्तमान में उसी मार्ग के साथ साधक को संयुक्त कर दिया जाता है। इससे व्यापक एवं व्यर्थ श्रम से त्राण मिलता है। पूर्वकृत् साधन कर्म वर्तमान जन्म की साधना से संयुक्त होकर शीघ्रता से फल प्रदान करने लगता है।

वास्तव में यह एक स्थूल प्रक्रिया है। तीन जन्मों के विचार से अधिक क्या ज्ञात होगा? यहाँ तक कि सहस्र जन्मों का विचार करने पर भी प्रकृत पथ का सन्धान नहीं मिलता। तीन जन्म तो एक ही मूल जन्म के विविध विलास-मात्र हैं। स्थूल जगत में प्रवेश करने का प्रमाण है स्थूल देह। प्रथमतः किसी जीवात्मा ने कब स्थूल शरीर ग्रहण किया था, इसका ऐतिह्य कौन जान सकता है? कितनी बार जन्म-मृत्यु क्रीड़ा हो चुकी है, इसका भी सन्धान नहीं मिलता। अतः यह जानना आवश्यक है कि स्थूल देह में जीवात्मा कहाँ से आया है? यदि किसी भाग्यशाली को यह ज्ञात हो सके, उस अवस्था में वह उस स्थान से और भी ऊर्ध्व स्थित होकर यह ज्ञात कर सके कि सर्वप्रथम कब शुद्ध चैतन्य पर मूलभूत आवरण आ पड़ा था, तभी उसका यथार्थ कल्याण साधित होगा।

कहा जाता है कि स्वभाव की धारा त्रिधा सृष्टि करती है। त्रिविध सृष्टि का तात्पर्यार्थ है आत्मा के तीन जन्म। इस तीन जन्म का वृत्तान्त निपुणतम दृष्टि से देखने से परमस्थान को जाने वाला मार्ग प्राप्त हो जाता है। यह पथ मायिक जगत् से होता हुआ परम स्थान को गया है। दीक्षा का उद्देश्य है, इस पथ का सन्धान प्राप्त करना। तीन जन्म का अर्थ है त्रिविध स्तर। तीन जन्म विचार का तात्पर्यार्थ है त्रिविध स्तर भेदन। इसक्रे द्वारा वह पथ परिलक्षित होने लगता है। किसी साधक के साधन-कृत्य तथा रुचि को जानने के लिए उसकी मायिक देह, महामायिक देह तथा चिन्मय देह प्रभृति को जानना ही होगा। ये तीन देह ही तीन जन्म, किंवा त्रिस्तर रूप हैं।

शुद्ध चैतन्य निराकार एवं निर्मल चिद्वस्तु रूप हैं। जब विशुद्ध चैतन्य सृष्टि से होते काल राज्य में आता है, तब उसे प्रकृति के विभिन्न स्तरों का भेदन करते हुए काल-राज्य में आना पड़ता है। चित् स्वरूप से सर्वाग्र में चित्शक्ति का संकुचित उन्मेष होता है। इसका वर्णन चिदणुरूप से होता है। यह संकुचित उन्मेष चिन्मयी शक्ति के अभ्यन्तर में प्रविष्ट हो जाता है। इससे चिदाकार के साथ एक स्वच्छावरण संयुक्त होने लगता है। यही है चिन्मयी शक्ति के आवरण से अवतरित चिदणु। इसे पूर्ण अहम् का प्रथम प्रतिबिम्ब भी कहते हैं। यहाँ जिस आवरण का उल्लेख किया गया है, वही है आत्मा का प्रथम देह। यह देह काल-राज्य में साक्षात्रूपेण नहीं आया है। यह विशुद्ध महामाया राज्य से प्रविष्ट होता है। महामाया इसे अपने उपादान द्वारा आवेष्ठित करती है। यह आवेष्ठन ही द्वितीय आवरण है। अब चिन्मय आवेष्ठन तथा शुद्ध अचिन्मय आवेष्ठन से युक्त होकर चिदणु माया-गर्भ में प्रविष्ट होता है। माया गर्भ में मायिक उपादान से तृतीय आवरण का सृजन होता है। इस प्रकार चिदणु आवरणत्रय से अवतरित हो जाता है। इसे ही चिदणु की त्रिविध देह कहते हैं। एक-एक आवरण की अवस्था को एक-एक जन्म भी कहा जा सकता है। मायावरण प्राप्त करने के पश्चात् जीव कालरात्रि राज्य में स्थित होता है। यह स्थूल देह काल की देह है। इसका गुण है परिणामशीलता तथा क्षय। जब तक आरोह क्रमानुसरण द्वारा काल देह से लेकर महामाया देहरूप समस्त आवरणों का अपसारण नहीं हो जाता, तब तक स्वरूप-प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है।

इस कालजनित देहावस्थान काल में जब तक दीक्षा के अनुरूप संस्कार उदय नहीं होता, तब तक काल के आवर्त्तन में असंख्य बार जन्म लेना ही होगा। अतएव आवर्त्त से त्राण पाने के लिए पथ की प्राप्ति आवश्यक है। इसी प्रसंग में तीन पूर्व जन्मों के विचार की परम्परा नियत की गयी है। सर्वाग्र में मायिक देह भेदन करना चाहिये। वापस लौटने के लिए काल-राज्य से माया-गर्भ में प्रवेश किया जाता है। इसे विपरीत गति कहते हैं। जैसे मायिक उपादानों से साधक की निज देह का गठन हुआ है, तदनुरूप पथ का अवलम्बन लेकर वह माया से त्राण प्राप्त कर सकता है। माया

से निर्गत होकर मायतीतावस्था में स्थिति प्राप्त हो जाने पर भी परमस्थान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः माया से उत्तीर्ण हो जाने पर महामाया-गर्भ में प्रविष्ट होना होगा। तदनन्तर महामाया से उत्तीर्ण होकर चित्शक्ति में प्रविष्ट होना चाहिये। चित्शक्ति से चिन्मय आवरण की विमुक्ति होती है। अब विशुद्ध चित्स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

आवरणों की संख्या के अनुरूप, उतनी ही कर्मभूमियों की रचना होती है। अनावृत् चित् स्वरूप में कर्म का अस्तित्व ही नहीं है। आवरण-काल में एक-एक आवरण को ग्रहण करना ही होगा। पुनः आरोहण के समय इन आवरणों को कर्म द्वारा नष्ट करते जाने से चैतन्य के साथ अभेदत्व की प्राप्ति हो जाती है। आरोह क्रम में सर्वप्रथम मायिक देह का कर्म करना चाहिये। शरीर कर्म के ही लिए रचित होता है। शरीरोपयोगी कर्म सम्पन्न हो जाने पर ही उस शरीर की सार्थकता होती है। मायिक शरीर का कर्म सम्पन्न होने पर जीव मायातीत हो जाता है। उसकी आत्मसत्ता जाग्रत् भाव से माया को अधिष्ठान बना लेती है। इसका प्रथम अंग है ऐश्वर्य। इसी प्रकार महामाया देह में तदनुरूप कर्म करना पड़ता है। जब तक कर्म पूर्ण नहीं होता, तब तक महामाया देह की सत्ता अक्षुण्ण रहना स्वाभाविक-सा है। कर्म पूर्ण होने पर महामाया स्तर का भेदन हो जाता है। अब योगी महामाया का अधिष्ठाता बन जाता है। इसी प्रकार चिन्मय शरीर का कर्म पूर्ण होते ही साधक चिन्मयी शक्ति को भी स्वाधीन कर लेता है। अब माया, महामाया तथा चिन्मयीरूप त्रिधा शक्ति योगी के अधीन हो जाती है। इस शक्तित्रयरूपी त्रिकोण के मध्य योगी आसीन हो जाता है।

जन्मत्रय के विचार का तात्पर्य है उक्त अवस्थात्रय का विचार। चिन्मयी अखण्ड सत्ता पर्यन्त का पथ-निर्देश गुरु कहते हैं। काल-राज्यान्तर्गत भासित होने वाले तीन जन्मों के विचार से अखण्ड चैतन्य पर्यन्त की धारा का निरूपण नहीं किया जा सकता। दीक्षाकाल में दीक्षार्थी को गुरुदत्त देह की प्राप्ति होती है। इस काया में दीक्षार्थी की मायिक, महामायिक तथा चिन्मयी काया निहित रहती है।

सुषुम्ना की ऊर्ध्वमुखता से शक्ति का जागरण साधित होता है। यह ऊर्ध्वमुखता आती है गुरु-कृपा से। पुस्तक पढ़ने से अथवा अन्य प्रकार से शक्ति का जागरण नहीं होता। गुरु-शक्ति से कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। कुण्डलिनी स्थित है मूलाधार में। मूलाधार में इड़ा-पिंगला रूप दो प्रकार की वायु का संचरण होता है। इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना की सत्ता है। सुषुम्ना सुप्त है। उसे जाग्रत् करना होगा। जानने मात्र से वह जाग्रत् हो जाती है। सुषुम्ना के जागरण के साथ-साथ कुण्डलिनी ऊर्ध्वोत्थित होने लगती है। कुण्डलिनी मूलाधार से ऊर्ध्वोत्थान करते-करते आज्ञाचक्र पर्यन्त स्थित हो जाती है। वहाँ का कार्य पूर्ण करके अन्तर्लीन होती है। इस अवस्था के पश्चात् वह शरीर त्यागकर ब्रह्माण्ड में चली जाती है।

नर-देह के समान ही एक विशाल शरीर है जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं।

अब कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होती है। क्रमशः ब्रह्माण्ड का भेदन करने लगती है। अन्त में शून्य में चली जाकर शून्य का भेदन करते हुए महाशून्य में जाती है। तदनन्तर विश्वोत्तीर्ण हो जाती है। इसके साथ ही पथ उन्मुक्त हो जाता है। पथ की उन्मुक्तता के साथ ही एक स्थान प्राप्त होता है। यही है आत्मा का निज स्थान। इस स्थान को आत्मा विस्मृत कर चुकी थी। इस स्थान पर सब कुछ है। अथच कुछ भी नहीं है। यह अद्भुत स्थान है। यहाँ समस्त विश्वजगत् आत्मा के समक्ष प्रकट रहता है। कुण्डलिनी-जागरण के साथ ही देव-देवी आदि सबका भेदन हो जाता है। इस भेदन के अनन्तर आत्मस्वरूपावस्थान होता है। एक शक्ति सभी में है। इसका योग मिलने से भगवद्-भक्ति की प्राप्ति होती है। प्रेम, द्वैत, अद्वैत आदि सभी इसी के अन्तर्गत हैं।

कुण्डलिनी ही शक्ति, बिन्दु, चिदाकाश, महामाया है। परमेश्वर चित्स्वरूप है। इनकी शक्ति उभयरूपा है। प्रथम है चिद्रूपिणी शक्ति, द्वितीय है अचिद्रूपिणी। चिद्रूपिणी ही चित्शक्ति है। यह परमेश्वर से अभिन्न है। इसे शास्त्र में स्वरूपशक्ति भी कहते हैं। बिन्दुरूपिणी शक्ति परमेश्वर की ही शक्ति होने पर भी अचिद्रूपा है। अचिद् होने पर भी इसमें मलीनता का स्पर्श नहीं है। बिन्दु शक्ति को परिग्रह शक्ति कहते हैं। माया एवं महामाया का भेदज्ञान भी आवश्यक है। माया देहात्मबोधप्रधान मलिन जगत् की उपादानरूपा है। महामाया शुद्ध जगत् की उपादान है। महामाया का नामान्तर है बिन्दु अथवा कुण्डलिनी। परमेश्वर के अन्तःसंकल्प के प्रभाव से शुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। अशुद्ध जगत् परमेश्वर के प्रभाव से माया द्वारा आविर्भूत होता है। शुद्ध जगत् के ऊपर सविकल्प ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं होता। शुद्ध तथा अशुद्ध, दोनों जगत् जड़रूप ही हैं। अशुद्ध जगत् मायारूपिणी अशुद्ध शक्ति द्वारा प्रसवित है। उस पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव पड़ता है।

बिन्दुरूपिणी कुण्डलिनी शक्ति परमेश्वर के प्रभाव से परिणाम को प्राप्त होती है। वह निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होती है। मायाशक्ति परमेश्वर के निर्विकल्पक ज्ञान से युक्त नहीं होती। माया ईश्वराधीन है। वह मायिक जगत् की कारण एवं उपादानरूपा है। ईश्वर अविकल्पक ज्ञान द्वारा माया को क्षुब्ध करते हैं। माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत् के उपादानरूप कार्य में परिणत हो जाती है। यद्यपि ईश्वर माया को क्षुब्ध करने में समर्थ हैं, तथापि बिन्दु अथवा महामाया को क्षुब्ध करने का सामर्थ्य ईश्वर में नहीं है। महामाया (बिन्दु) ईश्वर के ज्ञानाधीन नहीं है। सृष्टि के आदि में परमेश्वर के ज्ञान-प्रभाव से बिन्दु क्षुब्ध होकर शुद्ध जगत् के आविर्भाव को प्रत्यक्ष कराता है। बिन्दु ही परिग्रह-शक्ति है। यह उपादान भी है। कर्म-वाहिनी शक्तिरूपता भी इसमें निहित है। यह शक्ति चिदात्मशक्ति से अभिन्न होकर स्थित रहती है। इस परम्परा को जानना साधक के लिए हितकारी होता है। शुद्ध जगत् के ऊर्ध्व में क्रमशः शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव तथा शिवशक्ति की सत्ता रहती है।

कुण्डलिनी ही शुद्ध शक्ति है। यह भौतिक देह की उपादान नहीं है। इसे निर्मल देह की उपादानरूपा कहते हैं। माया मलिन देह की उपादानरूपा है। शुद्ध देह ही वैन्दव देह है। परमेश्वर के अनुग्रह से बिन्दु ज्योतिरूप देहाकृति में प्रतिभात होता है। यही ज्ञानदेह है। एकमात्र परमेश्वर की कृपा से इसकी प्राप्ति होती है। चिदाकाश भी महामाया का नामान्तर है। दीक्षा-काल में शिष्य को इसी ज्योतिर्मय वैन्दवदेह की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति दो स्थिति में सम्भव होती है। महाप्रलय-काल में जगत् ध्वंस होने पर तथा जीव का मलपाक होने पर। द्वितीयावस्था में मायिक देहावस्थान-काल में ही मलपाक हो जाने पर अथवा गुरु-कृपा एवं परमेश्वर के अनुग्रह से भी वैन्दवदेह की प्राप्ति हो जाती है। प्रलयकाल में मलपाक होने पर मात्र वैन्दवदेह ही प्राप्त होता है। मायिक देह नहीं रहता। द्वितीयावस्था में मायिक एवं वैन्दवदेह साथ-साथ अवस्थान करते हैं।

कुण्डलिनी मूलाधार में सुप्तवत् दण्डायमान रहती है। इसमें क्षोभ होने पर शुद्ध शब्द का आविर्भाव होता है। शुद्ध शब्द ही नाद है। मानव-देह में मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त षट्चक्र की सत्ता परिलक्षित होती है। मूलाधारस्थ चक्र में चार मात्रिकायें अवस्थान करती हैं। अतः यह चतुर्दल है। कमल एवं चक्र का भेद भी ज्ञातव्य है। कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में वे सभी चक्ररूप हैं। उसके जागरण के उपरान्त वे ही कमल कहलाते हैं। चक्रावस्था में जो मातृका-रूप है, कमलावस्था में वही कमलदल है। इस प्रकार मानव-देह में सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध छः चक्रों की सत्ता रहती है। 5 चक्र पंचभूतों से सम्बन्धित हैं। आज्ञाचक्र चित्त के साथ युक्त हैं. मूलाधारस्थ कमल का प्रस्फुटन होने पर उसमें 4 दल दृष्टिगोचर होते हैं। स्वाधिष्ठान में 6, मणिपूर में 10, अनाहत में 12, कण्ठस्थ विशुद्ध में 16, भ्रमव्यस्थ द्विदल में 2 मात्रिकाओं का विकास अनुभूत होता है। समष्टि में 50 मातृकायें हैं। इसमें भी एक रहस्य है। द्विदल में दो वर्ण हैं (अर्थात् ऊपर हकार और नीचे सकार) हकार बिन्दुयुक्त कहा गया है। मूलाधार में चतुर्दल कमल है, जिसके सर्वनिम्न स्तर में सकार विराजमान है। यह सः रूप है। (अर्थात् विसर्गयुक्त है)। ऊपर बिन्दुयुक्त हं कार तथा नीचे विसर्गयुक्त सः कार, यही प्राणशक्ति किंवा योगी का सोऽहं है। अजपासिद्ध इस रहस्य को यथायथ रूप से जानते हैं। शरीरस्थ 72000 नाड़ियों में मोक्षनाड़ियाँ मात्र 32 हैं। इसमें भी इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना मुख्य कही गयी हैं। इड़ा वाम मार्ग से तथा पिंगला दक्षिण मार्ग से संचरणशील है। इनकी गति वक्राकार है। इन्हीं 2 मार्गों से प्राणशक्ति आती-जाती रहती है। इन दोनों के मध्य में सरलगति है। इस सरलगति को सुषुम्ना कहते हैं। इसके अन्तर्गत वज्रानाड़ी, चित्रिणी तथा ब्रह्म- नाड़ी की सत्ता रहती है।

सुषुम्ना प्रवेश के अभाव में महाशक्ति का जागरण नहीं हो सकता। इसमें

प्रवेश करते ही इड़ा-पिंगला का आवर्त्त उच्छिन्न हो जाता है। यही काल का आवर्त्त है। सुषुम्ना कालनाशिनी शक्ति है। योगी का परम लक्ष्य है सुषुम्ना-प्राप्ति के अनन्तर ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश करना। वेदान्तोक्त आनन्दमय कोष इसी का प्रतीक है। इसकी प्राप्ति का एक क्रम ज्ञातव्य है। प्रत्येक चक्र के तीन अंग होते हैं। सर्वाग्र में मातृका, तदनन्तर नाद, सर्वान्त में बिन्दु। इसी क्रम से साधना में गतिशील होना चाहिये। मातृका को व्यवहारभूमि की कला कहा गया है। इस प्रकार बिन्दु, नाद, कलारूप अंशत्रय सिद्ध हो जाते हैं। प्रथमतः मूलाधार में प्रविष्ट होना चाहिये। प्रवेशार्थ एक गूढ़ रहस्यावृत् द्वार मिलता है। यह द्वार सदा बन्द है, इसे खोलना होगा। जब विरुद्ध शक्ति-समूह पारस्परिक संघर्षण से साम्यावस्था की सृष्टि करते हैं, तब नीचे से चिदग्नि का उद्दीपन होता है। यह चिदग्नि विरुद्ध शक्ति का विनाश करके प्राणापान से साम्य संस्थापन करती है। यह स्थिति है साम्यमयी अर्थात् समान! साम्य से जिस अग्नि का विकास होता है, वह उदान है। ब्रह्मरन्ध्र प्रवेशावस्था में चिदग्नि ही व्यानरूपता धारण करती है। इस चिदग्नि द्वारा मूलाधाररूप प्राचीर दग्ध करना पड़ता है। मूलाधार का प्राचीर मातृकामय है। इस प्राचीर के भग्न होते ही उपरोक्त रुद्ध द्वार उन्मुक्त हो जाता है। यहाँ 4 मातृकायें अवस्थित हैं। प्रत्येक मातृका चिदग्नि संस्पर्श से विगलित हो जाती है। वर्णभाव गलित होते ही नादरूपता का उन्मेष होता है। यही ऊर्ध्वगति है। बिन्दु सुषुम्ना का एक पड़ाव है। मूलाधार का अन्य वर्णों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वर्णगलित होते ही वह नाद से सम्बन्धित हो जाता है।

सुषुम्ना का यह वैशिष्ट्य है कि वह निरन्तर ऊर्ध्वगति में गतिमान रहती है। अतएव सुषुम्ना की गति में आसीन होने से चक्रभेद सम्पादित होता है। अन्त में बिन्दु में परिणति हो जाती है। आज्ञाचक्र में एकमात्र बिन्दु है। यहाँ मातृका अन्त में परिसमाप्त हो जाती है। यही है शिवमन्त्र स्थल। यहीं ज्ञानचक्षु प्राप्त होता है। यहाँ दो मार्गों का सन्धान मिलता है। एक सहस्रार में आता है, दूसरा ब्रह्मरन्ध्र में। अर्थात् एक मार्ग परमेश्वर की ओर दूसरा ब्रह्म की ओर।

मनुष्य में निम्न स्थिति के जीवसमूह का कर्मसम्बन्ध नहीं रहता। अहंकार का अविकसित रहना इसका कारण है। इस प्रसंग में मानव से अवरोह क्रम में कर्मभोगार्थ निपतित पशु-पक्षी आदि देहधारियों की बात नहीं कही जा रही है, क्योंकि जो अपकर्म के कारण मनुष्य-योनि से पशु-योनि में गये हैं, उनका कर्म से भोगरूपी सम्बन्ध बना रहता है। जो कभी भी मनुष्य-योनि में नहीं गये हैं, अथच 84 लक्ष योनियों के क्रम-विकास के कारण पशु-पक्षी आदि की देह प्राप्त कर रहे हैं, उनका किंचित् भी कर्म-सम्बन्ध नहीं रह जाता। वस्तुतः कीट पतंगादिक की कोई गति नहीं होती। शास्त्रों में उनके लिए किसी भी लोक का विधान नहीं है। उनके लिए उपनिषद् 'जायस्वमृतस्व' का शब्द प्रयोग करते हैं। उनकी गति भी विचारणीय नहीं है।

इसी प्रकार जो मनुष्य इसी देह में देहपात के साथ परामुक्ति प्राप्त करते हैं, उनकी भी कोई गति नहीं होती। उनके सभी शुभाशुभ कर्म दग्धीभूत हो जाते हैं। उनकी मरणोत्तर गति का प्रश्न ही नहीं है। वे यथास्थित भाव में ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। 'अत्रैव प्राणाः समलीयन्ते'। जिन साधक अथवा योगीगण ने कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के वैधमार्ग में सकाम भाव से जीवन व्यतीत किया है, जिनमें अभी ज्ञानोदय नहीं हुआ है, तथापि उन्होंने निषिद्ध कर्म का परित्याग करते हुए सदा वैध कर्म ही किया है, मृत्यु के पश्चात् उन्हें पितृयान गति मिलती है। ये इसी गति से चालित होकर अपने कर्म के अनुरूप शुभ लोकों की प्राप्ति करते हैं। क्रमशः पुण्य क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से च्युति होती है और साधारणतः सद्वंश में जन्म होता है। जन्म-ग्रहण में अवशिष्ट कर्म का प्रभाव कार्यरत रहता है। पापीगण धूम्रमार्ग से, कष्टकर पथ से नरक में जाते हैं। नरक में नाना यंत्रणा का भोग होता है। स्वाभाविक देह में इतनी यंत्रणा का भोग सम्भव नहीं है। अतः नरक-प्राप्ति के पूर्व यातनादेह की प्राप्ति होती है। दीर्घकाल पर्यन्त नरक निवासानन्तर वहाँ से छुटकारा पाने पर अनेक लोग पशु-पक्षी आदि की देह धारण करते हैं। अन्त में मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है। ऐसे मनुष्यों के शरीर पर नरक भोग के नाना चिह्न रहते हैं। कोई-कोई कठिन रोग धारण करके जन्म लेता है। यह सब व्यतिक्रम एकाधिक देह में निष्पन्न होता है। पुण्य की गति तथा पाप की गति को पुनरावर्त्तन की गति माना जाता है।

यहाँ जिस स्वर्ग की बात कही गयी है, वह निम्न स्तर का स्वर्ग है। यह सकाम पुण्यफल से प्राप्त होता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वकोटि का स्वर्ग है। वह ज्ञानयुक्त कर्म से प्राप्त होता है। निम्न स्वर्ग कर्मभोग का स्थान-मात्र है। वहाँ से पुण्य समाप्त होते ही पतन होना अवश्यम्भावी है। निम्न से निम्नस्तर के स्वर्ग की संख्या असंख्य है। इसके अधिष्ठाता हैं इन्द्र। ऊर्ध्व स्वर्ग के अधिष्ठाता इन्द्र नहीं हैं। महर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक आदि ऊर्ध्व स्वर्ग हैं। ज्ञानकर्म का समुच्चय होने पर ऊर्ध्व स्वर्ग मिलता है। ज्ञानशक्ति तथा ज्ञान के अत्युच्च क्रम-विकास से ऊर्ध्वपतन स्तर के स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह गति पितृयाण मार्ग से कदापि नहीं मिलती। पितृयाण में शुभाशुभ कर्म की गति होती है। कुछ दूर तक एक ही पथ से गति होती है, तदनन्तर दोनों पथ अलग-अलग हो जाते हैं। देवयान की गति का नाम शुक्ल है। ज्ञानहीन कर्म से यह गति नहीं प्राप्त होती। कर्महीन ज्ञान से भी इसकी प्राप्ति असम्भव है। कर्महीन ज्ञान गतिशून्य होता है। अतएव ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय अत्यावश्यक है।

यह समुच्चय सम एवं विषमरूप द्विविध है। सम में ज्ञान एवं कर्म की मात्र सम होती है। विषम में दोनों की मात्रा समान नहीं होती। कर्म अंगी रहता है तथा ज्ञान अंग का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान और कर्म का मिश्रण ही गतिदायक है। कर्म

तथा ज्ञान में कौन प्रधान है, इसका निर्णय मुमूर्षु साधक की भावना द्वारा होता है। इसमें कर्म की मात्रा का आधिक्य होने पर मरणोत्तर गति में कई पड़ावों पर रुकना होता है। ज्ञानांश की बहुलता में ऐसा नहीं होता। ज्ञान कर्म समुच्चय का अन्तिम स्थल ब्रह्मलोक है। जिन्हें यहाँ गति होती है, उनका वासनाक्षय ब्रह्मलोक में होता है। तदनन्तर वे शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक में जीवन्मुक्तावस्था में स्थिति होती है। समस्त जीवन्मुक्त हिरण्यगर्भ के साथ सम्बद्ध रहते हैं। जो निम्न अधिकार के साथ यहाँ आते हैं, वे हिरण्यगर्भ के साथ सालोक्यावस्था प्राप्त करते हैं। उच्चतर अधिकारी सारूप्य में आनन्द लेते हैं। उच्चतम अधिकारी समीप्य तथा सार्ष्टि को आयत्त करता है। जब महाप्रलय में ब्रह्माण्ड-नाश के साथ हिरण्यगर्भ की देह नष्ट हो जाती है तब हिरण्यगर्भ के स्थान पर साधकगण स्व इष्ट को भी प्राप्त कर सकते हैं। अतः जहाँ-जहाँ हिरण्यगर्भ लिखा गया, उसे इष्ट भी समझना चाहिये।

सन्त पुरुष की वाणी सार्वभौम वाणी होती है। उनका आदर्श ही यथार्थ आदर्श है। इनकी वाणी में साधनगत तथा भागवत्-भेद परिलक्षित होने पर भी उसमें प्रच्छन्न रूप से एक महान् आदर्श विद्यमान रहता है। जगत् के अनन्त वैचित्र्य के मध्य में जो एक अभिन्नरूप से विद्यमान है, उस एक का सन्धान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। इसी से इस वैचित्र्य की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। कर्म सत्य है, ज्ञान सत्य है, सक्रिय तथा सगुण सत्य है, निष्क्रिय तथा निर्गुण भी सत्य है। साकार तथा निराकार भी परम सत्य है, तथापि परम सत्य वह है, जहाँ कर्म-ज्ञान, सक्रिय-अक्रिय, साकार-निराकार एक ही अखण्डरूप में प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशन पृष्ठभूमि में अथवा संसृष्ट रूप में न होकर अभिन्न रूप में होता है।

विज्ञान की दृष्टि समन्वयी दृष्टि है। रहस्य-भेदन इसी के द्वारा होता है। कर्म के दृष्टिकोणानुसार जगत् सत्य है, भेद सत्य है, प्रत्येक व्यक्ति की महिमा सत्य है। ज्ञान की दृष्टि से जगत् मिथ्या है, भेद मिथ्या है; व्यक्तित्त्व मिथ्या है। विज्ञान की दृष्टि से एक सत्य ही महासत्य है। ज्ञान-दृष्टि से जो मिथ्या प्रतीत हो रहा है, वह सब 'एक' का स्वातन्त्र्य कल्पित लीलामय आत्मप्रकाश होने के कारण परमसत्य रूप है। वास्तव में एक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो लीलातीतावस्था में स्थिर, चिरशान्त है, वही लीलामयता के कारण अनन्त प्रकार के, अनन्त वेश बनाकर चिर कल्लोलमय है। वहाँ शान्त-अशान्त रूपभेद की सत्ता ही नहीं है। उस अवस्था में क्या वह 'एक' एक ही है? इस प्रश्न की भी सत्ता नहीं रह जाती। केवल मात्र ग्रन्थिमुक्त हृदय में ही इस महास्थिति की प्रतिष्ठा होती रहती है।

इष्ट, गुरु तथा आत्मा के पारस्परिक भेद का विनाश होने पर ही क्लान्तिमय संसार-यात्रा का अवमान होता है। चैतन्यरूप गुरु की कृपा से इष्ट की प्राप्ति होती है। आनन्दरूपा शक्ति का सन्धान प्राप्त होता है। गुरु-कृपा सहकृत निजकर्म बल से यह

प्राप्ति सम्भव हो जाती है। अब अनिष्ट समूह विनिवृत्त होने लगते हैं। स्वात्म दुर्बलता का समूलोच्छेदन हो जाता है। मातृस्तन्य निःसृत अमृतधारा से अभिषिक्त होकर शक्ति सम्पद तथा ऐश्वर्य गौरवपूर्ण आनन्दमय हंसासनास्थिति सम्प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है जिसमें इस सिंहासन से भी वितृष्णा का जन्म होता है। अब वह इसका भी त्याग करके अकिंचन के समान अग्रसर हो जाता है। जो पथिक पूर्ण अवस्था में गुरुनिर्दिष्ट पथावलम्बन द्वारा माँ को खोजने निकला था, अब वही पथिक माँ के साथ मिलित रूप से गुरु को खोजने निकला है। पूर्व में जो गुरु-प्राप्ति थी, वह वास्तविक गुरु-प्राप्ति नहीं है। उस समय गुरु-कृपा परवश होकर मानव के छद्म वेश में आते हैं। वे स्व-स्वरूप में नहीं आये थे। वे शिष्य की व्यथा को दूर करने आये थे। उन्होंने आनन्दमय बीज का कण देकर शिष्य को माँ की प्राप्ति का पथ प्रदर्शित किया था। आज वह शिष्य आनन्दमयी माँ को प्राप्त कर चुका है।

माँ ही पूर्ण का साकार स्वरूप है। जगत् के समग्र आकार इनके ही अंश हैं। इनकी ही कला, किंवा रश्मि हैं। समस्त रूपसमूह इस परमरूप माँ की एक-एक कला-मात्र है। समस्त रससमूह उन परम रसमयी का आभास-मात्र है। गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि भी उनकी ही विभूति हैं। वास्तव में हमने रूपेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि की प्राप्ति माँ के रूप-रसादि को धारण करने के लिए की है। इनका प्रयोजन विषय-सेवन कदापि नहीं है। वास्तव में माँ सर्वेन्द्रिय वेद्य हैं। इनका साक्षात्कार ही महाकरुणा विग्रह का साक्षात्कार है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, लावण्य, यौवन, करुणा, वात्सल्य, स्नेह, प्रेम, क्षमा, प्रकृति की अनन्त गुण राशि वहाँ पर हिल्लोलित-सी रहती है। दीर्घ संसाररूप मरुकान्तार के भ्रमण से क्लिन्न होने पर प्राणमयी प्रेममयी जगत्जननी के सुशीतल क्रोड़ में तृप्ति मिलती है, किन्तु पूर्ण के यात्रियों के लिए यह विश्राम भी सामयिक विश्राम ही है। अतः इसका भी त्याग करना पड़ता है। (इसे त्याग की संज्ञा देना उचित नहीं है, क्योंकि योगी कुछ भी त्याग नहीं करता) अतः योगी इसे अनदेखा करके अग्रसर हो जाता है, यही कहना उचित है।

अब माँ अदृश्य हो जाती हैं। वे योगी के साथ अभिन्न रूप से मिलित हो जाती हैं। अब उन्हें पृथक् रूप से देख सकना सम्भव ही नहीं है। कारण यह है कि चैतन्यमय गुरु निराकार, निर्गुण तथा निष्कल हैं। माँ को कर्म-पथ से पाया जाता है। तदनन्तर ज्ञानालोक में गुरु को खोजना पड़ता है। यह आनन्दातीत सत्ता है। चैतन्यमय जाग्रत् सत्ता में निरानन्द तो है ही नहीं। वहाँ आनन्द की लहरें भी नहीं हैं। आनन्द भी एक मोह है। इसे तृप्तिमोह कहा गया है। शान्त चैतन्यमयी महासत्ता ही गुरुसत्ता है। यहाँ कृपा का वारिवर्षण भी नहीं होता। यह कृपाशून्य पथ है। यहाँ असहाय, निःसम्बल यात्री एकमात्र अपनी अन्तःसम्पदा पर निर्भरता द्वारा अत्यन्त कष्ट से पथातिक्रमण करता है। जो एक समय महामाया से अधीष्ठित होकर परम

ऐश्वर्यमय आसन पर आसीन था, आज वही राजपुत्र पथ का भिखारी हैं। कुबेर जिनके कोषाध्यक्ष हैं, अन्नपूर्णा जिनकी गृहलक्ष्मी हैं, वही शिव आज भिखारी है। निराकार की धारणा अत्यन्त दुष्कर है। साकार में भी निराकार है। स्वयं निराकार होने पर ही निराकार साक्षात्कृत होता है। इस निराकार महासत्ता में सन्तान भी निराकार है, माँ भी निराकार हैं। यही गुरु-प्राप्ति का प्रधान आयाम है। एकमात्र गुरु अपने महाप्रकाश में अखण्ड-रूपेण विराजमान रहते हैं। वे हैं अनन्त, अपरिच्छिन्न, महाव्योमाकार; निष्कल, निःस्पन्द महासत्ता रूप। गुरु-प्राप्ति का पथ अत्यन्त भयावह है। यह आधिदैविक मानस सरोवर से लेकर मनोहर तीर्थ पर्यन्त विस्तीर्ण है। इसे ऊर्ध्वमार्ग कहते हैं।

अब ऊर्ध्वगति के फल से एक महाक्षण में यह कृपाशून्यावस्था भी उच्छिन्न हो जाती है। गुरु की महाकृपा का वर्षण होता है और शिष्य स्वयं जान लेता है कि जो सबका स्व है; माँ का स्व है, गुरु का स्व है, वही मेरा भी स्व है। वही एक आत्मा सबकी आत्मा है। यही है विज्ञान का चरम-परम रहस्य। इसे प्रकृत आत्मप्राप्ति कहते हैं। यही यथार्थ 'स्व' भाव है। कर्म में माँ, ज्ञान में गुरु तथा विज्ञान में स्वयं। कर्म साकार है, ज्ञान निराकार है। विज्ञान है साकार निराकार से अतीत किंवा उभयात्मक। माँ साकार हैं, गुरु निराकार हैं। माँ जब गुरु से अभिन्न हैं तब माँ भी निराकार ही हैं। जब गुरु माँ के साथ अभिन्न रहता है, तब गुरु भी साकार है। विज्ञानसूर्य का उदय होने पर आत्म-साक्षात्कार क्षण में ज्ञात होता है कि आत्मा स्वयं सर्वातीत होने पर भी युगपत् रूप से साकार एव निराकार उभयरूप में विभासमान है। आत्मा ही गुरु एवं माँ है। अब आत्मा एवं नैरात्म्य का द्वन्द्व सर्वथा समाप्त हो जाने पर माँ, गुरु तथा स्वयं तीनों एक ही हैं। अथच एक ही तीन के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। अब कर्म-ज्ञान, विज्ञान सब एक हैं। माँ, गुरु तथा आत्मा अद्वयरूप हैं। उपाय तथा उपेय अभिन्न है।

इससे भी अतीत अवस्था है। पूर्वोक्त स्थिति नित्य वर्तमान तथा देश कालातीत है। इसे अतीत कहना उचित नहीं है तथापि शब्दाभाव में यही कहना पड़ता है। अतीत, अनागत, सबकुछ नित्य वर्तमान में ही भासित होते हैं। यही अव्यक्तावस्था है। यहाँ वाणी की सत्ता नहीं है। विशुद्ध वाणी भी इसका वर्णन नहीं कर सकती। स्वमति के अनुसार इस स्थिति का संकेत है।

गीता में उल्लेख है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' प्रत्यभिज्ञा हृदय में भी यही कहा गया है। इसका अर्थ है कि सर्वाग्र में अपनी चिन्ता-धारा को आत्मसंस्थित करना होगा। शुद्ध विकल्प का आश्रय लेना होगा। इस अवस्था के दृढ़ हो जाने पर इस शुद्ध विकल्प का भी त्याग हो जाता है। अब निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति हो जाती है। सीधे निर्विकल्प में जाने की चेष्टा करने पर

जड़समाधि प्राप्त होती है। इसका नामान्तर है प्रकृतिलय। यह अच्छी स्थिति नहीं है। यह घोरतर विघ्न कहा जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के अनन्तर असम्प्रज्ञात में जाना चाहिये। इसी का नाम है 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'। सर्वप्रथम आत्मविषयक शुद्ध विकल्प ज्ञानोदय होना आवश्यक है। तदनन्तर इस ज्ञान की निवृत्ति भी होनी चाहिये। यदि ज्ञान का उदय हुए बिना आत्मवृत्ति का रोध हो जाता है, वह निष्फल है। इस श्लोक में प्रक्रियाद्वय का अंकन है। प्रथम में आत्मसंस्थित होना, द्वितीय में मन का रोध करना। यही प्रकृत योग है। आत्मसंस्थित होते ही स्वरूप ज्ञान का उदय हो जाता है। वह शुद्ध विकल्प है। इस विकल्प का रोध होने पर सम्यक् समाधि रूप निर्विकल्पावस्था प्रकट हो जाती है। यही है वास्तविक निरोध।

यदि प्रारम्भ में मनोरोध की चेष्टा की जाती है, वह अप्राकृतिक है। ज्ञान की प्राप्ति होना आवश्यक है। ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व मन का रोध करने से जड़त्वान्धकार का आवरण पड़ जाता है। किसी भी शास्त्र अथवा महापुरुष ने यह उपदेश नहीं दिया है। शुद्ध विकल्प का उदय, तदनन्तर उनका रोध। यही कर्तव्य है। शुद्ध विकल्प ही पश्यन्ति भूमि है। तदनन्तर पश्यन्ति का रोध होता है। यही वास्तविक निरोध है।

गीता में ज्ञानोपदेश है, कर्म तथा योग का उपदेश है। इसमें कितने ही प्रकार के उपदेश हैं। प्रत्येक उपदेश का यथार्थ स्थान जानना चाहिये। उनका समन्वय करना चाहिये। गीता में योग की चर्चा है, योगविभूति की चर्चा है तथापि योग एवं विभूति में पारस्परिक पृथकत्व है।

आलोचित श्लोक में 'मम साध्र्म्यमागताः' मम कौन है'? ब्रह्म है, भगवान् है, किंवा ईश्वर है। एक स्थान पर ईश्वर ने कहा कि 'मैं सर्वभूत में रहता हूँ। इस स्थान पर मैं रूप से नहीं कहा गया। तथापि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' में मम का उल्लेख है। इन सबमें एक संकेत है। 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' यहाँ भी 'माम्' का उल्लेख है। यहाँ अन्तरात्मरूपेण भगवान् ही ममरूपेण अभियंत्रित हैं। यह आत्म्यसाधर्म्य का पथ है। आत्मा का साधर्म्य क्या है? वह है आत्मा की पूर्णाहन्ता अवस्था। इस स्थिति में उन्नति होने पर आत्मा परिणामशीलता से मुक्त हो पूर्णाहंभाव में स्थित हो जाता है। पूर्ण सत्य में कल्पना को अवकाश नहीं मिलता। देहबोध तक ही सीमाबद्धता है, फलतः मन सक्रिय रहता है। कल्पना का उदय होता रहता है। जो बाहर रहते हुए इसे समझने की चेष्टा करता है, वह स्वयं द्वैतभूमि में रहते हुए अद्वैत को समझाने की व्यर्थ चेष्टा के कारण उपहास का पात्र बनता है। अद्वैत की चर्चा करने पर भी उसकी स्थिति द्वैत में ही रहती है। एतद्विपरीत अद्वैत के साधक का लक्ष्य एक में ही निबद्ध रहता है। वह बहु में एक को देखने की चेष्टा करता है। बहुः में जो एक अनुस्यूत है, उस एक में ही उसका लक्ष्य एकाग्र रहता है। वह देखता है कि एक ने ही अनन्तरूप तथा अनन्त भावों का रूप धारण किया है। उसकी दृष्टि में

अनन्त वैचित्र्य के रहने पर भी सबकुछ एक ही है। इस द्रष्टा की दृष्टिभंगी में भेद भासित नहीं होता। यहाँ द्वैताद्वैत का भी प्रश्न उत्थित नहीं होता। जगत् में जीव द्वैतभूमि में ही रहता है। इस कारण उसकी दृष्टि में भेद भासित होता रहता है। अतः उन लोगों की जहाँ जिस प्रकार की दृष्टि रहती है तब वहाँ उसी प्रकार के दृश्य का दर्शन होता रहता है। इन्हें सर्वव्यापक 'एक' का साक्षात्कार नहीं मिलता।

सर्वत्र 'तत्' को देखना ब्रह्मदृष्टि है। यदि किसी की दृष्टि में 'तत्' के अतिरिक्त अन्य कुछ भासित होता है, तब उसकी दशा में अविद्या तथा अज्ञान की क्रीड़ा रहती है। समस्त नामरूप गुणादि उसी एक में है। सबकुछ ही वह 'एक' ही है। वही स्वयम्प्रकाश रूप से अपने आपमें विद्यमान रहता है। अन्य का भान वहाँ है ही नहीं। यही ब्रह्मज्ञान है। अन्य का भान आते ही अज्ञान उन्मिषित हो जाता है।

यह जो एक है, उसे जैसे स्वप्रकाश कहा जाता है, वैसे ही वह अप्रकाश तथा अव्यक्त भी है। इसका कारण यह है कि जब अन्य है ही नहीं, तब वह किसके समक्ष प्रकाशित हो? अतएव वह सदा अव्यक्त एवं गुहा में निहित रहता है।

समस्त शास्त्रों का गुप्ततत्त्व एकमात्र योगियों को ही अधिगम्य होता है। जगत्- तत्त्व भी एकमात्र योगाभ्यासी अधिकारी के सम्मुख अपना प्रकाशन करता है। शास्त्रों की यथार्थ व्याख्या लौकिक व्यवहार-क्षेत्र में अप्रासंगिक हो जाती है। साधारण मनुष्य सामान्य दृष्टि से जो कुछ देख सकता है, उसे सम्यक् रीति से समझाने के लिए किसी असाधारण उपाय का अवलम्बन नहीं करता। सत्य दर्शन की असाधारण दिशा होती है। विशेषज्ञ के अभाव में इस दिशा का ज्ञान नहीं होता। असाधारण होने के कारण शास्त्र के यथार्थ व्याख्यात्मक तथ्य को अग्राह्य किंवा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इस चिरपरिचित विश्व को हम जिस दृष्टि से देखते हैं, एक उच्चकोटि का द्रष्टा उस प्रकार नहीं देखता। उसकी सूक्ष्म दृष्टि में जगत् का जो चित्र प्रतिभात होता है, वह सर्वजन प्रसिद्ध चित्र से भिन्न होने पर भी सत्यरूप है।

पंच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के समष्टि भूत स्थूल भावापन्न जगत् को विचित्र भाव से निरन्तर अनुभव किया जाता है। इसका स्वरूप क्या है? जिसकी इन्द्रियाँ जितनी विकसित होती हैं, जिस परिणाम में बलाधान युक्त होती हैं, वह उसी मात्रा में जगदानुभव करता है। रूप ग्राहक चक्षु के अभाव में रूपसत्ता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति के निरुद्ध होने पर तद्गोचर जगत् भी विलीन हो जाता है। बहिर्जगत् समष्टि आत्मा का ही कल्पनारूप है। निर्विकल्प परमपद में, विशुद्ध चिद्भूमि में संकल्प का उदय नहीं होता। वह मन, वाणी के परे तथा स्वप्रकाश अव्यक्तावस्था ही है। उसमें सदा स्वभावतः संकल्प का स्फुरण होता रहता है। यह स्वातंत्र्य स्पन्दन-शक्ति का ही विलास है। इसका कोई हेतु नहीं है। यह अपने आप होता है। अतः चैतन्य के

स्वरूप गर्भ में एक ओर कूटस्थ शिवभाव विराजित रहता है, उसी प्रकार स्पन्दनात्मक शक्तिभाव भी रहता है। शिवभाव में शक्ति भी शिवाकार में विराजित है। शक्तिभाव में शिव भी शक्तिरूप हो जाते हैं। उभय की साम्यावस्था में शिवशक्ति का अद्वयरूप तत्त्वातीतरूप में स्थित हो जाता है। यहाँ यह ज्ञात रहना चाहिये कि शक्ति की यह नित्यस्फूर्ति ही अनादि संकल्पना है। इसे पृथक्भाव से देखने पर यही जगत् के आदि संकल्प अथवा नियति के रूप में प्रकाशित हो जाती है। शुद्ध चैतन्य में इस चिन्मय अनादि संकल्परूप विश्व की सत्ता रहती है। इसके ऊर्ध्व में इसी आदि संकल्प के प्रकाश को ही संकल्पमय अतिवाहिक जगत् का विलास कहा जाता है।

जिस व्यापक अभियान में यह विशाल अतिवाहिक जगत् विधृत हो रहा है, वही समष्टि आत्मा, इस अवस्था में अतीत अनागत रूप खण्ड-काल की सत्ता निःशेष हो जाती है। एक नित्य महाकाल विराजित रह जाता है। अब दूर निकट पृथक् रूप देश (Space) की सत्ता भी नहीं रहती। एक नित्य सन्निकृष्ट महादेश स्थित रह जाता है। इसमें कार्य-कारण रूप व्यवधान नहीं होता। एक व्यापक कारणसत्ता अवस्थित रहती है। इस भूमि में संशय, मिथ्या ज्ञान, विकल्पादि का अत्यन्ताभाव रहता है। तदनन्तर जब आदि संकल्पना के क्रमिक विवर्तन में द्वितीय अथवा मिथ्या संकल्परूप विकल्प का प्रादुर्भाव होता है, तब व्यापक अभिमान परिच्छिन्न होकर नानाविध व्यष्टि अभिमान का रूप धारण करता है। दर्शक और भोक्तृरूप में इन समस्त व्यष्टि आत्मा के प्रपंच में अवतीर्ण होने के पूर्व ही समष्टि आत्मा का कल्पना स्वरूप यह विशालतम जगत् दृश्यरूप में वर्तमान रहता है। व्यष्टि अहं, इन्द्रियों की सहायता से इस बाह्य जगत् का परिचय तो पाता है, तथापि व्यष्टिभावापन्नता के कारण इस जगत् के कल्पना-जाल को सत्य समझने लगता है। इस बोध पर प्रतिष्ठित होने से उसका व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन सहस्त्रों जन्मों के रूप में प्रवाहित होता जा रहा है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, लोक-लोकान्तर, सभी इसी बोध में अनुस्यूत हैं। बाह्यजगत् की इस भ्रामक प्रतीति को सत्य समझने के कारण उसे यथार्थ तत्त्व का सन्धान नहीं मिलता। उसे बाह्यकर्म में लिप्त रहना पड़ता है। साथ ही कर्तृत्वाभिमान के वैशिष्ट्य के अनुसार कर्मानुरूप फलभोग करना पड़ता है। यह है कार्यकारण भाव के अमोघ नियम का फल। स्थूलदेह में देहाभिमान रहने तक स्थूल जगत् सत्य प्रतीत होता है। जीवगण इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत् में रंजित रहते हैं। इसका परिणाम है देहान्त तथा पुनः देह-प्राप्ति। जब तक स्थूल का वासनारूप बीज विद्यमान है, तब तक स्थूल का आत्यन्तिक परिहार नहीं हो सकता। यही चक्र कल्प-कल्पान्तर से चलता आ रहा है। इसकी इयत्ता ही नहीं है।

यही संसार-चक्र है। इसमें आपाततः ऊर्ध्वगति है। तिर्यक् तथा अधःगति भी है। यह चक्राकार गतिरूप कहा गया है। सांसारिक जीव ऊर्ध्वगति से विच्छिन्न रहता

है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखीन दशा में स्थूल जगत् को ग्रहण करती हैं। अन्तर्मुखी गति प्राप्त होने पर पाँचभौतिक जगत् का ग्रहणात्मक कृत्य नहीं हो सकता। इन्द्रिय तथा शरीर को प्राण से गति मिलती है। यद्यपि आसनादि से भी किंचित् परिणाम में देहस्थैर्य प्राप्त होता है तथा प्राण में भी स्थिरता आती है, तथापि सम्यक् स्थिरता नहीं होती। अतः प्राणायाम सर्वोत्कृष्ट साधना है। प्राण के स्थैर्य से इन्द्रियों की स्थिरता सम्पन्न होती है और जगदानुभव स्तिमित होने लगता है। जब समस्त इन्द्रियसमूह स्व-स्व वृत्तियों के साथ बिन्दुस्थान में विलीन हो जाते हैं, तब रूपरसादिशब्दस्पर्शात्मक विचित्र जगत् शून्य में अन्तर्लीन हो जाता है। यहाँ तक कि देह की सत्ता का भी बोध नहीं रहता। मात्र अहंबोध एक सूक्ष्म तैजस सत्ता का आश्रय लेकर प्रकाशित हो उठता है। यह सत्ता है सत्वगुणप्रधान अन्तःकरण। पूर्व में इसमें चांचल्याभास रहता है। क्रमशः अभ्यासफल से यह सत्ता स्थिर ज्योति में परिणत हो जाती है। अभ्यास के फल से पश्चात्काल में साधक को स्थिर ज्योति का तादात्म्य सम्पन्न हो जाता है। अब केवल-मात्र स्पन्दन आत्मबोधरूपेण विद्यमान रह जाता है। यही आदि संकल्पना है। अन्त में यह भी नहीं रहती। उन्मनी अवस्था उन्मिषित होने लगती है। महाबिन्दु का आविर्भाव होता है। इस महाबिन्दुरूप योगासन पर संवर्त्तानिल रूप परमात्मा तथा चित्कलारूप पराशक्ति परस्पर आबद्धरूप में नित्यलीला के रूप में प्रकट हो जाती है।

जिस जगत् को जीव इन्द्रिय ग्राह्य तथा स्थूल कहता है, वह प्रत्याहारजनित प्रज्ञालोक में अतिवाहिक तथा कल्पनासम्भूत रूप से प्रकट होता है। इस प्रकार उसकी मनोमयी, कल्पनासम्भूत अवस्था स्पष्ट हो जाती है। जब तक स्थूल देहात्मबोध है, तब तक जीव को जगत् का स्थूल रूप ही अनुभूत होगा। इन्द्रियों के प्रत्याहार के साथ-साथ प्राणगति सुषुम्ना पथ पर चालित हो जाती है। अब स्थूलसत्ता प्रभावित देहात्मबोध विगलित हो उठता है। जीव की दृष्टि से जगत् की स्थूलता अपगत हो जाती है। जो जगत् पहले स्थूलतः प्रतिभात हो रहा था, वही अब शक्तिपूर्ण तथा तैजसरूप में परिणत हो जाता है। यह तैजस रूप भी सत्वमय तथा कल्पना का विजृम्भण-मात्र है। जैसे दीप की तेजोमयी कलिका से तेजयुक्त प्रभा चतुर्दिक् विस्तीर्ण होती है, उसी प्रकार केन्द्रगत विशुद्ध सत्वरूप ज्योतिकलिका से ज्योतिर्मय प्रभा-मण्डल के समान समस्त जगन्मण्डल का आविर्भाव होने लगा है। केन्द्र-बिन्दु से चक्रोत्पत्ति का यही रहस्य है। अब यह अभिज्ञता होती है कि समस्त जगत् मनोमय है। मन की प्रक्रिया एवं क्रिया की विद्यमानता में मनोमय तथा कल्पनामय जगत् ही परिस्फुट होता रहता है। मन के अव्यक्त होने पर समस्त जगत् में अव्यक्तता हो जाती है।

मनःस्थैर्य से चैतन्य-लाभ होता है। अब मनोमय जगत् भी नहीं है, वह चैतन्य शक्ति का विलास-मात्र है। दर्पण में दृश्य का प्रतिबिम्बित होना तथा आत्मा में

प्रतिबिम्बरूप जगत् का आविर्भाव होना, दोनों एक ही चमत्कार के दो आयाम हैं। इस अवस्था में समस्त विश्व चित्शक्ति की स्फुरणात्मक सत्ता प्रतीत होने लगता है। शक्ति जब कूटस्थ में अन्तर्हित हो जाती है, तब क्रिया की परावस्था में, विश्वातीत अतितुर्यावस्था का उन्मेष होता है। यही ब्रह्मसंस्था तथा अमृतत्त्व है। किसी भी मार्ग से साधना करने पर, आत्मदर्शनपूर्वक आत्मा के परमस्वरूप में प्रतिष्ठार्थ देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि का आश्रयण करके यथाविधि क्रियायोग की परावस्था में उन्नीत होना ही होगा। अन्य उपाय नहीं है। शास्त्रोक्त समस्त उपदेश इसी एक लक्ष्य को लेकर, विभिन्न स्तर के विभिन्न साधकों को दिये गये हैं। जो साधक नहीं हैं जो सद्गुरु के उपदेशानुसार यथार्थ योगमार्ग में गतिशील नहीं हैं, उनके लिए शास्त्रोपदेश का गूढ़ तात्पर्य समझना कठिनतर है। अति दुःसह होने पर भी शास्त्र का यही रहस्य है। समस्त शास्त्रों के बहिरंग उपदेश देश-कालजनित विचित्रता के कारण विचित्र लगते हैं, तथापि अन्तरंग एक तथा अभिन्न है। इस अभिन्नता का आवरण हटते ही यथासमय शास्त्ररहस्य उन्मोचित हो जाता है।

आत्म-समर्पण अभ्याससापेक्ष है, तथापि प्रकृत् आत्म-समर्पण हठात् होता है। यह अभ्याससापेक्ष नहीं है। आत्म-समर्पण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था है। इसके अभाव में परमतत्त्व प्राप्त नहीं होता। तुच्छ अहं का त्याग करने पर महत् अहं की प्रतीति होती है। आत्मज्ञानी ही आत्म-समर्पण कर सकता है। जिसे आत्मोपलब्धि ही नहीं है, उसका समर्पण यथार्थ समर्पण है ही नहीं। भक्तगण सर्वस्व समर्पण करने में सक्षम होते हैं।

साक्षात्कार में ये स्तर प्रस्फुटित होते हैं—परमात्मा, आत्मा, इन्द्रिय, विषय।

परमात्मा का अंश है आत्मा। अणुरूप ही आत्मा है। अनादि काल से परमात्मा आत्मा का आकर्षण करता रहता है। अतः आत्मा ही अणु है। विकर्षण के ही कारण परमात्मा से पृथक्ता रूप अणुभाव का उदय होता है। यह विकर्षण ही प्रयोज्य है। क्योंकि इसी के अनन्तर आकर्षण का उदय होने लगता है। विकर्षण के अभाव में ज़ो स्थिति रहती है, वह स्वरूपावस्था होने पर भी बोधहीन स्थिति है। इस बोधहीन अवस्था का निग्रह करने के कारण अनुग्रह का उदय होने लगता है। अणुभाव आते ही मन का बोध हो जाता है। पहले मन नहीं था। अब मन की सत्ता है। इसे ही बहिर्मुखता कहते हैं। मन ही बर्हिमुख बनता है। आत्मा का विकर्षण है मन। मन का विकर्षण-इन्द्रियाँ। अब देह का उदय अनुभूत होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। अतः विषयाभिमुखी होती हैं। अब विज्ञानज्ञान के कारण विषयास्वाद का उदय होने लगता है। जो बाह्यतः सत्तामात्र थी, वह अब रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध में परिणत हो जाती है। यही है स्थूल जगत्। बाहर जो सत्ता है, वह भी परमात्मा ही है।

इसके दो शीर्ष (सिरे) हैं। एक से आकर्षण होता है, दूसरे से विकर्षण। यह

क्रिया युगपत् रूप से होती रहती है। विषय अथवा स्थूल का भोग पूर्ण होते ही तृप्ति का उदय होता है। तब भोगों में रुचि नहीं रह जाती। अतः अब परमात्मा विकर्षण नहीं कर रहे हैं, यह ज्ञात हो जाता है। अब विषय भी नहीं खींचता। इसका फल है वैराग्य, निर्वेद आदि। इस अवस्था में आभ्यन्तरीण आकर्षण बढ़ने के कारण इन्द्रिय तथा आत्मा अन्तर्मुख हो जाते हैं। इस आकर्षण की भी मात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है। वह है मन्द, मध्य तथा तीव्ररूप। इसी प्रकार विकर्षण की भी मात्रा है। मन्द में तीव्रावस्था में पड़ने के लिए मध्य से ही होकर जाना होगा। कभी-कभी अनुभूत रूप से बिना मध्याश्रय लिये तीव्रावस्था में स्थिति हो जाती है।

इन्द्रियों की प्राथमिक अन्तर्मुखावस्था में कर्म से योग होता है। पूर्ण अन्तर्मुखता में कर्म का अस्तित्त्व नहीं रह जाता। आत्मा की अन्तर्मुखता को भक्तियोग कहा गया है। पूर्ण अन्तर्मुखता को प्रेमयोग कहते हैं। यह भक्ति से भी उच्च अवस्था है। बहिर्मुख स्थिति में मन इन्द्रियों का स्पर्श करता है। अन्तर्मुखता में इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करने लगती हैं। अब इन्द्रियाँ शक्तियुक्त होकर देवीपद वाच्य हो जाती हैं। *मन ही मूल शक्ति है*। मन का जागरण होता है शक्तिरूप में। यह शक्तिरूप मन *आत्मा का स्पर्श* करता है। फल है ज्ञानोदय। आत्मा ही ज्ञानरूप है। अब आत्मा ही ज्ञानरूप है। अब आत्मा परमात्म स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगता है। फलतः आत्मा परमात्मा का स्पर्श करता है। आत्मा परमात्मा की ओर अभिमुख है—यही है भक्ति। क्रमशः अन्तर्गति की मध्यावस्था में परमात्मा के साथ योग हो जाता है।

सर्वत्र मध्यावस्था है। इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करती हैं। मध्य में है शक्ति स्थिति। तीव्रावस्था में ज्ञानोन्मेष होने लगता है। इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करते ही शक्तियुक्त होकर देवी हो जाती हैं, परन्तु जब मन स्वस्थान से हटकर इन्द्रियों के पास आकर उनका स्पर्श करता है तब इन्द्रियाँ शक्तिमता से स्खलित हो जाती हैं। उनका देवत्व समाप्त हो जाता है। ज्ञानोन्मेष के साथ-साथ मन आत्मा का स्पर्श करने लगता है। इसकी मध्यावस्था है ज्ञान स्वरूप में स्थिति। स्थिति की अवस्था में अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता नहीं रहती। इसे साम्यावस्था कहते हैं। आत्मा के परमात्म योग की तीव्रावस्था में क्या होता है? मध्ययोगावस्था में आत्मा और परमात्मा युक्त हैं। तीव्रावस्था में दोनों में रमण होता है। अब योगावस्था (युक्तावस्था) अदृश्य रूप 'एक' में विकसित होती है। यह है स्वयं भगवान्। आकर्षण-विकर्षण की क्रीड़ा श्वास-प्रश्वास में चालित रहती है। इसी आकर्षण-विकर्षण का प्रभाव सोम-अग्नि की क्रिया में भी चलता रहता है। रात्रि-दिवस में भी यही क्रीड़ा विद्यमान है। किम्बहुना, सृष्टि तथा लय, अन्धकार-प्रकाश, आविर्भाव-तिरोभाव में भी यही लीला चलती रहती है।

इसी प्रसंग में काशी, मलदहिया स्थित विशुद्धानन्द कानन आश्रम में श्री श्री

विशुद्धानन्द परमहंस देव द्वारा प्रतिष्ठापित नवमुण्डी महाशक्ति का रहस्य भी विवेचनीय है। यह महाशक्ति काल-राज्य में होते हुए भी उससे परे है। नवमुण्डी शक्ति काल-राज्य में होते हुए भी उससे अतीत है। जब काल कालातीतावस्था में आरोहण करता है, तब वही नवमुण्डी है। कालातीत का तात्पर्य है हृदय। सरलगति ही श्रेष्ठ गति है। यह हृदय में कार्यरत रहती है। यह अव्यक्त है। भगवान् के अव्यक्त स्थान में जाने के लिए नवमुण्डी से होकर जाना होगा। तभी वास्तविक हृदयप्रवेश हो सकता है। साधारणतः जीवजगत् में जो कुछ है, उसे नवमुण्डी का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है। नवमुण्डी तत्त्व को हृदयंगम करने के लिए सरल वक्र रेखा का रहस्य आयत्त करना ही होगा। इसी के साथ अनुरेखा का ज्ञान ज्ञानगंज से प्राप्त करना ही होगा। षट्चक्रों में ऊर्ध्वरूप बिन्दुत्रय की सत्ता रहती है। ये क्रमशः सहस्रदल, मस्तक तथा कण्ठदेश में विद्यमान हैं। पुनः नाभि से हृदयपर्यन्त भी बिन्दुत्रय की सत्ता का अनुभव होने लगता है। इनमें ऊपर का एक बिन्दु तथा नीचे का एक बिन्दु अधोमुखी एवं ऊर्ध्वमुखी है। मध्य का बिन्दु न ऊर्ध्वमुखी है और न अधोमुखी ही है। यह ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुख का मिश्रित रूप है। इसमें स्थिति होते ही एक विराट् ज्योति का अनुभव होता है। इस ज्योति की तुलना में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भी तुच्छ लगते हैं। यह स्थिति हृदयरूपा है। उपनिषदों में इसे दहराकाश कहा गया है। भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यरूप सप्तलोक बाह्यतः विभाजित हैं। अन्तरिक्षरूपी मध्यलोक भी अन्तःसत्तारूप नहीं है। बाह्य सत्तारूप सबमें काल विराजित रहता है। यहाँ तक मृत्यु की ही सत्ता है। परन्तु जो दहराकाश है, वह मृत्यु तथा काल से अतीत अवस्था है। बाह्यसत्ता वक्रगति से आच्छन्न है। ब्रह्मलोक सर्वाति उच्च बाह्यलोक है। वहाँ की अवस्था दीर्घस्थायिनी होती है। अन्त में ब्रह्मा के अवसान के साथ-साथ ब्रह्मलोक भी विलीन हो जाता है। वहाँ तक वक्रगति की व्यापकता अनुभूत होती है। सरलगति की प्राप्ति होने पर चतुर्दिक् वक्र गति की विद्यमानता घेरा- रूप में रहती है। यही नवमुण्डी है। विशुद्धानन्द आश्रम के बाह्य प्रदेश में प्रदर्शनार्थ नवमुण्डी महाशक्ति स्थापित है। केन्द्रस्थल पर कुमारी अथवा गुरु की स्थिति प्रदर्शित की जाती है। यही केन्द्र ही हृदय है। नवमुण्डी काल तथा कालातीत की सन्धि है। अतः जगत् के जो जीव नवमुण्डी का आश्रय ग्रहण करते हैं वे इस काल-राज्य में रहते हुए ही काल-राज्य के बाहर आश्रय प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

अव्यक्त को व्यक्त करने का कौशल जानना आवश्यक है। क्रियाविशेष का आश्रय लेने से अव्यक्त भी व्यक्त हो जाता है। अव्यक्तता सापेक्ष है। हम जिस स्तर में हैं, उस स्तर से देखने पर जो अव्यक्त प्रतीत होता है, अन्य स्तर में उन्नीत होने पर वह अव्यक्त नहीं रह जाता। अतः अव्यक्तता एक प्रकार की नहीं होती। सत्य तो

यह है कि न तो कुछ अव्यक्त है और न कुछ व्यक्त है। अधिकारी भेदानुसार अव्यक्त तथा व्यक्तता का अनुभव भिन्न-भिन्न रूप से होता है। क्रिया का तात्पर्य है योगक्रिया। इसका आश्रय ग्रहण करने से अव्यक्त भी व्यक्त होने लगता है।

प्रश्न उत्थित होता है 'क्या महाप्रकाश के अवतरण के अनन्तर जगत् की यही अवस्था रहेगी?' महाप्रकाश अवतरण के पश्चात् सबकुछ रहेगा। कालातीत शुद्धावस्था भी विद्यमान रहेगी। विचित्रता यह होगी कि काल की गति का शमन होगा और प्रकृत सत्य की गति प्रकाशित होगी। आज तक इसका रहस्य-भेदन नहीं हो सका था। आभ्यन्तर का गुप्त रहस्य, भगवान् का प्रेमकुंज, भगवान् की प्रेमलीला का प्रकाशन होगा। यह प्रेमलीला भागवत् में वर्णित रासलीला नहीं है। रासलीला तो योगमाया के अन्तर्गत होती है। प्रेमलीला का कोई सन्धान रासलीला (योगमाया) स्तर से नहीं मिलता। भगवान् की लीला योगमाया स्तर से रची गयी है। प्रेमलीला का प्रकाशन चारों युगों में भी नहीं हो सकता। यह गुप्त है। कारण, अभी इसका समय नहीं हुआ है। इसका किंचित् इंगित महाप्रभु जगद्बन्धु को प्राप्त हो सका था। ततोधिक प्रकाश पाण्डिचेरी की श्रीमाँ को प्राप्त हो सका था, परन्तु वे इसका पूर्ण आभास प्राप्त करने के पूर्व ही देहमुक्त हो गयीं! यह अवस्था अपूर्ण ही रह गयी! इसी कारण माँ का शरीर अरविन्द के शरीर के निकट समाधिस्थ किया गया। भक्तों की यह विचारणा रही है कि शायद समाधिस्थ स्थिति में वह तत्त्वपूर्ण हो सके! अरविन्द ने जिस तत्त्व का साक्षात्कार किया था, माँ ने उसे निजस्व कर लिया था। इसी कारण माँ का व्यक्तित्त्व आश्चर्यजनक था। गुरु केवल मात्र पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। इसी प्रकार काशी की सिद्धि माँ तथा उनके शिष्य प्रभात में भी अनेकांश में प्रकाश का अवतरण हो सका था, तथापि कार्यशेष रह जाने के कारण महाप्रकाश का अवतरण नहीं हो सका।

यद्यपि महाप्रकाश का अवतरण प्रतीक्षित है,तंथापि आधार निर्माणार्थ क्षणसाधना का अनुष्ठान करना ही होगा। जिस नूतन जगत् का निर्माण अखण्ड महायोग में अंकित है, वह क्षणविज्ञान का ही आधाररूप है। क्षण का तात्पर्य है— ठीक समय से साधना करना। ठीक समय पर साधना से ऊर्ध्वशक्ति का प्रवाह क्रम भी निश्चित हो जाता है। क्षणकर्म अत्यन्त प्रभावशाली क्रिया है। इसी से सब कुछ होता है। सन्धिपूजा भी क्षण में ही होती है। इसी के साथ सर्वदा जगत् के हित की कामना करते रहना चाहिये। क्षणसाधना विकल्परूप नहीं है। यह संकल्पित रूप है। संकल्प होता है एक उद्देश्य के लिए। उद्देश्य सिद्ध होते ही संकल्प पूर्ण हो जाता है। संकलन का तात्पर्य है कि 'मैं यह करना चाहता हूँ।' तत्पश्चात् स्वचेष्टा तथा साधना द्वारा उसे कार्यरूप में परिणत किया जाता है।

कर्म के अभाव में सत्वगुण विकसित नहीं हो सकता। कर्म के अभाव में

व्यक्तित्त्व रजोगुण तथा तमोगुण से आच्छन्न होने लगता है। इन दोनों को अभिभूत करते-करते सत्वगुण का विकास करना होगा। सर्वान्त में गुणातीत होना ही चरम उद्देश्य है। प्रथमतः सत्य संकल्प बनना चाहिये। सत्यसंकल्पता का उदाहरण बाइबिल में अंकित है—'Let there be light, there was light.' उसने प्रकाश की इच्छा की और वहाँ प्रकाश आविर्भूत हो गया। यही है सत्य संकल्प। संकल्प के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। संकल्प-सिद्धि के साथ-साथ इच्छित वस्तु अधिगत हो जाती है, यह है व्यष्टिसिद्धि। व्यापक सिद्धि इससे अतीत है। वही संकल्प करना चाहिये, जिसे हम सिद्ध कर सकें। जो संकल्प हम सिद्ध न कर सकें, उसे करना ही नहीं चाहिये। यदि संकल्प नहीं है, तब विकल्प भी नहीं होता। संकल्प के विरुद्ध विकल्प का आगमन होता है। संकल्प का विरोधी तत्त्व है विकल्प। एक संकल्प पूर्ण नहीं है, अथच दूसरे संकल्प की ओर आकर्षित हो गये! इससे संकल्प-पूर्ति में बाधा आती है। संकल्प से ही समग्र सृष्टि का आविर्भाव होता है। विधाता संकल्प द्वारा सृष्टि करते हैं।

अन्तर्यात्रा की स्थिति का प्रारम्भ कहाँ से होता है? अन्तर्यात्रा का उन्मेष अथवा प्रारम्भ मन की स्थिति से होता है। इसे और भी स्पष्ट किया जा रहा है। अन्तर्यात्रा का विलोम है बहिर्यात्रा। अर्थात् परमात्मा से आत्मा, आत्मा से मन, मन से इन्द्रिय तथा इन्द्रियों से विषय की ओर की यात्रा। ये चार स्तर हैं। इसमें प्रत्येक स्तर पर शक्ति से वियुक्तता आती-जाती है। अन्तर्यात्रा की स्थिति इससे विपरीत है। जब इन्द्रियाँ अपने स्थान से विलोम गति द्वारा विषय का स्पर्श करती हैं, तब इन्द्रियाँ अप्रधान तथा विषय प्रधान हो जाता है। जब इससे विपरीत स्थिति में (अर्थात् अन्तर्मुखता के प्रथम स्तर में) विषय अपने स्थान से हटकर अनुलोम गति द्वारा इन्द्रियों का स्पर्श करते हैं, तब विषय अप्रधान तथा इन्द्रियाँ प्रधान हो जाती हैं। इस अवस्था में विषयोन्मुखता इन्द्रियों में विलीन हो जाती है। अब इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करने लगती हैं। मन से इन्द्रियों को अन्तःशक्ति की प्राप्ति होती है। जब मन विलोम गति द्वारा स्वस्थान-च्युत होकर इन्द्रियों का स्पर्श करता है, तब मन अप्रधान एवं इन्द्रियाँ प्रधान हैं। यह मन की पार्थिव जड़त्वमय अवस्था है। परन्तु जब इन्द्रियाँ अनुलोम गति के द्वारा ऊर्ध्व गतिशील होकर मन का स्पर्श करती हैं, तब इन्द्रियों में शक्ति का संचरण होने लगता है। इन्द्रियों का यह ऊर्ध्वगति युक्त स्पर्श मनःसत्ता को जागृत कर देता है। और वह ऊर्ध्वगतिमान होकर आत्मा का स्पर्श करता है। यह मन की चरमावस्था है। जब आत्मा स्वस्थान से च्युत होकर अनात्म का स्पर्श करता है, तब मन के अन्तर्गत देहसत्ता का गठन प्रारम्भ होने लगता है। देहसत्ता अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त कल्पित सत्ता में अहंबोध। यह आत्मबोध का विपरीत आयाम है जिसे देहात्म-बोध कहते हैं। परन्तु जब मन ऊर्ध्व गतियुक्त होकर आत्मा का स्पर्श करता है, तब मिथ्याकल्पित देहबोध की परिणति आत्मबोध रूप में हो जाती है।

ज्ञानगंज की धारा है अखण्ड महायोग। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी धारा है, जिसमें वह बहता रहता है। प्रत्येक धारा के चलते रहने पर भी प्रत्येक मनुष्य को एक ऐसे क्षण की प्राप्ति करनी ही होगी, जिससे उसे महासत्य उपलब्ध हो सके। सर्वत्र महासत्ता के साथ समान रूप से युक्त हो सकने की चरमानुभूति का नाम है महायोग का प्रकाशन! क्षणविज्ञान ही अखण्ड महायोग है। क्षण की सत्ता मूलतः अखण्ड है। एक अखण्ड क्षण व्यक्तिगत धाराभेद के कारण भिन्न-भिन्न साधकों के समक्ष अलग-अलग रूप में आत्म-प्रकाशन करता है। क्षण का प्रधान लक्षण है खण्ड भाव से अखण्ड भाव का उन्मेष। धाराओं की विभिन्नता होने पर भी, समस्त धाराओं का पर्यवसान बिन्दु है महाप्रकाश का उन्मेष! यह महाप्रकाश ही महायोग है। यह नित्यसिद्ध अवस्था है। यह साधना का फल कदापि नहीं कहा जा सकता। यह किसी का भी परिणाम नहीं है। महाप्रकाश का यह चमत्कार है कि वह यद्यपि अव्यक्त है, तथापि क्षण का सम्पर्क होने के कारण साधक के समक्ष प्रकाशित हो उठता है। अब प्रतीत होता है कि यह महायोग समग्र विश्व ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु के साथ, स्थूल-सूक्ष्म-कारण अवस्थात्रय के साथ, अतीत-अनागत-वर्तमानकाल के साथ नित्य सम्बद्ध है। इसमें सत्-असत् का अनादिकालीन द्वन्द्व अस्तमित होने लगता है। विरोध एवं अविरोध भी एकीकृत हो जाता है। यथार्थ तत्त्व के लिए 'है' भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं है' भी नहीं कहा जा सकता। एक ही समय में 'है' तथा 'नहीं है' भी कह सकना शक्य नहीं है। व्यवहार-भूमि में इसका संदर्शन किसी एक धारा का आश्रय लेकर ही किया जा सकता है। अतः इसे कोई किसी भी संज्ञा से अभिहित करे, सब सत्यरूप है।

अब महाक्षण एवं विकृतक्षण भी ज्ञातव्य है। विकृतक्षण संसार में प्रचलित समय (ऊग्स) है। हमारे खण्ड जीवन को नियन्त्रित करता है। यह विकृत क्षण गाढ़ अन्धकारमय अज्ञात का क्षण है। यह देह के अहंभाव का प्रकाशन करता है। इस अहंभाव का चिरन्तन प्रकाश के साथ कोई सम्पर्क ही नहीं रह जाता। अतः विकृत क्षण के अन्तर्गत जीवन की जिस धारा का नियन्त्रण हो रहा है, उसमें ज्ञान का अप्रतिम विकास हो जाने पर भी स्वरूप-ज्ञान आवरित रह जाता है। जब साधना, कृपा अथवा साधना एवं कृपा, दोनों के सम्मिलन से महाक्षण (महायोग) की प्राप्ति हो जाती है, तब तड़ितवल्ली के समान क्षणमात्र में साधक अखण्ड अक्रमरूप स्व-प्रकाशित स्वरूप को प्रत्यक्ष कर लेता है। यह है स्वयं का स्वयं में दर्शन। यही प्रकृत आत्मदर्शन है। यह क्रमिक रूप से नहीं होता। काल (विकृत क्षण) में भी नहीं होता।

अब समय तथा क्षण की विवेचना आवश्यक है। सामान्यतः समग्र काल के सूक्ष्मतम अंश को क्षण कहा गया है। योगियों के अनुसार जब एक परमाणु अपने स्थान का त्याग करके अन्य परमाणु का स्थान ग्रहण करता है, उस संचरण-काल को

क्षण कहते हैं। वास्तव में यह लौकिक परिणामरूप है। किसी ने काल को अखण्ड दण्डायमान कहकर क्षण को उसका कल्पित अंग कहा है। क्रिया का आश्रय लेकर इस विभाग की कल्पना की जाती है। निष्क्रिय सत्ता विभागरहित है। अन्य मत के अनुसार क्षण को ही मूल सत्ता के रूप में मान कर काल को उससे आविर्भूत बौद्धसत्ता माना गया है। अर्थात् काल का अस्तित्त्व बुद्धि पर्यन्त ही है। जहाँ बुद्धि की क्रिया नहीं है, वहाँ काल अस्तित्त्वविहीन है। यह परिभाषा उचित प्रतीत हो रही है। इसमें पूर्वापर विभाग नहीं है। एकमात्र सत्ता ही विराज रही है। यही क्षण है। दृष्टिकोणभेद के कारण क्षण तथा काल की विवेचना विद्वदजन इसी प्रकार करते आये हैं। क्षण का तात्पर्य है महासत्ता। इसका अनुभव 'स्व' ही कर सकता है। अर्थात् इस एक सत्ता के अतिरिक्त अन्य सत्ता का भान ही नहीं हो सकता। यह महाप्रकाश युक्त सत्ता समग्र विश्वप्रकृति के मूल में विद्यमान रहती है। यह सर्वपदार्थ समूह का मूल रूप है। क्षण अर्थात् 'स्व मय' भाव! वह है, अथवा भावातीत है, अथवा दोनों ही है, अथवा दोनों ही नहीं है।' कुछ भी जाग्रतिक भाषा में नहीं कहा जा सकता!

वास्तव में क्षण एक ही है। उसी में समस्त क्षणसमूह समाहित हो जाते हैं। विकृतक्षण भी उस एक क्षण में अनुभूत होता है। अन्य क्षण है ही नहीं। उस एक ही क्षण में यह अनन्त विश्व अनन्त काल से परिणाम-प्रदर्शन करता रहता है। जब जीव का मातृगर्भ में प्रवेश होता है, तब वही क्षण उस जीव का मूल क्षण है। यह अत्यन्त मूल्यवान है। इस क्षण का नियन्त्रण सम्पूर्ण जीवन पर पड़ता है। समग्र जीवन इस एक ही क्षण की क्रिया है। इस मूल क्षण में समस्त जगत् की सबन्धमूलक सत्ता विद्यमान रहती है। इस क्षण में जो शक्ति समाहित है, जीवन-पथ पर उसी की अभिव्यक्ति होती है। जैसे एक बीज में उससे होने वाले सभी पुष्प, फल, बीज विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार उस एक क्षण में ही समस्त जीवन की विविधता विद्यमान रहती है। काल भी क्षण का एक बहुत्वमूलक प्रसार-मात्र है। क्षण को आयत्त कर लेने पर समस्त जीवन के कर्मान्तरगत कर्म एवं भोगादि को जाना जा सकता है। साधक की यथार्थ साधना से जिस क्षण का आविर्भाव होता है, वह महाक्षण है। यह पूर्णत्व का साथी है। इसका संसर्ग प्राप्त होते ही नित्य सत्य का स्वरूप प्रकट होने लगता है।

प्राचीन वैष्णव साहित्य में श्वेतदीप का अंकन मिलता है। पांचरात्र आगम तथा प्राचीन वैष्णव ग्रन्थों में भी इसका किंचित् विवरण है। प्रसिद्ध है कि नारद को श्वेतदीप में नारायण-दर्शन का सौभाग्य मिला। दर्शन करने पर उन्हें यह आत्मतोष हुआ कि भगवद्-दर्शन हो गया। उनके इस विचार का प्रत्याख्यान करते हुए आकाशवाणी होती है—'नारद! तुमने जिस रूप का दर्शन किया वह मायिकरूप है, यथार्थरूप नहीं है!'

श्वेतदीप के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं। समस्त मत लौकिक दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण अनुकरणीय नहीं हैं। वैष्णव सम्प्रदाय भी एकमत नहीं है। किसी सन्त के अनुसार श्वेतदीप महागोलोक का ही नामान्तर है। इस महाद्वीप में साक्षात् रूप से प्रवेश हो सकता है अथवा क्रमामार्गावलम्बन द्वारा भी प्रवेश मिल सकता है। यह भगवान् के प्रेमास्वादन का मुख्य धाम् है। जो क्रममार्ग से इसमें प्रवेश करते हैं, वे वैकुण्ठ भेदनान्तर (वहाँ के ऐश्वर्य, आनन्दास्वादन के पश्चात्) यहाँ प्रविष्ट होते हैं। अधिक भाग्ययुक्त साधक क्रममार्ग का आलम्बन किये बिना ही श्वेतद्वीप में प्रवेश करते हैं। यह द्वीप चतुरस्र (चौकोर है)। यह पांचरात्र आगमोक्त मत है।

महाभारतोक्त श्वेतद्वीप (जहाँ नारद का प्रवेश हुआ था) मूल श्वेतद्वीप का आभास- मात्र है। मूल श्वेतद्वीप द्विभुज श्रीकृष्ण की विहार-भूमि है। अतः इसे गोलोक ही कहा जाना उचित है। नारद जहाँ गये थे, वहाँ के अधिष्ठाता थे चतुर्भुज नारायण। वैष्णव के मत से नारायण-मूर्ति तो कृष्ण-मूर्ति का विलास है। मूल श्वेतद्वीप का विलास है महाभारतोक्त आभासरूप श्वेतद्वीप। यहाँ जिस चतुरस्र का वर्णन किया गया है उसके अन्तःस्थल में एक और चतुरस्र की सत्ता का प्रत्यक्ष होता है। इसे महावृन्दावन कहते हैं। इसके मध्य में सहस्रदलाकृति भूमि है। वही है गोकुल। उसके मध्य में भगवान् श्रीकृष्ण का स्वधाम विराजित है। महावृन्दावन तथा श्वेतद्वीप के पारस्परिक अन्तराल में असंख्येय लोकसमूह विराजित रहते हैं। ये सभी अनन्त वैचित्र्य से परिपूर्ण हैं। वहाँ के व्यक्ति भी विचित्र प्रकृतियुक्त हैं। ये सभी लोक एक-एक प्रकार के गोलोक हैं। सब महागोलोक के खण्डरूप हैं। हमारे देश के मध्ययुगीन सन्तगण इन आनन्दमय लोकसमूह का साक्षात्कार करते थे।

●

जपतत्व

जप-साधना में भी महायोगोक्त षट्चक्र की उपादेयता असन्दिग्ध है। योगमार्गोक्त षट्चक्रों द्वारा जप सम्भव नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि योगमार्गोक्त षट्चक्र जडांश बहुल पंचमहाभूत पर आधारित है। योगमार्गोक्त षट्चक्र में से केवल मात्र आकाश तत्त्व प्रधान विशुद्ध चक्र द्वारा ही जप सम्भव है, क्योंकि विशुद्ध चक्र कण्ठ- देशस्थ है। इतने पर भी इस विशुद्ध चक्र से जपा मन्त्र चेतनरूप नहीं हो सकता। इसके लिए अत्यन्त दीर्घकाल पर्यन्त जप-साधना करनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि कण्ठदेशस्थ योगशास्त्रोक्त विशुद्ध चक्र जड़ाकाश प्रधान है। इसमें जड़त्व की बहुलता है। अतः उससे जपा मन्त्र भी जड़त्वांशबहुल होकर पड़ा रह जाता है। महायोगोक्त षट्चक्र जडांशबहुल न होकर चेतनांश बहुल है, अतएव उसके आधार पर जप-साधना की प्रतिष्ठापना चेतनांशबहुल है, अतएव उसके आधार पर जप-साधना की प्रतिष्ठापना चेतनांशबहुल होने के कारण अनायास ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि महायोगोक्त षट्चक्र का आधार सूक्ष्म है। उसका आधार पंचमहाभूतरूप स्थूल तत्त्व नहीं है। सूक्ष्मतत्त्व अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है और उसकी गति भी व्यापक होती है। जैसे तीव्रगामी वाहन पर आरूढ़ होकर गन्तव्य स्थल पर शीघ्र पहुँचा जा सकता है, उसी प्रकार सूक्ष्म एवं अप्रतिहत गतियुक्त षट्चक्र का आश्रय ग्रहण करने से जप-साधना शीघ्र सफल हो सकती है।

जप-साधना हेतु महायोगोक्त षट्चक्र में सर्वप्रथम मूलाधारचक्र का आश्रय लेना आवश्यक है। मूलाधार ही जप-साधना की भित्ति है। इस स्थान पर जपबीज का (मन्त्र बीज) वपन करना चाहिये। बीज का वपन-कार्य आधाररूप पृथ्वी में ही होता है। इसी कारण मूल आधाररूप बिन्दु में मन्त्रबीज की स्थापना की जाती है। जिस श्वास-प्रश्वास- रूप आधार से मनुष्य-देह की जीवन्तता की सूचना मिलती है, वही यथार्थ मन्त्राधार है। लक्ष्य करने पर ज्ञात होता है कि नासापुटों के अग्रभाग से अर्थात् नासिका के बाहर द्वादश अंगुल अवकाश से श्वास उठकर नासापुटों के माध्यम से शरीर के भीतर प्रवेश कर रही है, तत्पश्चात् नासापुटों के माध्यम से प्रश्वास निकलकर उसी द्वादश अंगुल- व्यापी अवकाश में समाहित हो रही है। इसे द्वादशान्त बिन्दु कहते हैं। इसी द्वादशान्त बिन्दु पर मन्त्रबीज की स्थापना करनी चाहिये। इस प्रक्रिया से वह मन्त्रबीज चेतना- सम्पर्क में आने से जाग्रत् हो उठता है। इसका कारण यह है कि जो चेतना-स्रोत द्वादशान्त बिन्दु से उठकर नासापुटों द्वारा श्वास के रूप में शरीराभ्यन्तर में जीवन-चेतना का प्रादुर्भाव कर रहा है, वह अत्यन्त

जीवन्त है। उसके सम्पर्क-मात्र से, संस्पर्श से मन्त्रबीज जाग्रत् होने लगता है। इस प्रकार महाशक्ति चिति का यह जीवन्त संस्पर्श मन्त्र को जीवन्त बना देता है और साधक मन्त्र जागृति के भीषण प्रयत्न से बच जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब श्वास के माध्यम से मन्त्रबीज को अन्तर्जगत् में प्रविष्ट कराते हैं, उस स्थिति में प्रश्वास के माध्यम से क्या वह बहिर्गत नहीं हो जाता? इसका उत्तर यह है कि जो चेतनास्रोत श्वास के माध्यम से शरीरान्तर्गत प्रविष्ट होता है, वह बाहर नहीं आता। जो स्रोत बाहर आता है, वह चेतनास्रोत नहीं है। स्पन्द भीतर जाता है और जाड्यतम बाहर आता है। चेतना एवं जड़ता का यह द्वन्द्व अहर्निश चलता रहता है। अतः मन्त्रबीज के श्वास के माध्यम से भीतर प्रविष्ट होने के पश्चात् प्रश्वास के माध्यम से जीव पर आच्छन्न जाड्य का अभिनिष्क्रमण होता है। बिन्दु अन्दर समाहित होता है और विसर्ग की निष्कृति बाहर की ओर होती है। भौतिक दृष्टि से भी श्वास रूप में जीवनदायिनी आक्सीजन भीतर जाती है तथा तमरूप कार्बन डाइआक्साइड का निष्क्रमण बाहर की ओर होता है। इसी प्रकार मन्त्र-जप से चेतना जीवात्मा की ओर अग्रसर होता है। इसके बदले में चेतना पर छाया अन्धकार हटता जाता है। नासाग्र बिन्दु पर मन्त्रबीज का वपन धारणा द्वारा होता है, तथापि यह धारणा कर्तृत्वाभिमानरहित स्थिति में ही हो सकती है। इसका कौशल यह है कि नासाग्र बिन्दु से श्वास स्वयं चालित क्रिया के रूप में उठ रही है। उसके करने में व्यक्ति को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस परिस्थिति में उस बिन्दु पर क्षणार्द्ध की भी धारणा उस स्वयंचालित क्रिया से सम्बद्ध कर देती हैं। इस साधना में सर्वाग्र में धारणा ही फलप्रसवा है। साधना का परिपाक होने के साथ ही धारणा की आवश्यकता नहीं रह जाती, प्रत्युत् जप ही स्वभाव बन जाता है, अथवा स्वभाव के स्रोत से जप उन्मिषित हो उठता है।

यह नासाग्ररूपी मूलाधार का जप ही जप की परिणति नहीं है। इसके अनन्तर स्वाधिष्ठान की आधारभूता जिह्वा से जप करना चाहिये। जो साधक नासाग्र बिन्दु पर जपधारणा के बिना ही जिह्वा से जप करते हैं, उनका मन्त्र अत्यन्त दीर्घकाल में चैतन्य होता है। नासाग्र बिन्दु पर मन्त्रबीज का वपन करने से धारणा की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मन्त्रबीज तत्काल चैतन्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि नासिका के अग्रभाग से ही चैतन्य सत्ता का सम्पर्क मानव-देह से होता है। अतः इस बिन्दु पर मन्त्रचैतन्यता एक स्वाभाविक प्रक्रिय-सी है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में धारणा की प्रतिष्ठा से मन्त्रबीज को चैतन्य करने के उपरान्त ही उस जाग्रत् बीज का जप जिह्वा के द्वारा करना श्रेयस्कर है। जिह्वा द्वारा जप करने की भी दो स्थिति है। प्रथम स्थिति है जिह्वा द्वारा बीजाक्षरों का जाप अथवा नाम का जाप। बीजाक्षर इष्ट सत्ता की निर्गुण स्थिति है और नाम उसकी सगुण स्थिति का प्रतीक है, यद्यपि इस स्थिति में सगुण स्थिति भी रूपात्मक नहीं है। कारण यह है कि रूपात्मक सत्ता का आविर्भाव तैजस् चक्र मणिपूर में ही होता

है। स्वाधिष्ठान केन्द्र से नाम जप के समय इष्ट सत्ता भी अरूप स्थिति में ही रहती है। अरूप स्थिति में रहने पर भी इस केन्द्र से नाम-जप करने से इष्टसत्ता के रस का अविर्भाव होने लगता है। प्रकारान्तर से सम्यक् रूप से यथायथ जपाविर्भाव होते ही जिह्वा उलटकर तालुमूल की ओर अग्रसर होने लगती है। स्वाधिष्ठान केन्द्र पर आधारित जप की सम्यक् परिणति में जिह्वा तालुमूल से क्षरित अमृत का आस्वादन करने लगती है। यही यथार्थ जलतत्त्व है, जिसका आधारभूत स्थल स्वाधिष्ठानचक्र है। इस उदाहरण से भी जिह्वा स्थान में स्थित महायोगोक्त स्वाधिष्ठानचक्र की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी स्वाधिष्ठान को आधार बनाकर जप होता है। यह कहा जा चुका है कि बीजाक्षर इष्टसत्ता का निर्गुण प्रतीक है। निर्गुण का तात्पर्य है धनीभूत अव्यक्त, केन्द्रीभूत सूक्ष्म सत्ता। सगुण का तात्पर्य है विकसित व्यापक तथा व्यक्त सत्ता। निर्गुण सत्ता की गति केन्द्र की ओर होती है, अतः इस स्थिति में साधक का बोध इष्टकेन्द्र में विलीन हो जाता है, परन्तु सगुण स्थिति में साधक का बोध इष्टकेन्द्र में विलीन नहीं होता, प्रत्युत् इष्टसत्ता साधक के सम्मुख व्यक्त होकर साधक के अन्तःकेन्द्र में समाहित हो जाती है। दोनों की स्थिति में यही बाह्य भेद परिलक्षित होता है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि बीज जाग्रत् होने पर साधक की सत्ता अथवा साधक का बोध जागृत बीज में समाहित होने लगता है। नाम जागृत होने पर जागृत नाम साधक के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है। पहली स्थिति है सिन्धु में बिन्दु का विलीनीकरण, दूसरी स्थिति है बिन्दु में सिन्धु की विलयन। प्रथम में सिन्धु प्रधान है। द्वितीय स्थिति में बिन्दु की प्रधानता सुसिद्ध हो जाती है। वहाँ सिन्धु अप्रधान है।

स्वाधिष्ठानचक्र का जपसाधन संघर्षण के फलस्वरूप ऊर्ध्वोत्थित होने लगता है। अब वह मणिपूरचक्र केन्द्र से स्पष्ट होने लगता है। स्पष्ट होने का अर्थ है रूपायित होना। मणिपूरचक्र तेज प्रधान होने के कारण रूप का उत्स है। उसका गुण है रूप-दर्शन। यह रूप कैसा है? इसका ज्ञान होना आवश्यक है। यह रूप है जप का धनीकरण। सर्वप्रथम यहाँ जप ज्योति की धनरूपता में प्रकाशित होता है। स्वाधिष्ठानोत्थित जप में अब व्यक्तता का संचार होने लगता है। यहीं से एकलक्ष्य स्थिति का उन्मेष होता है। रूप-दर्शन के अभाव में लक्ष्य स्थिर कर सकना असम्भव है। अतः ज्योति पर ही लक्ष्य स्थिर करना श्रेयस्कर है। अव्यक्त सत्ता पर लक्ष्य स्थिर करने का प्रयास व्यर्थ श्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। लक्ष्य-साधना का फल है ऊर्ध्वस्थिति। कारण, मणिपूरचक्र का गुण है तेज और फल है रूपदर्शन। तेज की गति सदैव ऊर्ध्वदिक की ओर होती है। तेज स्वभावतः ऊर्ध्वगामी हैं। तेज की ऊर्ध्वगामिता रूप की प्रतिष्ठा करती है। तेज ही केन्द्रित होकर रूप का उद्भव करता है। यही मन्त्र-चैतन्य है। चैतन्य सत्ता का गठन न होने तक मन्त्र में चैतन्यता नहीं आ सकती। मन्त्र का रूपायित होना ही मन्त्रचैतन्य है। इसी भूमि से इरूप में मन्त्र प्रकाशित होता है।

●

गायत्री तथा ॐकार

गायत्री मन्त्र में 'भूः भुवः' तथा 'स्वः' का उल्लेख है। इन तीनों के भी अनेक अवान्तर विभाग हैं। यथा महः, जनः, तपः, एवं सत्यं। स्वर्ग से निम्न स्तरीय भूः एवं भुवः तथा स्व (स्वर्ग) से उच्चस्तरीय महः जनः-तपः एवं सत्यं दोनों की सन्धि 'स्व' ही है, अतएव गायत्री में स्वः पर्यन्त का ही वर्णन है। तदनन्तर 'तत् सवितुः' कहा गया है। अर्थात् इन सप्त भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं का प्रसव जिसने किया है, इसीलिए वह सविता है। 'वरेण्यं' तत् सवितुः' उसका जो 'भर्ग' है वह वेरण्य है। तदनन्तर एक वरेण्य भर्ग है और एक अवरेण्य भर्ग भी है। पुनः वरेण्य भर्ग का ही अवलम्बन करने को कहा गया है। यह भर्ग ही तेज है। 'वर्च्च वर्च्चदा वर्च्चा देहि'। भर्ग एक प्रकार का तेज है और वर्च्च अन्य प्रकार का तेज है। यह सब वेद का ही शब्द है। 'धीमहि' का अर्थ है चिन्तन करना। क्या चिन्तन करें? भर्ग (तेज) का, वरणीय भर्ग का चिन्तन करें।

समस्त विश्व का विश्लेषण करने पर अनेक स्तर समूह की प्राप्ति होती है। उसमें ऊर्ध्वलोक है, अधःलोक है। सबकी पृष्ठभूमि में है प्रणव! यह उत्पत्ति बिन्दु तथा शब्द केन्द्र है। अतः भूः भुवः स्वः का तात्पर्य है समस्त लोक अथवा समस्त विश्व। वरणीय भर्ग का तात्पर्य है, जिसे वरण किया जा सके अर्थात् जो शुद्ध है, वह। यह वरणीय अथवा अवरणीय भर्ग किसका है? यह है सविता का! सविता सबको प्रसव करता है। सविता का जो वरेण्य भर्ग है, उसी का हम ध्यान करते हैं। सविता ही परब्रह्म है। ज्योतिस्वरूप है। वह कैसी ज्योति से ज्योतित है? वह सृष्ट्यात्मक सक्रिय ज्योति से ज्योतित है। शब्द से ही सृष्टि होती है। शब्द ही ज्योति है। यह 'शुद्ध' शब्द है। हम शुद्ध शब्द का ही ध्यान करते हैं, यद्यपि अशुद्ध शब्द की भी सत्ता है, जिससे अशुद्ध सृष्टि होती है। 'देवस्य धीमहि' वे देव हैं, द्युतिमान, द्युतिशील, प्रकाशशील ही देव हैं। इस प्रकार के भर्ग देव का हम ध्यान करते हैं। इस मन्त्र से जगत्-सृष्टि का उत्स उद्घाटित होता है। उनकी ज्योति तथा तेज का स्वरूप प्रकाशित होता है। जगत् की सृष्टि जिस शक्ति से हो रही है, उसमें अनन्त वैचित्र्य विद्यमान है, उस अनन्त वैचित्र्य शक्ति में से 'निर्मल' का ही ध्यान किया जाता है।

इसके अनन्तर कहा गया है 'धीयो यो नः प्रचोदयात्'। यही वास्तविक वस्तु है। जिस ज्योति का इतिपूर्व चिन्तन किया गया, यह उसका महाज्योति रूप है। वैदिक साहित्य में 'धी' शब्द द्वारा ज्ञान तथा कर्म का अर्थ प्रकट किया जाता है। अतः धी

शक्ति का तात्पर्य है ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का स्वरूप। 'धीयो यो नः प्रचोदयात्' में नः का अर्थ है अस्माकं। हमारी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति को जो 'प्रेरण' करते हैं, जगाते हैं। इसके अन्तर्गत बल प्राप्त होता है। सम्पूर्ण मन्त्र का तात्पर्य है बल-प्राप्ति। भगवान् की पूर्णशक्ति 'भर्ग' का ध्यान किया जाता है। यह ध्यान अशुद्धि तथा मलिनता के आच्छादन को दूर करता है। इसी कारण वर्च्च का ध्यान करके 'भर्ग' का ध्यान किया जाता है। विश्वसृष्टि में सत्यलोक की सत्ता है और उसकी पृष्ठभूमि में शब्दब्रह्म विद्यमान है। यह शब्द लौकिक शब्द नहीं अपितु सृष्टि शब्द है। बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट में है In begining there was word and the word was with God and the word was God. यह 'word' ही यथार्थ शब्द है। यह क्या करता है? 'धीयो यो नः प्रचोदयात्'। वह ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का वर्द्धन करता है। जिस शक्ति द्वारा अन्तर्निहित सुप्तरूप से वर्त्तमान ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का स्फुटन होता है, वह हमें प्राप्त होती है, वही वरेण्य है। जिस भर्ग से 'भूः भुवः स्वः तत्सवितुः वरेण्यं' सबकुछ सृष्ट होता है, वहीं वरेण्य भर्ग है। जिससे जगत् का ध्वंस होता है, वह वरेण्य भर्ग नहीं है। सविता ही उपादेय भर्ग है। ये ही प्रसव करते हैं। 'प्रचोदयात्' हमारे अन्दर जो सुप्तशक्ति है, उन्हें सविता जगाते हैं। ज्ञानशक्ति द्वारा ज्ञानेन्द्रिय को संचालित करते हैं, क्रियाशक्ति द्वारा कर्म परिचालना करते हैं। इसी कारण वे हमारे निर्देशक हैं। महाभारत में उल्लेख है—'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। यह भी तदनुरूप उक्ति है।

ॐकार ही शब्दब्रह्म है। यह परब्रह्म का बहिःस्फुरण है अर्थात् परब्रह्म जो विश्वातीत, नित्य तथा सच्चिदानन्दरूप हैं, वे सृष्ट्योन्मुख होकर, सर्वप्रथम शब्दब्रह्म का स्फुरण करते हैं। सृष्ट्योन्मुखता का तात्पर्य है—स्वयं बहुःरूप में प्रकाशित होना। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति का ज्ञान आवश्यक है। प्रथम अभिव्यक्ति का ज्ञान आवश्यक है। प्रथम अभिव्यक्ति में इसका स्फुरण अखण्ड महाकाश में महानादरूपी एवं महाज्योतिरूपी सत्ता का भान कराता है। यह स्वतःसिद्ध होने पर भी भगवान् के स्वातंत्र्य से उद्भूत है। बोधातीत श्रीभगवान् शब्दब्रह्म के रूप में बोधरूपता को स्वीकार करते हैं। उस स्थिति में वे 'मैं' रूप से अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं। यही है अखण्ड अहं। इस स्थिति में इसका प्रतिद्वन्द्विरूप द्वितीय 'अहं' नहीं रहता। यह पूर्णाहता की स्थिति है। इसे परावाक् भी कहते हैं। यह परब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है। इसमें पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी रूप सृष्टि का उन्मेष होता है। पश्यन्ति अवस्था स्वयंप्रकाश ज्योतिःस्वरूप है। यह चैतन्य शक्ति है। इस स्थिति में शब्द-बोध स्वरूप होता है। बोध के साथ ही बोध का विषय अभिन्नरूपेण ग्रथित रहता है। इसके पश्चात् मनोराज्य का विकास होता है। तब शब्द की स्थिति मनोमयी हो जाती है। वह पदार्थवाचक रूप में कार्य करता है। यह अन्तराकाश में ध्वनित होता है

और अनन्तानन्त प्रकार के विकल्पों की सृष्टि भी करता है। इसके पश्चात् मनोराज्य से इन्द्रियराज्य का अवतरण होने लगता है। इस शब्द को वैखरी कहते हैं। यह कण्ठ द्वारा उच्चारित होता है। इसमें बाह्यकार्यकारिता रहती है। यह स्थूल शब्द है। ॐकार आदि शब्द का ही नामान्तर है। यह हमसे परिचित वैखरी आदि शब्दों से विलक्षण, मनोवृत्ति से विलक्षण, मनःतीत शुद्धज्योति से पृथक्, सर्वमूल स्पन्द है। समस्त विश्व सृष्टि के आदि में इसका आविर्भाव होने के कारण इसे मांगलिक माना जाता है। वेद, तन्त्र, आगम, निगम आदि सभी में इस शब्द (प्रणव) का मुख्य स्थान है।

आचार्यगण के मतानुसार अनादि तथा अनन्त शब्दब्रह्म अक्षरस्वरूप है। इसी शब्दब्रह्म से विवर्त्तरूप में अनन्त वैचित्र्यरूप, अर्थरूप जगत् का आविर्भाव होता है। अतः आध्यात्मिक साधनाओं में इसी का आश्रय लिया जाता है। प्राणाश्रय लेने पर (प्राण के माध्यम से साधना करने पर) प्राण की प्रशान्त अवस्था का प्राकट्य होता है, तथापि वह चरमलक्ष्य नहीं है। कारण प्राण पर अधिकार हो जाने पर भी मन पर अधिकार नहीं हो पाता। अतः प्राणस्पन्दन निवृत्त होने के पश्चात् मन के सूक्ष्म स्पन्दन की निवृत्ति अवश्य है। यह धारणा त्रुटिपूर्ण है कि प्राण के निरोध के साथ ही मनः स्पन्दन का निरोध हो जाता है। सूक्ष्म विवेचना द्वारा ज्ञात होता है कि प्राणरोध के उपरान्त भी मन के सूक्ष्म स्पन्दन की सत्ता विद्यमान रह जाती है। अतः मनः स्पन्दन का विरोध करना चाहिये, तथापि मनोरोध के उपरान्त भी परमास्थिति का उदय नहीं होता। कारण मन का निरोध हो जाने पर भी वाग्रूपा स्पन्दन शक्ति की स्थिति अक्षुण्ण बनी रहती है। यद्यपि यह अत्यन्त उच्चस्तरीय स्थिति है, तथापि इसका भी निरोध होना चाहिये। अन्यथा शब्दातीत परब्रह्म का सन्धान नहीं मिलता। शब्दातीत परब्रह्म निष्फल एवं निरञ्जन है। वह कला, तत्त्व तथा भुवन से अतीत है। अथवा, वह सर्वकलारूप, समस्त तत्त्वरूप है तथा निखिल भुवनों में उसका ही आत्मप्रकाश हो रहा है। शब्दाश्रय से ही इस स्थिति का उदय हो सकता है।

ॐकार साधना शब्द साधना का ही रूपान्तर है। ॐकार के सभी अवयवों का परिचय प्राप्त करना चाहिये। तदनन्तर इन सभी अवयवों का अतिक्रमण भी आवश्यक है। पूर्व अवयव का अतिक्रमण किये बिना परवर्त्ती अवयव का भान नहीं होता। प्रत्येक अवयव के साथ उसके अनुरूप अखण्ड महासत्ता का निगूढ़ सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष होता है। ॐकार के अवयवों का अतिक्रमण करने का अर्थ है, विश्वातिक्रमण। तभी शब्दब्रह्म भेद सम्भव होगा। प्रथम अवयव है अकार, द्वितीय उकार, तृतीय मकार। इन तीनों का भेदन करना होता है। ये क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति जगत् के रूप हैं। इन तीनों का अतिक्रमण करने पर 'तुरीय' नामक चतुर्थावस्था का अनुभव होता है। यही अवस्था उपासना शास्त्रों में 'बिन्दु' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

मन के साथ काल का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है। काल की मात्रा जितनी ही सूक्ष्म होगी, उसी परिमाण में मन भी सूक्ष्म होगा। अतः काल की मात्रा अतिक्रान्त होते ही मन भी लब्धित होता है और अतिमानस अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। काल की मात्रा के अनुपात से मन के साथ विशुद्ध चैतन्य का सम्बन्ध घटित होता है। मायाराज्य में काल की मात्रा जिस परिमाण में अनुभूत होती है, मायातीत योगमाया राज्य में काल की मात्रा उतने परिमाण में प्राप्त नहीं होती। वह अति सूक्ष्म मात्रा में अनुभूत होती है। योगमाया राज्य के ऊर्ध्व में कालचक्र का भेदन हो जाता है। अब माया की मात्रा का प्रश्न की नहीं उठता। इस स्थिति में मनः से अतीत, शुद्ध मायातीत विशुद्ध चिदात्मक परमार्थ सत्य का प्रकाशन होता है। बिन्दु एवं अर्धमात्रा ही ईश्वरीय भूमि है। इस भूमि में भी अनेक अवान्तर विभाग हैं, इनके लिए अर्धमात्रा ही ईश्वरीय भूमि है। इस भूमि में जो अनेक अवान्तर विभाग हैं, उनके लिए अर्धमात्रा संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में उपनीत योगी की दृष्टि में समस्त विश्व अपरोक्ष रूप से प्रतिभात होता है एवं सर्वकर्तृत्व शक्ति भी उनके लिए अव्याहत-सी रहती है। यही शास्त्रोक्त अर्धमात्रा राज्य है। अतीत, अनागत तथा वर्तमान का त्रिकालभेद यहाँ नहीं रहता। यहाँ नित्य वर्तमान अवस्था विद्यमान रहती है, तथापि इसे भी पूर्णत्व नहीं कहा जा सकता। यह ईश्वर भाव का विकास-मात्र है। सिद्ध पुरुषगण इसी भूमि में संचरण करते हैं।

जिस मायिक जगत् की व्यवस्था को शास्त्र में जगत्व्यापार कहा जाता है, वह अर्धमात्रा स्थिति से ही निष्पन्न एवं व्यवस्थित होती है। इस मायिक जगत् में बहिर्मुख भाव रहता है। 'अर्ध मात्रा स्थिता नित्या' रूप से देवी का स्तवन दुर्गासप्तशती में किया गया है, अतएव अर्धमात्रा स्थिति शक्ति ही समस्त मायिक जगत् की व्यवस्था करती है। बिन्दु के पश्चात् नादभूमि में काल की मात्रा और भी न्यून है। नादभूमि में समस्त विश्व का उदय अन्तरङ्ग रूप से होता है। यह अवस्था वह अवस्था है, जिसमें प्रेम का उदय सम्भव है। बिन्दु भूमि में संचरण अत्यन्त कठिन है। इस संचारण में निरोधिका शक्ति प्रतिबन्धक है। इस कारण सिद्धगण द्वारा भी यदि महाशक्ति का साक्षात् आदेश प्राप्त किये बिना बिन्दु से नादभूमि में प्रवेश सम्भव होता, उस अवस्था में समग्र मायिक जगत् में विशृंङ्खला उत्पन्न हो जाती। कारण, बिन्दुस्थित भगवत् शक्ति द्वारा अधिष्ठित सिद्धगण ही मायिक जगत् की सृष्टि स्थिति प्रभृति व्यापार को सम्पादित करते हैं। नादभूमि में काल का स्पर्श न्यूनातिन्यून अथच है। नाद के अन्तिम छोर पर नादान्त नामक एक अवान्तर स्तर भी है। इसे हम ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। इसका भेदन कर सकने पर भावात्मक सत्ता अतिक्रान्त हो जाती है और तब सभी व्यष्टि एवं समष्टि सत्ता भी अतिक्रान्त हो जाती है। अब अभावरूप महाशून्य का आविर्भाव होता है। महाशून्य भेद अत्यन्त कठिन है।

भूः भुवः स्वः को व्याहृतित्रय कहा गया है। जो महाव्याहृति है, वही क्षुद्र व्याहृति भी है। यह है खण्ड व्याहृति। सप्तव्याहृति है यथा भूः भुवः स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य। स्वः के दो भाग है—एक है अशुद्ध भाव तथा एक है शुद्धभाव। अशुद्धभाव है स्वर्ग। इन्द्रलोक प्रभृति अशुद्ध स्वः है। यद्यपि यह भी आनन्दमय है, तथापि भोग स्थान होने के कारण अशुद्ध है। जो पुण्यवान हैं वे इसमें स्थान प्राप्त करते हैं। इसमें अज्ञान का बीज विद्यमान है। कर्मबीज है, तभी इसमें कर्मानुरूप स्थान मिलता है। शुद्धस्वर्ग ऊर्ध्वलोक है।

इसका एक दिक् और है, जहाँ अज्ञान रहने पर भी ज्ञानसम्बन्ध वर्त्तमान रहता है। ज्ञान के क्रम-विकास के अनुरूप महः, जनः, तपः एवं सत्य की सत्ता है। सप्त व्याहृति मे ज्ञान का प्रचण्ड प्राबल्य विद्यमान रहता है। इसमें बिन्दुमात्र ही कर्म एवं अज्ञान का लेश रह जाता है। इसे साधारण भाषा में ब्रह्मलोक कहते हैं। जब कर्म एवं अज्ञान लेशमात्र अवशिष्ट नहीं रहता, तब प्राणी लोक संस्थान के परे हो जाता है। लोक संस्थान की सत्ता विगलित हो जाने के उपरान्त विचित्र स्थिति हो जाती है। लोकसंस्थान की सत्ता कर्मजनित है। कर्म अवशिष्ट न रहने पर लोकसमूह भी नहीं रह जाते। कारण समस्त लोकों की सत्ता सुखभोग अथवा दुःखयोग के लिए है, अथवा सुख-दुःख की मिश्रावस्था के भोग के लिए है।

विशुद्ध ज्ञानोदय होने के उपरान्त तथा सुख-दुःख के अतीत होने के उपरान्त जो आनन्दभोग होता है, वह कर्मफलजनित नहीं है। वह आनन्द है स्वरूपानन्द। आत्मा के स्वरूपस्थितिजनित आनन्द को ब्रह्मानन्द भी कहते हैं। यह किसी भी भोग के अन्तर्गत नहीं है। इसी कारण हम ब्रह्मलोक को कभी पुनरावर्तन रहित, आगम अपायशील पाते हैं, तो कभी ब्रह्मलोक को पुनरावर्तनशील भी पाते हैं। पुराणों में अनेक कथायें ऐसी भी हैं जिनमें ब्रह्मलोक से वापस लौटने का तथा नर-देह में जन्म लेने का उल्लेख है। ऊर्ध्व एवं अधःरूप से ब्रह्मलोक का भी दो विभाग परिलक्षित होता है। कर्म एवं अविद्या का लवलेश मात्र भी समाप्त हो जाने पर स्वरूप स्थिति होती है। यहाँ पुनरागमन का बीज शेष नहीं रहता। इतने पर भी कभी यह बीजशेष रह भी सकता है। क्योंकि यहाँ (ब्रह्मलोक) वह कट भी सकता है। बीज कट जाने पर परब्रह्म में स्थिति हो जाती हैं अब पुनरावर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहती। हिरण्यगर्भ अथवा कार्यब्रह्म के साथ की युक्तावस्था में भी अनेक स्तर विद्यमान हैं। जो इस स्तर में जहाँ तक उन्नीत होता है, वह वही उपासना करता और आनन्द प्राप्त करता है। वे सभी ज्ञानी हैं, तथापि ज्ञान होने पर भी सम्यक्ज्ञान हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

सम्यक्ज्ञान कब और कैसे होता है? जिन्हें हिरण्यगर्भ कहा गया, वे जब कार्यभार त्याग करके कारणस्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं, तभी यह अवस्था प्राप्त होती है। इस समस्त ब्रह्मलोक हिरण्यगर्भ के साथ अभिन्नतया स्थित हो जाता है, अर्थात्

इस समय हिरण्यगर्भ के साथ जितने भी ज्ञानीजन पार्षद के रूप में थे, वे सभी मुक्त होकर परम गति प्राप्त करते हैं। जब हम सप्तलोक की विवेचना करते हैं, तब हम उसके अधः, ऊर्ध्व एवं मध्य लोकरूप तीन विभाग प्रत्यक्ष करते हैं। मध्यलोक 'भूः' है। यह विश्व का केन्द्र भी है। मध्यलोक का आश्रय लेकर अनेक लोकों की सत्ता सत्तान्वित रहती है। कामरूप संहिता में वर्णित है इसका आश्रय लेकर, अनेक ऊर्ध्वलोक भी विद्यमान हैं। अधोलोक का तात्पर्य है पाताल की संख्या असंख्य है अनन्त की सृष्टि में सब कुछ अनन्त है, तथापि मूलरूप से पाताल, तल, वितल, रसातल इत्यादि सप्त पाताल कहे जाते हैं। पाताल का अधोदेश है नरक। नरक के भी तीन विभाग हैं। इन तीन भागों को पुनः 32 भागों में विभक्त किया गया है। तदनन्तर इन 32 के भी असंख्य विभाग हैं। इन असंख्य नरकसमूह के नीचे नरक की चरम अवस्था अवीचि स्थित है, जो अन्धतमसाच्छन्न है। सूर्य की किरण अन्तरिक्ष में प्रवेश करती है, भूलोक में प्रवेश करती है तथा पाताल में भी प्रवेश करती है। पाताल में अपेक्षाकृत न्यूनता से प्रवेश करती है, किन्तु अवीचि में सूर्यकिरण का सन्धान भी प्राप्त नहीं होता। अतएव 'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः' कहा गया है। 'वीचि' शब्द का अर्थ है तरंग और अवीचि का तात्पर्य है जहाँ तरंग ही नहीं है। ऐसे अन्धकार से, स्पन्दनहीनता से अवीचि आवृत्त है। सृष्टि का स्पन्द वहाँ परिज्ञात ही नहीं होता। यहाँ ज्ञान का पूर्ण अप्रकाश है। उससे भी नीचे की अवस्था का नाम है 'काल'। जिस काल से सृष्टि होती है, वही काल वहाँ स्थित है। कालाग्निरुद्ररूप का स्थान यही है। इसके अतिरिक्त विश्व है ही नहीं। यही विश्व का शेषस्थान है।

ऊर्ध्वदिक् में भूः, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य लोक की सत्ता है। सत्यलोक के भी अनेक विभाग हैं तथा ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक। जैसे मस्तक के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है, वैसे ही ब्रह्माण्ड का ब्रह्मरन्ध्र जहाँ भेदित होता है, वहाँ से इस ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। उसके अधिष्ठाता वीरभद्र हैं, जो चतुर्दिक् रुद्रगणों द्वारा परिवेष्ठित हैं। चतुर्दिक् का अर्थ है आठ दिशायें। चारों दिशायें तथा उनके चार कोण का योग अष्टदिशा होता है। इसी प्रकार दशदिक् का अर्थ है आठ दिशायेंःऊर्ध्व+अधः=10 दिशायें। दश दिशा ही दशरुद्र हैं तथा एकादश हैं इनके मूल रुद्र। इन एक रुद्र के सौ अनुचर हैं। अतः इन्हें शतरुद्र कहा जाता है। यह अधिष्ठाता रुद्र सबके ऊपर स्थित हैं। 'स्वः' दो प्रकार का होता है। एक 'स्व' है स्वर्ग। इस स्वर्ग से पुनरागमन होता है। पुनः नर-देह में वापस आना पड़ता है। पुण्यफल शेष हो जाने पर क्षीण पुण्यावस्था में इस नर-देह में जन्म होता है। अतः उक्त है 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य क्षीण हो जाने पर मनुष्य यहाँ की स्थिति प्राप्त करता है। जिसने जिस प्रकार का कर्म किया है, वह उस कर्मजनित

पुण्य के तारतम्य से, पुण्य के प्रकृति भेद के अनुसार किसी स्वर्ग में स्थान प्राप्त करता है। जिसने जिस प्रकार का कर्म किया है, वह उस कर्मजनित पुण्य के तारतम्य से, पुण्य के प्रकृति भेद के अनुसार वैसी स्वर्ग स्थिति प्राप्त करता है।

जिसने जिस प्रकार का कर्म किया है, वह उस कर्मजनित पुण्य के तारतम्य से, पुण्य के प्रकृति भेद के अनुसार किसी स्वर्ग में स्थान प्राप्त करता है। यह पुण्य के प्राबल्य के अनुसार निर्दिष्ट होता है। उत्कट पुण्य के फल का भोग इस नर-देह में होना सम्भव नहीं है। कारण अत्यन्त तीव्र आनन्द का, गाढ़ आनन्द का भोग इस शरीर में सम्भव नहीं है। उस स्थिति में तक्षण मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार उत्कट पाप का फल-भोग भी नर-देह में सम्भव नहीं है। कारण, उत्कट पापजनित प्रचण्डतर यन्त्रणा का भोग नर-देह से सम्भव नहीं है। इस स्थिति में भी मृत्यु घटित हो जाती है। उत्कट पुण्य फल-भोग का स्थान है। स्वर्ग। पुण्य का फल जितना अधिक उत्कट होगा, प्राणी को उतना ही ऊर्ध्वलोक प्राप्त होगा। इसी प्रकार पाप के उत्कट तारतम्य के अनुसार नरक का भी तारतम्य होता है।

कर्मभूमि की स्थिति मध्य में है। चतुर्दिक् भोगभूमि की सत्ता है। पाप तथा पुण्य के फल का भोग करना ही होगा। मिश्र कर्म का फल है देहधारण। मातृगर्भ में प्रवेश करके जन्म लेकर पुनः कर्मभूमि में कार्य करना ही होगा। ज्ञान तथा कर्म का मिश्रण होने पर ऊर्ध्व गति प्राप्त होती है। ज्ञान के उत्तरोन्तर क्रम-विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर ऊर्ध्वोस्तर प्राप्त होने लगता है। जब अज्ञान एवं खण्ड ज्ञान का लेशमात्र भी नहीं रहेगा, उस अवस्था में विशुद्ध ज्ञानोदय के साथ-साथ लोकसंस्थान के परे गति होती है। वहाँ किसी भी लोक की सत्ता नहीं है। यहाँ जिस गति की विवेचना की गयी है—वह दो प्रकार की गति होती है—प्रथम है शुक्ल गति तथा द्वितीय है कृष्ण गति। हमारे शास्त्रों में देवयान एवं पितृयान रूप द्विविधगति की पर्यालोचना की गयी है। पितृयान गति चन्द्रलोक पर्यन्त की धारा है। चन्द्रलोक पर्यन्त अर्थात् स्वर्ग-नरकादि पर्यन्त। कर्मफल की सत्ता जहाँ भी है, वहीं चन्द्राधिष्ठित क्षेत्र है। चन्द्र पर आधारित उपादान से ही देह का गठन होता है। प्रेतलोक मध्य अवस्था है। पितृलोक से तात्पर्य है पितृलोक के अन्तर्गत स्वर्गादि। पितृलोक भी द्विविध है। प्रथम है अग्निष्वात्त आदि नित्य पितृलोक। तर्पण के समय जिनका उल्लेख करके जलदान दिया जाता है वे नित्य पितर हैं। दूसरा है नैमित्तिक पितृलोक। यह हमारे पूर्वपुरुष आदि का स्थान है।

देवताओं में दो प्रकार के देवता होते हैं। प्रथम है कर्म देवता, द्वितीय को आजान देवता कहा गया है। कर्म देवतागण पूर्व जन्मार्जित कर्म के फलस्वरूप देवपद की प्राप्ति कर सके हैं। उस कर्म के फल से उन्हें देवपद का लाभ हुआ है, तथापि कर्मफल के क्षय हो जाने पर उनका देवाधिकार समाप्त हो जाता है। अजान देवताओं का आविर्भाव

ही देवरूप में हुआ है। उनकी देवतारूप में ही आदिकाल से स्थिति है। उनका जन्म अयोनिज जन्म है। स्थूल भाव से इनके जन्म में भी मातृशक्ति तथा पितृशक्ति ही कारण है, किन्तु स्थूल भावापन्न रजवीर्य का यहाँ संयोग नहीं होता। देवताओं का भी जन्म होता है। अनेक देवताओं का जन्म स्मृति द्वारा भी हुआ है। वे नित्य यौवन-सम्पन्न होते हैं। कभी-कभी देवताओं का जन्म स्मृति द्वारा भी हुआ है और कभी वे पुष्प द्वारा भी जन्मे हैं। कबीर साहब का जन्म कमल-पुष्प से हुआ था। राधिका को भी कमलिनी कहा जाता है। इन देवताओं की देह शुद्धदेह होती है। साधारण प्राणी की देह शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसका जन्म कामनाजनित है। पिता-माता में पारस्परिक कामबुद्धि न होने से देह का गठन ही नहीं हो सकता। ईसाई धर्म में इसे Original Sin कहा गया है। कोई व्यक्ति कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह मातृगर्भ में अज्ञान से आच्छादित रूप में जन्मा है, अतएव वह Sinful (पापयुक्त) है। हम मातृगर्भ से उत्पन्न होने के कारण मूलतः अज्ञानी हैं। अज्ञान के अभाव में, अज्ञानाच्छादन के बिना जगत् में आना सम्भव ही नहीं है। अज्ञान के हटते ही जगत् में शरीर स्थिर नहीं रहता। यह एग्ह तथा हमारे शास्त्र में वर्णित पाप समानार्थक नहीं है। यह एग्ह मूल पाप है, जब कि शास्त्रों में वर्णित पाप आगन्तुक पाप है।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक आवरण का घेरा है। प्रत्येक ब्रह्माण्डस्थ जीव भिन्न है। जो नित्ययुक्त जीव हैं, वे ब्रह्माण्डावरण से आबद्ध नहीं हैं। वे शिवभावापन्न होते हैं। शिव का अर्थ है शिव के अन्तर्गत अनन्त देहसमूह। राम का तात्पर्य है राम के अन्तर्गत अनन्त देवसमूह। वे किसी ब्रह्माण्डादि अण्ड के वासी नहीं हैं। यह एक प्रकार की अत्यन्त उच्च अवस्था है तथापि कला के अन्तर्गत है। इस स्थिति से परे की स्थिति में कला भी नहीं रह जाती। मन भी नहीं, कोई वैचित्र्य भी नहीं, तथापि एक अखण्ड अनन्त सत्ता दण्डायमान है। यही परमेश्वर का स्वरूप है। यह सृष्टि के अतीत की स्थिति है।

●

योग-यात्रा

कर्मी क्या देखता है? ज्ञानी क्या देखता है? भक्त क्या देखता है? एक अथवा स्वयं क्या देखता है? कर्मी विषय को नहीं देखता। वह शक्ति की क्रीड़ा को देखता है। सर्वत्र शक्ति की ही क्रीड़ा है। जहाँ जगत्गत प्राणी रूप-रसादि की क्रीड़ा को देखते हैं, कर्मी प्रकृति राज्य में शक्ति की क्रीड़ा प्रत्यक्ष करता रहता है।

ज्ञानी शक्ति की क्रीड़ा नहीं देखता। वह देखता है कि सर्वत्र एक सत्ता प्रकाशमय भाव से स्थित है। आत्मा ही सर्वत्र विराजित है। भीतर-बाहर एक है। यहाँ क्रीड़ा नहीं है। सबकुछ निष्क्रिय एवं स्थिर है। जो कुछ क्रीड़ा है भी, वह मिथ्या है और प्रकृति का जाल-मात्र है। एक छाया-मात्र है। ज्ञान की पूर्णावस्था में प्रकृतिगत क्रीड़ा भी दृष्टि नहीं होती।

भक्त देखता है सर्वत्र लीलामय भगवान् विराजित हैं। शक्ति के अतीत क्षेत्र में भी क्रीड़ा चल रही है। वह प्रकृति की क्रीड़ा नहीं है। लीलामय की लीला है। यह सब अप्राकृत है। लीलामय की इच्छा ही अनन्त वैचित्र्य के रूप में विलसित हो रही है। यही नित्यलीला है।

तदनन्तर जो है वह अत्यन्त गुह्य है। वह है आत्माराम की कथा—स्वयं की कथा, एक की कथा। वह स्वयं को स्वयं ही देखता है। दूसरा है कहाँ? एक वही सबकुछ के रूप में विराजमान है। सारा प्रसार करके भी वह एक ही है।

कर्मी की स्थिति आज्ञाचक्र में है। उसका मन एकाग्र है। इस स्थिति में ज्ञान प्रकाशित होता है। यह स्थिति षट्चक्र भावानान्तर्गत तृतीय नेत्र है। ज्ञानी की स्थिति परमज्योति में होती है। सहस्रार ही चिदाकाश है। भक्त की स्थिति होती है सहस्रदल कमल में। वहाँ वह रसपान, अमृतधारा पान करता रहता है।

एक का अर्थ है ब्रह्मरन्ध्र, तदनन्तर अव्यक्त है, अर्थात् स्वयं है।

कर्मी की क्रिया क्या है? कर्मी की क्रिया है शक्ति की क्रीड़ा देखना। ज्ञानी ज्ञान को देखता है। भक्त भगवान् की इच्छा को देखता रहता है।

प्रथमतः मन द्वारा साधना होती है। मन प्राणमय कोष में विकास प्राप्त करता है। प्राणमय कोष उत्स है। उससे मन का स्फुरण होता है। स्फुरण होने से ही उसमें सत्त्वगुण का संचार नहीं हो जाता। वस्तुतः विज्ञानमय कोष उन्मोचित होने पर सत्त्वगुण का संचार होता है। सत्त्वगुण का संचार होने पर भी केन्द्र प्राप्त नहीं होता। केन्द्र की स्थिति आनन्दमय कोष में होती है। आनन्दमय कोष में जीव की पूर्णगति

होती है। इतने उन्नयन का भागी बनने पर भी वह जीव ही रहता है। यद्यपि आनन्दमय कोष में वह मुक्त हो जाता है, तथापि वह परमेश्वर की धारा में प्रवेश नहीं कर सकता। आनन्दमय कोष में जो जीवभाव रहता है, वह प्राकृत जीवभाव नहीं है। अपेक्षाकृत शुद्ध एवं निर्मल जीवभाव है। इस स्थिति में वह देह से मुक्त हो जाता है। विज्ञानमय कोष खुलने से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। आनन्दमय कोष जीवन्मुक्तावस्था है। मनोमय कोष से कर्म-संस्कार प्रारम्भ हो जाते हैं। प्राणमय कोष में कर्म-संस्कार नहीं होते। यह सब प्राचीन साधना का सार है।

दैवी, ऐश्वरीय शक्ति को अप्राकृत शक्ति कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि कोई भी जीव ईश्वर की कृपा से अप्राकृत शक्ति प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी भगवान् किसी जीव को ऐश्वरीय कार्य करने के लिए, संसार का कुछ कार्य करने के लिए, अप्राकृत शक्ति प्रदान कर देते हैं। इसके दो आयाम हैं। प्रथमतः जो जीव कार्य कर रहा है, उसे यह ज्ञान है। द्वितीयतः जो जीव कार्य कर रहा है, उसे ज्ञात नहीं है। यह दोनों स्थिति पंचकोष-भेदन से प्राप्त अवस्था से भिन्न है। जो कार्य कर रहा है उसे यह ज्ञात नहीं है कि वह क्या कर रहा है, अथच उसमें उच्चस्तरीय सत्ता की शक्ति है और वह साधारण जीवस्तर में ही रह कर कार्यरत है। वह स्वयं नहीं समझ सकता, परन्तु जो उसे जानता है ऐसे अन्तर्दृष्टि सम्पन्न के सम्मुख उसकी उच्चस्तरीय स्थिति स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय अवस्था में जीव यह जानता है कि कहाँ से प्रेरित होकर किसकी शक्ति से वह कार्य कर रहा है। प्रथम स्थिति के अधिमानस का तात्पर्य है आवरणयुक्तता। यह साधारण मन नहीं है। भगवान् द्वारा प्रदत्त मन है, तथापि जीव को ज्ञात नहीं है कि उसने क्या पाया है। जब वह यह जान जाता है कि उसे भगवान् द्वारा मन एवं शक्ति प्रदत्त है। (द्वितीय अवस्था) तब वह अतिमानस रूप हो जाता है। वस्तुतः अतिमानस मन नहीं है। मन का कार्य होता है, अथच मन नहीं है। यह दैवी शक्ति है। मनुष्य के माध्यम से देवी शक्ति कार्य कर रही है।

पंचकोषों की स्थिति में जो कार्य किया जाता है वह अधिमानस या अतिमानस का कर्म नहीं है। सामान्य मन को प्राकृतिक क्रम-विकास द्वारा पंचमहाभूत से युक्त करने से अन्नमय कोष बनता है जो रूपान्तरित होकर प्राणमय और मनोमय कोष को गठित करता है। तदनन्तर विज्ञानमय कोष में ज्ञान की विकासावस्था प्राप्त होती है, तथापि प्रकृत मुक्ति नहीं मिलती। आनन्दमय कोष में मुक्ति मिलती है, तथापि ईश्वरत्व नहीं आता। अतः प्राणी मुक्त जीव कहलाता है, अर्थात् वह उच्चस्तरीय जीव ही रह जाता है। देह-त्याग के साथ वह अखण्ड चैतन्य में लीन हो जाता है। अधिमानस तथा अतिमानस में ऐसा नहीं होता। ये दोनों स्थितियाँ सांसारिक हैं ही नहीं। ये दोनों कार्यविशेष के लिए जगत् में आये हैं। अतिमानस तो साक्षात् ईश्वरीय शक्ति- युक्त स्थिति है।

●

जपाध्यान समन्वय

अध्यात्म साधना में जप एवं ध्यान की प्रधानता है। जप रहस्य के ज्ञान के पूर्व शब्द तत्त्व तथा वाक् तत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। शब्द अथवा वाक् चतुर्विध कहे जाते हैं। परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा बैखरी। परावाक् शब्दब्रह्म का स्वरूप है। वह परमशिव से अभिन्न है। इसकी बाह्य स्फूर्ति तीन प्रकार की है। प्रथम पश्यन्ति, द्वितीय मध्यमा और तृतीय वैखरीरूप स्फूर्ति। विश्व का विश्लेषण करने पर विभाग का ज्ञान होता है। यह योगीगण को भी मान्य है। प्रथम है शब्द, द्वितीय अर्थ और तृतीय ज्ञान। अर्थ का तात्पर्य है पदार्थ। शब्द उसका वाचक है, अर्थ शब्द का वाच्य है। अतएव इनमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञान और अर्थ का भी सम्बन्ध है। अर्थ विषय है। ज्ञान विषयी है। अतः इनका विषय-विषयी सम्बन्ध सुस्पष्ट हो जाता है। इसी कारण शब्द-अर्थ और ज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध भी है। शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध तथा ज्ञान-अर्थ का बोध्य-बोधक सम्बन्ध। वैखरी अवस्था में शब्द और अर्थ पारस्परिक रूप से भिन्न है। शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य वस्तु है। दोनों में भेद है। मध्यमा अवस्था में शब्द-अर्थ में भेदाभेद सम्बन्ध है। पश्यन्ति अवस्था में शब्द और अर्थ एक ही वस्तु हो जाने से दोनों का अभेद सम्बन्ध है। पश्यन्ति अवस्था में शब्द; अर्थ तथा ज्ञान का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। जो जीव पश्यन्ति अवस्था पर्यन्त विकास प्राप्त करते हैं, उनका जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु दीक्षाकाल में पश्यन्ति अवस्था में दिव्य चैतन्य का आहरण कल्पना में करते हैं और ब्राह्य वायुमण्डल में वैखरी शब्द से उसका योग कराकर शिष्य को नाम अथवा मन्त्र बीज का दान करते हैं। गुरु जिस नाम अथवा मन्त्र बीज का दान करते हैं, वह पूर्णतः चैतन्यात्मक है,तथापि स्थूल शब्दावरण द्वारा उस चैतन्य को आवरित करके गुप्त रूप से शिष्य को देते हैं। शिष्य इस शब्द को देवतारूप मानकर ग्रहण करता है। वह गुरु के पास जो प्राप्त करता है, वह एक स्थूल शब्द ही है। गुरु के आदेश के अनुसार शिष्य इस शब्द का अवलम्बन करते हुए साधना-यात्रा प्रारम्भ कर देता है। साधना का उद्देश्य है इसके स्थूल एवं बाह्य आवरण को काट फेंकना। इसके लिए ध्यान एवं जप की आवश्यकता होती है। जपादि के प्रभाव से यह आवरण छिन्न हो जाता है। अब आन्तरिक सारवस्तु का प्रकाश प्राप्त होने लगता है। यह सारवस्तु ज्योतिः-स्वरूप है। इसी समय चित्त में भी ज्योतिर्मयता आ जाती है। यह ज्योति इष्टदेवता के आभासरूप में प्रकाशित होती है,

जिससे हृदय भी आलोकित हो उठता है। इसका नामान्तर है चित्तशुद्धि। यहीं ज्ञान का उदय होता है। नाद प्रभाव से चित्त की बहुर्मुखी वृत्ति रुद्ध होती है और अन्तर्मुखी गति खुल जाती है। श्वास क्रिया शान्त होने लगती है। तदनन्तर स्निग्ध ज्योति स्वाभाविक वेग से अन्तर्मुख होकर ऊर्ध्व-दिशा की ओर आरोहण करने लगती है। इस अवस्था में भौतिक जगत् का अनुभव नहीं होता। अशुद्ध मन के संस्कारों की क्रीड़ा भी समाप्त हो जाती है। यह ज्योति क्रमशः निर्मल होकर समस्त अन्तर को प्रकाशित करती है। जैसे उषाकाल में रात्रिकालीन अन्धकार कट जाता है, यहाँ भी वैसी ही स्थिति जाननी चाहिये। अन्धकार के उस पार इष्टदेवता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। यह पश्यन्ति अवस्था की स्थिति है। गुरुदत्त मन्त्र का यही वास्तविक स्वरूप है। यह आत्म-साक्षात्कार का पूर्वाभास है।

वैदिक साहित्य में जिसे शब्दब्रह्म कहते हैं, तन्त्र साहित्य में वह परावाक् है। शब्दब्रह्म के गर्भ में विश्व अव्यक्ततया प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टिकाल में परावाक् से बहिर्मुखी गति का प्रारम्भ होता है। परावाक् भगवान् की स्वातन्त्र्य-शक्ति है। इसी का नामान्तर है चित्तशक्ति। भगवान् ही शिव एवं शक्ति, उभयरूप हैं। शिवरूप से वे शान्त, निःस्पन्द अक्षय तथा अव्यय हैं। वे शक्तिरूप से समस्त कर्मों का विभाग करते हैं। शिव के साथ शक्ति संयोग के कारण आत्मा स्वयं को पूर्ण अहंरूप में पहचानता है। पूर्ण अहंभाव परमात्मा का परमस्वरूप है। इसमें आवरण तथा जीव जगत् की कोई भी सत्ता नहीं है। इसी पूर्ण अहं में संकोच के कारण आवरण की सृष्टि होती है। यही स्वरूपावरण है। इस स्वरूपावरण के ऊर्ध्व में अनावृत स्वरूप की सत्ता स्थित रहती है। आवरण भी लीला ही है। इस आवरण के साथ ही दो प्रक्रिया और घटित होती है। प्रथम है स्वरूप विस्मृति और द्वितीय है किसी अन्य स्वरूप को (देहादि) अपना स्वरूप मान लेना। वेदान्त में इसे लय तथा विक्षेप कहा जाता है। तमोगुणी क्रिया लय का कारण है। रजोगुणी क्रिया ही विक्षेप का उदय कराती है। आत्मस्वरूपावरण के साथ ही एक ओर महाशून्य का उदय होता है। दूसरी ओर परिच्छिन्नप्रमाता का उदय हो जाता है। इसे मायाप्रमाता कहते हैं। यही चित्त है। इसे वेदान्तीगण जीव कहते हैं और तन्त्रवादियों की दृष्टि में यही पशु है। शुद्ध द्रष्टारूपी मायिक प्रमाता ही जीवात्मा है। द्रष्टा के सम्मुख जिस महाशून्य का उदय होता है, पण्डितगण उसे आकाश कहते हैं। आकाश में शून्य ही शून्य है। वहाँ किसी भी दृश्य की सत्ता नहीं है। इसी शून्य में जीवरूप द्रष्टा का दृश्यरूप में उदय होता है। शून्य तथा द्रष्टा का सम्बन्ध ही दृष्टि है। इस दृश्य को दृष्टि द्वारा द्रष्टा देखता है और अपना लेता है। तदनन्तर संवित् अपना आत्मप्रकाश प्राणरूप में करती है। अब द्रष्टा इस महाशून्य में असंख्य दृश्य देखने लगता है। यह समस्त दृश्य प्रत्येक क्षण में चलनशील हैं। यह अनादि अविद्या की विपेक्षात्मक शक्तियुक्त प्रक्रिया कही जाती है। संवित् में प्राणाविर्भाव के साथ-साथ

द्रष्टा इस समस्त दृश्य में से किसी एक को अपना लेता है। अब द्रष्टा की दृष्टि शुद्ध नहीं रह जाती। वह देहात्मबोध युक्त हो जाता है। (क्योंकि उसने जिस दृश्य को अपनाया था, वह देह था) यह देह स्थूलदेह नहीं है। यह है आत्मा का प्राक्तन कर्मजनित संस्कारज उत्थान। इस देह को लेकर आत्मा स्थूल जगत् में आने के मार्ग का अन्वेषण करता है। इस अन्वेषण के फलस्वरूप वह कर्मशक्ति के प्रभाव से माता-पिता संसर्गजनित मातृगर्भ में प्रवेश करता है। मातृगर्भ में मातृका शक्ति देह-रचना करती है। देह परिपुष्ट होता है। देह की रचना पूर्ण हो जाने पर वैष्णवी माया गर्भस्थ देह को मातृ योनि से बहिर्गत करती है। यह है प्रसव। इस प्रकार जीव काल-राज्य में प्रविष्ट होता है।

काल-राज्य से उत्तीर्ण होने के लिए स्व-स्वरूप ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जिसका ज्ञान जिस स्तर तक परिपूर्ण है, वह उतनी दूर तक गतिशील हो सकता है। अतएव पूर्ण अद्वय स्वरूप में स्थिति-लाभ के लिए पूर्ण स्वरूप ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक के आत्मस्वरूप में वह सत्ता विराजित है, परन्तु उसका ज्ञान न होने के कारण प्रगति नहीं होती। पूर्ण आत्मस्वरूप का नाम है परमात्मा। प्रत्येक प्राणी में व्यक्तिगत स्तर पर पारस्परिक विभिन्नता है, किन्तु आत्मस्वरूप में कोई भेद नहीं है। आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाह्य आवरण का भेद करके अन्तःप्रविष्ट होकर अपने मूल-स्वरूप का अन्वेषण करना होगा। देव-देवी का स्वरूप, ज्योति का रूप आत्मस्वरूप नहीं होता। आत्मस्वरूप का अर्थ है स्वयं का अहं। प्रत्येक प्राणी महामाया में डूबकर निजस्वरूप को भूल गया है। माया से त्राण तथा महामाया का अतिक्रमण करना आवश्यक है। त्रिगुणात्मक प्रकृति राज्य में विवेक ज्ञान द्वारा चिद्रूप में कैवल्य स्थापना की जा सकती है तथापि वह वास्तविक आत्मलाभ नहीं है। यद्यपि इससे प्राकृत देह से मुक्ति मिलती है और दृढ़ कर्म-संस्कार भी उच्छिन्न हो जाता है, अधोलोकों में पुनरेव जन्म नहीं लेना पड़ता, तथापि यह पूर्णत्व नहीं है। कारागार से मुक्त होने मात्र से राजगद्दी का लाभ नहीं हो जाता। इसके लिए राजकीय शक्ति सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। कैवल्य प्राप्त मुक्त पुरुष को यह अधिकार नहीं मिलता। अतएव वास्तविक आत्मप्राप्ति के लिए कैवल्य ज्ञान से अधिक ज्ञान की आवश्यकता है। आत्मा का परमस्वरूप परमेश्वर से अभिन्न है। मात्र दुःख-निवृत्ति द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए दिव्य ज्ञान आवश्यक है। इसका नाम है शुद्ध विद्या। इसे श्रीभगवान् से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त उच्चातिउच्च अधिकार की प्राप्ति होती है। इसमें प्रारम्भ में सद्गुरु की कृपा भी आवश्यक है। श्रीभगवान् जब यह देखते हैं कि जीव का अनादि संसार हेतुस्वरूप अविद्यामय परिपक्व हो गया है, तब महाकरुणा के कारण उसे शुद्ध विद्या का दान करते हैं। इसके परिणामस्वरूप वह महामाया राज्य में प्रवेश करता है और

अधिकारी पुरुष के समान मायिक जगत् के सेवा-कार्य आदि दैवीकार्य की देख-रेख करता है। क्रमशः अधिकार वासना निवृत्त होने के पश्चात् उसमें महाज्ञान का विकास होने लगता है। अब काल-राज्य निःशेष हो जाता है। अनन्त विश्व के कारणभूत शिव-शक्ति का सन्धान प्राप्त होता है। जहाँ शिव एवं शक्ति पृथक् है, वह अपूर्ण स्थान है। पूर्णत्व का पथिक शिव-शक्ति में भी विश्रान्त नहीं होता। उसके सम्मुख शिव-शक्ति का शिवमय रूप से प्रकटन होता है। यह निष्कल अवस्था है। यही परम संवित तथा परब्रह्म है। इस स्थान पर्यन्त साधक स्वयं नहीं जा सकता। उन्मनी शक्ति का अनुग्रह इसके लिए आवश्यक है। साधक समस्त विश्व का भेद कर सकता है परन्तु पूर्णत्व पर्यन्त स्वयं नहीं जा सकता। यह उन्मनी शक्ति ही उसे पूर्णत्व प्रदान करती है। प्रत्येक जीव को पूर्णत्व प्राप्त करने का अधिकार है, तथापि उसे प्राप्त नहीं है।

●

महाविज्ञान का उदय

देहान्तर्गत संस्थान तथा तन्तुसमूह में चेतना के साथ संयुक्त इच्छा-शक्ति सक्रिय रहती है। समष्टि अवस्था में यह भी तिरोहित हो जाती है। साधारण जागतिक अवस्था में प्राणी का चैतन्य-प्रवाह अधोमुखी रहता है। साधना द्वारा इसे ऊर्ध्वमुख करने का प्रयत्न किया जाता है। चैतन्य-प्रवाह के ऊर्ध्वमुखी हो जाने पर निम्नस्थ नाड़ीचक्र शक्तिरहित होने लगता है। ऊर्ध्वमुखी चैतन्य-प्रवाह की स्थिति में इड़ा-पिंगला की गति स्तिमित हो जाती है। इस समय सुषुम्ना पूर्णतया कार्यरत हो जाती है। उसकी शाखायें भी सक्रिय हो जाती हैं। बुद्धदेव ने इस अवस्था को स्रोतापन्न अवस्था कहा है। इस अवस्था में पहले देहबोध विलुप्त हो जाता है। तदनन्तर ऊर्ध्वमुखी स्पन्दन वापस आता है और देहात्मबोध भी जाग्रत् हो उठता है। बाह्य इन्द्रियों का कार्य भी प्रारम्भ होने लगता है।

स्थूल देह में इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापना होता है। इस समय बहिराकाश का ज्ञान उदित रहता है। स्वप्नावस्था में बहिर्भाव निमीलित हो जाता है। अन्तर्मुखता होने पर भी इस बहिर्जगत् के संस्कार स्थित रह जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा अथच इन्द्रियरहित अवस्था का अनुभव स्वप्नावस्था में घटित होता है। इस क्रिया के समय बहिराकाश से कोई सम्पर्क शेष नहीं रहता। यह सब चित्ताकाश में निष्पन्न होता है। चित्ताकाश की भित्ति का उदय होना स्वप्नावस्था की विशेषता है। तत्पश्चात् स्वप्नावस्था सुषुप्ति में रूपान्तरित होती है और प्राणी गाढ़ निद्रा का अनुभव करने लगता है यही सुषुप्ति है। पुनः चक्राकृति घूर्णन होता है, अर्थात् पुनः जाग्रत् अवस्था आती है। पुनः स्वप्नावस्था, पुनः सुषुप्ति। ज्ञानी की अवस्था इससे विपरीत है। वह सुषुप्ति का भी अनुभव करता है। उसे सुषुप्ति में भी अज्ञानाच्छादन नहीं होता। सुषुप्ति के अन्धकार में ज्ञान का प्रकाश होता है। यह ज्ञान क्रमशः तीव्र होता जाता है। ज्ञान की गति ऊर्ध्वोन्मुखी होती है। इस स्थिति में बाह्यकाश का ज्ञान नहीं रहता। स्वप्न जगत् का भी ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहता, अपितु एक कल्पनाशून्य ऊर्ध्वस्रोत उद्घाटित हो उठता है। इस अवस्था में ऊर्ध्वमुखी स्रोत में स्थिति होती है और अधोमुखी स्रोत से लोक-व्यवहार चलता है। यह जीवन्मुक्तावस्था है। अतितीव्र ऊर्ध्वमुखी स्रोत की अवस्था में निर्विकल्प समाधि का उदय हो जाता है। इस स्थिति में अधोमुखी स्रोत से लोक-व्यवहार चलता है। अतितीव्र ऊर्ध्वमुखी स्रोत की अवस्था में निर्विकल्प

समाधि का उदय हो जाता है। इस स्थिति में अधोमुखी स्रोत की किंचित् भी स्थिति न रह जाने से लोक-व्यवहार समाप्त हो जाता है। पूर्णप्रज्ञा प्रकाशित हो उठती है। अब प्रश्न उठता है कि अधोमुखी स्तोत्र की (इस अवस्था में) स्थिति क्यों नहीं रह जाती? इस अवस्था में अधोमुखी स्रोत ऊर्ध्वमुखी स्रोत में मिलकर एक हो जाता है। इसी का नाम है आनन्दमय कोष। यह जागतिक आनन्द नहीं है। इस अवस्था में ऊर्ध्वमुखी स्रोत के कारण मध्याकर्षण का कोई प्रभाव अवशिष्ट नहीं रहता और मध्याकर्षण बिन्दु से जो अधोमुखी स्रोत चलता रहता है, उसमें प्रेम, करुणा, कृपा आदि का योग हो जाने से आनन्द की उपलब्धि होने लगती है। यह विषय प्रयोजन से रहित आनन्द है। यह जब अतितीव्र हो जाता है तब शरीर में भी भार नहीं रह जाता। शरीर भी ऊपर उठने लगता है। तदनन्तर आनन्दमय कोष का भेदन (अतिक्रमण) होने पर भी आनन्दानुभूति होती है। यह कोषरहित आनन्द है। यह स्वरूपानन्द है। यहीं पर शक्ति की स्वातंत्र्यावस्था का साक्षात् होता है। इस अवस्था में बहिर्ज्ञान भी रहता है। बाह्य जगत् के समस्त आचारादि, व्यवहारादि का पालन करते हुए भी अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं होता।

●

आत्मा तथा ब्रह्म

आत्मतत्त्व तथा ब्रह्मतत्व स्वरूपतः अभिन्न हैं। जैसे अग्नि में दाहिका-शक्ति है, वैसे ही आत्मा की स्वरूपभूत आत्म-शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान (अथवा शक्ति का आश्रय) स्वरूपतः अभिन्न हैं। आत्मा स्वरूप से एक है, उसी प्रकार शक्ति भी स्वरूपतः एक है। आत्मा का स्वभाव समान होता है। आत्मा को स्वप्रकाश कहा जाता है। आत्मा स्वप्रकाश के कारण नित्य प्रकाशमान है। बाह्य प्रकाश आत्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकता। जड़ वस्तु स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती। उसको प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा रहती है। वह स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु आत्मा स्वतन्त्र है। आत्मा चित्तस्वरूप है, उसकी शक्ति को भी चित्तशक्ति कहते हैं। यह सब नामकरण आत्मा में नहीं है, तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए नामकरण किया जाता है। इस चित्शक्ति का नामान्तर है परावाक्। यह अद्वैत दृष्टि की विवेचना है। द्वैत दृष्टि से एक प्रकार का पार्थक्य प्रतीत होता है। उसकी विवेचना यहाँ अप्रासंगिक है। आचार्यगण परावाक् को स्वातंत्र्यशक्ति या स्वभाव कहते हैं। आत्मा परब्रह्म है तथा परावाक् ही शब्दब्रह्म पदवाच्य है। सृष्टि के प्राक्काल में इसी महाशक्ति परावाक् से विश्व का स्फुरण होता है। आत्मा तथा महाशक्ति अभिन्न एवं समरस भाव से विद्यमान हैं, इसी कारण आत्मा में आमित्वबोध सतत जागरूक रहता है। यह खण्ड आमित्वबोध नहीं है। खण्ड आमित्व आत्मा में अनात्मभाव के कारण उदित होता है। इस खण्ड भाव में अवस्था-भेद से अस्मिता, अहंकार आदि का उदय होता है। यह अखण्डभावमय, अप्रतिद्वन्द्वी, अप्रतियोगी विराट् 'मैं' है, जो समस्त आमित्व का मूल है। सर्वत्र यही एक 'मैं' की सत्ता रहती है। इसका प्रतियोगी द्वितीय कोई भी नहीं है। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'। यह अपरिच्छिन्न अहन्ता है, अतएव आत्मा ही महेश्वर है। यह परिपूर्ण अहन्ता ही परावाक् अथवा आत्मा की स्वातंत्र्यभूता महाशक्ति है।

स्वातंत्र्य के कारण जब आत्मा स्वयं को संकुचित करके लीला या अभिनय के लिए अणुरूप होने लगता है, तब यह महाशक्ति विभक्तवत् होकर विचित्र खण्ड-शक्ति-रूप में परिणत हो जाती है। इन सभी शक्तियों का स्तरभेद एवं कार्यभेद से नाना कार्य है। अनन्त शक्ति के अनन्त भेद हैं। मूल शक्ति शब्दात्मक है अतएव खण्ड-शक्ति मूलतः ध्वनिरूपात्मक तथा वर्णात्मक हो जाती है। परनाद तथा महानाद अवस्था में वर्णरूप तथा मातृकारूप शक्तियों का अवतरण होता है। इस समय आत्मा (शिव) अणुरूप होकर तथा महामाया से आवृत होकर मायागर्भ में प्रविष्ट होता है। इस स्थिति में उपर्युक्त वर्णमूला शक्ति मूल मायाशक्ति को किरण बनाकर

चित् अणुरूपी आत्मा को मोहित करती है और नाना प्रकार के विकल्प जाल द्वारा जड़ित कर देती है। समस्त वर्ण नाना प्रकार की समष्टि में सम्मिलित होकर विभिन्न भाव तथा वृत्ति का उत्पादन करते हैं। इन्हें हम वासना, कर्म-संस्कार अविद्याबीज, विक्षेपरेणु प्रभृति संज्ञा प्रदान करते हैं। केवल उच्च श्रेणी के योगी ही इनके स्वरूप को आयत्त कर सकते हैं। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, भक्ति, प्रेम, क्षमा आदि भाव या वृत्ति, वर्णसमूह की सामूहिक क्रिया से ही चित्त को अभिभूत करते हैं। चित्त के चांचल्य का मूल कारण वर्णसमूह की क्रिया है। लय, विक्षेप आदि अवस्थाओं का हेतु मातृका को ही कहा गया है। अतः मनुष्य-मात्र विकल्पाधीन हं। निर्विकल्प ज्ञान की प्रप्ति अत्यन्त दुष्कर है। विकल्प शुद्धि के द्वारा ज्ञान निर्मल होता है।

सृष्टि की धारा में परावाक् से पश्यन्ती तदनन्तर मध्यमा वाक् का आविर्भाव होता है। सर्वान्त में वैखरी प्रकाशित होती है। हम वैखरी का ही प्रयोग करते हैं। इन्द्रिय- गोचर पदार्थों का आविर्भाव वैखरी वाक् के उदय के साथ ही हुआ है। शब्द और अर्थ, वाक् और अर्थ परस्पर संसृष्ट है। जब तक पदार्थसमूह इन्द्रियों से अनुभूत होते रहते हैं, तब तक वाक् की भी स्थिति वैखरी ही रहती है। योग-शक्ति के प्रभाव से वैखरी भूमि से उत्थान होता है और मध्यमा स्तर में प्रवेश होता है। यह उत्थान चित्तशक्ति के उन्मेष से होना सम्भव है। गुरुभक्ति के प्रभाव से अथवा तीव्र अभ्यास के फल से वैखरी शब्द क्रमशः संस्कृत तथा शोधित होता है। हम जिस शब्द का उच्चारण करते हैं, वह मलिन शब्द है। उसमें आगन्तुक मल विद्यमान रहता है। यह मल विगलित होते ही मध्यमा में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। शब्द के पुनः-पुनः आवर्त्तन से शब्दगत मल में क्षीणता आती है। उस अवस्था में श्वास वायु इड़ा-पिंगला से हटकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। सुषुम्ना मध्यमार्ग है। यह निर्विकल्प ज्ञान में जाने के लिए राजमार्ग है, तथापि अत्यन्त गुप्त है। एक प्रकार से यह पथनिरुद्ध-सा है। यह पथनिरुद्ध है, तभी सामान्य मनुष्य जागतिक एवं व्यावहारिक कार्य कर पाते हैं। अन्यथा जागतिक एवं व्यावहारिक कार्य कर सकना असम्भव-सा हो जाता और कर्मक्षय करने का अवसर नहीं मिलता। कर्मफल के प्रारब्ध भोग के लिए और कर्मदेह की सार्थकता के लिए, प्रकृति ने सुषुम्ना पथ को अवतरित कर रखा है। योगी तथा कर्मी इस आवरण को खोल देते हैं। जप-साधना इसी आवरण को खोलने का एक मार्ग है। वैखरी जप करते-करते शब्द कण्ठ में रुद्ध हो जाता है और यहाँ से सुषुम्ना का पथ क्रमशः खुलने लगता है। तब वायु एवं मन सूक्ष्म भाव धारण करते हुए सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाते हैं। साथ ही नाद का अभ्युत्थान होने लगता है।

नादोदय ही मन्त्रचैतन्य का पूर्वाभास है। वर्ण विगलित होकर नादरूप में प्रवाहमान हो जाता है। अन्यथा मन उत्थित होकर मध्यपथ में प्रवेश कैसे करता? ध्यान द्वारा उत्थान होना सम्भव है, परन्तु नादविरहित ध्यान अत्यन्त श्रमसाध्य है।

●

अखण्ड महायोग की दृष्टि में त्रिकाल

काल के तीन भाग हैं। अतीत, अनागत एवं वर्तमान। अतीत का प्रारम्भ अज्ञात है। वर्तमान हम देखते हैं। इसी प्रकार भविष्यत् का शेष अज्ञात है, किन्तु उसके वर्तमान में हमारी स्थिति है। यह वर्तमान क्या है? जैसे पेड़ का एक पत्ता मिट्टी पर गिर रहा है। पत्ते का पेड़ से अलग होना एक बिन्दु है और मिट्टी पर पड़ना दूसरा बिन्दु। लेकिन पत्ते का पेड़ से अलग होने से लेकर मिट्टी तक गिरना वर्तमान के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार वर्तमान जीवन प्रारम्भ होता है। मातृगर्भ से भूमिष्ठ होने से लेकर मृत्यु पर्यन्त सब वर्तमान है। इसके मध्य में कालविभाग अवश्य है, जैसे कैशोर, यौवन, प्रौढ़त्व, वार्धक्य। वर्तमान को कहते हैं 'Series of Points'.

व्यावहारिक दृष्टि से काल क्षणों की समष्टि है। एक माला में अनेक फूल हैं। फूल सजाये गये हैं। एक के बाद एक-एक सूत्र सबको ग्रथित करके जोड़ रहा है। यह सूत्र है क्षण। क्षण है एक अखण्ड वस्तु। क्षण अर्थात् 'ETERNITY'.

हम लोगों की चित्तवृत्ति काल के अधीन होकर संस्कारवश निरन्तर आन्दोलित है। इसलिए वह स्थूल को त्याग कर सूक्ष्म सत्ता धारण नहीं कर सकती। काल क्षणों की समष्टि है। वस्तुतः काल तो बुद्धि से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। काल की वास्तविक सत्ता योगीगण नहीं मानते। काल बुद्धि से कल्पित पदार्थ मात्र है। क्षण के आन्तर्य से ही काल का ज्ञान उत्पन्न होता है। मूल स्पन्दन के प्रभाव से एक ही क्षण आन्दोलित अवस्था में, बहुत क्षणों के रूप में बुद्धि में अवभासित होता है। इसलिए विस्तार विशिष्ट काल प्रतीत होता है। समग्र काल के पृष्ठ भाग में एकमात्र क्षण विद्यमान है। उस एक ही क्षण में सबकुछ हो रहा है। जब महाज्ञान का उदय होता है तब क्रम नहीं रहता। महाज्ञान के उदय-क्रम का उल्लंघन करके सर्वविषयक सर्वाकार ज्ञान एक ही क्षण में प्रकट होता है अर्थात् उदय क्षणमात्र में होता है।

काल के मध्य में क्षण का सहसा पता नहीं लगता। क्योंकि काल ही क्षण को ढँक कर अपने ऐश्वर्य को प्रकट कर रहा है। काल की सत्ता में क्षण सर्वत्र निहित है, तथापि सन्धि के सिवा उसका आविष्कार नहीं किया जा सकता। दिन में काल के अवयवों की सन्धियाँ स्थूलमान से तीन अथवा चार या आठ भागों में विभक्त होती हैं। त्रिसंख्या, चतुःसंख्या, अष्टकाल आदि इन विभागों के ऊपर कल्पित है। वैष्णवों की अष्टकाल की लीला का स्मरण भी इन आठ क्षणों को पाने के लिए है। त्रिसन्ध्या, चतुःसन्ध्या, अष्टकाल का अनुष्ठान सन्धि-प्राप्त के लिए होता है। एक

बार क्षण प्राप्त हो जाने के पश्चात् फिर उसे खो जाने की सम्भवना नहीं रह जाती। सर्वत्र ही उस महाक्षण का साक्षात्कार होने लगता है।

मनुष्य ने एक विशेषता लेकर जन्म लिया है। स्थूल दृष्टि में उस विशेषता को जन्मान्तर में कर्म संस्कार की विचित्रता द्वारा जानने की चेष्टा की जाती है, किन्तु वास्तव में कर्मवैचित्र्य भी मूल कारण नहीं है। मूल कारण है—जन्म-कालिक क्षण। वही समग्र जीवन को नियमित करता है। जिस समय मनुष्य का जन्म होता है, अर्थात् माता के गर्भ में जिस समय मनुष्य के अस्तित्व का संचार होता है अथवा देह की परिपुष्टि के अनन्तर माता के गर्भ से वह भूमि पर आता है, वह क्षण मनुष्य-जीवन का मुख्य क्षण है। वह अत्यन्त मूल्यवान है, क्योंकि उसी का सम्पूर्ण जीवन पर नियन्त्रण रहता है। वास्तव में सम्पूर्ण जीवन में उसी एक क्षण की ही विभिन्न क्रियायें होती हैं। उस मूल क्षण में सम्पूर्ण जगत् की आपेक्षित सम्बन्धमूलक सत्ता विद्यमान रहती है। उसमें जो शक्तियाँ निगूढ़ रूप से विद्यमान रहती हैं, जीवन-पथ पर उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है। जैसे बीज में वृक्ष और फूल, फल आदि सब सामग्रियाँ अति सूक्ष्मरूपेण विद्यमान रहती हैं, वैसे ही उस एक क्षण में ही विस्तार को प्राप्त हुए समग्र जीवन की सारी विचित्रताएँ विद्यमान रहती हैं। जिसको हम लोग काल के नाम से व्याख्यात करते हैं, वह योगी की दृष्टि में उसी क्षण का बहुत्वमूलक कल्पित विस्तार-मात्र है। यदि यह क्षण भली-भाँति स्वायत्त किया जा सके तो उससे सम्बद्ध सारा जीवन और कर्म, सब स्वायत्त हो जाता है। यह पूर्णसत्ता की ओर से अर्थात् प्राकृत गुणमय एवं अनित्य-प्रकाश की दृष्टि से कहा गया है। अन्य पक्ष से साधक की साधना से तथा समुदित सौभाग्य से जिस क्षण का आविर्भाव होता है, वही महाक्षण है।

●

योग एवं बोध

आलोचना-प्रसंग में पहले बिन्दु के आविर्भाव की बात कही गयी है। इसी का नामान्तर है 'बोध'। बोधोदय के साथ-साथ योगी के हृदय में एक व्याकुलता एवं तृष्णा का उदय होता है। मानो एक अभाव सर्वदा प्राणों को उद्वेलित कर रहा है, अथच उसका कुछ स्पष्ट निर्देश न मिल पाता हो। जिसको न पाने से एक प्रकार की व्याकुलता अपने आपमें उठती है वह वास्तव में आनन्द की ही आकांक्षा है। जो आनन्द (सृष्टि के साथ-साथ) जीव के हृदय में प्रच्छन्न भाव से विद्यमान है यह उसी आनन्द का आह्वान है। लक्ष्यरूपी गुरु शुद्धसत्त्व रूप से जीव के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु जीव लक्ष्यहीन होने के कारण उस आनन्द का साधान नहीं पाता, क्योंकि आनन्द आवरण से आच्छादित है। किंचित् कर्म-साधना द्वारा बोध का उदय होने पर इस अन्तःस्थित आनन्द के अभाव को अतिक्षीण रूप से बहिर्जगत् में अनुभूत करता है। जीव बहिर्मुख है, अतः आनन्द के आभास को पकड़ने में प्रवृत्त होता है (यह है, बिन्दु के पश्चात् रेखारूपी गति का सूत्रपात)। आभास को पकड़ने में प्रवृत्त होने पर भी जीव उसे पकड़ नहीं पाता। तब वह देखता है कि यहाँ आनन्द तो है ही नहीं, साथ-साथ उसके आभास का भी कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में वह लौट जाता हैं, पुनः अन्यत्र इस प्रकार का आभास प्राप्त कर उधर दौड़ता है। तत्पश्चात् पुनः निराश होकर वापस लौट जाता है। इस प्रकार निरन्तर वह तृष्णातुर पथिक मृगतृष्णा के पीछे व्यर्थ भ्रमण करता रहता है। संसाररूपी मरुभूमि में वह इस प्रकार पुनः-पुनः भ्रमण करते-करते क्लान्त हो जाता है। उसे कहीं भी सार वस्तु प्राप्त नहीं होती। यही अन्वेषणावस्था है। इसका नाम है ज्ञान। इस प्रकार क्लान्त होने से उसकी बहिर्मुखी गति और वेग निरुद्ध हो जाता है। उसमें स्थिरता आती है। इन्द्रिय एवं मन का बहिःप्रभाव कार्यरत नहीं होता। इस अवस्था में दृष्टि के उन्मेष से लक्ष्य खुल जाता है। जैसे यह एक ओर लक्ष्य का उन्मेष है, वैसे ही दूसरी ओर यह है। पूर्ववर्णित अन्तःस्थित आवरण का अपसारण। इस स्थिति में उसकी दृष्टि के सम्मुख लक्ष्यरूप आनन्द प्रस्फुटित होता है। अब प्रारम्भ होता हैं बहिर्जगत् में प्रवेश। यह आनन्द उसके सम्मुख इष्टरूप अथवा जननीरूप से प्रकाशित होता है। जब तक अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती, उस समय तक यह अपरोक्ष ज्ञान अथवा साक्षात्कार नहीं मिलता। जिसे चाहे जो कुछ भी प्रिय लगे, उन सबकी समष्टि उसके सम्मुख लक्ष्य इष्टरूप से ही प्रकाशित होती है। अखण्ड महायोग में इसे कहते हैं—भाव का प्रकाश या भाव-राज्य में प्रवेश।

यह सत्य है कि लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ आनन्द की प्राप्ति होती है, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि लक्ष्योन्मेष के पश्चात् कर्म की स्थिति न रहने से (योगी की) यह चरम प्राप्ति कही जाती है। इस स्थिति में योगी स्थिर हो आनन्दसम्भोग करता है, निष्क्रिय हो जाता है। योगी इस स्थिति में दर्शन प्राप्त कर मुग्ध हो जाता है और आगे अग्रसर नहीं हो सकता। यह अत्युच्च अवस्था होने पर भी दुर्बलताबोधक है। इसका एकमात्र कारण है कर्म की न्यूनता। कर्म तीव्र न होने पर रूपदर्शन नहीं होता। अतीव कर्म स्थिति में ज्योतिदर्शन के साथ बाह्य ज्ञान विलुप्त हो जाता है। जो श्रेष्ठ योगी हैं, वे कर्मकाल में कभी भी हीनभाव नहीं होते। अतः लक्ष्योन्मेष के पश्चात् भी वे कर्मरत रहते हैं। वास्तव में लक्ष्यान्मेष के पश्चात् ही प्रकृत कर्म प्रारम्भ होता है। दुर्बल साधक इस अवस्था को ब्रह्मप्राप्ति मानकर कर्म त्याग देते हैं।

●

गुरु-राज्य

गुरु-राज्य एवं ज्ञानगंज, दोनों स्थूलाभिषिक्त स्थान हैं। पृथ्वी पर जीवन-काल में कर्म पूर्ण न होने पर, इन स्थानों में कर्माधिकार प्राप्त होता है। पृथ्वी मरभूमि है, किन्तु ज्ञानगंज एवं गुरु-राज्य दोनों अमरभूमि हैं। जैसे पृथ्वी पर कर्मकाल में बाह्यभाव विद्यमान रहता है, वैसे ही गुरु-राज्य एवं ज्ञानगंज में भी बाह्यभाव विद्यमान है। लक्ष्योन्मेष न होने तक कही भी अन्तःप्रवेश प्राप्त नहीं होता। ज्ञानगंज अथवा गुरु-राज्य की प्राप्ति होने से ही लक्ष्योन्मेष नहीं होता। ज्ञानगंज एवं गुरु-राज्य दोनों अन्तर्जगत् रूप से परिगणित नहीं हैं। दोनों बाह्यजगत् के अन्तर्गत हैं तथापि पृथ्वी से इनमें भेद है। यही नहीं, इनमें परस्पर भी पार्थक्य है। पृथ्वी पर कर्म की गति अत्यन्त द्रुत है। एतद् विपरीत इन स्थानों की गति अत्यन्त मन्द है। इसी कारण मरदेहावलम्बन-काल में (मरदेहावस्थान-काल में) कर्म करने से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही दीर्घपथ अतिवाहित होता है। लक्ष्य खुल जाने के पश्चात् (अर्थात् अन्तःदृष्टि उन्मुक्त होने पर, अथवा भाव का विकास होने पर) मरजगत् एवं अमरजगत् के कर्म में क्षिप्रता एवं मन्दता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं रहता। उदाहरणार्थ, अमरजगत् में लक्ष्योन्मेष होने पर, कर्मस्रोत अत्यन्त मन्दगति से प्रवाहित होता है। अतः किसी-किसी अवस्था में पहुँचने अथवा उपनीत होने में युग-युगान्तर कालक्षेप हो सकना असम्भव नहीं। मरदेहावस्थान-काल में कर्म करने से लक्ष्य-गति में तीव्र बल एवं वेग विद्यमान रहता है। कोई विघ्न अथवा प्रतिबन्धक न होने से सभी भूमियों का शीघ्रातिक्रमण सम्भव है।

प्रतिबन्धक कारणों की आशंका प्रतिपद पर विद्यमान है। अतिसूक्ष्म मार्ग पर संचरण करते समय अतिसूक्ष्म प्रतिबन्धक भी विघ्नकारक होता है। ऐसे प्रतिबन्धक आ उपस्थित होते हैं, जिन्हें प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता। इसलिए गति तीव्र होने पर भी निष्कण्टकरूपेण पथ अतिवाहित करना असम्भव है। प्रतिपद पर स्खलित होने की सम्भावना है। महाखण्डगुरु जगत् में प्रकट होकर इस प्रकार के सूक्ष्म प्रतिबन्धक कारणों को दूर करने के उपाय का निर्देश करते हुए शिष्य को कर्मफल प्रदान करते हैं। यदि महाखण्डगुरु सुदूर पथ के निर्देशकर्ता रूप हो, प्रतिबन्धक कारणों को दूर करने के उपाय का प्रदर्शन न करते, वैसी स्थिति में सूदर पथ का पथिक एक पद भी अग्रसर होने से सक्षम नहीं होता। वह उपाय और कुछ नहीं है, मात्र मातृसेवा है। माँ जगदम्बा सृष्टि की मूल शक्तिस्वरूपा है। उन्हें सेवा द्वारा प्रसन्न कर सकने पर, उस प्रसाद के

प्रभाववश ज्ञात एवं अज्ञात सभी योगविघ्न विदूरित हो जाते हैं। माँ महाशक्ति-स्वरूपा हैं। कर्म में शक्ति-सहाय्य आवश्यक है। योगीगण योगदीक्षा के साथ-साथ जिस गुरुदत्त काया की प्राप्ति करते हैं, यह लक्ष्य अथवा शक्तिस्वरूपा है। लक्ष्य अथवा शक्ति की सहायता से योगी का कर्म चलता है। योगी जो कुछ बाह्यतः करता है, वह सब निमित्त-मात्र है। इस शक्ति का नाम है गुरु-शक्ति। जो शक्ति निरन्तर कर्मनिरत हो स्तर के पश्चात् स्तरों की रचना कर रही है, उसको पुष्ट करना नियमतः योगी का कर्तव्य है। यह है मातृसेवा की दार्शनिक भित्ति। यदि कोई यंत्र कायर करते-करते क्षीण हो जाता है, उस स्थिति में पुनः रसापूरण द्वारा पुष्ट करना आवश्यक है। गुरुदत्त शक्ति मातृस्वरूपा हैं। माँ मूलतः कुमारीस्वरूपा हैं। इसी कारण जीवन-काल में, जीवित देहधारिणी कुमारी माता की यथाविधि सेवा का इतना माहात्म्य है। ब्रह्ममूर्ति की उपासना से जीवन्त शक्ति नहीं प्राप्त होती। बाह्यमूर्ति को योगी प्राण-प्रतिष्ठा के समय अपनी जीवन्त शक्ति द्वारा संजीवित करता है। जो मूर्ति योगी की शक्ति से संजीवित है, वह योगी को कैसे शक्ति प्रदान करेगी? अतः साक्षात् मातृरूपा महाशक्ति कुमारी कन्या की सेवा आवश्यक है। स्थूलदेह की पुष्टि सेवा द्वारा होती है। उपासना अथवा आराधना के अन्याय अंगों का उतना महत्त्व नहीं जितना सेवा का महत्त्व है। सेवा द्वारा देह पुष्ट होता है, तृप्ति और रस-संचार होता है। प्रसाद का सेवन कर योगी माँ के साथ अभेद्य बन्धन से युक्त होता है। इस प्रकार सेवा द्वारा माँ को बाँध सकने से, माँ स्वयं गुरुशक्तिरूपिणी हो योगी का समस्त कार्य सम्पादित करती हैं।

सेवा योगपथ का एक अनिवार्य अंग है। सेवा के अतिरिक्त योगी कर्म-पथ पर अग्रसर नहीं होता। किंचित् अग्ररसता प्राप्त होने पर भी त्रुटि-विच्युति के परिणामस्वरूप पुनः निम्न स्तर में पतित हो जाता है। अमर लोकों में मरदेहसम्पन्न कुमारी माता दुर्लभ है। अतएव अमरलोक में योगी की अग्रगति भी क्षिप्रता से नहीं होती। यदि कोई अग्रसर भी होता है, तो वह स्तम्भित भी हो सकता है। वहाँ मातृसेवाजनित सहायता की आशा नहीं है। मरदेह में जैसे कर्म का उत्कर्ष है, वैसे ही साक्षात् भाव से मातृसेवाजनित सहायता की आशा नहीं है। मरदेह में जैसे कर्म का उत्कर्ष है, वैसे ही साक्षात् भाव से मातृसेवा का अधिकार भी प्राप्त है। अतएव विघ्नों की आशंका दूरीभूत हो जाती है।

कर्मतत्त्व विश्लेषण प्रसंग में कृपा और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध विशेषतः आलोच्य है। कृपा शब्द से जो अर्थ स्पष्ट होता है, उससे सभी सुपरिचित हैं, तथापि यह सत्य है कि मात्र कृपा द्वारा पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता। कर्मव्यातीत कृपा और कृपा-व्यतीत कर्म दोनों असम्भव है।

कृपा दो प्रकार की है—खण्डकृपा एवं महाकृपा। खण्डगुरु अथवा महाखण्ड गुरु (जगदम्बा या परमात्मा) जीव पर जिस कृपा का वर्णन करते हैं, वह खण्डकृपा

है। अधिक शक्तिसम्पन्न अपने से न्यूनतर का (अपनी शक्ति से) जो उद्धार-कार्य करते हैं, उस शक्ति का नाम कृपा है। यह सत्य है कि कृपा द्वारा आकर्षण होता है एवं आकर्षण के फलस्वरूप उद्धार-कार्य सिद्ध होता है, तथापि यह पूर्णता नहीं है। अवस्था-विशेष में इसकी आवश्यकता है। प्राथमिक अवस्था में कृपा के बिना जीव का कार्य नहीं चल सकता। मातृ-कृपा के अतिरिक्त शिशु वर्धित कैसे होगा? इसी प्रकार जीव भी जगदम्बा की कृपा के अतिरिक्त दुःखमय स्थान से अलग होकर दुःखातीत शुद्ध स्थान में कैसे उपनीत होगा? इससे यह स्पष्ट होगा कि खण्ड-कृपा भी आवश्यक है, तथापि इस खण्डकृपा से कृपाभाजन पूर्णतः लाभान्वित नहीं हो सकता। अन्य की शक्ति द्वारा प्राप्त कोई भी अवस्था स्थायी नहीं होती। खण्डकृपा कितनी ही महती क्यों न हो, उसका फल कितना ही आनन्दमय क्यों न हो, महाप्रलयकाल में उसका किंचित् मात्र अस्तित्व नहीं रह जाता।

यही नहीं, इस कृपा को प्राप्त कर कृपाभाजन व्यक्ति आत्मशक्ति-विकास के हेतुभूत कर्म से विरत होकर आत्मपरिचय से चिरवंचित रह जाते हैं। कृपा की आवश्यकता एक चिर सत्य है, तथापि उसकी आवश्यकता है आत्मशक्ति-विकास के सुयोग एवं स्थान-प्राप्ति हेतु। इसीलिए कृपा-प्राप्ति के पश्चात् भी कर्म का प्रयोजन है। कर्माभिव्यक्ति के फल से कृपा के मूल स्थान पर्यन्त सभी भूमियों पर अधिकार प्राप्त होता है और चरमावस्था में जगन्माता (परमात्मा) का तादात्म्य-लाभ भी होता है। इतना ही नहीं, योगी तादात्म्य का भी भेद कर स्वयं ही तत्स्थानापन्न होने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। यहाँ तक कृपा की सीमा है। यहाँ तक का कर्म, कर्म होने पर भी कृपामूलक कर्म है, इसके पश्चात् इस प्रकार का कर्म है जिसे कृपाशून्य कर्म कहा जा सकता है। तब कृपा नहीं रह जाती। अर्थात् कृपा प्रकटरूपेण न रहकर गुप्त भाव से विद्यमान रहती है। इस स्थिति का कर्म आत्मकर्म है। यह कृपाशून्य कर्म है। कृपाशून्य कर्म के व्यतीत ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान संज्ञा से जो कुछ ध्वनित होता है, उसे जीवित स्थिति में प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कृपा का कर्म पूर्ण करने के उपरान्त कृपाशून्य कर्म की भी पूर्णता प्राप्त हो। उस समय जिस ज्ञान का आविर्भाव होगा, उससे इहलोक एवं परलोक का भेद समाप्त हो जायेगा। महामाया और ब्रह्म का भेद तिरोहित होगा, इष्ट और गुरु के समस्त व्यवधान चिरकाल के लिए समाप्त हो जायेंगे।

लक्ष्य के साथ कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। अस्थिर लक्ष्य-स्थिति में कर्म-सम्भावना नहीं रहती। लक्ष्य को कर्म द्वारा प्राप्त किया जाता है। जगत् में कर्म शब्द से जो परिचित है वह प्रकृत कर्म नहीं है। जगत् में जिसे ज्ञान कहते हैं, वह भी चरम दृष्टि से ज्ञान पदवाच्य नहीं है। जागतिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान कर्म का परवर्ती है। कर्म द्वारा चित्शुद्धि होने पर उपासनाधिकार प्राप्त होता है। उपासना के

फलस्वरूप उपास्य एवं उपासक का स्वरूपगत अभेद ज्ञान प्रस्फुटित हो उठता है। इस स्थिति में मुक्ति-लाभ होता है। यह है वेदान्तानुगत चिन्तन प्रणाली का विवरण। अन्य धाराओं में भी अन्य विवरण देखा जाता है, तथापि वह यहाँ आलोच्य नहीं है। जीव के पूर्णत्व पथ में जीव का निज कर्तव्य भी है। इसके लिए मातृस्वरूपा शक्ति की भी सार्थकता है और ब्रह्मस्वरूप गुरु भी प्रयोजनीय है। लक्ष्य द्योतक है गुरु (ज्ञान) का एवं कर्म द्योतक है शिष्य की स्वचेष्टा का। नौका-चालन के लिए जैसे कर्णधार की आवश्यकता होती है, वैसे ही कर्णधार लक्ष्य और दिशा का निर्देश करते हैं। स्थिर भाव से नौका का लक्ष्य की ओर अभिमुख रखने की चेष्टा करते हैं। इतना करने पर भी मात्र लक्ष्य निश्चित करने से ही लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो जाती। इसके लिए नौका का पतवारचालन आवश्यक है। इसी प्रकार जीवन-पथ में गुरु से जो प्राप्ति होती है, वही है लक्ष्यनिर्देश। वास्तव में गुरु स्वयं ज्ञानरूप है, उसकी काया भी ज्ञानस्वरूपा है, उसकी दृष्टि भी ज्ञानदृष्टि है। इसका एकांश कृपारूप से शिष्य-हृदय में निहित रहता है। वही प्रत्यावर्तन काल में शिष्य की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख 'स्व' लक्ष्यरूप से प्रकाशित होता है। किम्बहुना, शिष्य की दृष्टि पहले आच्छन्न रहती है। बीजआधान द्वारा सन्तान का जन्मदान अथवा लक्ष्यरूपी बीजाधान द्वारा जीव को शिष्यरूप में परिणत करना एक ही स्थिति हैं। कर्म-प्रभाव से लक्ष्य का आवरण कट जाता हैं यह आवरण क्रमशः शिथिल होता है, तदनुसार योगी की गति से भिन्न-भिन्न स्तर निर्दिष्ट किये जाते हैं। लक्ष्य क्या है? लक्ष्य है शिष्य के प्रति गुरु की दृष्टि। पक्षान्तर से यही है शिष्य की गुरु के प्रति दृष्टि। गुरु का अखण्ड रूप अलक्ष्य है, तथापि उनका अभिव्यक्त रूप शुद्धसत्त्व के साथ योगयुक्त होकर जब आनन्दरूप एवं ज्योतिरूप में परिणत होता है, वही शिष्य के लिए गुरुरूप है। यही है एक ही आधार में गुरु और माँ। पहले कहा जा चुका है कि आनन्द ही इष्ट है। अतएव शिष्य का लक्ष्य-स्थापन, वास्तव में इष्ट के प्रति नियोजित दृष्टि स्थापन है। यह आनन्द ही माँ एवं शक्ति की संज्ञा में योगी समाज में परिचित है। भावोदय के साथ-साथ माँ का साक्षात्कार होता है। स्मरणीय है कि भाव से परमा प्रकृति पर्यन्त, अर्थात् तृतीय भूमि से सप्तम भूमि पर्यन्त योगीगण प्रायः माँ को तत्तत् भाव से प्राप्त करते हैं। तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं सप्तम, ये कई भूमियाँ हैं अथवा मातृ-राज्य हैं। षष्ठ भूमिका में माँ का दर्शन नहीं प्राप्त होता। षष्ठ भूमिका सबके लिए नहीं है। पंचम भूमिका के पश्चात् विशेष अधिकारी नाभिचक्र-जागरण होने पर षष्ठ भूमिका को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सूर्य- मण्डल या महासविता का भेदन् वे ही करने में समर्थ होते हैं, जो पंचम भूमिका के पश्चात् नाभि-जागरण के फलस्वरूप षष्ठ भूमिका में उपनीत हो पाते हैं। सूर्यमण्डल- भेदन के पश्चात् सप्तम भूमिका की प्राप्ति होने पर यहाँ आबद्ध रह जाने की आशंका नहीं रह जाती। कारण, उस समय ब्रह्मसत्ता का पूर्वाभास योगी

में भासित हो उठता है और उस आकर्षण से वह सप्तम भूमिका का भेदन करने में समर्थ होते हैं। सप्तम भूमिका-भेदन द्वारा देहावस्थान-काल में ही ब्रह्मावस्था प्राप्त करने की सम्भावना होती है। उस स्थिति में महामाया और ब्रह्म का अनादिकालीन व्यवधान कट जाता है। दुःख है कि यह अवस्था सृष्टि के आदिकाल से आज पर्यन्त घटित नहीं हो सकी।

ज्ञानगंज स्फटिकमय है। गुरु-राज्य का ऊर्ध्वांश भी उसी प्रकार का है। वह स्फटिक वस्तुतः स्फटिक नहीं है। शुद्ध निर्मल ज्योति धनीभूत होकर स्फटिकवत् स्वच्छ शुक्ल आकाररूपा प्रतीयमान होती है। ज्ञानगंज निम्न प्रदेश में मृत्तिकाविहीन है और ऊर्ध्वप्रदेश आकाशविहीन है, अर्थात् वहाँ अधः-ऊर्ध्व का कोई बोध नहीं रहता। पृथ्वी में जब हम निम्नतल में दृष्टि निक्षेप करते हैं, तब मिट्टीयुक्त धरित्री की उपलब्धि करते हैं और मस्तक के ऊपर विस्मृत नीलाकाश का दर्शन पाते हैं। ज्ञानगंज में इस प्रकार की अधःरूपा पृथ्वी एवं आकाश अथवा शून्य देश दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वत्र ही एक स्वच्छ ज्योति विराजित रहती है। वहाँ दिन अथवा रात्रि का भेद अनुभूत नहीं होता। वास्तव में वहाँ दिवा-रात्रि नहीं होती। इसी प्रकार देशज्ञान और कालज्ञान भी नहीं है। तथापि वहाँ यहाँ की तरह बाह्य सत्ता का विचित्र एवं बहुत्व विद्यमान है। ज्ञान का राज्य अनेकांश में यहाँ की तरह ही है। विभिन्न व्यवस्था भी है। गुरु-राज्य के प्रदेशविशेष में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिए तपस्या का स्थान है। ये सभी ब्रह्मचारी अति ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं, कारण, उन्होंने इसी राज्य में जन्म ग्रहण किया है। वे काल-राज्य से मरकर यहाँ नहीं आये हैं। वे निरन्तर यथाविधि गायत्री-उपासना और होम करते रहते हैं। मरजगत् में रहते हुए यहाँ अनुष्ठित उपासना के रहस्यों की उपलब्धि असम्भव है।

●

मार्गतत्व

कर्म नदी का पूर्वपार अपने परपार से अपेक्षाकृत उन्नत एवं अधिक सुन्दर है। इसी प्रकार मायानदी का परपार कर्मनदी के पूर्वपार से अधिक सुन्दर है। प्रत्येक स्थान पर नाना प्रकार के जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार तपस्या में निमग्न रहते हैं। मायानदी के परपार एक वक्रपथ और एक सरलपथ दृष्टिगोचर होता हैं। वक्रपथ की वर्णना पहले की जा चुकी है। यह वक्रपथ असंख्य प्रकार की वक्रता प्राप्त कर असंख्य लोकों के साथ सम्बद्ध है। एक ही पथ वक्रगति से घूम-घूम कर संख्यातीत पथ की आकृति में विवर्तित हो गया है। ये सब पथ मायातीत और सुखमय प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक प्रकार भ्रम के अन्तर्गत हैं। लक्ष्योन्मेष न होने तक प्रकृत पथ का विस्तार बाहर न होकर अन्तर्गत अर्थात् भाव-राज्य में हैं। अतएव इन वक्रपथों में भाव अथवा स्वभाव-प्राप्ति का अभाव है। वे वक्रपथ मायातीत हैं, तथापि इनके साथ सम्बद्ध भावलोक प्रकृत भावमय नहीं है। वे सब भाव के अभाव का प्रतीक-मात्र हैं।

वास्तविक भक्ति के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। साधारणतया जगत् में प्रचलित विचारधारा के अनुसार ज्ञानोदय के पूर्व भक्ति का स्थान निर्दिष्ट है। किन्तु वास्तव में शुद्धभक्ति, सरल-भक्ति एवं अकृत्रिम-भक्ति, लक्ष्योन्मेष (ज्ञानोदय) के पूर्व हो ही नहीं सकती। भाव के विकास का यथार्थ तात्पर्य है, भक्ति-राज्य में प्रवेश अथवा आनन्दरूपा माँ का साक्षात्कार। लक्ष्योन्मेष (ज्ञानोदय) के पूर्व जिस भाव का संचार होता है, वह स्थायी भाव नहीं है। इसी कारण, (मायानदी के रक्त सलिल के परपार अवस्थित होने पर भी) संचारी भावराज्य स्थायी नहीं हो पाता। महाज्ञान तो अत्यन्त दूर की बात है, अन्तर्दृष्टि रूप लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ यह संचारी भावराज्य चूर्ण को जाता है। इस प्रकार के असंख्य भावलोक भक्ति का आभास और इष्ट का आभास वहन करते हुए मायातीत स्तर में विद्यमान हैं। प्रकृत योगी भाव के इस घूर्णन में पतित नहीं होते। वे सरल पथ से अमृतधारा अथवा अमृतसरोवर पर्यन्त गमन करते हैं एवं उसे उत्तीर्ण कर अमृत सरोवर के परपार लक्ष्योन्मेष की चेष्टा में निरन्तर व्याप्त रहते हैं। इस अमृत सरोवर का शुभ्र सलिल, जल नहीं अपितु अमृत है। देखने में यह दुग्ध के सामान और आस्वादन में अति मधुर है और इसकी सुगन्ध अत्यन्त आकर्षक है। सरोवर पार करने पर भी इस अमृत-पान का अधिकार नहीं प्राप्त होता। दीर्घ प्रयत्न के फलस्वरूप भूमध्य स्थल उन्मुक्त करने पर इस अमृत-पान का अधिकार प्राप्त होता है। समस्त योगीगण उत्तराभिमुख महाप्रस्थान मार्ग की ओर

दृष्टि केन्द्रित कर अन्तर्दृष्टि खोलने की चेष्टा करते हैं। उन्हें एक श्वेत प्राचीर के समान शुभ्र आकाश सम्मुख प्रतीयमान होता है। इस शुभ्र आकाश के मध्य एक सूक्ष्म छिद्र है। यह छिद्र एक केश के करोड़वें भाग के समान सूक्ष्म है। यह छिद्र हठात् उन्मुक्त होता है। छिद्र के अपर पार से एक क्षीण रश्मि की धारा तीव्र वेग से समागत हो उत्तराभिमुख योगी के भ्रूमध्य में प्रविष्ट होती है और उस स्थान पर (तृतीय नेत्र) तीव्र वेग से पुनः-पुनः आघात करती है। इसके साथ-साथ रश्मि-तरंग प्रत्यावृत हो छिद्र-भेद करती रहती है। कुछ काल तक इस प्रकार बाह्य रश्मि एवं योगी के भ्रूमध्यस्थ बिन्दु में घात-प्रतिघात चलते-चलते अकस्मात् ज्ञान-नेत्र खुल जाता है। इसका नाम है लक्ष्य का उन्मेष। इस स्थिति में योगी का समस्त शरीर इस लक्ष्योन्मेष के साथ ही मानो एक लक्ष्य में मिश्रित हो जाता है। अब एकमात्र लक्ष्य अवशिष्ट रह जाता है। योगी की काया नष्ट नहीं होती। किन्तु अन्य स्थानों से उसका संकोच हो जाता है। कहीं भी कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकता। अतएव अन्य योगीगण इस रिक्त स्थान में आकर पूर्वोक्त प्रणाली से उपवेशन करते हैं। लक्ष्य क्या है? लक्ष्य देखने में एक अति क्षुद्रायतन ज्योतिर्मय नरमूर्ति के समान है। इसे अंगुष्ठ परिणाम भी कह सकते हैं। उसका सर्वावयव प्रकाशमय होता है। लक्ष्यरूप ज्ञान का उदय हो जाने पर यह दिव्य आकृति अमृत सरोवर के अमृत-पान की अधिकारी होती है। अमृत-पान एवं अमरत्व प्राप्त करने के पश्चात् वह दीर्घकालीन तपश्चर्याजनित ग्लानि से मुक्ति प्राप्त कर उक्त छिद्रपथ से चली जाती है। इस प्रकार गुरु-राज्य का भेदन हो जाता है। इसी का नाम भाव का विकास या भावराज्य में प्रवेश है।

गुरु-राज्य के समान ही ज्ञानगंज से भी भावराज्य में प्रवेश की विधि है। ज्ञानगंज योगाश्रम में योग-साधना समाप्त कर सिद्धाश्रम में उपनीत होना होता है, तत्पश्चात् वहाँ से लक्ष्य उन्मेष के साथ भावराज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। ज्ञानगंज एवं गुरु-राज्य के जिन योगियों की गति का वर्णन है, वे अमर काया के योगी हैं। मरदेहधारी योगी भी लक्ष्यभेद कर भावराज्य में प्रवेश कर सकते हैं। मरदेहावस्थान काल में ही भावराज्य में प्रवेश कर लेना श्रेष्ठतर है। इस स्थिति में दृश्यसत्ता पूर्व के समान नहीं रह जाती, क्योंकि अब बाह्यजगत् से अन्तर्जगत् में प्रवेश हो जाता है। अन्तर्जगत् में लक्ष्य सरल गति से अनुभूत होता है। एक ही पथ पर शताधिक पथिक चलते रहते हैं, तथापि कोई किसी को देख नहीं सकता। उस समय पथिकों की दृष्टि एक लक्ष्य पर ही पड़ती रहती है, द्वितीय कोई भी वस्तु दृष्टि-पथ पर अंकित नहीं हो सकती। दृष्टि के सम्मुख जो भासित होता रहता है, मात्र उसी ओर दृष्टि आबद्ध रहती है। अन्तर्जगत् की एकमात्र भूमि में प्रवेश करने पर दृश्यरूप विविध सत्ता की भासमानता नहीं रहती, अन्यथा उस स्थिति में वह अन्तर्जगत् न होकर बहिर्जगत्रूपेण परिगणित होने योग्य होता। वह एक प्रकार से विक्षिप्त

अवस्था ही होती है। एक दृष्टि से प्रति लक्ष्य का पथ अलग-अलग है, तथापि वास्तविक रूप से पथ एक ही हैं। एक पथ का आश्रयण कर सब अग्रसर हो रहे हैं। उच्च भूमि स्थित तटस्थ द्रष्टा के अतिरिक्त कोई भी इस रहस्य को नहीं जान सकता।

माँ का राज्य कमलरूप है। उसका समस्त पथ कमलदलरूप है। मानो कमल की पंखुड़ियों से समस्त पथ की रचना की गयी हो। माँ का राज्य एक कमल के समान है। दल के विभिन्न स्तर हैं और मध्य में कर्णिकारूपी बिन्दु है। बिन्दु ही आसन है। जो इस आसन पर समासीन हैं, वे माँ हैं। दल के बाहर ज्योति विराजित है। प्रत्येक भूमि में इस प्रकार के भिन्न राज्य विद्यमान हैं। प्रत्येक स्थानों की प्रकृति, ज्योति एवं वैचित्र्य विभिन्न है।

योगी का प्रधान कर्तव्य है बहिर्जगत् में प्रवेश कर, अन्तर्जगत् के बाह्यांश से अन्तर्मुखीनता ग्रहण कर क्रमशः अन्तरमय बिन्दु अथवा केन्द्र में प्रविष्ट होना। बाह्यजगत् अज्ञानबहुल है। बाह्यदृष्टि भी अज्ञान से युक्त है। इसलिए सर्वप्रथम इस अज्ञानदृष्टि का त्याग कर ज्ञानदृष्टि के अवलम्बन से अन्तर्जगत् में प्रवेश करना होगा। अन्तर्जगत् ही भावराज्य या हृद है। भाव का विकास, लक्ष्य का उन्मीलन, हृदय-प्रवेश और अन्तर्जगत् में गतिप्राप्ति, सब एक ही बात है।

पहले जो कुछ कह आया हूँ, उससे स्पष्ट है कि कर्म के प्रभाव से इस भाव-राज्य में प्रवेश करने से उपयोगी लक्ष्य उन्मीलित होता है एवं भावदेह प्राप्त होती है। जब तक यह प्राप्ति न हो, तब तक तदुपयोगी साधनस्वरूप कर्म करना अत्यावश्यक है। योगी एवं साधक का पार्थक्य यह है कि मरदेह-अवस्थान-काल में लक्ष्योन्मीलन सम्बन्धी कर्म अपूर्ण रह जाने पर भी योगी को कर्म पूर्ण करने का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि यह प्रकृत कर्म नहीं, गौण कर्म है, क्योंकि मरणान्तर में अमरदेह प्राप्त कर जो कर्म किया जाता है, वह तीव्र संवेगसम्पन्न नहीं होता। फिर भी वह कर्म है उससे लक्ष्य का उन्मीलन एवं भावप्रवेश यथावत् संघटित होता है। योगीगण देहान्त के पश्चात् आश्रय और काया प्राप्त करते हैं, अतः अवशिष्ट कर्म समाप्त करना सम्भव—पर होता है। साधक के लिए (लक्ष्योन्मीलन के पूर्व ही देहस्थिति भंग हो जाने पर) योगी की तरह बोधपूर्वक लक्ष्योन्मेष घटित नहीं होता। साधक का लक्ष्योन्मेष और चिदाकाशप्रवेश कार्यतः विभिन्न है और व्यवहृत होने पर दोनों में (लक्ष्योन्मेष एवं चिदाकाश में) पार्थक्य अनुभूत नहीं होता। अज्ञातरूप से व्यवधान कट जाने से चिदाकाशप्रवेश प्राप्त होता है। वर्तमान प्रसंग में साधक की आलोचना नहीं, अपितु योगी की आलोचना ही कर्तव्य है।

भाव में प्रवेश के साथ-साथ एक लक्ष्य प्रतिष्ठित होता है और लक्ष्य की अनुगामी गति चलती रहती है। किसी वृत्ताकार गोलक के बहिर्देश से उसके केन्द्र की ओर आवर्तक्रम से चलने पर क्रमशः केन्द्र तक स्थिति प्राप्त हो सकती है। भाव से

योगी की अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। जब तक उस गति का अवसान नहीं होगा, तब तक भाव की प्रतिष्ठा महाभाव तक नहीं होती। भाव परिधि-बिन्दु है एवं महाभाव केन्द्र-बिन्दु। यह खण्डयोगी की स्थिति है। महाखण्ड-योगी की धारा में भाव से महाभाव में गति का पर्यवसान नहीं होता। महाखण्ड-योगी की गति में भाव का परमाप्रकृति में पर्यवसान होता है। इसमें भी एक रहस्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है। महाभाव-प्राप्ति के समय यदि कोई योगी नाभि-मार्ग में महाज्ञान प्राप्त कर परमाप्रकृति की ओर गति को प्रतिष्ठित कर सके, उस स्थिति में परवर्ती दुर्बल योगी भी महाभाव के पश्चात् परमाप्रकृति पर्यन्त उत्थान कर वहाँ विश्राम करने में समर्थ होंगे। परमाप्रकृति के राज्योद्‌घाटन का भार नाभिचक्र भेदी महाखण्ड योगी के ऊपर है। अभी तक परमाप्रकृति का राज्य उद्‌घाटित एवं उन्मुक्त नहीं है, इसी कारण महाभाव ही योगी की स्वभूमि है। वास्तव में इस समय महाभाव अथवा परमाप्रकृति, दोनों के मध्य कोई भी भेद परिलक्षित नहीं होता। जिस अवस्था में योगी स्वभूमिरूप स्थान प्राप्त करता है, उसी स्थान से ही अन्तर का आवेष्ठन उसे घेर लेता है। इसी नियम के अनुसार महाभाव का कर्म समाप्त होने के पश्चात् महाभाव का आवेष्ठन उसे घेर लेता है। महाभाव के पश्चात् क्या है? इसका सन्धान उसे नहीं मिलता।

महाभावराज्य के सब ओर (दशों दिशाओं की ओर) एक अखण्ड ज्योति विद्यमान रहती है। यदि नाभिचक्रभेदी योगी के प्रभाव से परमाप्रकृति का राज्य उद्‌घाटित हो सके, उस स्थिति में वही राज्य तत्काल योगी के स्वस्थान रूप से परिगणित होगा। वह स्थान भी चारों ओर एक अनन्त ज्योति से वेष्ठित परिलक्षित होगा। परमाप्रकृति का राज्य आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति का स्थान है। जो योगी महाखण्ड गुरु की कृपा से यहाँ स्थान प्राप्त करते हैं, उनका समस्त अभाव चिरकाल के लिए समाप्त हो जाता है। महाभाव और परमाप्रकृति दोनों एक ही स्थिति के दो पृष्ठ देश हैं। इन स्थानों पर अभाव की स्थिति नहीं होती। वास्तव में यही भगवत्-धाम है। यह समग्र विश्व के अत्यन्त ऊर्ध्वदेश में अवस्थित है। अमर राज्य से भी ऊर्ध्व में इसकी अवस्थिति है। इसके पश्चात् भी कहीं गति होगी? यह प्रश्न उत्थित नहीं होता। इसी स्थान पर कर्म एवं गति का अवसान होता है (परन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं है)। आज तक मरदेहावस्थान-काल में कोई भी परमाप्रकृति के इस राज्य में नहीं जा सका। जब तक मरदेह में स्थित रहते-रहते यह स्थान विजित नहीं होता, तब तक अमरदेही योगीसत्ता इस स्थान को कैसे प्राप्त करेगी? इसी कारण परमाप्रकृति का यह राज्य आज तक एक अतिगुह्य स्थानरूप से उल्लिखित है। आज तक महाभाव राज्य ही अन्तर्जगत् के चरम बिन्दुरूप से गृहीत होता रहा है। श्रेष्ठ योगीगण महाभाव पर्यन्त ही उत्थित होते हैं। वही योगियों का ब्रह्मपद है। साधक का ब्रह्मपद है चिदाकाश। वास्तव में महाभाव के स्रोत में पड़कर परमाप्रकृति के राज्य में गति

एवं स्थिति-लाभ ही अन्तर्मुखी गति की चरम सार्थकता है। नाभिचक्र-भेदी योगी की चेष्टा से परमाप्रकृति का राज्य उन्मुक्त हो चुका है, इसी कारण यह प्रसंग वर्णित है।

बहिर्जगत् से विक्षिप्त दृष्टि एकाग्र कर लक्ष्योन्मेष के फलस्वरूप जब अन्तर्जगत् या हृदयराज्य उन्मीलित होता है (अर्थात् हृदय पुण्डरीक विकसित होता है) तब क्रमशः हृदय-केन्द्र की ओर गति वर्द्धित होने लगती है। लक्ष्य या आनन्द के परमस्वरूप का, (परमाप्रकृति) इष्ट के अन्तरतम स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होने के साथ-साथ अन्तर्मुखी गति का अवसान हो जाता है। वास्तव में ब्रह्म का स्थान इससे अतीत है। चतुर्दिक् जो अखण्ड महासत्ता प्रतिभासमान हो रही है और जिसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्दिष्ट रूप से कहना सम्भव नहीं है, वह वस्तुतः ब्रह्म है। वह सृष्टि से अतीत है। बाह्यजगत् एवं अन्तर्जगत् दोनों से अतीत है। मोहमाया, महामाया एवं महामहामाया से भी अतीत अनन्त परम सत्ता है। वह असंगरूपेण अनासक्त भाव से सर्वत्र विद्यमान है अथच वह सबसे अतीत है एवं एक प्रकार से वह कहीं भी नहीं है! कर्मद्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होती। महालक्ष्यरूपी सम्यक्ज्ञान द्वारा भी उसकी उपलब्धि नहीं होती। किसी भी उपाय से उसे आयत्त कर सकना सम्भव नहीं। जीव का पुरुषकार उसे निजस्व नहीं कर सकता। परमात्मा की कृपा द्वारा भी उसे आयत्त करना सम्भव नहीं। वह एक साथ सत् एवं असत् है, अथच उभयातीत भी है। वह क्या है? यह कह सकना सम्भव नहीं। वह क्या नहीं है? इसका भी विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस ब्रह्मवस्तु को बोध के साथ आयत्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। हम परमाप्रकृति के राज्य में जिस अचिन्त्य, अनन्त, अस्फुरन्त आनन्द का सन्धान प्राप्त करेंगे, वह भी ब्रह्मवस्तु की समृद्धि और महिमा की तुलना में वैसी ही है, जैसे महासिन्धु की तुलना में बिन्दु मात्र जल। आज तक कोई भी योगी देहावस्थान काल में, (अर्थात् चेतनसत्ता की स्थिति में) इस वस्तु को धारण करने में समर्थ नहीं हो सके। वह सुदूर स्वप्न की भाँति (परम पद की संज्ञा से) महायोगी एवं महर्षियों के ग्रन्थादिकों में वर्णित है। दिव्यसूरिगण विष्णु के जिस परमपद का निर्निमेष दृष्टि से दर्शन करते रहते हैं, वह वस्तुतः इस ब्रह्मपद से भिन्न और कुछ भी नहीं है। परमाप्रकृति के राज्य से इसका अनन्त व्यवधान है। वह वहाँ से कितनी दूर है, इसका निर्णय कर सकना असम्भव है। वह सुदूरवर्ती होने पर भी सर्वत्र समभाव से विद्यमान है।

अन्तर्गति का पर्यवसान हृदय के मध्यबिन्दु में होता है, तत्पश्चात् अन्तर्गति भी नहीं रह जाती। भावप्रवेश के साथ-साथ जैसे बाह्यजगत् का निरोध हो जाता है, उसी प्रकार महाभाव अथवा परमाप्रकृति का भेद करने के पश्चात् आन्तरज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है। भीतर और बाहर एक न होने तक, एक समान प्रकाशित न होने तक, अखण्ड ब्रह्मसत्ता को धारण कर सकना सम्भव नहीं है। मायाराज्य अथवा महामाया-राज्य में गति है, अतः योगी के लिए एक भूमि से अन्य भूमि में एवं एक अवस्था

से अन्य अवस्था में अग्रगति सम्भवपर है। बहिर्जगत् एवं अन्तर्जगत् में एक ही गति है। भेद है केवल मात्र दिशा का। अन्तर्जगत्-भेदन का सामर्थ्य होते ही गति की स्थिति नहीं रह जाती। अन्तर्जगत्-भेदन दुःसाध्य कार्य है, कारण, आज तक उसमें कोई समर्थ नहीं हो सका। लेकिन वही योगी का आदर्श है। जैसे बहिर्जगत् का भेदन न होने तक लक्ष्य उन्मिषित नहीं होता और अन्तर्जगत् में प्रवेश प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अन्तर्जगत्-भेदन न होने तक प्रकृत सत्य की प्राप्ति नहीं होती। प्रकृत सत्य में बाह्याभ्यान्तर का भेद नहीं रह जाता। द्वन्द्व-विरोध, अतीत और अनागत नित्य वर्तमान में साम्य लाभ करते हैं। मैं और तुम का व्यवधान चिरकाल के लिए अस्तमित हो जाता है। देहावस्था में ही अन्तर्जगत्-भेदन आवश्यक है, अन्यथा भेदन करने की सम्भावना नहीं रह जाती।

अन्तर्जगत्-भेदन के पूर्व (अन्तर्जगत् के मध्यबिन्दु में प्रवेश के पूर्व) देहत्याग हो जाने पर परमाकृति के राज्य में कमलदल के मध्य स्थान प्राप्त होता है। परमाप्रकृति के राज्य को देहावस्था में महायोगी के अतिरिक्त कोई अतिक्रम नहीं कर सकता। यदि अतिक्रम हो जाये, तब भी कालनिवृत्त न होने तक देहान्तर की सम्भावना रहती है। देहान्त हो जाने पर वह स्वयं परमाप्रकृति रूप से नित्य प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जब तक अन्य कोई योगी इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करने के योग्य नहीं होगा तब तक उक्त अधिकारसम्पन्न होकर वे अवस्थान करेंगे। वस्तुतः उनका ऐश्वर्य और सत्ता, दोनों नित्य है, किन्तु ब्रह्मावस्था का उत्कर्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यह है कि देहावस्था में मात्र अन्तर्जगत्-भेदन से ही काल का विक्रम समाप्त नहीं होता। परमाप्रकृति राज्य जैसे काल-राज्य के अन्तर्गत है, वैसे ही परमाप्रकृति के बाहर सन्धि-भूमि में भी काल किंचित् विद्यमान है। एकमात्र ब्रह्म ही कालातीत है, अतएव अन्तर्जगत्-भेदन मात्र से महायोगी की कार्यसिद्धि नहीं होती। तत्पश्चात् मरदेहावस्थान-काल में ही कर्महीन कर्म अर्थात् आत्मकर्म या स्वकर्म सम्यक् प्रकार से सुसिद्ध होते ही भाव और गुणमिलन के साथ-साथ महामाया और ब्रह्मसत्ता का मिलन हो जाता है। अन्तर्जगत् अतिक्रान्त होने के पश्चात् गति या कर्म नहीं रह जाता, तथापि किंचित् रह भी जाता है। यह गतिहीन गति या कर्महीन कर्म ही महामाया और ब्रह्म का अभेद सूत्र है। देहान्त में यह सम्भव नहीं होता। इसलिए परमाप्रकृति राज्य भेदन करने के पश्चात् भी देह रहते-रहते इसे सम्पन्न करना होगा। जिस चतुर्दिक् अखण्ड ज्योति का वर्णन किया गया है, जो परमाप्रकृति राज्य को घेर कर विद्यमान रहती है, वह दृष्टिगोचर नहीं होती। परमाप्रकृति का राज्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उस स्थिति में योगी स्वभूमि को ही ब्रह्मभूमिरूपेण पहचानता है। तब काल-राज्य अथवा मायिकराज्य, कुछ भी नहीं रह जाता। ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित कोई पृथक् वस्तु भी नहीं रह जाती। उस

समय योगी ही ब्रह्म है। महामाया उसकी आश्रिता है। इस अवस्था में स्वातंत्र्योन्मेष का सूत्रपात होता है। इसका विशेष विवरण 'अखण्ड महायोग' पुस्तक के प्रसंग में उल्लिखित हो चुका है।

प्राचीन वैष्णव मत में जैसा वर्ण है, ठीक उसी प्रकार योगमार्ग में भी सर्वप्रथम भावप्रवेश के साथ भावदेह की प्राप्ति होती है। यह देह योगी का स्वरूप है। वस्तुतः यही मातृस्वरूप है। अतएव जिसे इष्ट कहा जाता है, योगी स्वयं तदरूप परिणाम की प्राप्ति करता है। जैसे शिव होकर शिव की उपासना की जाती है, वैसे स्वयं चिदानन्दमयी प्रकृति का स्वरूप धारण कर जड़ परिणाम विवर्जित अखण्ड तारुण्यमय अनन्त उल्लास से उल्लसित चिदानन्दमयी प्रकृति स्वरूप धारण कर स्वयं परमशिवरूप प्राप्त करने के लिए (अंश जिस प्रकार अंशी को प्राप्त करने की चेष्टा करता है ठीक उसी प्रकार) वह भावराज्य में भी स्वयं अग्रसर होता है। इस गति का अवसान जिस बिन्दु पर होता है, वह वस्तुतः इष्ट स्वरूप है। यही लक्ष्य का अवसान है। इसके पश्चात् है अलक्ष्य। वह है आनन्द के अतीत, इष्ट के अतीत एवं कर्म के अतीत। अथच उसमें सब कुछ विद्यमान है। सर्वप्रथम आश्रय एवं अन्त में विषयतत्त्व आत्मप्रकाश करता है। इसकी परावस्था में आश्रय और विषय, दोनों के मिलन से जिस सामरस्य का उदय होता है, उसके प्रभाव से ब्रह्मतत्त्व धारण करने की शक्ति जन्म लेती है। प्रचलित वैष्णव परिभाषा में कहने पर इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि आश्रय सिद्ध होने पर भक्त और भगवान् का पृथक् भाव नहीं रहता। दोनों की पृथक सत्ता विगलित होकर एक अखण्ड रसमय में पर्यवसित होती है। उसी स्थिति में बलाधान होता है एवं ब्रह्म को धारण करने की योग्यता प्राप्त होती है। इसके पूर्व योग्यता प्राप्त नहीं होती।

●

शरणागति

भक्त के साथ भगवान् की नित्यलीलामयी कथा महाजनों की वाणी में उल्लिखित है। वह नित्यलीला वास्तव में परमाप्रकृति के राज्य में ही घटित होती है। वह वास्तव में ब्रह्मावस्था नहीं है, क्योंकि ब्रह्म लीलातीत है। वैष्णव भी योगमायारूपा मातृशक्ति द्वारा लीला की वर्णना करते हैं। कोई-कोई वैष्णवाचार्य श्रीशक्ति और भूशक्ति की तरह लीलाशक्ति नामक एक पृथक् शक्ति को स्वीकार करते हैं। उसकी आलोचना यहाँ पर अप्रांसगिक है। संक्षेप में परमाशक्ति बिना लीला नहीं हो सकती।

मैंने लक्ष्य, कर्म और सेवा का उल्लेख किया है। महायोग में युगपत् रूप से इन तीनों की आवश्यकता स्वीकृत की गयी है। साधक और योगी की उपलब्धि का पारस्परिक भेद पुस्तक में वर्णित है। किन्तु उसके रहस्यांचल पर अभी प्रकाश नहीं पड़ा है। वास्तव में जिसे हम श्वास-प्रश्वास कहते हैं उसके साथ कर्म एवं अनुभूति का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तब श्वास-प्रश्वास का तत्त्व स्पष्टरूप से हृदयंगम नहीं होगा, तब तक कर्म एवं ज्ञान का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। साधारण जीव की, साधक की ओर योगी की श्वासगति में परस्पर वैलक्षण्य है। जीव काल से श्वास ग्रहण करता है,अर्थात् बहिःस्थित काल-राज्य से श्वास का आकर्षण करता है। आकर्षण करती है जीव की दृष्टि अर्थात् चक्षुबिन्दु। इस बिन्दु में अति तीव्र आकर्षण-शक्ति विद्यमान है। इसके प्रभाव से कालशक्ति से वायु श्वसनरूप से जीवदेह में प्रविष्ट हो जाती है। साधारणतया कोई भी इस रहस्य को नहीं जानता। यह वायु के साथ-साथ देहाभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर जिह्वा के निम्न प्रदेश में स्थित सितार के तार के समान विस्तारयुक्त तन्तुसमष्टि में अवतीर्ण होती है। यह तन्तुसमष्टि गुच्छाकृति में वर्तमान है। जिस वायु को आकर्षित करने का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः काल का अणु है। इसी कारण इन तन्तुगुच्छ को श्वास का तार अथवा काल का तार कहा जाता है। इस स्थान से, इन तन्तुओं के सहयोग से यह समस्त अणुरूपी वायु क्रमशः नीचे की ओर संचारित होकर नाभिकेन्द्र में उपस्थित होती है एवं वहीं निरन्तर घूर्णित होती है।

इसके पश्चात् नाभिदेश से होकर इसकी एक धारा ऊर्ध्वगामी हो देह के सम्मुखीन वाम पंजर के नीचे निरयहृद नामक स्थान विशेष में उत्थित होती है। दूसरी ओर नाभिचक्र के नीचे अपांग स्थान से होकर एक ताप निरन्तर निर्गत हो रहा है। वह भी स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होकर निरयस्थानरूपी हृद में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त वायु एवं यह ताप परस्पर संयुक्त होकर निरयस्थान का भेदन कर श्वासयन्त्र

में प्रविष्ट होता है। श्वासयन्त्र सूक्ष्म छिद्रसम्पन्न है। यह वायु अब श्वासयन्त्र के छिद्र का भेद कर, श्वास यन्त्र से अत्क्रान्त हो, सर्वप्रथम कण्ठदेश, तत्पश्चात् तालु के मूल स्थान तक गमन करती है। तालू के मूल स्थान से होकर प्रश्वासरूप से निर्गत होती है। बहिर्गमन का द्वार है मुख या नासिका। मुख द्वारा वायु का निर्गम अत्यन्त अशुभकर है। इसके फलस्वरूप मृत्युकाल सन्निहित होता है। मुख से निर्गत वायु का काल आकर्षण कर लेता है। काल को जितना प्राप्य है, उससे अधिक का मुख द्वार से काल आकर्षण कर लेता है। काल को जितना प्राप्य है, उससे अधिक का मुख द्वारा काल में निर्गमन हो जाता है। इस कारण निर्दिष्ट समय से पूर्व जीवन की धारा अवसान की ओर उन्मुख हो जाती है। निर्गम का प्रकृत द्वार है नासिका। यथाविधि नासिका द्वारा निर्गत वायु कर्मशक्ति के स्तर में नियुक्त हो जाती है। काल उसका ग्रसन करने में अक्षम रहता है। इसका प्रधान लाभ यह है कि यदि कभी पूर्वोक्त जीव कर्म-पथ पर गति-लाभ करे एवं कर्म में प्रवृत्त हो, ऐसी स्थिति में कर्म के परदों द्वारा वायु का आकर्षण किया जा सके। यदि किसी की वायु आंशिक रूप से नासिका एवं मुख दोनों के द्वारों से निर्गत होती है, उस स्थिति में वह सत्कर्मफल प्रसवित नहीं करती। कारण वह काल के साथ सम्बन्धयुक्त होकर तेजहीन हो जाती है। साधारण जीव का श्वास-प्रश्वास इसी प्रकार का होता है।

साधक की श्वासधारा में किंचित् वैचित्र्य परिलक्षित होता है। नाभिकुण्ड से वायु का एक प्रवाह एवं अपांग से ताप का एक प्रवाह निरयस्थान में जाकर मिलित होता है। तत्पश्चात् साधक की वायु निरयस्थान का त्याग कर श्वासयन्त्र की ओर उत्थित नहीं हो पाती। वायु के परिवर्तन से पूर्वोक्त ताप ऊर्ध्वगामी होकर श्वासयन्त्र में प्रवेश करता है, फलस्वरूप श्वासयंत्र शुष्क हो जाता है। कर्मावस्था के विकास के साथ-साथ साधारण जीव की तुलना में साधक का यह वैलक्षण्य प्रतिष्ठित होता है। ताप के प्रभाव से श्वासयंत्र अत्यन्त शुष्क हो जाता है। दीर्घकाल में इस शुष्कता की पराकाष्ठा सम्पन्न होने पर इस स्थान से एक ज्योति का आविर्भाव होता है। यह ज्योति अत्यन्त विशाल ज्योति है। इसका आदि-अन्त परिलक्षित नहीं होता। साधक इसे आत्मज्योति मानते हैं। यह आत्मदर्शन की एक अवस्था है, तथापि यह वास्तविक आत्मदर्शन नहीं है।

इस ज्योति-दर्शन के पूर्व कुम्भक अवस्था का उदय होता है। यह योगशास्त्र में वर्णित कुम्भक से अलग प्रकार का है। श्वास अथवा वायु के रोध से यह कुम्भक नहीं होता। यह ताप का रोध मात्र है। वायु इस समय अभिभूत हो जाती है। वास्तव में खेचरी भाण्ड से निरन्तर अमृत क्षरण हो रहा है। यह वही है। खेचरी भाण्ड के ऊपर जो सूक्ष्म जाल विद्यमान है, उसी से यह अमृतक्षरण होता है। इस स्थान से जो अमृत क्षरित हो रहा है, साधक के लिए वही आत्मोपलब्धिरूप प्रतीयमान होता है।

यह शुद्ध अमृत है। अतएव इसके दर्शन के समय साधक ठीक-ठीक उपलब्धि की रक्षा नहीं कर पाता। साधक का आधार-बल अत्यल्प है। यद्यपि साधक का दर्शन आत्मदर्शन रूप से प्रतीत होता है, तथापि यह जीवनी-शक्ति का साक्षात्कार है। अमृत एवं जीवनीशक्ति परस्पर अभिन्न वस्तु है। तत्पश्चात् साधक अपनी दृष्टि को ऊर्ध्वगामी कर भ्रूमध्य की ओर लक्ष्य-स्थापना करता है। इस समय श्वास वायु सूक्ष्म रूप से निर्गत होने लगती है। इस निर्गम का स्थान है चक्षु का बाह्य कोण, किन्तु तब साधक अनुभव करता है कि उसका योग सहस्त्रार से स्थापित हो गया। वास्तविकतया यह सहस्त्रार से योग नहीं, अपितु मात्र बाह्यदर्शन है। ज्योति के साथ ज्योति का मिलन है। बाह्य ज्योति के साथ आन्तरिक ज्योति का मिलन होते ही साधक का अन्तिम प्रश्वास निर्गत हो जाता है। यह साधक की सिद्धावस्था है। तब उसका देह-सम्बन्ध नहीं रहता एवं चिदाकाश में विशाल ज्योतिरूप से स्थित हो जाता है। यह सहस्त्रार में स्थिति नहीं है। एकमात्र योगी ही सहस्त्रार में स्थित होने में समर्थ है। कारण, योगी जागृत कुण्डलिनी युक्त है। वह जागृत कुण्डलिनी (गुरुदत्त काया) लेकर कर्मक्षेत्र में अग्रसर होता है। साधक की कुण्डलिनी जागृत नहीं है और उसके पास गुरुदत्त काया भी नहीं है। यह देहत्यागोपरान्त गुरुदत्त को प्राप्त करता है। देह त्याग पूर्व के समस्त कर्म उक्त गुरुदत्त काया के निर्माण में पर्यवर्सित हो जाते हैं। जब तक देहावस्थान-काल में गुरुदत्त काया प्राप्त नहीं होगी तब तक सहस्त्रदल की प्राप्ति नहीं होती। ज्योति-प्राप्ति अथवा ज्योति-प्रवेश के लिए गुरुदत्त काया आवश्यक नहीं होती। साधक द्वारा उपलब्ध पूर्ववर्णित कुम्भक प्रकृत नहीं है।

●

साधक तत्त्व

साधक की धारा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वह पर्याप्त नहीं है। यद्यपि साधक योगी से पृथक् है तथापि सभी एक प्रकार के नहीं होते। साधक में भी अवान्तर भेद विद्यमान है। इन्हें उत्तम, मध्यम एवं साधारण तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है।

उत्तम साधक वे हैं जिनमें अभाव की प्रेरणा स्वभावसिद्धरूपेण उदित होती है, ये साधक अभाव की प्रबलतावश अपने-अपने गुरु का आकर्षण कर लेते हैं। वस्तुतः इस स्थल पर गुरु की अपेक्षा शिष्य का बल अधिक प्रतीत होता है। इनका चरम परिणाम है चिदाकाश में स्वरूप-प्राप्ति। चिदाकाश विश्वप्रकृत के जाल से ऊर्ध्व है। ऊर्ध्व होने पर भी यह एक प्रकार का जालविशेष है। कारण, जो चिदाकाश में स्थिति- लाभ करते हैं, वे बिना अन्य की सहायता प्राप्त किये चिदाकाश-भेदन में समर्थ नहीं हैं। यह सत्य है कि चिदाकाश अणुसम्बन्धविहीन है तथापि उसमें आत्मा को भी स्वाभाविक पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती। अतः योगीगण चिदाकाश को भी जालरूप से सम्बोधित करते हैं।

साधक दीक्षा-काल में गुरु से चैतन्य का आभास प्राप्त करता है। उसे उत्थान का मार्ग प्राप्त होता है और उसका अवलम्ब लेकर क्रमशः चलता रहता है। देहमध्य में अपांगचक्र के नीचे अर्थात् नाभिप्रदेश के अधोभाग में एक त्रिकोण विद्यमान है। वह ऊर्ध्वमुख त्रिकोण है। इस त्रिकोण के नीचे त्रिदल (बिल्वपत्र के समान) दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः यह तीन दल नहीं है। ये तीनों कुण्डलिनी की सुप्त अवस्था है। दो हैं पार्श्व में, एक है निम्नदेश में। इन तीनों के मध्य जो अधःस्थित है, वह दक्षिण एवं वाम उभय पार्श्ववर्ती दो आच्छादनों द्वारा आच्छादित है। जब गुरु द्वारा चैतन्य संचरित होता है, तब पार्श्ववर्ती दोनों ढकने खुल जाते हैं। उस समय मध्यस्थित शक्ति जागृत हो जाती है। जहाँ से यह शक्ति धारारूप से बहिर्गत होती है, उसे सुषुम्नह्रद कहते हैं। इसका वर्णन विशिष्ट प्रकार के शून्यरूप से भी हो सकता है।

चैतन्य-शक्ति का संचार (अथवा स्वतःसिद्ध भाव से चैतन्य-शक्ति का उन्मेष होना) इसके सन्धान के लिए आवश्यक है। ऊपर जिस त्रिकोण का वर्णन कर चुका हूँ, उसके तीनों कोणों से एक-एक धारा निर्गत होती है। दक्षिण एवं वाम धारा से जन्म, मृत्यु का सम्बन्ध है। जब जन्म होता है, तब जिस धारा से संचार होता है, मृत्यु के समय ठीक उसी धारा से संचार नहीं होता, अन्य धारा से संचार होता है।

अर्थात् जिस मार्ग से जीव आगमन करता है, मरणोत्तर स्थिति में उस रास्ते से वापस लौट पाता, अन्य मार्ग से लौटता है।

त्रिकोण के ऊर्ध्वकोण से जो धारा बहती है उसका नाम है 'मूला'। यह जन्म-मृत्यु की मध्यवर्तिनी धारा है। द्विदल-बिल्वपत्र निम्नदलरूपी सुषुम्नाह्रद के उन्मुख होने पर वहाँ से जो धारा निर्गत होती है, उसके साथ त्रिकोण के ऊर्ध्वलोक का भेद करके उत्थित होती है। मेरुदण्ड के मध्य से यह क्षीण धारा स्कन्दद्वय के मध्यवर्ती स्थान पर्यन्त प्रवाहित होती है। साधक इस धारा का आश्रय लेकर अग्रसर होते हैं। यद्यपि यह धारा प्रकाशमयी है, तथापि साधक उसका अनुभव तमसाच्छन्न रूप से करते हैं। त्रिकोण के पृष्ठभाग से इस प्रकार की धारा का निर्गम होता है। त्रिकोण का मध्यबिन्दु साधक आयत्त नहीं कर पाते। उसका नाम मध्य है। उसे योगीगण प्राप्त करते हैं। दुर्बल साधक उसे आयत्त कर अपना पथ नियमित करने में समर्थ नहीं होते।

स्कन्धद्वय के मध्यस्थल से किंचित् ऊर्ध्व प्रदेश में एक विशिष्ट केन्द्र है। यह है प्रकृत मूलाधार। प्रचलित योगशास्त्र में इसका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। इस स्थान से पृष्ठदिक् अवलम्बनपूर्वक मस्तक के मध्य बिन्दु अर्थात् सहस्रदल के केन्द्र पर्यन्त एक नाड़ी अथवा शिरा विस्तृत है। इस शिरा का नाम है नैर्ऋत शिरा। यह नैर्ऋत शिरा एक ओर चिदाकाश एवं अपरदिक् मूलाधार, इन दोनों को युक्त करती है। इसी का आश्रय लेकर अन्तरालवर्ती समग्रराज्य प्रकाशित होते हैं। मूलाधार के ऊर्ध्व प्रदेश में अमृतसर नामक त्रिकोणात्मक एक शून्यमय स्थान विद्यमान है। यह है (जीव का) निराकार ज्योति-स्वरूप। इसमें कोई भी दृश्य भासित नहीं होता। यह आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होने पर भी साधक यहाँ किसी आनन्द का आस्वाद नहीं कर पाते। यह एक विशाल जलाशय के समान प्रतीत होता है। वास्तव में यह है शून्यस्वरूप। साधक इस अमृतसर नामक प्रदेश का अतिक्रम अत्यन्त कष्ट से करते हैं। मनुष्य तैरकर किसी नदी अथवा जलाशय को पार करता है, उसी प्रकार साधक साष्टांग योग=आत्मसमर्पण से इस स्थान का भेद करते हैं। दुर्बल साधक के लिए यहाँ दण्डायमान रहना अथवा तद्रूप अग्रसर होना सम्भव नहीं होता। अमृतसर में साधक का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहता है। यही इसका वैशिष्ट्य है। कर्मपूर्ण न होने तक विशुद्ध चैतन्य में स्थिति नहीं होती। इसी प्रकार अमृतसर तक स्थिति होने पर भी निज पृथक् सत्ता अपगत नहीं होती। अमृतसर पार होने के साथ-साथ सहस्रदल के दलराज्य अथवा समस्त खण्डराज्य की प्राप्ति हो जाती है। इसका नाम है चिद्राज्य। एक-एक दल एक पृथक् राज्य है। दल असंख्य हैं, अतः राज्य असंख्य हैं। प्रत्येक राज्य में ऐश्वर्य एवं आनन्द का प्राचुर्य है। चिद्राज्य होने पर भी भोग एवं भोग्य वस्तु का किंचित् अभाव नहीं है। अमृतसर की ज्योति है जीव का सहज आलोक, निरामय प्रकाश। चिद्राज्य साकार है एवं आपेक्षिकरूपेण जीवत्व विवर्जित है। चारों ओर

असंख्य दल हैं। प्रत्येक दल के अधिवासी साधक इन दलों की सम्पदा का भोग करते हैं। किसी-किसी दल में अधिवासी प्रजा का बाहुल्य है। कहीं-कही प्रजा की अपेक्षाकृत अल्पता है। जिस परिमाण में चिन्मयता की प्राप्ति होगी, उतनी अधिक बल-प्राप्ति साधक को होगी। जो साधक जितने परिमाण में चित्शक्ति का अर्जन करेगा, उसके राज्य में दलगत अधिवासियों की संख्या उतनी ही कम होगी। वह बहुसंख्य सत्ता को अपने अन्तर्भुक्त कर लेता है। साधक जितना अधिक अग्रसर होगा, उसी अनुपात से उसके राज्य में एकत्व की प्रतिष्ठा होगी। जिस राज्य में अधिवासियों की संख्या जितनी कम होगी, उतना ही वह चिदाकाश के निकट है। जहाँ के अधिवासी मात्र एकजन हैं, वहाँ का राज्य अन्य खण्डराज्यों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार किसी राज्य में मात्र राजा ही हैं, तो किसी राज्य में राजा का स्थान रिक्त है और मात्र प्रजा की ही अवस्थिति है। इस प्रकार समस्त चिद्राज्य समष्टि को चिद्साम्राज्य कहते हैं। इस असंख्यराज्यों के जो सम्राट् हैं उनका आसन है चिदाकाश में, अर्थात् सहस्रदल कमल की कर्णिका का बिन्दु में। चिदाकाश की वेष्ठनी (घेरा) एक कंकण के समान है। चिदाकाश में प्रवेश करते समय एक द्वार का अवलम्बन लेकर प्रवेश होता है। घेरे के अन्दर स्थित 17 राज्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपरोक्त 17 राज्य चिदाकाश के पास सन्निहित हैं। इन 17 राज्यों से होकर साक्षात् रूप से चिदाकाश में प्रवेश पाया जाता है। पूर्वोक्त राज्यों से साक्षात्-भावेन चिदाकाश में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। चिदाकाश में प्रविष्ट होकर जो सहस्रदल के सम्राट् रूप से विराजमान होते हैं, वे अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेते हैं। अन्यान्यजन स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर पाते। इसका एक रहस्य है। उपर्युक्त 17 राज्य कलारूप में वर्णन करने योग्य हैं। चिदाकाश के अधिष्ठाता हैं चन्द्रस्वरूप। षोडशकला ही चन्द्रमा की पूर्णता है। सप्तदश कला पूर्णत्व की साक्षी है। कलाराज्य में आकर कला का विकास कर सकने पर कला पूर्ण हो जाती है, अर्थात् 18 कला का विकास होने पर चिदाकाश में स्थिति होती है। तत्पश्चात् सप्तदशी कला की जागृति होने पर साधक चिदाकाश का भेद पर महाभावरूपी भूमि में प्रवेश करता है। उसका साक्षीभाव उन्मुक्त हो जाता है, साथ ही योगपथ के खुलने से साधक सिद्ध होकर, चिद्राकाश भेद कर, महाभावरूपी योगभूमि में प्रवेश करते हैं। उसका यह पथ योगपथ है। जब तक महाज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक इस पथ पर चलता रहता है। चुम्बक के आकर्षण की तरह एक क्रीड़ा निरन्तर चलती रहती है। लेकिन सप्तदशी की प्राप्ति न होने तक पूर्ण में रस के आकर्षण का अनुभव नहीं होता। जब सप्तदशी उद्वृत्त होगी तभी यह आकर्षण अनुभूत होगा।

योगी की कृपा से साधक (सिद्धावस्था के पश्चात्) योग-पथ प्राप्त करता है। योगी की कृपा का अर्थ है, पूर्ण में कोई तरंग क्रीड़ा न कर सके। योगी जब पूर्ण भेद

करने चलता है, तब जो लहर उत्थित होती है उसी से षोडशी कला से होकर सप्तदशी कला का आविर्भाव होता है। पूर्ण है जो, वह स्वतः परिपूर्ण नहीं हो सकता। अभाव योगी का निजस्व है, अतः वह पूर्ण से परिपूर्ण के पथ का आविष्कार करने में समर्थ होता है। अभ्रव-बोध उसे आविष्कार की प्रेरणा देता है।

मनुष्य के चित्त में जो भाव-रश्मि विराजित है, उसके मूल में है काल। कला प्रकृतिरूपा है। जिसमें जिस प्रकार की प्रकृति है या स्वभाव है, उसकी सत्ता में उसी कला की प्रधानता है। कला के विकास में जिस प्रकार मात्रगत भेद है, उसी प्रकार का गुणगत या स्वभावगत भेद विद्यमान है। उत्तम साधक होने पर भी सबकी प्रकृति एक प्रकार की नहीं है, अतएव सबका कलाराज्य भी एक प्रकार का नहीं है। साधक की प्रकृति के अनुरूप कलाराज्य चिदाकाश का द्वार रूप हो जाता है। मात्रागत विकास पूर्ण होने पर चिदाकाश में निज स्वरूप की उपलब्धि को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। वस्तुतः यही है सम्राट्-भाव।

प्रत्येक खण्डराज्य से चिदाकाश का दर्शन होता है। वस्तुतः अमृतसर से लेकर चिदाकाश पर्यन्त एक ही सत्ता विराजमान है। नैर्ऋत शिरा विस्तार से यही प्रतीत होता है। कलाराज्य के बाहर एवं अमृतसर के बाहर नैर्ऋत शिरा के दोनों पार्श्वों पर चतुर्दश लोक विद्यमान हैं। दक्षिण में है मृत्यु-राज्य एवं वाम में मृत्यु-राज्य के शासक अवस्थित हैं। साधक मृत्यु के शासक के सामने से होकर अग्रसर होता है। कारण, उसकी गति में प्रत्यावर्तन नहीं है। अपांग चक्र के निम्नस्थित त्रिकोण के जिस कोण से होकर मृत्यु की धारा बहिर्गत हो रही है, वह प्रसारित है नैर्ऋत शिरा के दक्षिण पार्श्वस्थ मृत्यु राज्य पर्यन्त। अमृतसर वास्तव में चिदाकाश का सोपानस्वरूप है।

सत्रह द्वार स्वरूप कलाराज्यों का वर्णन हो चुका है। सत्रह कलाओं के ऊपर सभी साधक अधिकार-स्थापना नहीं कर पाते। मैंने उत्तम साधक की ही बात की है। उत्तम में भी अवान्तरभेद है। उत्तम में भी जो श्रेष्ठ हैं वे 17 कलाओं के पूर्ण अधिकारी होते हैं। सप्तदश कला का नाम है आत्मबोध। इस प्रकार के साधक चिदाकाश जाकर भी अपने आत्मबोध की रक्षा कर पाते हैं, अर्थात् षोडश कला में पूर्ण होकर सप्तदशी कला के रूप में उदवृत्त हो सकते हैं। जिनका विकास अपेक्षाकृत न्यून है, उनका अधिकार इतना नहीं होता। उत्तम श्रेणी के अन्तर्गत जो मध्यम साधक हैं वे 11 कलापर्यन्त ही आयत्त कर पाते हैं। एकादश कला का नाम है चिन्मयराज्य। इसमें भी आत्मबोध का उदय नहीं होता, तथापि चिन्मय अवस्था में स्थिति होती है। जो सब उत्तम साधक नितान्त साधारण हैं, वे पाँच कला पर्यन्त निजस्व करते हैं। इसका नाम है सदानन्दलोक।

चिन्मयराज्य से चिदाकाश-दर्शन होता है। चिन्मयराज्य से तब तक चिदाकाश- प्रवेश उचित नहीं होता, तब तक कला का विकास न हो। कारण ऐसी

स्थिति में निजबोध की रक्षा करना सम्भव नहीं होता। सदानन्दलोक से चिदाकाश दृष्टिगोचर होता है।

अब मध्यम साधक का वर्णन करता हूँ। इनकी साधना का परिणाम अपेक्षाकृत न्यून है अर्थात् ये चिदाकाश पर्यन्त नहीं जा पाते। इन्हें चिदाकाश का दर्शन भी नहीं होता। इनकी गति नित्यराज्य पर्यन्त है। वे सब नित्यराज्य चिद्साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हैं। नित्य होने पर भी कालपुरुष के अधीन हैं। कल्पान्त-काल में अथवा तद्जातीय प्रलय होने पर नित्यराज्य का ध्वंस हो जाता है। दीर्घकालीन होने पर भी ये नित्य नहीं हैं। वास्तविक नित्यराज्य चिदाकाश के ऊर्ध्व महाभाव से लेकर परमाप्रकृति तक विद्यमान है। इन सकल नित्यराज्य में अवस्थान करते समय वे नित्यगुरु द्वारा दीक्षित होते हैं एवं तदनन्तर उनका कर्म चलता है। साधकीय कर्म होने पर भी, यह एक प्रकार से योग का ही कर्म है। इसके प्रभाव से साधक चिद्भवन पर्यन्त अग्रसर होते हैं। अखण्ड मण्डलाकार ज्योति ही चिद्भवन है। ये मात्र साक्षी रूप से एक नित्य सिद्ध चिदात्मक अवस्था में विराजित रहते हैं। साधक चिद्भवन में जाकर महाचैतन्य में जाग्रत् रहते हैं। इन्हें सुप्तता नहीं आती एवं लक्ष्य भी भ्रष्ट नहीं होता। कर्मभूमि में अवस्थान-काल में इन्हें जो दीक्षा मिली थी वह कृपायुक्त दीक्षा है। नित्यभूमि में जो दीक्षा इन्हें मिली वह है कृपाहीनदीक्षा। कृपायुक्त दीक्षा खण्डगुरु से मिलती है। कृपाहीनदीक्षा खण्डगुरु नहीं दे सकते। यदि कर्मभूमि में रहते समय महाखण्डगुरु से इन्हें कृपाहीनदीक्षा प्राप्त हो जाती, उस स्थिति में इन्हें नित्यराज्य के कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। मरदेहयुक्त अवस्था में ही चिद्भवन में जाने की योग्यता प्राप्त होती है। चिद्भवन चिदाकाश के निकट होने पर भी एक नहीं है। योगी से असम्बद्ध रहने पर चिद्भवन में यातायात असम्भव है। जब साधक चिद्भवन की ओर अग्रसर होता है, तब एक-एक योगभूमि का अतिक्रमण करना होता है।

एक प्रकार से साधक की गणना मध्यम श्रेणी में की जा सकती है। ये सब चिदाकाश के ऊर्ध्व महासविता के राज्य में गमन करते हैं। वहाँ जाकर इनकी निज सत्ता लुप्त हो जाती है, तथापि स्वरूप या मूलसत्ता लुप्त नहीं होती। योगी अपने स्वरूप का उद्धार कर चिद्भवन में प्रवेश करते हैं। ये एक बार अनित्य राज्य में, तदनन्तर एक बार महासविता के राज्य में देहत्याग करते हैं। तत्पश्चात् चिद्भवन में गति प्राप्त करते हैं।

साधारण साधक के सम्बन्ध में अधिक कहना व्यर्थ है। इसमें कोई-कोई श्रेष्ठ होते हैं। वे गुरु के आकर्षण से आकृष्ट होकर साधन-राज्य में प्रवेश करते हैं। इनकी गति है कारणसलिल में अर्थात् मोह-माया के आकाश में। ये कारणवारि में निमग्न हो जाते हैं, किन्तु लुप्त नहीं होते। अतः पुनरावर्तन सम्भव होता है। इसमें जो मध्यम श्रेणी के हैं, उनकी गति गुणसलिल तक होती है। कारणसलिल से पुनरावर्तन नहीं

होता। जो इनकी अपेक्षा निम्नस्तर के साधक हैं, उनमें धर्माधर्म का बोध है, किन्तु आन्तरिकता का अभाव है। ये कारणसलिल में मिलित नहीं होते तथापि इनकी गति स्थल पर भी नहीं है। एक प्रकार से महाशून्य के समान निरालम्ब अवस्था में पड़े रहते हैं। कारणसलिल के किनारे असंख्य कुण्ड विराजित हैं। (प्रचलित भाषा में ८५ लाख कुण्ड कहे जा सकते हैं)। ये साधक अपने भावानुरूप कुण्ड में विषयीभूत हो जाते हैं।

साधक की उत्तम अवस्था में सर्वोत्कृष्ट स्थिति चिदाकाश है। चिदाकाश में आत्मबोध का उदय होता है। अन्यान्य सब अवस्थाओं की गणना इससे न्यून है। फिर भी यह सत्य है कि निम्नस्तरीय साधक अनेक बार चिदाकाशतीत भूमि में स्थिति प्राप्त करते हैं, जैसे महासविता एवं चिद्भवन में। दोनों स्थान चिदाकाश के ऊर्ध्वस्थित हैं। यह प्रश्न उदित होना स्वाभाविक है कि जहाँ उत्तम साधक नहीं जा पाते वहाँ मध्यम साधक की गति कैसे होती है? उत्तर यह है कि ये सब स्थान योगी के प्राप्य हैं। मध्यम साधक योगीगुरु के विशेष सम्बन्धवशात् योगपथ का पथिक होकर योगीलभ्य पद प्राप्त करता है। उत्तम साधक योगी की अधीनता स्वीकार नहीं करता। एक प्रकार से यह उसके उत्कर्ष का लक्षण है। जो साधक 16 कलाओं में अवस्थान करने पर भी एक कला में उद्वृत्त हो सकते हैं, वे एक प्रकार से ऊर्ध्वभूमि में स्थित न होने पर भी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ स्थितिसम्पन्न हैं, कारण, उनकी अपनी सत्ता के विकास में अपूर्णता नहीं रह जाती।

साधक मोहमाया एवं योगनिद्रा का भेद करते हैं। योगनिद्रा-भेद के पश्चात् ही उन्हें भेद करने का ज्ञान होता है। भेद करने के पूर्व या भेद करते समय कुछ भी अभिज्ञता नहीं रहती। मोहमाया एवं योगनिद्रा, दोनों आकाशस्वरूपा हैं। मोहमाया है नीलाकाश एवं योगनिद्रा है धवलाकाश। मोहमाया अत्यन्त गम्भीर है। साधारण लोग इनमें डूब जाते हैं। योगी के लिए भी इन्हें बाहर करना दुष्कर हो जाता है। यह साम्यमयी है। किसी प्रकार की चंचलता इस आकाश में स्थान नहीं पाती। जो इसमें मग्न होता है, वह इसके साथ अभिन्न हो जाता है। उसे खोज पाना कठिन है। योगनिद्रा अन्य प्रकार है। उसमें उच्छास है। इसके प्रभाव से साधक योगनिद्रा का भेद करके बोध के स्तर में उन्नीत हो जाता है।

कर्म से योगनिद्रा का भेद होता है, लेकिन कर्म से मोहमाया का भेद नहीं होता। जब तक पृथ्वी में विशुद्ध चैतन्यराज्य प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक योगनिद्रा अपनीत नहीं हो सकती। योगनिद्रा अपनीत होने पर विश्वचैतन्य मायाछन्न नहीं रहेगा। जीव का समष्टिकर्म पूर्ण होने पर योगनिद्रा नहीं रह जाती। जब तक समष्टि कर्म पूर्ण नहीं है तब तक योगनिद्रा चिरस्थायिनी है। समष्टिकर्म होने पर व्यष्टिकर्म का अभाव शेष रह जाता है। व्यक्तिगत कर्म अपूर्ण रहने पर भी, समष्टिकर्म पूर्ण हो सकता है। व्यष्टिकर्म शेष रह जाने से जगत् का आमूल परिवर्तन नहीं हो रहा है। समष्टिकर्म

पूर्ण होने पर व्यष्टिकर्म का पुरुषाकार रूप में स्फुरण होता है। इसके पूर्व जो व्यष्टिकर्म हो रहा है, वह प्रकृत व्यष्टिकर्म नहीं है। उसके प्रभाव से महामाया का राज्य भंग नहीं हो सकता। जैसे एक ओर अखण्ड सत्ता है, वैसे ही अपरदिक् खण्डरूपा मोहमाया विद्यमान है। मोहमाया का आलोक अखण्ड चैतन्य का कणमात्र है। योगनिद्रा में वह भी नहीं है। कारण, वहाँ परमाणु सुषुप्ति में मग्न है। मोहमाया का राज्य वास्तव में उसी कणमात्र प्रकाश से आलोकित है। कालरात्रि, मोहमाया एवं योगनिद्रा की अन्तरालवर्तिनी है। मनुष्य जन्म ग्रहण करके जब तक मृत्यु के अधीन नहीं होता, तब तक वह कालरात्रि के अधीन होकर स्थित रहता है। योगनिद्राभेद होने पर भी योगमाया से सम्बन्ध छिन्न नहीं होता। चिदाकाशातीत भूमि में शुद्ध माया कार्य करती है। महाज्ञानोदय के पश्चात् शुद्धमाया भी अपनीत हो जाती है, तब एकमात्र परमाप्रकृति शेष रह जाती है। इसे भी कर्म द्वारा निजस्व कर लेने पर विश्वमाया का अवसान हो जाता है। इसके पश्चात् अखण्ड महायोग की सूचना मिलती है।

योगी के मुख्यमार्ग का वर्णन करने के पूर्व साधक संक्रान्त आनुषंगिक चर्चा संक्षेप में करूँगा। साधक को ज्ञान एवं दर्शन समभाव में प्राप्त नहीं होता। कोई साधक ज्ञानमध्य से संचार करते हुए दर्शन में उपनीत होता है। ऐसे भी साधक हैं जो पहले दर्शन पाते हैं, तत्पश्चात् उन्हें ज्ञानोपलब्धि होती है। जो दर्शन का अवलम्ब लेकर ज्ञान-पथ पर अग्रसर होते हैं, वे मध्य साधक हैं। उन्हें पुरुषाकार की धारा अथवा प्रकृतिधारा में चलना पड़ता है। जो पुरुषाकार की धारा का अवलम्बन करते हैं, वे वैकुण्ठ की ओर अग्रसर होते हैं। प्रकृति की धारा वाले गोलोक की ओर गति प्राप्त करते हैं। वैकुण्ठ-धारा में जड़भाव की प्रधानता है, उसमें आन्तरिक स्वातन्त्र अनभिव्यक्त रहता है। गोलोक धारा तद्विपरीतं है। इसमें जो पथ प्राप्त होता है, वह योगपथ है। यह स्वभाव का पथ नहीं है अर्थात् गोलोक के पश्चात् कुछ भी नहीं है। गोलोक निर्गुण लक्ष्यस्वरूप है। इसके पश्चात् लक्ष्यरूपी द्रष्टा अपने स्वपथ पर चलता रहता है। पूर्वप्रचलित कोई पथ नहीं प्राप्त होता। चिदाकाश से जो योगपथ प्राप्त होता है, वह अभाव का पथ नहीं है, वह है स्वभाव का पथ। अतएव उसका धारारूप से वर्णन सम्भव है। यह परमाप्रकृति पर्यन्त प्रसारित है।

यद्यपि चिदाकाश एक ही प्रकार का है, तथापि साधक एवं योगी को एक प्रकार का प्रतीत नहीं होता। साधक को चिदाकाश की प्राप्ति होती है वृत्तरूप से अर्थात् गोलाकृतरूप से। योगी को उसकी उपलब्धि होती है चतुष्कोणरूप से।

योगी योगपथ पर निर्गत होता है, अपांग देशस्थ निम्नस्थ त्रिकोण के मध्य बिन्दु से। योगी चिदाकाशभेद करके जाता है। चिदाकाश योगी का चरम लक्ष्य नहीं है। चिदाकाश से अवतरण करने पर, देह की पृष्ठभूमि का अवलम्ब लेकर मेरुदण्ड के मध्य से उतरते हुए विभिन्न स्तरों का विकास करते-करते, योगी नाभि-समुद्र को

पूर्णरूपेण जागृत करता है। नाभि-समुद्र अथवा नाभि-सरोवर सहस्रदल कमल का स्थान है। ऊर्ध्वस्थ चिदाकाश सहस्रदल कमल का स्थान है। साधक का लक्ष्य है ऊर्ध्वमुख। अतएव साधक ऊर्ध्वगति समाप्त होने पर सिद्धि-लाभ करता है। साधक के मत से चिदाकाश के पश्चात् और स्थान गन्तव्य नहीं है। योगी तद्विपरीत ऊर्ध्वस्थ एवं अधस्थ; दोनों शक्ति को समानरूपेण उद्वृत्त करता है। ऊर्ध्वशक्ति की क्रिया समाप्त होने पर ही यह सम्भव है। अधःशक्ति ही क्रिया की समाप्ति का निदर्शन है। यह है नाभि सरोवरस्थ सहस्रदल कमल का पूर्ण विकास। ऊर्ध्वसहस्रदल शिवरूपी है, अधस्थ सहस्रदल है शक्तिरूपी। दोनों तुल्यबल हैं, अतः परमेश्वर सम्बन्ध में साम्यभाव का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् सन्धिपथ से निर्गत योगी निजस्वरूप की उपलब्धि करता है। अर्थात् निजस्व मन की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। यह अपांग कमल में प्रत्यावर्तन न करने से सम्भव नहीं होता। जहाँ से ऊर्ध्वगति उन्मिषित हुई है, अन्त में वहीं तक पहुँचने पर कार्य की समाप्ति होती है।

दीक्षाकाल में योगी गुरु से (साधक एवं योगी शिष्य) चैतन्यशक्ति प्राप्त कर कर्मजीवन प्रारम्भ करते हैं। प्रश्न उठता है कि एक ही चैतन्यशक्ति प्राप्त करने पर भी साधक उसे बीजरूपेण एवं योगी कायारूप में क्यों प्राप्त करते हैं? जन्मगत आपेक्षिक दुर्बलतावश साधक अत्यन्त उग्र तेजवस्तु धारण नहीं कर सकते। योगी का आधार अपेक्षाकृत सबल है, अतः वह धारण करने में समर्थ होता है। बीज मातृगर्भ में आकर क्रमशः वर्धित होता है। उसका आकार गठन परिपूर्ण होने पर वह निष्क्रान्त होता है। निष्क्रान्त होने के पश्चात् वह एक ही प्रकार का नहीं होता। साधक बीज-प्राप्ति के *पश्चात् कर्मशक्ति* द्वारा उस बीज को गुरुकाया रूप में, अर्थात् स्वकायारूप में, किंवा इष्ट में परिणत करता है, तत्पश्चात् उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। अर्थात् वह स्वयं इष्ट-रूप में अथवा प्रकृतिरूप में पूर्णता प्राप्त करता है। यही चिदाकाश में स्थितित्व का प्रकृत तात्पर्य है। जब सप्तदशी कलारूप का उदय उद्वृत्तभाव से होता है। (अर्थात् महाभाव में प्रवेश होता है) तब साक्षीरूप से पुरुषभाव का उदय होगा। यह योगीभाव है। प्रकृति अथवा शक्ति बिना योग सम्भव नहीं। योगभाव अर्थात् स्वयं शक्ति एवं स्वयं शक्तिमान। शक्ति अर्थात् चैतन्यमय स्वरूप शक्तिमान (अर्थात् अतीतस्थ शिवभाव की अवस्था) चिन्मयस्वरूप में अपने साथ अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है अथच निजस्व उससे अतीत है। साधक अपनी दुर्बलता से इस उच्च भाव को धारण करने में असमर्थ हैं। अतएव गुरु प्रथम अवस्था में साधक को स्वकाया दान नहीं करते। बीज अपेक्षाकृत मन्दशक्तिसम्पन्न है, यद्यपि उसकी विशुद्ध चेतनता में कोई सन्देह नहीं है। साधक क्रमशः अणु से मुक्त होकर पूर्णशुद्धि प्राप्त कर विशुद्ध चित्स्वरूपा काया धारण करने में समर्थ होता है। उस समय उसकी अणुसम्बन्धी काया नहीं रह जाती। अतएव अणुसम्बद्ध काया का

अभाव एवं चिन्मयकाया धारण बोध, इन दोनों के अन्तराल की अवस्था शेष रह जाती है। यही चिदाकाश स्थिति है। यह षोडशकलायुक्त पूर्ण अवस्था है, तथापि इसमें पूर्णता का बोध नहीं रहता। यहाँ बोध के उदय से उद्वृत्त भाव का आविर्भाव होता है एवं योगमार्ग में प्रवेश होता है। साधक चिदाकाशभेद के उपरान्त जो अवस्था प्राप्त करता है, अति साधारण योगी भी योग-दीक्षा के पश्चात् उस अवस्था को गुरु-कृपा से प्राप्त करता है। इसी कारण साधक का कार्य, योगी का कार्य एवं उद्देश्य तथा प्रयोजन एक प्रकार का नहीं होता। चिन्मय काया का पूर्णांग विकास साधक का लक्ष्य है, किन्तु वह योगी का लक्ष्य नहीं है।

प्रत्येक साधक के लिए हृदय का ज्ञान आवश्यक है। कारण, साधारणतः जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति के साथ-साथ हृदय सम्बद्ध है। हृदय से नाड़ीजाल प्रसृत होकर समस्त देह पर्यन्त व्याप्त है। जाग्रत् अवस्था में अनेकानेक नाड़ी हृदय से निकल कर अन्नमय कोष द्वारा इन्द्रियद्वार पर्यन्त संचालित होती रहती है। इन नाड़ियों द्वारा इन्द्रियाँ क्रियाशीलता प्राप्त करती हैं। और रूपरसादि बाह्यजगत् के विषयों को ग्रहण करती हैं। इस प्रकार अन्नमय कोष हृदय के साथ संश्लिष्ट है। प्राणमय कोष की भी यही स्थिति है। मनोमय कोष स्वप्नदर्शन से संयुक्त है। इस अवस्था में हृदय अज्ञानाच्छन्न होने पर भी मनोवाहा नाड़ी द्वारा अधिगत रहता है।

सुषुप्ति-काल में इन नाड़ियों में क्रियाशीलता नहीं रहती। मन हृदय निमज्जित रहता है। हृदय अज्ञान से आच्छन्न रहता है। इसके पश्चात् जिनमें तनिक भी ज्ञानोदय हो चुका है, वे ऊर्ध्वयोग के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे हृदय से संचालित ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा चालित होते हैं। देहात्मबोध अस्तमित हो जाता है। उन्हें सुषुम्णा की क्रिया स्पष्टतया अनुभूत होती है। वे इस स्थिति में भूताकाश और चित्ताकाश से उत्तीर्ण हैं। चित्ताकाश से उत्तीर्ण होने पर चिदाकाश की गति होती है। इसे मनोमय कोष के परे विज्ञानमय कोष में अवस्थान कहा जाता है। चिदाकाश में अखण्ड सत्ता अनन्त रूप से भासित होती है। दिव्यरूप दिव्यगन्धादि का अनुभव होता है। देश-काल की सीमा साधक की दृष्टि को आबद्ध नहीं करती। साधारण अवस्था में एक अधोगति का भी सम्पर्क होता है। इस अवस्था में इन्द्रियों की क्रिया अस्त हो जाने से बाह्यविषयों का ग्रहण नहीं होता, तथापि प्राणों की क्रिया अवशिष्ट रह जाती है और जीव स्वप्न गत् में संचरित होता रहता है। जाग्रतावस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी नाड़ियाँ कार्यशील रहती हैं। जाग्रतावस्था में स्थूल जगत् के विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। स्वप्नावस्था में स्थूल जगत् के विषयों का आस्वादन होता है। सुषुप्ति अवस्था में मन नाड़ीपथ में संचार नहीं करता और हृदय में निष्क्रिय भाव से पड़ा रहता है। सुषुप्ति में बाह्य एवं आभ्यन्तर, दोनों जगत् का कोई बोध शेष नहीं रहता। यह मन की निष्क्रियावस्था और अविद्याच्छादित स्थिति है।

यह सुषुप्ति जीवन्त से पुनः दूरीभूत होती है। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति का चक्र चलता रहता है। यही है संसार-चक्र। जिन्हें ज्ञान का सन्धान प्राप्त हो चुका है, वे ज्ञानालोक से हृदयान्धकार का उच्छेद करने में समर्थ हैं। इस स्थिति में मन सुषुप्त नहीं रहता और जाग्रत् होकर (हृदयभेद के पश्चात्) ऊर्ध्वोन्मुख होने लगता है। हृदय से निकल कर असंख्य नाड़ियाँ निम्नदेश की ओर चतुर्दिक् व्याप्त हैं। यही संसारावर्त्त है। ज्ञानीजन इस आवर्त में पतित नहीं होते। वे ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना का आश्रय लेते हैं। इसी को लक्ष्य करके 'शतं च एका हृदयस्य नाड्य' कहा गया है। यह एक है ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना। यह ब्रह्मनाड़ी ऊर्ध्व में अनन्तरूप में व्याप्त है (नाड़ी से इस प्रसंग में रश्मि से तात्पर्य है) इस नाड़ी की सहायता से विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष में स्थिति प्राप्त होती है। विज्ञानमय कोष तक उत्थित होने के पश्चात् आनन्दमय कोष में स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति को जागतिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। किसी का निमन्त्रण प्राप्त होने के पश्चात् जब व्यक्ति उसके सन्निकट होता है, उस स्थिति में उस व्यक्ति की ओर से निमन्त्रित का आदर करने के लिए (अगवानी करने) द्वार पर कुछ लोग उपस्थित मिलते हैं। साधक-मार्ग में भी यह नियमानुवर्तिता परिलक्षित होती है। साधक की ऊर्ध्वगति एवं महाशक्ति द्वारा कृपा का उच्च ऊर्ध्वभूमि से साधक की निम्न ऊर्ध्वभूमि पर निक्षेप, इन दोनों के सम्मिलन से एक अपूर्व आनन्द राज्य की सृष्टि होती है। यह है आनन्दमय कोष की भित्ति।

यह नाड़ी (सुषुम्ना) भी हृदय से प्रसृत है। इस नाड़ी की गतिशीलता से साधक पंचभूतसमाविष्ट जाग्रत् जगत्रूप से तथा स्वप्नमय चित्ताकाशरूप जगत् से मुक्त होकर चिदाकाशरूप चिन्मय जगत् में संचरण करता है। उसका देहाभिमान पहले से ही विनिवृत्त है। हृदय विकसित होकर एक प्रस्फुटित कमलाकृति में सुशोभित होता है। भारतीय कवियों एवं ऋषियों ने हृदयकमल शब्द का प्रयोग यथार्थ और उचित किया है। सूर्योदय से कमल का विकास सम्भव है, हम लोगों का हृदयरूपी कमल भी सूर्योदय से विकसित होता है। अन्धकाराच्छन्न स्थिति में हृदय भी अन्धकार में विलीन रहता है, अतएव उसका अस्तित्व अनुभूत नहीं हो सकता। साधन-मार्ग में अपने हृदय का साक्षात्कार अत्यावश्यक कार्यरूप से वर्णित है। हृदय है, आकाश- स्वरूप। प्राचीन ऋषिगण इसे भी दहराकाश की संज्ञा प्रदान करते हैं। उपनिषदों में भी दहरविद्या की विवेचना की गयी है। अत्यन्त भाग्यवान साधक इसका परिचय प्राप्त करते हैं। हृदय ही अन्तराकाश है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ नित्य सिद्धरूप से वर्तमान रहने पर भी, उन्हें इसका सन्धान नहीं मिलता। शास्त्रों में उल्लेख है कि अपने इष्ट- देवता का दर्शन हृदय में प्राप्त हो सकता है। जब तक हृदय अन्धकार से आच्छन्न है, तब तक इष्टदेवता गुरु अथवा परधाम का अन्तःसाक्षात्कार सम्भव नहीं। अतः साधक का कर्तव्य है हृदय-प्राप्ति के लिए कर्मशील होना।

निदिध्यासन के लिए मनन एवं मनन के लिए श्रवण आवश्यक है। हृदय का अर्थ भौतिक हृदय (Physical Heart) नहीं है। किसी बाह्य उपमा से इसे समझना असम्भव है। यह अन्तराकाश से ओतप्रोत है, जहाँ बाह्य व्यापार की कोई गति ही नहीं है। इसमें ऊर्ध्वमुखी शक्ति का आधारबिन्दु भी है। मनुष्य की समग्र देहसत्ता में षट्चक्र केन्द्र विद्यमान है। भूतशुद्धि एवं चित्तशुद्धि के पश्चात् चित्त की एकाग्रता का उदय होता है। चितैकाग्र्य से दृष्टि भ्रूमध्य में निबद्ध होती है। इस एकाग्रभूमि का उदय होता है बाह्यज्ञान रहितावस्था में उदीयमान सूर्य के समान ज्योतिर्मण्डल के चिन्तन से। इस चिन्तन से अन्तर्जगत् आलोकित होता है। यह आलोक साधारण स्थिति में अस्त है, अथवा चंचल स्थिति में चंचलतामय उपलब्ध होता रहता है। एकाग्रता से इसमें स्थिरता आती है। इस स्थिर प्रकाश के प्रभाव से हृदयकमल प्रस्फुटित हो उठता है। इसके पश्चात् अन्तराकाश की अभिव्यक्ति सम्पन्न होती है, अन्तराकाश हृदय- कमल की कर्णिकास्वरूप है। इस स्थिति में प्रस्फुटित हृदयकमल दृष्टिगोचर होता है और उसके मध्य एक चिन्मय महाप्रकाशमय जगत् स्फुरित हो उठता है। यह बहिर्जगत् नहीं है। इन्द्रिय द्वार की उन्मुक्तावस्था में बहिर्जगत् का दर्शन होता है। इन्द्रिय-जगत् की बद्धावस्था में अन्तर्जगत् का दर्शन सम्भव है। प्राकट्य होता है अपने सम्मुख। यह सामुख्य है—अन्तरावस्था सामुख्य। इस कमल में देवी-देवता का दर्शन, सिद्ध महापुरुषगण का दर्शन प्राप्त होता है। सम्मुखीन दर्शन होने के कारण इसे आँखों की उन्मुक्तावस्था में भी देखा जा सकता है। (आँखों की उन्मुक्तावस्था में) यह दर्शन बाह्य दर्शन नहीं, अपितु अन्तर्दर्शन ही है। अपनी अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा यह दृष्ट होता है। इस दृष्टि के सम्मुख जो कुछ भी प्रकाशित है वह सब चिदाकाश में ही प्रकाशित जानना चाहिये। उस समय ज्ञात होता है कि 'मैं अपनी सत्ता से बाहर देख रहा हूँ' परन्तु वास्तविकता यह है कि (यह दर्शन आन्तरिक दर्शन होने के कारण) अपनी सत्ता के ही अन्तर्गत दर्शन प्राप्त होता है। अन्तराकाश ही चिदाकाश है।

चिदाकाश, चिदालोक से आलोकित है। यह राज्य हृदय में सदा सर्वदा सुप्रतिष्ठ है। प्रत्येक में यह महासत्ता विराजित है। दर्शन होता है; हृदयाकाश आलोकित होने तथा हृदयकमल प्रस्फुटित होने के पश्चात्। इस अवस्था में अनन्त महासत्ता के रूप में हृदय की प्रतिष्ठा होती है। वास्तव में प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न हृदय की स्थिति नहीं है। गीता में भगवान् कृष्ण की 'सर्वभूतानां हृद्देशे' उक्ति में, सर्वभूत बहुवचन है, तथापि हृद्देशे एकवचन है। इसका भी एक गम्भीर रहस्य ज्ञात होता है। इस दृत् प्रदेश में ईश्वर या परमात्मा नित्य प्रकाशमान हैं। वे माया के अधिष्ठाता हैं एवं वे इसी मायारज्जु के द्वारा सबको संचालित करते हैं। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में मनुष्य का कर्तृत्व नहीं है। वह अज्ञानवशात् अविद्या के कारण स्वयं को

कर्त्ता मान कर कर्मफल का भोग करने को बाध्य होता है। जिनको इस जाग्रत् हृदय का सन्धान प्राप्त हो चुका है, वे सम्पूर्णतः हृद्देश पर निर्भरशील हो जाते हैं। जो हृदय में अधिष्ठाता रूप से नित्य विराजित हैं, वे ही एकमात्र कर्त्ता हैं। मनुष्य का सर्व कर्तृत्व बोध अमूलक है। उन सर्वमय कर्त्ता का शरणागत भाव से आश्रय लेना ही होगा। इसके पश्चात् जो कुछ भी करणीय है वह उनकी जाग्रत् शक्ति से ही घटित होता है। हृदय-साक्षात्कार के साथ-साथ समस्त अन्तराकाश स्वयमेव आलोकित हो उठता है। उसकी तुलना में जागतिक ज्ञान अत्यन्त तुच्छ है। इसी कारण उदयकालीन सूर्य का चिन्तन (ध्यान) अत्यावश्यक है। इसके प्रभाव से अन्तःप्रदेश में प्रकाश उन्मुक्त हो जाता है और हृदयकमल प्रस्फुटित हो उठता है। अखण्ड महासत्ता नित्य प्रकाशमान रूप से प्रकट हो जाती है। साधक उसे स्वभावानुरूप उपलब्ध करता है और महासत्ता भी अकुण्ठित रूप से भक्त (साधक) के निकट उपस्थित हो जाती है। यद्यपि पिता, माता, सखा, कान्त, गुरु इत्यादिक समस्त भाव उसमें प्रकाशित होते हैं, अथच वह महासत्ता समस्त भावों से अतीत भी है। साधक किसी भाव से आविष्ट क्यों न हो, किसी भी धर्म का धर्मावलम्बी क्यों न हो, वह महासत्ता सबके लिए समान रूप से सत्य एवं आधारभूता है। एक अखण्ड महासत्ता अनन्त रूपों में अपना आत्मप्रकाश करती है। साधक को भावानुरूप प्राप्ति होती है। जब तक हृदय उन्मुक्त नहीं है, तब तक सब कुछ कल्पना- मात्र है। यह अन्तराकाश सब कुछ हैं यहाँ तक कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वर्णित सब कुछ भी वही है। इस अन्तराकाश की प्रस्फुटित सत्ता को इन्द्रियों की बहिर्मुख अवस्था में बाहर भी देखा जा सकता है, परन्तु बाह्य जगतस्थ मनुष्य, जिनका हृदय उन्मुक्त नहीं है, इसे नहीं देख सकते। निरोधसम्पन्न साधक इस अतीन्द्रिय अवस्था को अपने सम्मुख प्रकाशित होते देख सकता है। उसमें कोई भी व्यवधान नहीं रहता। इसकी इस प्रकाशावस्था में भी मायिक आयाम में आबद्ध व्यक्ति इसकी उपलब्धि नहीं कर सकते।

हृदय से ऊर्ध्वगमनशील नाड़ी की सत्ता का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जो भाग्यवान साधक उस ऊर्ध्वनाड़ी में संचरण करने में समर्थ होते हैं, अथच पूर्णत्त्व-लाभ के पूर्व देहत्याग करने को बाध्य होते हैं, (उनके नवीन जन्म में) उनमें यह शक्ति संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। ज्ञानी महापुरुष के सम्पर्क से यह संस्कार जागृत हो उठता है। फलस्वरूप अत्यल्प समय में व्यक्ति का पूर्णत्व में प्रवेश सम्भव होता है। यहाँ स्मरणीय है कि हृदय से मूर्धा पर्यन्त 36 अंगुल ऊर्ध्वगति का मार्ग है। जिन्हें इस मार्ग का सन्धान प्राप्त है, यदि उनकी पूर्णत्व प्राप्ति के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है, उस स्थिति में (नवीन जन्म में) उनका यह पथ शीघ्रता से उन्मुक्त हो जाता है। साधारणतया श्वास-प्रश्वास की गति है हृदयप्रदेश से निम्नगामिनी अथवा ऊर्ध्वगामिनी। द्वितीय अवस्था है हृदयप्रदेश से बहिर्देश में। अन्य है हृदयप्रदेश से

अन्तर्देश में। तृतीय स्थिति है हृदय से मूर्धा पर्यन्त। प्राणिमात्र में श्वास की गति (स्थूल दृष्टि से) अन्तर्बाह्य अवस्था में संचालित रहती है। मनुष्य में जो विशेषधारा है वह है हृदय से मूर्धा की ओर, अर्थात् ऊर्ध्व प्रदेश की ओर। किसी व्यक्तिविशेष में इस स्थिति को देखकर यह ज्ञात होता है कि पूर्व जन्मों में उसने ऊर्ध्वस्थिति को आयत्त किया था। बौद्धगण इसे स्रोतापन्न अवस्था कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को वर्तमान जन्म में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। गुरु उसके ऊर्ध्वस्रोत को जागृत कर देते हैं और साधक सहज रूप से पूर्णत्व मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। कारण, उसने पूर्वजन्म में उस ऊर्ध्वस्रोत को प्राप्त किया था। उसे वर्तमान जन्म में ऊर्ध्वस्रोत की प्राप्ति नवीन रूप से नहीं करनी पड़ती। पूर्णत्व-लाभ का प्रथम सोपान है अधोगामी अवस्था की मध्याकर्षण सीमा से बाहर अवस्थान! इसके पश्चात् क्रमशः ऊर्ध्वरोहण के साथ-साथ पूर्णज्ञानोदय की चरम अवस्था की प्राप्ति। योगीगण इसे मस्तक की श्वास कहते हैं। इस प्रारम्भिक अवस्था को साधक स्वयमेव नहीं जान सकता। साधना की पूर्णता के साथ-साथ श्वासजनित गति अस्तमित हो जाती है। अधोगति एवं ऊर्ध्वगति, दोनों का अवसान हो जाता है। यह है हृदय में अवस्थिति। इसका नाम है पूर्ण ज्ञानोदय। हृदय की प्राप्ति के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता। माया का आवरण अपसारित हो जाता है। मुक्त पुरुष चिदाकाश में विचरण करते हैं।

साधक बीज प्राप्त कर उसे कायारूप में प्रस्फुटित करता है। इससे उसकी साधकोचित् साधना पूर्ण होती है। योगी शिष्य का आधार सबल होता है, अतः उसे इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं है। कायालाभ के पश्चात् साधक योगभूमि प्राप्त करता है, तथापि वह योगी ही रहता है। दर्पी योगी नहीं बन सकता। वह अज्ञात रूप से उत्तराभिमुख गति से योगधारा में प्रवाहित होता हुआ महाशक्ति के अंक में, अर्थात् परमाप्रकृति के स्वरूपभूत कमलदल में विशेष स्थान-लाभ करता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अब योगी है, क्योंकि बिना योगपथ का आश्रय लिये परमाप्रकृति के देश में उपवेशन कर सकना सम्भव नहीं। इतने पर भी वह मात्र योगी ही है, दर्पी योगी नहीं। वह मध्य बिन्दु प्राप्त नहीं कर सकता। अपरदिक् जो प्रारम्भ से योगी है, उन्हें प्रारम्भ से ही योगकाया (अर्थात् इष्ट अथवा गुरुकाया) प्राप्त रहती है, उनका अन्तर्निहित बल (आधार) श्रेष्ठतर होता है। इसलिए गुरु उनमें प्रारम्भ से (बीज नहीं देते) बीज का विकास अर्थात् कायादान कर देते हैं। इसका फल है कि योगकर्म का अनुष्ठान करते-करते गुरुप्रदत्त काया का विकास हो जाता है। पूर्ण विकास हो जाने पर चिदाकाश का भेद कर वे योगी गुरु के स्वरूप में स्थान प्राप्त करते हैं। यह है बोधयुक्त अवस्था। वस्तुतः यही है शिवभाव। साधक योगीरूप में परिणति प्राप्त कर सन्तान रूप से महाशक्ति की गोद में स्थान प्राप्त करते हैं। जो प्रारम्भ में ही योगी हैं उनकी गति भिन्न है। वे कर्म पूर्ण होने पर शिवभाव में स्थित

होते हैं। दोनों गतियों में पार्थक्य है। ये योगी खण्डयोगी के नाम से परिगणित होने योग्य हैं। इसके पश्चात् योग की और भी उच्चतर भूमि है। जो साधक योगी की स्थिति प्राप्त होने पर माँ के क्रोड़ में आसीन होते हैं उनके लिए इस उच्चतर योग-भूमि की प्राप्ति असम्भव है। इसके पश्चात् भी अवस्था होती है। पिण्ड अथवा ब्रह्माण्ड में सहस्रदल के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान में योगी की स्थिति होती है। एक प्रकार से ऊर्ध्व कोई स्थान नहीं होता। उससे उच्चतर अवस्था कैसी होगी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका समाधान अवश्य है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति होने के पश्चात् भी एक गुह्य स्तर उन्मुक्त होता है। इस स्तर की उपलब्धि एवं स्थिति ब्रह्मरन्ध्र की अपेक्षा उच्चतर अवस्था है। उसका वर्णन करता हूँ।

वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति से महाशक्ति का विकास नहीं होता। जो महायोगी परमशिव अवस्था प्राप्त करते हैं, वे निम्नवर्ती समस्त सृष्टि के शिखर देश पर आरूढ़ होते हैं, तथापि उनके लिए अभी भी प्राप्य अवस्था विद्यमान है। वह अवस्था तभी प्राप्त होगी जब नाभिकेन्द्र का जागरण सम्भव हो सके। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है। शिवत्व के पश्चात् भी इस केन्द्र को जगाना अत्यन्त दुष्कर है। अर्थात् जो योगी महाभाव में स्थित है (वे जब तक नाभिचक्र का जागरण सम्पन्न नहीं कर पाते) उनको शिवावस्था ही प्राप्त है। नाभिचक्र उद्‌बुद्ध होने पर परमशिवावस्था की अभिव्यक्ति होती है। शिवभाव एवं परमशिवभाव में अनेक पार्थक्य हैं। शिव है विश्वातीत,विश्वप्रपञ्च से अतीत। विश्व एवं शिव के मध्य एक व्यवधान है, जो उस समय भी रह जाता है, अपसारित नहीं होता। विश्व है जड़ एवं शिव है चैतन्यमय। वह विश्व के अतीत है किन्तु विश्वात्मक नहीं। इसका एकमात्र कारण है कि शिव में आभ्यन्तर शक्ति स्फुरण का अभाव है। शक्ति एवं उसका कार्य है विश्व। शक्ति अचित् है एवं उसका कार्य भी अचित् ही है। शिव हैं चित्स्वरूप। चित् जब स्वयं में शक्ति स्फुरण का अनुभव करते हैं, तब वे अचित् रूप हो जाते हैं। शक्ति एवं उसके कार्य (विश्व) के साथ चित्‌रूपी शिव का समन्वय प्रतिष्ठित होता है। चित्‌रूप शिव एवं अचितरूपा शक्ति में चित्‌शक्ति उन्मेष द्वारा समन्वय होता है। यही है नाभिकेन्द्र का जागरण।

यह अत्यन्त दुर्लभ है, अतः महायोगी भी नाभि-क्रिया का रहस्य नहीं जानते। यहीं से महाकुण्डलिनी की क्रीड़ा प्रारम्भ होती है। यह त्रिविध है। तीनों को आयत्त कर योगीगण महाशक्तिस्थ बिन्दु-भेद द्वारा ब्रह्मावस्था प्राप्त करते हैं। ये हैं दर्पी योगी। ये ही हैं महाखण्ड गुरु। ये ही त्रिविध शक्ति जागरण के पश्चात् अखण्ड महागुरु-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो इन तीन के अन्तर्गत मात्र एक कुण्डलिनी को जागृत कर कर्म पूर्ण होने के पूर्व ही देह-त्याग कर देते हैं, वे महाशक्ति के चक्र पर आसीन होते हैं, तथापि यह अस्थायी अवस्था है। दर्पी योगी स्वयं माँ बनकर एवं ब्रह्मत्व- लाभ कर, माँ और गुरु के अभिन्न रूप की प्रतिष्ठापना करते हैं, वे मातृ–

ऋण-शोध करने में समर्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त मातृ-ऋण-शोधन की क्षमता किसी में नहीं है।

स्वाभाविक रूप से ध्यानस्थ होना भी एक कौशल-सा है। स्वाभाविक ध्यान का उदय होते ही ध्यान ही स्वभाव बन जाता है। चित्त स्वतः ध्यानमग्न होने लगता है। अब प्रयत्नजनित ध्यान की आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे निद्रावस्था में प्रयत्नरहित स्थिति में भी इन्द्रियाँ अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वभावजनित ध्यान का उन्मेष होते ही ध्यान के लिए प्रयत्न समाप्त हो जाता है। यह अवस्था पूर्ण स्थिति में ही प्राप्त हो सकना असम्भव-सा है। इसी कारण प्रयत्नजनित ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। योगसूत्र में समाधियोग तथा क्रियायोग का वर्णन अंकित है। बहिर्मुख चित्तसाधक के लिए क्रियायोग हितकारी है। अन्तर्मुख साधक के लिए ही समाधियोग वरणीय है। क्रियायोगान्तर्गत तपस्या, स्वाध्याय रूप जप, सद्ग्रन्थानुशीलन, ईश्वर प्रणिधानात्मक भजन की गणना की जाती है। चित्त की प्रकृति के तारतम्य से साधना में तपस्या प्रमुख है। तपस्या के साथ जप तथा भजन का समावेश गौण रूप में रहता है। किसी की साधना में जप की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार भजन-भाव- प्रधान तपस्या के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कोई-कोई विशेषाधिकारसम्पन्न साधक तपस्या, भजन तथा जप—इन तीनों का अनुष्ठान करते हैं। गुरु द्वारा निर्देशित क्रम से क्रियायोग का अनुष्ठान करने से चित्त व्युत्थित भावरूप बहिर्मुखता का परित्याग करके अन्तर्मुखतारूप शान्तभाव पर्यन्त उन्नीत हो जाता है। अब उसके द्वारा समाधियोग का वरण किया जा सकता है।

समाधियोग ध्यानप्रधान है। चित्त की चञ्चलावस्था में अन्तर्मुखी भाव का उदय सम्भव ही नहीं है। क्रियायोग से चित्त चाञ्चल्य का उपशमन होता है। यह साक्षात् योग न होने पर भी पारम्परिक योग है। क्रियायोगजनित अन्तर्मुखता के उदय से प्रज्ञा अथवा ज्ञान का अनायास प्रादुर्भाव होना अवश्यम्भावी है। क्रियायोग का मुख्य कार्य है चित्तस्थ अज्ञानादिक समस्त आच्छादनों का सूक्ष्मीकरण। साधक चित्त में अनन्त क्लेश समूह संस्कार रूप से संचित रहते हैं। यद्यपि क्लेशराशि अनन्त है, तथापि इन्हें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप से पंचधा विभाजित किया जाता है। समस्त क्लेश मूलतः अज्ञानजनित होते हैं। क्लेशसमूह अभिव्यक्तावस्था में वृत्तिरूप से तथा अव्यक्ततावस्था में संस्कार रूप से जीव को प्रभावित करते हैं। अव्यक्त क्लेश की सहसा पहचान नहीं हो सकती। क्रियायोग द्वारा क्षीण होने के पूर्व तक इनका शक्तिमय अस्तित्व विद्यमान रहता है। अव्यक्त क्लेश सुप्त एवं विच्छिन्न कहे जाते हैं। क्रियायोग के अभ्यास से क्लेशराशि सूक्ष्म हो जाती है और उनकी विक्षेपात्मक आवरण-शक्ति निर्बल-सी हो जाती है। अन्य किसी उपाय द्वारा क्लेशक्षय हो सकना दुष्कर है। यद्यपि अन्य उपायों द्वारा इन्हें दबाया तो जा

सकता है, तथापि इन्हें क्षय नहीं किया जा सकता। दमितावस्था में दमित क्लेशसमूह उद्दीपक कारण की उपस्थिति में पुनः प्रबल एवं दुर्जय रिपु का स्वरूप धारण कर लेते हैं। सुप्त क्लेशराशि अव्यक्त होने पर भी विरोधीभावापन्न होती है। एकमात्र क्रियायोग द्वारा ही इन्हें निर्बल किया जा सकता है। क्रियायोग द्वारा क्षीण एवं सूक्ष्म कर दिये जाने पर भी सुप्तक्लेश निःशेष नहीं होते। कारण, क्रिया के प्रभाव से संस्कार उच्छिन्न नहीं हो सकते। इनका समूल नाश करने में एकमात्र ज्ञानाग्नि ही समर्थ है। इससे क्रियायोग प्रभावहीन हो गया, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिये। क्रियायोग के अनुष्ठान की कोई उपादेयता नहीं है, तथापि नवीन साधकों के लिए यह अत्यन्त हितकर है।

●

साधक दीक्षा तत्त्व

सांख्य ज्ञान अथवा वेदान्त ज्ञान प्राप्त्यर्थ दीक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। परमेश्वर- ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षा के अतिरिक्त कोई उपाय भी नहीं है। दिव्य ज्ञान का तात्पर्य है, वह ज्ञान जिसमें परम शिव नित्यरूपेण विराजित हैं। इसके कारण एवं मूल है स्वयं परमेश्वर। सद्गुरुरूप से दीक्षा द्वारा (परमेश्वर ही) शिष्य में इस दिव्य ज्ञान के कणमात्र का संचार करते हैं। देहात्मबोधावस्था के रहते यह ज्ञान साक्षात् परमेश्वर द्वारा संचरित नहीं हो सकता, अतः परमेश्वर इस ज्ञान का संचार मनुष्य, सिद्धपुरुष अथवा देवता के माध्यम से कराते हैं। यह माध्यम ही गुरुपदवाच्य है। सर्वप्रथम दिव्यगुरु का स्तर है। उसके निम्न स्तर में क्रमशः सिद्धगुरु एवं मानवगुरु का विधान किया गया है। गुरुगत भेद होने पर भी गुरुशक्ति सबमें एक ही है। साधारण स्तर में मानवीय गुरु द्वारा ज्ञान संचरित होता है। विशेष अधिकारी पुरुष सिद्धगुरु से उपदेश प्राप्त करते हैं। अत्यन्त उच्चाधिकारसम्पन्न साधक दिव्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। दिव्य गुरु से योग्य व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने साक्षात् भगवती के द्वारा ज्ञानोपदेश प्राप्त किया था। यह दिव्य गुरु का उदाहरण है। शंकराचार्य के परमगुरु गौड़पाद ने शुकदेव से ज्ञान प्राप्त किया। यह सिद्धगुरु का उदाहरण है।

यहाँ यह विशेषतया ज्ञातव्य है कि समस्त ज्ञान श्रीभगवान् के चरण से निर्गत होता है। इस स्थिति में गुरु का क्या प्रयोजन? गुरुवर्ग ज्ञान का वाहक है। जो परमेश्वर से साक्षात् रूप से ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते, उनके लिए गुरु विशेष प्रयोजनीय है। देहात्मभाव की स्थिति में साक्षात् रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसमें आधारगत तारतम्य से ही, परम्परागत प्रक्रिया द्वारा ज्ञान का संचार गुरुगण करते हैं। इसी प्रक्रिया को दीक्षा कहा जाता है। यहाँ एक रहस्य ज्ञातव्य है। भगवत् शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने की स्थिति में तत्काल शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है। इस अवस्था में किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। यह शक्तिपात् किंचित् न्यून होने की स्थिति में साधक में प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है। उसे बाह्य गुरु का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। वह अन्तरतम बिन्दु से ज्ञानोदय का अनुभव करता है। इसे अनौपदेशिक, प्रतिभज्ञान कहते हैं। इस स्थिति में बाह्यरूप की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह शक्तिपात और भी मन्द होने की अवस्था में अन्तर्जगत् में चिन्मय गुरु का साक्षात्कार मिलता है। चिन्मय स्वरूपावस्था में शिष्य ज्ञानयुक्त हो

जाता है। यही शक्तिपात और भी मन्द होने की स्थिति में बाह्यगुरु का प्रयोजन है। इस अवस्था में शिष्य उपदेश के अनुसार साधन-प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार अनन्त भेद दृष्टिगोचर होते हैं। गुरुगण ज्ञान द्वारा पौरुष अन्धकार विमोचन करते हैं किन्तु बौद्ध अज्ञान रूप देहात्मबोध का नाश करने में गुरु समर्थ नहीं हैं। उसका नाश साधना द्वारा होता है। देहात्मबोधावस्था में ही साधना का प्रयोजन है। आगम शास्त्र के अनुसार साधन प्रणाली के दो रूप परिलक्षित होते हैं। एक के अनुसार कैवल्यभाव मुख्य है। कैवल्यभाव को ही पुरुषकैवल्य एवं ब्रह्मकैवल्य कहते हैं। द्वितीय के अनुसार भगवत्ता, परमशिवत्व तथा स्वातंत्र्यमयी परासंवित् की प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य है। सांख्य-साधना का लक्ष्य है, विवेक ज्ञान मूलक कैवल्य की प्राप्ति। पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्रकृति से मुक्त हो जाता है। यही पुरुष चित्स्वरूप है। वैदान्त कैवल्य का भी यही तात्पर्य है। निरंजन भावप्राप्ति ही वेदान्त का लक्ष्य है। सांख्य एवं वेदान्त का पार्थक्य यह है कि सांख्य में आत्मा अनेक हैं, जबकि वेदान्तिक गण आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त अनिर्वचनीय माया को मान्यता देता है, सांख्य अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूपा स्थिति को मानते हैं। आत्मा की स्वरूप स्थिति दोनों में प्रायः एक ही प्रकार से मान्य है। आत्मा का परमेश्वरत्व अथवा पूर्णत्व, (दोनों मान्यताओं में) परिलक्षित नहीं होता। सांख्य का ज्ञान है विवेक ज्ञान। इसमें आत्मा अचित् से मुक्त होकर चित् स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है, तथापि उसमें विमर्श नहीं रहता। वेदान्त में भी विमर्शहीन स्थिति को मान्यता दी गयी है। इसमें भी आत्मा की स्वातन्त्र्यात्मिका स्थिति का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

आगमिक दृष्टिगोण में एक वैलक्षण्य विद्यमान है। इसका भी लक्ष्य है अचित् से चित् को मुक्त करना। यह अचित् स्थिति प्रकृतिरूपा, मायारूपा तथा महामायारूपा भी हो सकती है। इस मुक्ति के अनन्तर भी आत्मा के स्वतःसिद्ध शिवत्व का उद्बोधन नहीं होता। अतः आगमिक मान्यता यह है कि चित्स्वरूप के साथ चिद्रूपा स्वरूप शक्ति का विकास होना भी आवश्यक है। तभी चिद्स्वरूप शिवरूप का प्राकट्य सम्भव होगा। वास्तव में शिव एवं शक्ति अभिन्न हैं। दोनों में ही चित्स्वरूपता तथा आनन्दरूपता का समावेश है। शिवशक्ति का सामरस्य ही पूर्णत्व का संचार करता है। अतः आत्मा को मोचकज्ञान तथा तारकज्ञान युक्त मानना ही यथेष्ट नहीं है। आत्मा में चित्स्वरूपभूता शक्ति के स्वातन्त्र्यरूप की अभिव्यक्ति भी प्रयोजनीय है। इसका नाम है स्वातन्त्र्यबोध। शैवदृष्टि के अनुसार तथा शाक्त दृष्टि के अनुसार इसे बोधात्मक स्वातन्त्र्य भी कह सकते हैं। स्वातन्त्र्य तथा बोध के पारस्परिक व्यवधान से सृष्टि का उन्मेष होता है। इससे अज्ञानाविर्भाव सम्पादित होने लगता है। अतः शुद्धविद्या ही मुख्य ज्ञान है। सदगुरुगण इसी शुद्धविद्या के संचार

द्वारा जीव को शिवत्व पर्यन्त उन्नीत कराते हैं। जैसे अनात्मा में आत्मबोध अज्ञानात्मक है, वैसे ही आत्मा में अनात्मबोधावस्था भी अज्ञान जनित ही है। आत्मा में आत्मबोध ही मुख्य ज्ञान का स्वरूप है, तथापि वेदान्त अथवा सांख्य में यह स्थिति नहीं है। आत्मा में आत्मबोध को पूर्णाहन्ता कहा गया है। इस ज्ञान के द्वारा जीव स्वयं की उपलब्धि परमशिवरूप में करता है।

यद्यपि विवेक ज्ञान द्वारा आत्मा अचित् से मुक्त होकर चिद्रूप में प्रकाशित होता है, तथापि यह चिद्रूप विशुद्ध रूप का प्रतिफलन नहीं करता। अतः अविवेक की निवृत्ति के अनन्तर भी आत्मा स्वयं की प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकता। आगमानुसार आत्मा में अनात्मबोध ही अज्ञान है। यह विशुद्ध मायाजनित अज्ञान है। विवेक ज्ञानोदय के उपरान्त भी आत्मा का स्वयं को न जानना साधारण अशुद्ध मायाजनित आवरण न होकर, शुद्ध मायाजनित आवरण है और यह प्रकृति राज्य से ऊर्ध्व की प्रक्रिया है। शुद्धविद्या का उदय होते ही सर्वत्र अहंरूप का विकास होने लगता है। 'इदं' भाव का ह्रास हो जाता है। इदं का पूर्णलोप होते ही एकमात्र अहंभाव की सत्ता शेष रह जाती है। यह है पूर्ण ईश्वर, परशिव, परमेश्वर। शाक्त दृष्टि से यही परासंविद्, आधारशक्ति, महाशक्ति एवं जगदम्बा हैं।

यह पूर्वकथित है कि अध्यात्म मार्ग में गुरु का स्थान अन्यतम है। जैसे माता के गर्भ में बीजरूप से सन्तान निहित रहता है एवं क्रमिक विकास प्रक्रिया द्वारा उसके अंग-प्रत्यग निर्मित होते हैं और प्रसव-काल में सन्तान बहिर्गत होता है, वैसे ही गुरुदत्त बीजमन्त्र साधक के हृदयक्षेत्र में दीक्षा द्वारा स्थापित होता है। शिष्य उसकी सम्यक् रक्षा करके साधना द्वारा विकसित करता रहता है। वह बीजमन्त्र इस प्रकार विकास प्राप्त करते-करते भविष्य में साकार इष्टदेवता रूप में प्रकट होता है। यह प्रसवानुरूप प्रक्रिया है। दीक्षा के अनन्तर गुरुप्रदत्त साधना का अनुशीलन करने से प्रथमतः ज्ञानाविर्भाव, तदनन्तर भक्ति का प्रस्फुटन अनुभूत होने लगता है। शुष्कज्ञान के साथ भक्ति का किंचित् मात्र सम्बन्ध नहीं है। शास्त्रजनित शब्दज्ञान भी व्यर्थ है। इन सबसे अपरोक्ष ज्ञान का उन्मेष नहीं हो सकता। वास्तविक ज्ञानोपलब्धि गुरुप्रदत्त क्रिया के द्वारा ही हो सकती है। सद्गुरुगण शिष्य के आधार का विचार करने के उपरान्त दीक्षा-दान करते हैं। वे शिष्य की आधारगत योग्यता या प्रकृतिगत विलक्षणता के अनुपात से योग शिक्षा देते हैं। दुर्बल आधारयुक्त को दीक्षा नहीं दी जाती। योगी एवं साधक का आधारगत निर्णय जन्मकाल से होता है। क्षणजन्मा योगी तथा कालजन्मा साधक होता है। क्षणजन्मा के भी अनेक भेद हैं।

इसी प्रकार साधकदीक्षा तथा योगदीक्षा में पार्थक्य है। उभय दीक्षा से कुण्डलिनी का जागरण होता है। यद्यपि शिष्यगण अपनी स्वचेष्टा से कुण्डलिनी को जाग्रत् कर सकते हैं, तथापि यह दुःसाध्य कार्य है। साधकदीक्षा में वह शक्ति प्राप्त होती है, जिसके साथ

साधनाभ्यासरूपी पुरुषाकार का योजन करने से कुण्डलिनी जागृत हो उठती है। कुण्डलिनी अर्थात् शक्तिमय ऊर्ध्वज्योति। जहाँ यह शक्तिमय ज्योति साधक के लिए एक प्रकार की है, वहीं योगी के लिए अन्य प्रकार से आविर्भूत होती है। दीक्षानन्तर गुरुप्रदत्त साधन करते-करते जागृत शुद्ध तेज क्रमशः प्रज्वलन्त रूप धारण करता है। यह तेज साधक सत्ता में निहितसंचितवासना, संस्कारादिकोभस्मकरदेताहै। यहीहैमायिकआवतरणकादग्धीकरण। अब साधक का क्रमोत्कर्ष सम्पादित होने लगता है। अन्त में समस्त वासनाओं का क्षय (सिद्धावस्था में) हो जाता है। इस स्थिति में पूर्वोक्त जागृत कुण्डलिनी अपरोक्ष भाव से इष्टदेवतारूप में प्रकट हो जाती है। अब साधक देहरहित हो जाता है। साधक को सिद्धि मिलती है देहरहित अवस्था में, अर्थात् सिद्धि-प्राप्ति के क्षण में ही देहपात हो जाता है।

योगी का आधार साधक की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण तथा भिन्न है। सद्गुरु दीक्षाकाल में ही योगी की कुण्डलिनी को जागृत कर देते हैं। यहाँ साधक एवं योगी के पार्थक्य को जानना आवश्यक है। साधक की कुण्डलिनी साधनाभ्यास से जागृत होने के अनन्तर केवलमात्र ज्योतिरूप में प्रकाशित होती है, परन्तु इसी बिन्दु पर योगी की जागृत कुण्डलिनी साकार इष्टदेवता के रूप में आत्मप्रकाश करती है। जिस साकार रूप का दर्शन साधक को देहपात-काल में होता है, उसी साकार रूप का साक्षात्कार योगी के लिए प्रारम्भिक घटना-मात्र है। साधकगण अपने कर्म द्वारा ज्योति को साकार रूप में परिणत करते हैं, परन्तु योगीगण अनायास ही अपने कार्य द्वारा साकार इष्टदेव की आराधना करने लगते हैं। साधक वासनाओं के दग्धीकरण के कारण निराकार ज्योति की उपासना करता है, किन्तु योगी को वासनादि का त्याग नहीं करना पड़ता। वह वासनादि को निर्मल करके, अपने स्वरूप के साथ समायोजित कर लेता है। अतः देह रहने पर भी योगीगण साकार दर्शन प्राप्त करते रहते हैं। पूर्णयोगसिद्ध होते ही योगीगण को महाज्ञान प्राप्त होता है। योगकर्म रूप घर्षण द्वारा चिदाग्नि आविर्भूत होती है। यही ज्ञानाग्नि है। यह ज्ञान शुष्क ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के प्रभाव से पूर्ण भगवत् सत्ता का प्रकाश होता है। अब योगी पराशक्ति स्तर पर्यन्त उन्नीत हो जाता है।

संसार में प्रचलित भक्ति को उन्मादिनी भक्ति कहते हैं। योगी द्वारा सेव्य पराभक्ति के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है। इस भक्ति की परिपक्वावस्था प्रेमरूप में परिणत हो जाती है। प्रेम-प्राप्ति को साधना का पूर्ण विकास माना जाता है। योगीगण गुरुप्रदत्त क्रिया का अनुष्ठान करते-करते विभिन्न प्रकार की विभूति को प्राप्त करते हैं। यही योगविभूति का स्वरूप है। यथार्थ योगी हैं ईश्वर, जिनके अधीन अचिन्त्य शक्तिरूपिणी माया विराजित है। अतः योगी का आदर्श है ईश्वरत्व-प्राप्ति। ईश्वरत्व में तीन शक्तियाँ प्रधान हैं, यथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पूर्ण ज्ञानशक्ति से सर्वज्ञता तथा पूर्ण क्रिया शक्ति द्वारा सर्वकर्तृत्व का उदय होता है। ज्ञान एवं क्रिया के

संयोग से विज्ञान-शक्ति प्रकट होती है। विज्ञान शक्ति के सहाय्य से योगीगण सृष्टि-रचना करने में समर्थ होते हैं। विज्ञान के मूल में प्रकृति का प्राधान्य स्वीकार करना ही होगा। प्रकृति के कार्य की उत्पत्ति के लिए क्रमशः ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति द्वारा प्रकृति का अनुसरण करना पड़ता है। इच्छाशक्ति के लिए यह नियम नहीं है। इच्छा के प्रभाव से योगीगण कोई भी कार्य कर सकते हैं तथा किसी भी ज्ञेय को जानने में समर्थ होते हैं। इच्छाशक्ति- सिद्धि के लिए ज्ञानशक्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसे सिद्ध के लिए ज्ञान का कोई महत्व ही नहीं है, तथापि कार्य होता रहता है। क्रिया का कोई महत्व नहीं है, तथापि कार्य हो जाता है। इच्छाशक्तिसम्पन्न योगीगण समस्त ईश्वरीय कार्य को प्रयोजनानुसार सम्पन्न करते हैं। सर्वान्त में इच्छाशक्ति का विलय महाईच्छा में हो जाता है। योगी की स्थिति अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप में हो जाती है। अब योगी को किसी कार्य के लिए इच्छा करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसके समस्त कार्यों का सम्पादन महाईच्छा द्वारा किया जाता है। योगी निरन्तर परमानन्द में निमज्जित-सा रहता है। आनन्द में भी एक प्रकार की तरंग रहती है। अनुकूलता से सुख एवं प्रतिकूलता से दुःख का उदय होता है। अनुकूल-प्रतिकूल का परित्याग करने के अनन्तर योगीगण चित्शक्ति पर आरूढ़ हो जाते हैं। चित्शक्ति ही पराशक्ति का बाह्यरूप है, जिसका अवलम्बन लेकर समग्र विश्व का भान होता है। इस स्थिति में उन्नीत होने के अनन्तर कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता।

●

यथार्थ यात्रा

यथार्थ अन्तर्यात्रा के प्रारम्भ में यह विवेचना आवश्यक है कि अन्तः एवं बाह्य, व्यवहार-दृष्टि से किस भाव के द्योतक हैं? संक्षेप में व्यवहार-भूमि में वही कहा जा सकता है कि जो खण्डित, विक्षिप्त, परिवर्तनशील भाव है, परिणामी है, वही बाह्य है। यही परिच्छिन्नता है। इसे शास्त्र कार्यात्मभाव कहते हैं। यह जन्म-स्थिति आदि षड्विकार रूप हैं। ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त सब कुछ कार्यात्मभाव होने के कारण परिच्छिन्न है। अतीत, अनागत, वर्तमान रूप कालत्रयात्मक है। यह पुरुष का माया परिच्छिन्न भाव है। परमपुरुष का बाह्य आयाम माया के कारण पुनः-पुनः व्यक्तावस्था में गमन करता रहता है। यह उनका चतुर्थांश-मात्र है। शेष पादत्रय माया विनिर्मुक्त होने के कारण उनके अन्तःआयाम रूप से प्रसिद्ध है। अतः बाह्यता को छोड़ते हुए अर्थात् चतुर्थांश रूप परिच्छिन्न भाव का अपोहन करते हुए परमेश्वर के पादत्रय की ओर की उन्मुखता को ही अन्तर्यात्रा कहा जा सकता है। इसे साधकगण क्रममार्ग से तथा युक्त योगीगण अक्रम रूप से प्रत्यक्ष करते हैं। अन्तःआयाम अविकृत रूप है। बहिःआयाम कालशक्ति के आश्रय से, कालशक्ति के कारण, विकृतवत् उपलब्ध होता है।

बाह्यता खण्डकाल का स्वरूप है। भाषा परिच्छेद के अनुसार जो जगत् का आश्रय है, परत्वापरत्व बुद्धि का हेतु तथा पौर्वापर्य बुद्धि का कारण है, वह काल है। सर्वबीज, सर्वकारण, सर्वशक्ति से युक्त सर्वशक्तिमान ब्रह्म की माया से आवरित शक्ति की भोक्तृभोग्य तथा भोगरूप बहुरूपिणी स्थिति को काल कहते हैं। अतः अन्तर्यात्रा प्रसंग मे कालतत्त्व ही प्रधानतत्त्व रूप से विवेचनीय प्रतीत होता है। श्रुति ने भी मानव के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते समय काल को प्रधान माना है। बुद्धि तो काल की ही कला है। अतएव वह काल की सीमा में ही चिन्तन कर पाती है। इस कारण काल के उद्गम-केन्द्र के सम्बन्ध में चिन्तना कर सकना बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं हो सकता।

काल अखण्ड दण्डायमान तथा कलनात्मक भेद से द्विविध रूपों में स्थित रहता है। जो अमृत है, सूर्य से पूर्व है, वह अकल तथा अखण्ड काल है। जो सूर्य के पश्चात् अनुभूत होता है, वह सकलकाल है। सकल कलात्मक काल विभाज्य है, उसमें घटी, पल, मास, संवत्सर, अहोरात्र प्रतिभासित होते हैं। अखण्ड काल अविभाज्य तथा शाश्वत, अनवयव एवं अपरिवर्तनशील रूप से विद्यमान रहता है।

कलनात्मक काल निरन्तर गतिशील शक्ति है। काल ही क्रिया है। वही गति है। व्याकरण के दृष्टिकोण के अनुसार काल 'कल' धातु से निष्पन्न है। प्रेरण, क्षेपण तथा गति रूप में इसका प्रयोग किया गया है।

कलनात्मक काल बाह्यता का रूप है। अखण्ड दण्डायमान शाश्वत काल ही अन्तःप्रदेश है। इस बाह्यकाल (कलात्मक काल) के क्षेत्र से अन्तःस्थित शाश्वत काल- राज्य की ओर गतिमान होना ही अन्तर्यात्रा का यथार्थ स्वरूप परिलक्षित होता है। वैदिक ऋषियों के अनुसार काल ही काल में ले जाता है। 'कालः काले नयति माम्'। अतः इस कलनात्मक काल का यथार्थ ज्ञान करके अखण्ड काल के क्रोड़ में स्थित हो जाने पर अन्तर्यात्रा का लक्ष्य बिन्दु (गन्तव्य बिन्दु) प्राप्त हो सकता है। अखण्ड काल अनवच्छित सार्वभौम रूप है। यह प्रजापति से भी पूर्व विद्यमान रहता है। यही अखण्ड काल ही सृष्टि के संहार में प्रवृत्त महोग्र कलनात्मक काल के प्रकोप को शान्त करता है। कलनात्मक खण्ड काल ही चक्ररूप से वर्णित है। चक्ररूप से परिमित अस्तित्त्व के अपवर्त्य सिद्धान्त का आभास प्राप्त हो रहा है। जीवन का अभिप्राय है परिवर्तन की वह श्रृंखला जो अवस्था से अवस्थान्तर में चक्रीय परिक्रमण करती रहती है। अतः खण्डकाल ही चक्ररूप है। इसी के कारण परिधि का निर्माण होता है। परिधि ही आत्मा को सीमा में, परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है। परिधि के अन्दर जीवात्माओं के असंख्य अणु घूर्णित होते रहते हैं। ये अणुसमूह घूर्णन वेग के कारण परस्पर उलझते, टकराते, सम्बद्ध एवं असम्बद्ध होते, टूटते एवं नष्ट होते रहते हैं। यही अनन्त परिवर्तन का प्रवाह है। इसका प्रभाव जीवमात्र को, सृष्टि के कण-कण को, जन्म-मृत्यु तथा जीवन के रूप में अनुभूत होता है। यह क्रम क्षणिक होते हुए भी सतत प्रवाहित है। इस प्रकार खण्ड काल की अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी गति का क्रम चलता रहता है।

दोनों गति खण्डकाल से ही उन्मिषित होती है। जिन्होंने साधन-कौशल के द्वारा उत्सर्पिणी गति का आश्रय प्राप्त किया है, वे विकासोन्मुख होकर अखण्ड काल की ओर यात्रा करते हैं। यही अन्तर्यात्रा है। अवसर्पिणी गति बहिर्यात्रारूपा है। इसमें वर्ण, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर तथा सुख आदि का क्षय होता रहता है। खण्डकाल तो नियामककाल है। जहाँ इस नियामककाल का कोई अस्तित्त्व नहीं है, उसे वैष्णवगण महाविष्णु का परमपद कहते हैं। वहाँ महासंवित् शक्ति अन्तर्लीन रहती है। इस परमपद की ओर गतिशील होने से अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। जिस अन्तर्यात्रा का तत्त्व प्रस्तुत पुस्तक में विवेचित है, वह क्रममय कालक्षेत्र से अक्रम महाकाल रूप अखण्ड सत्ता की ओर की उन्मुखता ही है। महामहेश्वाचार्य अभिनव- गुप्त कहते हैं कि काल भी संवित् चेतनानर्गत है। यह अखण्ड सत्तात्मक काल 36 तत्त्वों के अन्तर्गत संचरणशील काल से पूर्णतः पृथक्

है। यह परमोर्ध्व सत्ता है, परमदेव की क्रिया है। शक्ति है। यही ईश्वरतत्त्व और शिव का स्वरूप है।

अन्तर्यात्रा का प्रारम्भ ही कर्म है। कर्म अर्थात् क्रिया। कर्म एवं क्रिया भी काल के ही स्वरूप-मात्र हैं। जैसे काल अमूर्त एवं मूर्त्त भेद से द्विविध है, उसी प्रकार क्रिया भी मूर्त्त, अमूर्त्त भेद से युक्त है। अमूर्त्त क्रिया मूल है, शक्तिरूपा है। यह अमूर्त क्रिया ही कर्त्तृकरण आदि कारक द्वारा अभिव्यक्त होकर इन्द्रियग्राह्य अवस्था को प्राप्त होती है। यह इन्द्रियग्राह्य अवस्था ही मूर्त्त क्रिया है। हम मूर्त्त क्रिया को ही प्रत्यक्ष करते हैं। अमूर्त्त क्रिया निरूपाख्या है। मूर्त्तक्रिया का आश्रय लेकर ऊर्ध्वारोहण करने से अमूर्त्त क्रिया का अधिकार प्राप्त हो जाता है। जैसे खण्डकाल से अखण्डकाल की ओर गतिशील होने पर अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है, उसी प्रकार मूर्त्तक्रिया का आश्रय लेकर अमूर्त्त क्रिया की ओर उत्तीर्ण होने का प्रयास भी अन्तर्यात्रा ही है। इन दोनों स्थितियों में किसी क्रिया की ओर उत्तीर्ण होने का प्रयास भी अन्तर्यात्रा ही है। इन दोनों स्थितियों में कोई भी भेद नहीं है। मूर्त्तक्रिया के अन्तर्गत असंख्य नाड़ियाँ शरीराभ्यन्तर में गतिशील रहती हैं। इनमें से एक को छोड़कर शेष सभी अधःश्रोतस्विनी हैं। केवलमात्र सुषुम्ना ऊर्ध्वश्रोतस्विनी है। इसका आश्रय लेकर साधक अमूर्त्त क्रिया में उत्तीर्ण हो जाता है।

अन्तः एवं बहिः शब्द का इस स्थल पर अनेक बार प्रयोग किया गया है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अव्यक्त अन्तः का स्वरूप है और व्यक्त ही बहिःरूप है। अन्तःस्थिति कारण है और बाह्यस्थिति को कार्य कहा गया है। जो बाह्यता है वह अन्तः की ही व्यक्त अवस्था है। अव्यक्त इन्द्रियगम्य नहीं है। व्यक्त इन्द्रियगम्य है। यद्यपि समस्त व्यक्त को अव्यक्त का ही रूप मामते हैं, तथापि व्यक्त स्थिति इन्द्रियप्रत्यक्ष है। अतः उसे इन्द्रियाँ जिस रूप में समझाती हैं, उसे उसी रूप में समझा जा सकता है। वह जैसा है, वैसे ही, तदनुरूप नहीं समझा जा सकता। उसे समझाने में इन्द्रिय- समूह कारण हैं। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के इन्द्रियप्रत्यक्ष में यथार्थ स्वरूप अप्राप्त रह जाता है। बाह्यस्थिति कार्यरूपा है। कार्य से कभी भी कारण को नहीं समझा जा सकता। कार्य से मात्र यह आभास प्राप्त होता है कि इसका कोई कारण भी है। बाह्य से यह अनुमान होता है कि इसका अन्तःकेन्द्र भी है। व्यक्त से यह परिज्ञात होता है कि इस व्यक्तता की पृष्ठभूमि में कोई अव्यक्त है, जो इन्द्रियगम्य नहीं है। इसी प्रकार बहिःयात्रा में गतिशील मानव किसी अचिन्त्य क्षण में अन्तःयात्रा का आमन्त्रण सुन सकने में सक्षम हो जाता है।

यात्रा में गति की अपेक्षा प्रतिक्षण रहती है। गति का एक रूप प्रतिचीन (Centri Fugal) है, अन्य रूप पराचीन (Centri Petal) कहा जाता है। जब परिणामी भाव बहिर्मुखीन होता है, तब पराचीन गति प्रबल हो जाती है। अन्तर्मुखी

गति ही प्रतिचीन गति है। अन्तर्यात्रा के समय प्रतिचीन गति का उदय होता है और पराचीन गति अस्तमित हो जाती है। तथापि यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिये कि गति ही गति का लक्ष्य नहीं है। चलते रहने के लिए कोई नहीं चलता। सब गन्तव्य पर्यन्त पहुँचने के लिए चलते हैं। अतः यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति ही गति का लक्ष्य है। अन्तर्यात्रा की गति का लक्ष्य है, अन्तः केन्द्ररूप अखण्ड महाकाल के क्रोड़ में स्थिति। एक बार स्थिर रहने के लिए ही जीवजगत् गतिशील रहता है। अन्तर्यात्रा की गति का लक्ष्य है साम्यावस्था। जो कोई, जो कुछ भी गतिमान है, वे सभी इसी लक्ष्य- बिन्दु में स्थित होने के लिए ही गतिमान हैं।

अन्तःकेन्द्ररूपी महादर्पण पर यह समस्त बाह्यता प्रतिच्छावित हो रही है। अर्थात् यह समग्र विश्व अव्यक्त आत्मरूप अखण्ड के चित्दर्पण पर प्रतिभासित होता रहता है। समस्त भाववर्ग चिद्गगनरूपी महाबोध पर प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। प्रतिबिम्ब क्या है? जो भेदावस्था में भासित हो, असक्त हो तथा अन्य के व्यामिश्रण से प्रतिच्छावित हो! परमार्थसार के अनुसार निर्मल दर्पण के ऊपर समस्त दृश्य भिन्न-भिन्न रूप से भासित होने लगता है। यह भिन्नता ही अभिन्न आत्मा की बहिःयात्रा है। अन्तःयात्रा के पथिक ही दृष्टि में बाह्यरूपता से प्रतिभासित जीव-जगत्, पदार्थ वर्ग की कोई भिन्न सत्ता ही नहीं रहती। वह एक से अनेक बनने पर भी, उस अनेक में एक की ही सत्ता का प्रत्यक्ष करता रहता है। सुधीजन कहते हैं कि यह शाश्वत 'एक' ही 'अनेक ' की सिद्धि के लिए विभिन्न विधान, शास्त्र तथा सिद्धान्त प्रभृति का सृजन करता है।

अन्तर्यात्रा की पृष्टि भावना-द्वारा होती है। भावना स्पन्दरूपा है। भावना से ही सब- कुछ होता है। भावना ही वह अज्ञात देव है, जो जीवमात्र को कठपुतली के समान संचालित करता रहता है। समस्त ज्ञातजगत् इसी भावना रूप अज्ञात देव के हाथों में क्रीड़ा करने के लिए विवश हैं। मन भी भावना-मात्र है। जो जैसी भावना करता है, वह वैसा ही हो जाता है।

●

तत्त्व निर्णय

किसी साधना के सम्बन्ध में अभिज्ञता प्राप्त करने के पूर्व उसकी आनुषंगिक दृष्टि के साथ परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। दृष्टि से ही लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त होता है। लक्ष्य के अभाव में साधना की प्रचेष्टा उन्मत्त प्रलाप ही है। कारण यह है कि लक्ष्य की प्राप्ति के साधन को जानकर उसका अनुशीलन भी करना चाहिये। अतः तान्त्रिक दृष्टिकोण का परिज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। दृष्टि भी पूर्ण तथा अपूर्ण रूप से दो प्रकार की होती है। अपूर्ण दृष्टि द्वारा जिसे लक्ष्य माना गया है, पूर्ण दृष्टि से देखने पर वह साध्य नहीं है, वह प्रकृत लक्ष्य का एक अंश मात्र ही है। इतने पर भी उभय दृष्टिकोणों की सार्थकता को स्वीकार करना ही होगा। सर्वान्त में अपूर्ण दृष्टिकोण का पर्यवसान पूर्ण दृष्टि में हो जाता है।

जैसे बौद्धगण बुद्ध, धर्म तथा संघरूप त्रिरत्न को मान्यता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार भेदवादी तान्त्रिक शिव, शक्ति तथा बिन्दु को त्रिरत्न रूप से स्वीकार करते हैं। कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगमों में तथा अघोर, शिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ, आदि आचार्यों की कृतियों में इसका विशेष वर्णन प्राप्त होता है। इसके मूल में भेद-दृष्टि ही कार्यरत रहती है। अभेदवादी आगम तथा आचार्य-गण के ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से अन्य विवरण मिलता है। इसका मूल कारण है दृष्टिभेद। शाक्तगण प्रधानतः अद्वैतवादी होते हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैतरूपी द्विविध दृष्टियाँ हैं। कहा जाता है कि शिव के ईशानादि पञ्च मुखों से ही समस्त मूल तन्त्र आविर्भूत हुए हैं। भेदप्रधान शिवतन्त्र 10 हैं। इसी प्रकार 18 भेदा-भेद शिवतन्त्र की स्थिति प्राप्त होती है। शिवज्ञान तथा रुद्रज्ञान भी ऊर्ध्व-स्त्रोतान्तर्गत ही हैं। अभेद ज्ञान या भैरवागम शिव के दक्षिण मुख अथवा योगिनी वक्त्र से अभिव्यक्त होता है। यह शिवशक्ति संयोगरूप तथा अद्वयस्वभावविशिष्ट है।

शिव, शक्ति तथा बिन्दु ही समस्त तत्वों के अधिष्ठाता तथा उपादानरूपेण प्रकाशमान हैं। शुद्धतत्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपदानबिन्दु है। शुद्ध जगत् कर्त्ता शिव हैं तथा करण को शक्ति कहा जाता है। अशुद्धतत्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही कर्त्ता तथा करणरूप हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा बिन्दु ही आधार है। बिन्दु का अपर नाम है महामाया। शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्या-शक्ति, अनाहत तथा व्योम द्वारा शुद्ध जगत् की उत्पत्ति होती है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त करता

है। जो महामाया राज्य की इच्छा नहीं करते तथा भोगार्थी भी नहीं हैं, वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्तियुक्त शिवस्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

बिन्दु ही क्षुब्ध होकर शुद्ध देह, इन्द्रिय और भुवन के रूप में, अर्थात् शुद्ध अध्वा रूप में गठित होता है और बिन्दु से ही शब्दोत्पत्ति भी होती है। सूक्ष्मनाद, अक्षरबिन्दु तथा वर्णभेद में शब्द तीन प्रकार का होता है। सूक्ष्मनाद ही अभिधेय बुद्धि का कारण तथा बिन्दु का प्रथम प्रसार है। यह चिन्तनशून्य होता है। अक्षरबिन्दु को सूक्ष्म नाद का कार्य तथा परामर्श ज्ञानस्वरूप कहते हैं। यह मयूराण्डरस न्याय अनिर्वचनीय है। आकाश और वायु से श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक स्थूल शब्द की उत्पत्ति होती है।

बिन्दु जड़भावापन्न होने पर भी शुद्ध है। पांचरात्र अथवा भागवत् सम्प्रदायान्तर्गत वैष्णवागम में विशुद्ध तत्व से जो कुछ भी भासित होता है, वही बिन्दु है। परमेश्वर के साथ बिन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। यथा प्रथम मत के अनुसार शिव की समवायिनी तथा परिग्रहरूपी शक्ति की सत्ता प्राप्त होती है। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा तथा स्वाभाविकी है। यही शक्ति तत्व है। यह सदा से शिव समवेत रहती है। शिव-शक्ति का पारस्परिक तादात्म्य- सम्बन्ध रहता है। परिग्रह, शक्ति को अचेतन तथा परिणामशीला कहते हैं। इसी का नामान्तर है बिन्दु। बिन्दु के शुद्ध तथा अशुद्ध, दो रूप हैं। शुद्ध रूप ही बिन्दु अथवा महामाया है। अशुद्ध रूप का नाम है माया। दोनों को नित्य माना जाता है। अशुद्धाध्वा का उपादान है माया तथा शुद्धाध्वा के उपादान को महामाया कहते हैं। सांख्योक्त तत्व तथा कलादि कंचुक को अशुद्धाध्वा के ही अन्तर्गत जानना चाहिये। यह सब माया का ही कार्य है। पुरुष तथा आत्मा नित्य है तथापि उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण कार्यकारी रहता है। माया से ऊर्ध्वस्थ तत्त्व शुद्ध अध्वा में परिगणित होते हैं।

द्वितीय मत के अनुसार एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध तथा अशुद्धाध्वा का उपादानरूप है। इस मत के अनुसार माया की स्थिति नित्य नहीं है, तथापि वह कार्यरूपा हो जाती है। महामाया (बिन्दु) की तीन अवस्थायें कही जाती हैं—परा, सूक्ष्मा तथा स्थूल। परा अवस्था का नामान्तर है महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि। यही परमकारण तथा नित्य है। सूक्ष्म तथा स्थूल अवस्थायें कार्यरूप हैं, अतः अनित्य हैं। जब महामाया विक्षुब्ध होती हैं, तब उससे शुद्ध धाम, तदन्तर्गत मन्त्रों, विद्येश्वरों के शरीर की रचना होती है। अर्थात् शुद्ध लोकों के संस्थान तथा देहादि साक्षात् महामाया के ही कार्य हैं। ये शुद्ध, मायातीत तथा उज्वल हैं। महामाया की अन्य दशा का नाम है माया। कलादि तत्वसमूह का अभिव्यक्त रूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण द्रष्टारूप आत्मा ही भोक्ता बन जाता है। माया से तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् रूप से अथवा पारम्परिकरूपेण

उत्पन्न होते रहते हैं। समस्त अशुद्धाध्वा का कारण है माया। महामाया की स्थूल या तृतीय अवस्था का नाम है प्रकृति। इसे त्रिगुणमयी कहते हैं। प्रकृति ही भोक्ता पुरुष के लिए बुद्धि आदि भोग-साधन की ओर समस्त भोग्य विषय की रचना करती है। कलादि के सम्बन्ध में पुरुष भोक्ता बन जाता है। अतः पुरुष के भोग्यसाधनार्थ महामाया ने प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था को अंगीकार किया है।

बिन्दु शिव में समवेत नहीं है। यह है प्रचलित मत। बिन्दु परिणामी होने के कारण जड़ है। अतः चिदात्मक परमेश्वर के साथ इसका समवाय सम्बन्ध नहीं है। शिव के साथ बिन्दु का समवाय सम्बन्ध स्वीकार करने पर शिव के अचेतत्व का प्रसंग अनिवार्य हो जाता है।

तांत्रिक भेदवादीगण में कोई-कोई बिन्दु समवायवाद के पोषक थे। इनके मत से समवायिनी शक्ति दो प्रकार की परिलक्षित होती है। प्रथम है, दृक्शक्ति किंवा ज्ञान-शक्ति। अन्य है, क्रियाशक्ति अथवा कुण्डलिनीशक्ति। क्रियाशक्ति का ही अपर नाम है बिन्दु। माया इससे सर्वथा भिन्न है। माया शिव में समवेत नहीं होती। अपने में समवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान होता है, और क्रियाशक्ति के द्वारा उनकी जगत्-रचना होती है। क्रियाशक्ति के अभाव में वस्तु-निर्माण नहीं हो सकता। ज्ञान तथा क्रिया परमेश्वर में अविनाभूतरूपेण प्रतिष्ठित है। परमेश्वर की क्रिया तथा उसका ज्ञान उनसे सम्बद्ध रहता है। बिन्दु के क्षोभ से शुद्ध जगत् का उदय होता है। माया का क्षोभ होने से अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। जब समवेत शक्ति परमेश्वर का स्पर्श करती हैं, तब क्षोभोत्पत्ति होती है। बिन्दु के क्षोभ से वैषम्य होने लगता है। साक्षात् पारमेश्वरी शक्ति ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति करती है। माया का क्षोभ परमेश्वर की शक्ति द्वारा नहीं होता।

तन्त्रमतानुसार सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह तथा अनुग्ररूप पञ्चकृत्य का कर्त्ता एकमात्र परमेश्वर ही है। ब्रह्मादि तो परिकर मात्र हैं। इन कृत्यों के लिए शुद्धाध्वा प्रयोजनीय है। अतः बिन्दु का क्षुब्ध होना आवश्यक है। परमेश्वर तथा उनकी शक्ति सदा ही एक एवं अद्वितीय है तथापि उपाधि भेदजनित आरोपित भेद भी उसमें विद्यमान रहता है। जब उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय वह शक्ति निष्क्रिय शुद्ध तथा संविदरूपा होती है। तब बिन्दु भी स्थिर तथा अक्षुब्ध ही रहता है। शक्ति की सक्रियावस्था के अभाव में बिन्दु में क्षोभ नहीं हो सकता। परबिन्दु स्वरूपाधिष्ठाता (परमेश्वर) की यही लयावस्था है। प्रचलित मतानुसार शक्ति एक ही है, अतएव उसमें ज्ञान तथा क्रियारूप भेद नहीं रहता। यद्यपि सामान्य दृष्टिकोण से भेद प्रतीत होता है, तथापि वह भेद औधाधिक भेद मात्र है। इसी कारण ज्ञान भी क्रियारूप कहा गया है। उस समय क्रियारूपी शक्ति शिवान्तर्गत मुकुलित-सी पड़ी रहती है।

यह है शिव की लयावस्था। जब उन्मिषित शक्ति बिन्दु को कार्य एवं उत्पाद

के लिए प्रस्तुत करती है तथा कार्योत्पादन के द्वारा शिव के ज्ञान तथा शिव की क्रिया को समृद्ध करती है, तब शिव की भोगावस्था सम्पन्न हो जाती है। परमेश्वर का भोग अथवा परमानन्द सुख संवेदन स्वरूप कदापि नहीं है। मलहीन चित्सत्ता में उपाधिभूत आनन्द तथा भोग की सम्भावना नहीं रहती। अब शक्ति ही सक्रिय हो जाती है। अतएव सक्रिय शक्ति से युक्त शिव भी सक्रिय हो जाता है।

लयावस्था में शिव निष्कल है, भोगावस्था में वह सकल निष्कल रूप है। वे अधिकारावस्था में सकल रहते हैं, तथापि यह अवस्थात्रय भेद वास्तविक है ही नहीं, औपचारिक ही है। शक्ति अथवा कला की अविकसित दशा, विकासोन्मुख दशा तथा पूर्ण विकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्थाभेद की परिकल्पना की जाती है।

शिव-शक्ति के अवस्थाभेद में बिन्दु का अवस्थाभेद विद्यमान रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यातीत कलायें, बिन्दु के समान पृथक्-पृथक् अवस्थासमूह हैं। शान्त्यातीत कला को बिन्दु का स्वरूप माना जाता है। यह अक्षुब्ध बिन्दु अथवा लयावस्था है। शुद्ध एवं अशुद्ध अधिष्ठान (भोगाधिष्ठान) शान्त्यादि चार कलाओं के ही परिणाम हैं। भोगाधिष्ठान का अर्थ है शान्ति आदि कलाओं के भुवन समूह। परबिन्दु समस्त कलाओं का कारण तथा लयावस्थान है। अतएव शान्त्यतीत भुवन सम्यक् रीति से भोगस्थान नहीं हैं, तब भी सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने के कारण कतिपय ऋषियों ने इन्हें भोगस्थान माना है। यह भोग की बीजावस्था है। कलात्मिका शक्ति ही शिव के देहरूप में अध्यस्त होती है, अतः लयावस्था में बिन्दुजनित विक्षोभ के अभाव में कला का उद्भव ही नहीं होता। अतएव निष्कल शिव को अशरीर कहते हैं। भोगावस्था में शिव सकल-निष्कल रहते हैं—तब उनका देह पञ्चमन्त्रात्मक हो जाता है। तन्त्रमतानुसार शक्ति ही मन्त्र है। अतएव शिव पञ्चशक्तिमय हैं। समस्त भावों के मनन तथा सम्पूर्ण संसार के त्राण के कारण मननत्राणरूपिणी शक्ति ही मन्त्र है। उक्त है—

मननात्सर्वभावानां त्राणात्संसारसागरात् ॥
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥

मन्त्रात्मिका शक्ति मूल में एक है, तथापि उपाधि के कारण उसमें नानात्व का समारोपण होता है। अधिष्ठान के कारण एक शक्ति ही पञ्चरूपा प्रतीत होती है। तदनुसार बिन्दु भुवन की अथवा शान्त्यतीत कलाभुवन की अधिष्ठात्री शक्ति को ईशानमन्त्र तथा शक्ति आदि चतुर्भुवनों की अधिष्ठात्री शक्तियों को क्रमशः तत्पुरुष, सद्योजात, वामवेद तथा अघोर मन्त्र कहा जाता है। ये समस्त भुवन भोग स्थान ही हैं। ईशानादि पञ्चमन्त्रात्मिक शक्ति देह का कार्य करती है। इस कारण यह शिवतनु भी है।

वास्तव में यह पारमार्थिक देह नहीं है। यह पञ्चमूर्ति परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में उपयोगी है। बिन्दु की समस्त कलायें कारणावस्था में लीन रहने पर (परबिन्दु स्थिति

में) विभागरहित होती है। इनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की परामूर्ति कहा जाता है। यह लयावस्था का वर्णन है। जब शिव अशरीरी हैं, तब वह इसी के अन्तर्गत लयावस्था में हैं। इस अवस्था में शक्ति अन्तर्लीन रहती है। बिन्दु अक्षुब्ध तथा असत्कल्प रह जाता है। उस समय एकमात्र शिव अपनी महिमा में विराजित रहते हैं। जब बिन्दु की कलायें कार्यावस्था में रहती हैं, उस समय उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरामूर्ति कहा जाता है। भोगस्थान रूप कला तथा भुवनों में विवृत्ति भुवन सर्वातिनिम्न कोटि है। इसके अधोवर्ती भुवन को सदाशिव भुवन कहते हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी को शिव की अपरामूर्ति अथवा सदाशिव तनु कहा गया है। 'सदाशिवतनु' औपचारिक नाममात्र है। सदाशिव भुवन के अधिष्ठानवशात् इसका उद्भव हुआ है। दीक्षादि के द्वारा जो-जो जीव तत्तद् भुवन में जाते हैं, उनका भेद सत्य है, किन्तु शिव तथा शक्ति का भेद कार्य के कारण औपाधिक है। 'अधिकारी स भोगी च लयी स्यादुपचारतः।' अर्थात् शिव की शक्ति से शोभित महामाया जो-जो कार्य उत्पन्न करती है, उससे उसके अधिष्ठाता शिव और शक्ति में कार्यभेद और स्थानभेद के कारण उपचार से तत्तद् संज्ञा का व्यपदेश होता है। दृष्टान्त रूप से कह सकते हैं कि शान्ति-भुवन अधिष्ठान और उपादान के कारण शक्ति और शिव क्रमशः शान्ता और शान्त संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

इस आगम शास्त्र में जो पतिभेद है, शक्तिभेद के समान उन पतिभेदों के स्थानभेद के कारण होने वाले कृत्य भेदोपचार के कारण हैं।

अधिकार अवस्थापन्न शिव सकल हैं। वे बिन्दु से अवतीर्ण तथा अणु सदाशिवों से आवृत्त हैं। ये सब सदाशिव वास्तव में पशु आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं हैं। इनमें किंचित् आणव मल अवशिष्ट रह जाता है। तत्फलस्वरूप इनकी ज्ञान, क्रियारूप शक्ति का तनिक संकोच रह जाता है। इनमें शिववत् अनावृत्त शक्ति नहीं होती। ये मुक्तपुरुष हैं, तथापि मलावशेष रह जाने के कारण इनको परामुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं होता। सदाशिवभुवन के अधिष्ठाता होने के कारण परमेश्वर भी सदाशिव हैं। वे स्वयं शिव हैं तथा पूर्वोक्त अणुसदाशिवों को स्व-स्व भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। वे विद्येश्वर एवं मन्त्रेश्वरों को उनके सामर्थ्य के अनुसार अशुद्धाध्वा के अधिकार से युक्त करते हैं। यह दो प्रकार का नियोजन कार्य ही अधिकारावस्था, शिव अथवा सकलशिव का कार्य है। यही है इनका प्रेरकत्व अथवा प्रभुत्व। ये सदाशिवरूपी शिव समस्त जगत् के प्रभुरूप में शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वाओं के मूर्द्धदेश में विद्यमान रहते हैं। योगीगण इसी भाव से उनका अनुध्यान करते हैं। माया के ऊर्ध्व में, शुद्धाध्वा में अनेक-अनेक भुवन स्थित हैं। प्रत्येक भुवन में तदनुरूप देह तथा करण आदि के साथ भोग्यादि भी है। ये विशुद्ध वैन्दव उपादानों से रचित हैं। इनमें भी ऊर्ध्व तथा अधोभाव से क्रमात्मक उत्कर्षापकर्ष

द्योतित होता है। दृष्टान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि विद्या में जो वामा तथा ज्येष्ठादि भुवन हैं, उनमें तुलनात्मकतया ज्येष्ठा का भुवन अधिक उत्कृष्ट है। ज्येष्ठा की अपेक्षा रौद्रीय भुवन उत्कृष्ट है। विद्यातत्व में सात करोड़ मन्त्र स्थित हैं तथा उनकी अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी विराजित हैं। ईश्वरतत्व में आठ विद्येश्वर अपने पुरों में विराजित हैं। शिखण्डी सर्वातिनिम्न प्रदेश में हैं तथा अनन्त सर्वोच्च में। इनमें भी पूर्ववत् क्रमोत्कर्ष है। सदाशिव तत्व में भी ठीक ऐसा ही है।

यहाँ पशु-आत्मा का विवरण देना आवश्यक है। पशु-आत्मा स्वरूपतः नित्य, विभु, चेतन तथा अन्यान्य शिवधर्ममय होने पर भी, संसारावस्था में इन सब धर्मों के विकसित स्वरूप के अनुभव से रहित है, सर्वज्ञानमय है। सर्वक्रियामयी शक्ति शिव की भी है तथा पशु-आत्माओं की भी है। भेद यह है कि शिवस्वरूप में सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूप शक्ति अनावृत्त, उन्मुक्त रहती है। पशु में भी यह सर्वदा है; तथापि अनादिकाल से पाशावरुद्ध है। माया, कर्म तथा मल ही पाश हैं। कोई पशु-आत्मा एक पाश से बद्ध है, कोई दो या तीन से। तीन पाद बद्ध आत्मा को सकल कहते हैं। जिनके मायिक कामादि का उपसंहार प्रलय में हो चुका है, तथापि मल एवं कर्म क्षीण नहीं हैं, वे प्रलयाकल हैं। विज्ञानादि उपायावलम्बन से कर्मक्षय हो जाने पर जब केवल मल नामक पाश अवशिष्ट रह जाता है, उस अवस्था में पशु-आत्मा विज्ञान-केवली है। विज्ञानकेवली आत्मा भी त्रिधा विभक्त है। ये सभी मायातीत हैं, सभी का कर्मसमूह उच्छिन्न हो चुका है, तथापि किंचित् अधिकार मल अवशिष्ट है, अतः इन्हें शिवसाम्य रूप पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकी। त्रिविध विज्ञानकेवली का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत है—

1. **विद्यातत्वनिवासी मन्त्र और विद्या**—ये सात कोटि हैं और विद्येश्वर वर्ग की आज्ञा के अधीन हैं। इनका भुवन है विद्यातत्व में। विद्येश्वरगण पाशबद्ध 'सकल' जीवों के उद्धारार्थ इन मन्त्र और विद्यासंज्ञक विज्ञानकल आत्माओं (देवताओं) का अपने अनुग्रह कार्य के कारणरूप में व्यवहार करते हैं। पञ्चकृत्यकारी होने के कारण विद्येश्वरगण में भी अनुग्रहत्व है। वामादि विद्या भुवन उत्तरोत्तरतया स्थित है। देह, भोग और इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष इन भुवनों में क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग, संन्यास आदि उपायों से अथवा भोग द्वारा कर्मक्षय होने पर कर्मफल भोग के साधन भूत मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म देह का आत्यन्तिक विश्लेष हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा कैवल्य को प्राप्त करके माया के ऊर्ध्व शुद्ध विद्यातत्त्व का आश्रय लेकर अणुरूपेण स्थित हो जाता है। कर्म तथा माया का उच्छेद हो जाने पर भी मल शेष रह जाता है। इस मल की निवृत्ति हुए बिना आत्मा का पशुत्व नष्ट नहीं होता। अतः शिवत्व-लाभ की सम्भावना नहीं रहती। मल के परिपाक के अनन्तर ही पशुत्व की निवृत्ति होती है। अतएव विज्ञानकेवली आत्मा केवलीभाव तथा मायातीतावस्था

सम्प्राप्त हो जाने पर भी अपरामुक्ति की प्राप्ति करने में असमर्थ रहते हैं। परामुक्ति तो अत्यन्त दुष्प्राप्य रह जाती है। सृष्टि के आरम्भ में जिन आत्माओं का मल न्यूनाधिक रूप से परिपक्व हो जाता है, उन पर भगवान् स्वयं कृपा करते हैं। उनके मलपाक के अनुरूप कृपारूपी ज्ञानक्रियाशक्ति का उन्मीलन कर देते हैं। तदनन्तर इन्हें मन्त्र और मन्त्रेश्वर आदि शुद्ध पद पर नियोजित करके शुद्धध्वा में भेज देते हैं। इनमें भी जो अत्यधिक शुद्ध होते हैं, उन्हें भगवान् एकबारगी परतत्त्व या शिवतत्त्व में नियोजित कर देते हैं। शेष आत्माओं का मलपाक न हो सकने के कारण उनका आवरण अत्यन्त सघन रहता है। वे विज्ञानकैवल्य अवस्था में ही रह जाते हैं। आत्मा की स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया रूप सर्वज्ञान शक्ति सुप्त-सी रह जाती है। अतएव कैवल्यावस्था में इनका पशुत्व निवृत्त नहीं होता। विज्ञानकेवली आत्मायें कर्म रहित होने के कारण माया के कार्य को तथा मायिक जगत् को पार कर लेते हैं, तथापि महामाया अथवा बिन्दु के कार्यरूप विशुद्ध अध्वा या विशुद्ध जगत् में प्रवेशाधिकार न प्राप्त करने के कारण बीच में ही रह जाते हैं। यह कैवल्य तन्त्रसम्मत मुक्ति नहीं है।

2. ईश्वरतत्त्व निवासी विद्येश्वर—इनकी संख्या आठ है। इनमें अनन्त प्रधान हैं। ईश्वरतत्त्व में इनके आठ भुवन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता परिलक्षित होती है। शिखण्डी से श्रीकण्ठ में अधिक गुण हैं। इनके भुवन, भोग, देहकरण आदि शिखण्डी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। श्रीकण्ठ से त्रिमूर्ति अधिक वैभवयुक्त हैं। इन सबकी अपेक्षा अनन्त परम श्रेष्ठ तथा ईश्वर हैं। इनका मल शान्त है। मात्र किंचित् अधिकार वासना शेष है। ये सभी शिव द्वारा ही अनुग्रहीत होते हैं। ये प्रशान्तमलत्व, अधिकारमल सम्बद्धत्व और शिवानुग्रहीत्व गुण मन्त्रगण में भी रहते हैं, पञ्चकृत्यकारी होने के कारण जीवोद्धार रूप अनुग्रह के विद्येश्वरगण कर्त्ता हैं, जब कि मन्त्रगण अनुग्रह के कारण हैं। विद्येश्वरगण के सम्बन्ध में रौरवागम में उक्त है—

सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः

ये सृष्टि, संरक्षण, संहार, निग्रह तथा अनुग्रहदाता हैं। इनकी आत्मशक्ति शिव के अनुग्रहात्मक संसर्ग के कारण विकास को प्राप्त हो जाती है—

शिवर्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः

3. सदाशिवतत्त्वस्थ भुवनवासी पशु अथवा संस्कार्य सदाशिव—ये सदा-शिव अथवा अधिकारावस्थापन्न शिव के समान पञ्चकृत्यकारी हैं। सदाशिवतत्त्वाश्रित होने के कारण ये भी सदाशिव नाम से परिचित हैं। ये पारमेश्वरी कृपा के कारण शुद्धाध्वा के ऊर्ध्व में स्थित हैं। शुद्धाध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्वों के आश्रय से भोक्तृवर्ग के सहित अठारह भुवन मुख्य हैं। प्रत्येक भुवन में उन भुवनों के अधीश्वर रहते हैं। इन आत्माओं ने तत्तद् भुवन के अधिष्ठाता की आराधना द्वारा अथवा दीक्षा के प्रभाव से इन भुवनों में स्थान प्राप्त किया है।

जो जिस भुवन के भोगों की इच्छा करता है, वह गुरु के द्वारा उसी में नियोजित होकर मन्त्र की शक्ति से सिद्धि प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में स्वच्छन्द तन्त्र में विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

अब प्रलयाकल तथा सकल पशु-आत्माओं के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। प्रलयाकल में ईश्वर समस्त मायिक कार्य का उपसंहार करके स्थित रहते हैं। प्रलय का उद्देश्य है दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रान्त तथा श्रान्त आत्माओं को विश्राम प्रदान करना। उनके कर्मों का परिपाक करना तथा असंख्य कार्य परम्परा की उत्पत्ति के कारण शक्तिक्षय को प्राप्त माया की शक्ति-वृद्धि करना। कला आदि भोग-साधन प्रलयाकल में विलीन हो जाते हैं। उस समय सभी आत्मसमूह कर्म तथा मलरूपी पाश में बँधकर नवीन सृष्टि के उन्मेष पर्यन्त माया में अन्तर्लीन हो जाते हैं। इन्हें प्रलयाकल अथवा प्रलयकेवली जीव कहा जाता है।

यद्यपि इन्हें कर्मक्षयावस्था नहीं प्राप्त है, तथापि ये सभी प्रलय के प्रभाव से कलादि से रहित होने के कारण एक प्रकार कैवल्यावस्था में विश्रान्त हो जाते हैं। इनमें से जिनका कर्म तथा मल परिपक्व हो चुका है, वे तत्काल परामुक्ति प्राप्त करते हैं। मलपाक तथा कर्मपाक की अभिज्ञता आवश्यक है। मलपाक प्रधानतः श्रीभगवान् की शक्ति के सम्बन्ध से होता है। कर्मपाक भी अनेकांश में मलपाक के ही समान है। कर्मों में अनेक भेदों की विद्यमानता रही है। जो कर्म क्रमशः पक्व होते हैं, उनका क्षय जीव का देह सम्बन्ध होने पर (देह प्राप्त होने पर) भोग द्वारा होता है। जो एक साथ पक्व होने वाले हैं, उनका क्षय श्रीभगवान् के अनुग्रह से होता है। उन्हें भोग द्वारा क्षय नहीं करना पड़ता। जिन जीवों के मल, कर्म तथा माया का परिपाक नहीं हो सकता, वे प्रलयकाल में नवीन सृष्टि का उन्मेष होने तक मुग्धावस्था में विश्राम करते रहते हैं। जब उन्हें भोग योग्य अवस्था सम्प्राप्त होती है, तब परमेश्वर अनन्त नामक विद्येश्वर में स्व-शक्ति का सन्निवेश करा कर, उनके द्वारा माया तत्व को क्षुब्ध कराते हैं। इससे अशुद्ध जगत् की संरचना होती है। अब इस सृष्टि में मुग्धावस्था में पड़े प्रलयाकल जीव कलादि भोग साधन को प्राप्त करके, सकल पशुरूपेण आविर्भूत होते हैं। इनमें पाशत्रय की सत्ता विद्यमान रहती है।

इन सकल पशुओं के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के सकल जीव भी हैं। इनके मल और कर्म का परिपाक हो जाता है। ये सृष्टि के प्रारम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर माया के गर्भ में स्थित जगत् का अधिकार प्राप्त करने के लिए अपरमन्त्रेश्वर के पद पर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और अनन्त विद्येश्वर की कृपा से अतिवाहिक देह प्राप्त करते हैं। इन्हें भी सकल कहा जाता है। यह सकल मण्डल विश्व के व्यापार को सम्पन्न करने वाला मायागर्भस्थ आधिकारिक मण्डल है। अतिवाहिक देह भी मायिक देह ही है। इतिपूर्व शुद्धाध्वा में स्थित मायोत्तीर्ण

अधिकारी आत्माओं का विवरण दिया जा चुका है। इन अधिकारीगण के देह मायिक उपादान से रचित मायिक देह नहीं हैं, प्रत्युत् महामायारूप उपादान से गठित देहधारी है। यहाँ वर्णित मायागर्भस्थ सकल अधिकारियों को भी परमेश्वर के अनुग्रह से वैन्दव देह की प्राप्ति होती है, तथापि वह अत्यन्त सूक्ष्म रूप होता है। अतः यह वैन्दव देह सकल पशुओं के शासन का कार्य निष्पन्न नहीं कर सकता। इसी कारण सकल अधिकारीगण वैन्दव देह की सूक्ष्म सत्ता से युक्त होने पर भी मायिक देह युक्त होते हैं। इनका वैन्दव शरीर इनके मायिक शरीर से अभिन्नतया युक्त हो जाता है। वैन्दव देह शुद्ध एवं बोधमय है। इनका मायिक देह अतिवाहिक होने पर भी मोहमयता से मुक्त नहीं होता। इतने पर भी वैन्दव देह से सम्बन्धित होने के कारण यह अतिवाहिक मायिक देह अपनी मोहमयता को त्यागकर बोधमयरूपेण भासित होता है। मन्त्रवर्ग के सम्बन्ध में यही नियम है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी जीव होते हैं, जिनके मल का पाक नहीं होता, तथापि पाप का क्षय हुआ रहता है। अतः इन्हें विभिन्न भुवनों में आधिपत्य करने योग्य देह की प्राप्ति हो जाती है। ये भुवन अंगुष्ठ से लेकर कालानल पर्यन्त विभिन्न स्तरों में विभाजित हैं।

अब पाश का निरूपण किया जा रहा है। पाश से बद्ध होने के कारण आत्मा पशुभावापन्न होकर संसार का अनुभव करने लगता है। पाश अचेतन होता है। यह चेतन के अधीन, परिणामशाली तथा चैतन्य का प्रतिबन्धक है। सबसे प्रधान पाश है मल। शुद्ध आत्मचैतन्यरूपा संवित् शक्ति मलहीना है, स्वरूप की प्रकाशिका है। यह सदा अभिन्नरूप तथा परिणामहीना भी है। तन्त्र के दृष्टिकोण से घट-पटादि बाह्य भेद भी सत्य हैं। इन बाह्य पदार्थों की स्थिति के कारण बौद्धज्ञान में तत्तद् प्रकार के विभिन्न आकार की उत्पत्ति होती है और उनका आत्मा के बोध में आरोपण होने लगता है। यद्यपि अर्थज्ञान की सन्निधि के कारण बौद्धज्ञान में भेद है, तथापि उनकी ज्ञानाश्रयी आत्मशक्ति किंवा ग्राहक चैतन्य का अवभासन सदा एक रूप में ही होता रहता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् को पौरुषज्ञान कहते हैं। पौरुषज्ञान से बौद्धज्ञान के पार्थक्य का भान न रहने के कारण ज्ञान में नानात्व का उदय होने लगता है। इसका मूल कारण मल है, जो पशुत्व का हेतु है। विशेष रूप से ज्ञात न होने के कारण वह संवित् मलाच्छन्न दृष्टि वाले पुरुष को द्विचन्द्रज्ञान के समान विभिन्न भावों से विवर्तित होने लगती है।

जब तक मल की निवृत्ति नहीं होती, तब तक पशुता दूर नहीं होती। शिवत्वाभिव्यक्ति तो असम्भव ही है। मात्र ज्ञान से ही मलापसारण सम्भव नहीं है। द्वैतमल में मल द्रव्यात्मक है। जैसे आँखों का मोतियाविन्द अस्त्रोपचार से निवृत्त होता है, उसी प्रकार ईश्वर के दीक्षासंज्ञक व्यापार के द्वारा इस मल की निवृत्ति हो जाती है। अन्य कोई उपाय नहीं है। स्वायंभुव आगमानुसार दीक्षा ही मल का मोचन करती है।

तदनन्तर शिवलोकपर्यन्त गति होती है। चित् तथा अचित् का अविवेक मल से उत्पन्न होता है। नीहार, अंजन, मृत्यु, अविद्या तथा आचरण आदि का मल ही नामान्तर है। मल की निवृत्ति के अनन्तर पूर्ण विवेक से अध्यास का उदय होता है। मल ही आणव पाश है। यदि आत्मा की नित्य और व्यापक चित्शक्ति का इस आणव पाश से विरोध न होता, उस अवस्था में संसारावस्था में भोगनिष्पत्यर्थ कलादि साधन समूह द्वारा अपने सामर्थ्य की उत्तेजना की आवश्यकता ही न होती और मोक्षहेतु कृपा या शक्तिपात का प्रयोजन नहीं होता। मल एक है, तथापि उसकी शक्ति अनेक है। उनमें से एक-एक शक्ति द्वारा एक-एक आत्मा की निष्क्रियता का निरोध होता है। अतः मल एक ही है, तथापि एक व्यक्ति की मलनिवृत्ति से समस्त प्राणीसमूह की मलनिवृत्ति नहीं हो सकती। मल की शक्ति अपने रोध तथा अपसारण क्रिया में स्वतन्त्र नहीं है। वह पूर्णतः भगवत्-शक्ति के अधीन है।

भगवत्-शक्ति भी अनेक रूपों में व्यवहृत होती है। मूलशक्ति स्वाधिकार के समय चैतन्य का रोध करती रहती है। इस स्थिति में भगवत्-शक्ति भी मलशक्ति का ही परिणाम साधित करते-करते उनके निग्रह-कार्य में हाथ बटाती है। इसे रोधशक्ति कहते हैं। जब भगवत्-शक्ति सर्वानुग्रहशील नित्योद्योगमय सदाशिव के ईशान नाम मस्तक से निकलकर मोक्ष प्रकाशिका ज्ञानप्रभा द्वारा अणुवर्गीय हृदयकमलों को उन्मीलित करती है, तब उसे अनुग्रहशक्ति कहते हैं। मलाधिकार समाप्त होना ही मुक्ति है। मल में परिणत होने की योग्यता तो है, तथापि वह अपने आप परिणत हो सकने में असमर्थ है। मल अचेतन है, अतः सर्वदा सर्वप्रकारेण चित्शक्ति द्वारा प्रयुक्त होता रहता है। इसी कारण परमेश्वर के प्रभाव से ही मल का परिणाम हो सकता है। कर्म-संज्ञक पाश धर्माधर्मात्मक है तथा अदृष्ट एवं बीज नाम से ख्यात है। कर्मधारा प्रवाह-रूप से अनादि है। यह सूक्ष्म देह के मध्य अवयवभूत बुद्धि तत्त्व में आश्रय लेती है।

मायापाश मायातत्त्व से सर्वथा भिन्न है। जब यह सृष्टिकाल में मन्त्रेश्वर द्वारा क्षुब्ध किया जाता है, तब वह कला एवं विद्या आदि तत्वरूप से साक्षात् एवं परम्पराक्रमेण परिणाम को प्राप्त हो जाता है। कला से लेकर पृथ्वीतत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों की समष्टि ही माया है। पुर्यष्टक तथा सूक्ष्म देहादि भी माया के ही नाभान्तर हैं। प्रत्येक आत्मा का सूक्ष्म शरीर पृथक् होता है। यह प्रलय अथवा मोक्षक्षण पर्यन्त कर्म का अनुसरण करते हुए निम्नवर्ती भुवनों में संचरण करता रहता है। मायातत्त्व अथवा मायापाश, एक ही स्थिति नहीं है। कलादि तत्त्वों की समष्टिरूपा माया अत्यन्त विस्तृत तथा समस्त आत्मसमूह की भोग्यरूप भुवनावली का आधार है। बिन्दु की विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति कलाओं में यह माया निश्चलवत् पड़ी रहती है। विद्याकला में माया, कला, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृतिरूप सप्त भुवनागार हैं। इनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से लेकर वामदेव नामक भुवन पर्यन्त 27 भुवन अवस्थित हैं।

प्रतिष्ठा कला में गुणों से लेकर जलपर्यन्त तेईस तत्त्वमय भुवनाधारों की सत्ता परिलक्षित होती है। इनमें श्रीकण्ठभुवन से लेकर अमरेशभुवन पर्यन्त छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्ति कला में केवल मात्र पृथ्वीतत्त्व अवस्थान करता है। यह भद्रकालीपुर से लेकर कालाग्निभुवन तक एक सौ आठ भुवनों का आधाररूप है। इस साधारण माया के विशालराज्य में प्रत्येक आत्मा के भोगसाधनभूत संकोच विकासशील सूक्ष्मदेहमय असंख्य समष्टि यत्र-तत्र संचरण करती रहती है। इन्हें असाधारण माया किंवा पुर्यष्टक कहा जाता है। तत्तद् भुवन से उत्पन्न स्थूल देहों के साथ जब इन सूक्ष्म देहों का सम्बन्ध होता है, तब उनमें स्व-स्व भोग की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। सांख्य तथा वेदान्तसम्मत सूक्ष्म या लिंगशरीर से तांत्रिकों का सूक्ष्म शरीर भिन्न है। कलादि तत्त्वों को सांख्य अथवा वेदान्त नहीं मानते। अतः इनकी सूक्ष्म शरीर वर्णना में भिन्नता है। अथच यह सभी ने माना है कि सूक्ष्म शरीर भोग साधनों में प्रधान है।

मायातत्त्व नित्य, विभु तथा एक है। इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वरशक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल तथा नियति—इन तीनों को उत्पन्न करती है। इनमें कला तत्त्व मलशक्ति को किंचित् अभिभूत करता है और आत्मा की चैतन्य शक्ति का किंचित् उद्‌बोधन करता है। परिणामतः आत्मा का स्वरूप उसके द्वारा अनुबिद्ध होने के कारण स्वकार्य के लिए स्वल्प मात्रा में कर्तृत्वभाव का विकास होने लगता है। मल आत्मा की शक्ति का रोध कर देता है। शक्ति ही करण है। अतएव कलातत्त्व आत्मशक्ति के मलावरण का तनिक अपोहन करते हुए, आत्मा के कर्तृत्व को किंचित् मात्रा में उदबुद्ध करके आत्मा को कर्मफल भोग में सहायता करता है। बुद्धितत्त्व का विषय से उपरंजित होना ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्तियों में अभिन्नतया भासित होता है। अनन्त विद्येश्वर माया का क्षोभ करते हैं। तांत्रिकगण माया के क्षेत्र में परमेश्वर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। परमेश्वर का प्रयोजकत्व अवश्य स्वीकार करते हैं। शुद्धाध्वा में शिव कर्त्ता हैं तथा अशुद्ध में अनन्त कर्त्ता होते हैं।

इस तरह माया विचित्र भुवनादि तथा नाना प्रकार के देहेन्द्रिय रूप में परिणत हो जाती है। यह त्रिविध बन्धनयुक्त शुक्ल संज्ञक पशु के लिए ही है। इन पशुओं में, अनात्मा में, आत्माभिमान रूप मायामय बन्धन, सुख-दुःख एवं मोह का हेतुभूत विपर्यय तथा आसक्ति आदि भावप्रत्यात्मक कर्म बन्धन और पशुता की प्राप्ति कराने वाला अनादि आवरणमय आणव बन्धन रहता है। तन्त्रमत में शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्तृत्व में कुछ भेद है। अतः परमेश्वर द्वारा स्वशक्ति के माध्यम से कराया गया महामाया का विक्षोभ तथा अनन्त द्वारा शक्ति के माध्यम से कृत माया का विक्षोभ—सर्वथा एक प्रकार की स्थिति का परिचायक नहीं है। शिव की स्वशक्ति है

संवित् अर्थात् विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान। अनन्त की स्वशक्ति है सविकल्प ज्ञान। यही विकल्प ज्ञान कहलाता है। 'शरीर तथा इन्द्रियों का संयोग न रहने पर कर्म नहीं हो सकता।' यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। अशरीरी आत्मा का भी स्वदेह स्पन्दनादि में कर्तृत्व देखा जा सकता है। जब आत्मा का मलादि से सम्बन्ध जुड़ जाता है, तभी शरीर की आवश्यकता होती है। शिव मलरहित हैं, अतः उनके कर्तृत्वादि के लिए शरीर की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। मायापति अनन्त सर्वदा निर्मल नहीं हैं। उनमें अधिकार मल अवशिष्ट है। अनन्तादि को सविकल्पक ज्ञान कैसे हुआ? तन्त्रमतानुसार 'यह घट है' इस प्रकार परामर्शरूप शब्दोल्लेख से आत्मा को सविकल्पक ज्ञान होता है।

चेतन के शब्दानुबेध से सविकल्प विज्ञान में शब्दोल्लेख अवश्यमेव स्थित है। चिन्तन के साथ भाषा का सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है। शब्दोल्लेख का अतिक्रमण किये बिना चिन्ताराज्य रूप विकल्पभूमि का भेदन कथमपि शक्य नहीं है। अतएव योगीजन स्मृति परिशुद्धि का अनुशीलन करते हैं। बौद्धों के अनुसार शब्द ज्ञानमात्र ही कल्पना है। वह प्रत्यक्ष नहीं है। अनन्त के ज्ञान में शब्दोल्लेख कैसे हो सकता है? यहाँ तब की आलोचना हो रही हैं जब अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई थी। माया तब तक क्षुब्ध नहीं थी। कारण यह है कि माया के क्षुब्ध होने पर ही अशुद्ध जगत् का उन्मेष होता है। इसी कारण तांत्रिकगण स्थूलाकाश को शब्द के अभिव्यंजक रूप से नहीं मानते। उनके अनुसार परमेश्वर द्वारा किया गया महामाया क्षोभ ही शब्दोत्पत्ति का कारण है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योम है। इसका पणिाम है शब्द। पञ्चभूतों में आदिभूत आकाश (अवकाशदान) ही स्थूल शब्दाभिव्यंजन से सूर्य, चन्द्रादि का भोग एवं अधिकार सम्पादन कराता है, वैसे ही बिन्दुरूप परमाकाश ही अवकाशदान तथा शब्द व्यंजना के द्वारा जगत् में सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृतासम्पन्न विद्येश्वरगण के भोगाधिकार का कारण बन जाता है।

बिन्दु अपनी परा-पश्यन्ति प्रभृति शब्दात्मिका वृत्तियों के सम्बन्ध से यह घट है इत्यादि परामर्शरूप विकल्पोल्लेख करते हुए सविकल्प ज्ञान को उत्पन्न करता है। जात्यादि विशेषण विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुविद्ध ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव रूप है। इसको पूर्वानुभूत वासनात्मक भावना अथवा संस्काररूप में ग्रहण करने का कोई कारण ही नहीं है। अध्यवसाय को बुद्धिकार्य कहते हैं। अतएव कोई-कोई इस सविकल्पक अनुभव को भी बुद्धि का ही कृत्य समझते हैं। यद्यपि तान्त्रिक दृष्टिकोणानुसार अध्यवसाय बुद्धि का ही परिणाम है, तथापि विकल्प ज्ञान का उद्‌भव बिन्दु के कार्य तथा शब्द की सहकारिता से होता है। माया के ऊर्ध्व में बुद्धि नहीं है, यह सत्य है, तथापि विद्येश्वरादि बुद्ध जनों का विकल्पानुभव बुद्धिजनित नहीं है। उसका एकमात्र निमित्त है वाक्शक्ति। इस वर्णन से यह ज्ञात हो

जाता है कि अनन्त किस प्रकार विकल्प ज्ञान के द्वारा माया को शुद्ध करके जगत् का सृजन करते हैं? इस सविकल्प ज्ञान से अनन्त विद्येश्वर के कर्तृत्व का एक अन्य प्रक्रियानुसार भी उपपादन किया जाता है। यह प्रक्रिया सर्वत्र मान्य नहीं है, अतः उसका वर्णन करना अप्रासंगिक होगा।

बिन्दु की शब्दात्मिका प्रवृत्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति एवं परा भेद से चार प्रकार की है।

वैखरी—श्रोत्रग्राह्य अर्थवाचक स्थूल शब्द है। कण्ठादि स्थानों मे आघात होने पर वायु ही वर्ण का आकार धारण करता है। साधारणतः यह शब्द प्राण की वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयुक्त होता है। अतः इसका उद्‌भव आकाश तथा वायु दोनों से होता है।

मध्यमा—यह प्रापवृत्ति से अतीत श्रोत्र का अविषय तथा अन्तःसंकल्प रूप अर्थात् चिन्तन के रूप में भीतर ही भीतर चलने वाला है। परामर्शज्ञान इसी का नामान्तर है। इसे शुद्धबुद्धि का परिणाम कहते हैं। यह क्रम विशिष्ट है। यह स्थूल शब्द का कारण भी है।

पश्यन्ति—इसका नामान्तर अक्षरबिन्दु है। यह स्वयंप्रकाश है और वर्णों के अविभाग के कारण क्रमहीन है।

परा अथवा सूक्ष्मा—यह नाद के नाम से भी वर्णित है। यह अभिधेय बुद्धि का बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय तथा प्रत्येक पुरुष में भिन्नवत् है। सुषुप्ति में भी यह निवृत्त नहीं होती। परावाक् के स्वरूप से पुरुष के स्वरूप का पृथक् रूप से साक्षात्कार करने पर पुरुष का भोगाधिकार निवृत्त हो जाता है। यह है मुख्य विवेक ज्ञान। जब तक इसका उदय नहीं होता, तब तक शब्दानुविद्ध ज्ञान से अतीत विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। सांख्यसम्मत सत्वपुरुषान्यता ख्याति अथवा विवेक ख्याति से तन्त्रप्रसिद्ध आत्मा की स्वरूप स्थिति नहीं हो सकती। अतएव सांख्योक्त कैवल्य को आगम ने मोक्षरूपेण स्वीकृति नहीं दी है। वास्तव में इस अवस्था में आत्मा का पशुत्व विनिवृत्त नहीं होता और उसमें शिवत्वाभिव्यक्ति भी नहीं होती। इस प्रकार केवली में परावाक् का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। दीक्षा के प्रभाव से मल की निवृत्ति होने पर ही पुरुष एवं परावाक् का पारस्परिक अविवेक उच्छिन्न हो जाता है। यही यथार्थ स्थिति है। इस प्रकार जीवमात्र में शब्दात्मिका वृत्ति की सत्ता रहती है। इन वृत्तियों के भेद से ज्ञान में उत्कर्ष एवं अपकर्ष का द्योतन होता है। इन्हें अतिक्रम करने के पश्चात् शिवत्त्वलाभरूप मोक्ष आयत्त होता है।

शैव तथा शाक्ताद्वैत सिद्धान्त में अनेकांश में समानता परिलक्षित होती है। आत्मा चित् प्रकाशरूप है। उसकी विमर्शरूपा शक्ति उससे अभिन्न है। इसकी शक्ति को वाक् कहते हैं। द्वैतमत से परावाक् बिन्दु की वृत्ति है। इसका अतिक्रमण ही मोक्ष

कहा जाता है। बिन्दु शुद्ध है, अथच जड़ रूप है। अद्वैत मतानुसार परावाक् परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्ति का नामान्तर है। यह चिद्रूपा है। परावाक् अपनी पूर्णावस्था में आत्मा या परमेश्वर में अभिन्नतया स्थित रहती है। वाक्रूपा शक्ति की परावस्था को पूर्णाह्नता कहते हैं। यह सदा प्रकाशमय एवं महामन्त्रात्मक है। इसके गर्भ में अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त शक्ति-चक्र पड़े रहते हैं। परावाक् ही पश्यन्ति क्रम से उत्तरोत्तर भूमियों को प्रकाशित करती है। आत्मा अपनी स्वशक्ति से विमोहित होकर अपने पञ्चकृत्यकारित्व को भूल जाता है। सत्य तो यह है कि मायिक दशा में भी पञ्चकृत्यकारित्व सर्वथा आवरित नहीं होता। भक्तिपूर्वक अपने पञ्चकृत्यकारित्वमय स्वभाव का सर्वदा परिशीलन करने से, जीव का पारमेश्वरत्व प्रकाशित हो उठता है। अब वह जगत् को स्व-स्वरूप का विकास मानने लगता है। समस्त जागतिक पदार्थ आत्मा से अभिन्न रूप में भासित होने लगते हैं। यह है समस्त बन्धनों का उच्छेद! पञ्चकृत्यकारित्व का विस्मरण होना भी आत्मा का स्वभाव स्वातंत्र्य कहा गया है। शक्तिपात के समय बलोन्मीलन के साथ-साथ पञ्चकृत्यकारित्व की अभिज्ञता प्राप्त होने लगती है।

आणवादि मलत्रय संकुचित ज्ञानात्मक हैं। इसके द्वारा जिस परिच्छिन्न ज्ञेयपदार्थ का ज्ञान होता है, वह भी ज्ञान से अभिन्न-सा रहता है। अ से लेकर क्ष तक के मातृका वर्ण में यह सब ज्ञान अधीष्ठित रहता है। वर्ण से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। तन्त्र ने इन्हें विश्वजननी मातृकारूप से अभिनन्दित किया है। अज्ञात रहने पर मातृका ही बन्धन का कारण है। सम्यक्ज्ञान का विषय हो जाने पर इन मातृकाओं से ही परासिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। मलात्मक ज्ञानत्रय निर्विकल्पक एवं सविकल्पक अवस्थाओं में भी शब्दानुविद्ध ही रहता है। मातृकाओं के प्रभाव से तत्तद् ज्ञान, तत्तद् शब्दों के अनुवेध द्वारा हर्ष-शोक प्रभृति विभिन्न भाव का आकार धारण करते हुए, अष्टवर्ग, निवृत्यादि पञ्चकला तथा कलादि के षड्ध्वाओं की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति शक्तिकोटि में भासमान होते हैं। अम्बिकादि शक्तिमण्डल का प्रभाव भी इन पर पड़ता है। मातृकाधिष्ठान से ही ज्ञानरूप पूर्णाहन्ता में अभेदानुसन्धान लुप्त हो जाता है और ज्ञानसमूह प्रतिक्षण बहिर्मुखता से आक्रान्त होकर बन्धन बन जाते हैं।

अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा ही सब शक्तियों की कारणरूपा हैं। अकारादि मातृका ही कला, देवी, रश्मि कही जाती है। ये सब मातृकायें स्थूल वर्ण रूप में, पद और वाक्यों की योजना से अनेकानेक लौकिक तथा अलौकिक शब्द में परिणत हो जाती हैं। इन कलाओं के कारण पशुज्ञान शब्दानुविद्ध हो जाता है और पशु कलासमूह के अधीन होकर उनके भोग्य बन जाते हैं। इनके प्रभाव से ज्ञानाभास, आणव, मायीय तथा कार्यमलोत्पत्ति होती है, जिससे पशु का अपना वैभव लुप्त हो जाता है। 'मैं अपूर्ण हूँ' यह आणव मल है। 'मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ' यह ज्ञानाभास

मायामल है। 'मैं यज्ञादि करता हूँ' यह ज्ञानाभास ही कार्ममल है। परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से सर्वाग्र में स्वस्वरूपाच्छादिनी महामाया शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। इसके कारण आकाशवत् निर्मल आत्मा में संकोचाविर्भाव होता है। यह संकोच अनाश्रित शिवतत्त्व से लेकर मायाप्रमाता पर्यन्त व्यापक है। पारमेश्वर स्वातन्त्र्य की हानि ही इस संकोच का रूप है। यह परमेश्वर भाव का अस्फुरण कहा जा सकता है। इसे अपूर्णम्मन्यता, आणवमल, अज्ञान, अख्याति भी कहते हैं। अख्याति का अर्थ है, आत्मा में अनात्मभाव का अभिमान। अज्ञानात्मक ज्ञान तो बन्धन है ही, परन्तु अनात्मा में आत्माभिमान रूप अज्ञानमूलक ज्ञान भी बन्धन ही है। अतः आणवमल दो प्रकार का सिद्ध हो जाता है—

1. चिदात्मा में स्वातंत्र्य का अप्रकाश अपूर्णम्मन्यता। यह विज्ञानकल पशु का मल है।

2. स्वातंत्र्य रहने पर भी देहादि अनात्म सत्ता में अबोधात्मक आत्माभिमान।

विश्व का कारण है माया अथवा योनि। इससे उत्पन्न कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के समस्त तत्त्व (जिनसे विभिन्न भुवनादि, देहेन्द्रियादि उत्पत्ति होती है) मायामल रूप हैं। इनके आश्रय से किया जाने वाला शुभाशुभकर्मानुष्ठान ही कर्मफल कहा गया है। कलादि तत्त्व आणवमल की भित्ति से सम्बद्ध होकर पुरुष को आच्छादित करते हैं। अतएव वे भी मलपदवाच्य हैं। मल तथा कला समूह की अधिष्ठात्री है मातृका शक्ति। इसमें अभेद ज्ञान की अधीश्वरी है अघोर शक्ति। इनके प्रभाव से बाह्याभ्यन्तर में आत्मभाव स्फुरित होता है। भेदज्ञान की अधिष्ठात्री को घोराशक्ति कहते हैं। इनसे बहिर्मुखता तथा स्वरूपावरण का उदय होता है।

परावाक् प्रसृत होकर सर्वाग्र में इच्छा तदनन्तर ज्ञान एवं क्रियारूप हो जाती है। तदनन्तर उसका 50 संख्यक मातृका रूप में परिणाम होता है। इनमें स्वरवर्णों में बीज अथवा शिवांश तथा व्यंजन वर्गों में योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहता है। ये वर्ण प्रमाता की सविकल्पक तथा निर्विकल्पक अवस्थाओं में अन्तःपरामर्शन के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शब्दों का उल्लेख कराते हैं। इसी प्रकार वर्णादि देवताओं के अधिष्ठान से राग, द्वेष, सुख-दुःख, भय आदि भावों की स्फूर्ति होती है। इस प्रकार संकोचहीन, स्वतन्त्र, चिद्घन आत्मा का स्वरूप आच्छन्न होने से परिच्छिन्न एवं परतन्त्र देहादिमय भाव का उदय होता है। ये सभी महाघोरा पशुमातृका शक्तियाँ भेदज्ञान उत्पन्न करती हैं। इनका आश्रय स्थल है ब्रह्मग्रन्थि। ये ही पशुसमूह के अन्तःपतन का कारण हैं। तत्वज्ञान लाभोपरान्त जब तक पुरुष सम्यक्रूपेण प्रमादहीन नहीं हो जाता, तब तक इन शक्तियों के शब्दानुवेध के द्वारा मोहगर्त्त में पतन की आशंका बनी रहती है। वह देवी भगवती ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह में निपतित कर देती है।

प्रकाश तथा विमर्श दोनों ही सृष्टि-व्यापार के मूलाधार हैं। सृष्टि आदि समस्त कृत्य की पृष्ठभूमि में इन दोनों की सत्ता रहती है। जब पराशक्ति स्वातंत्र्योन्मेष के कारण अन्तर्लीनावस्था त्यागकर अभिव्यक्त होती है, तब विश्वरूप चक्र का आवर्त्तन होता है। वास्तव में शक्ति या विमर्श की ही अभिव्यक्ति होती है। प्रकाश में उपचार मात्र ही होता है। तत्वमात्र ही शक्ति के स्वातंत्र्योल्लास की ही विशेष अवस्था मात्र है। अतः शिवतत्त्व भी तत्व होने के कारण शक्तिकोटि में परिगणित होता हैं। प्रकाश-विमर्श को एक प्रकार से परमविमर्श का ही रूप भेद माना जाता है। शुद्ध प्रकाश अनुत्तर, विश्वोत्तीर्ण तथा तत्त्वातीत है। प्रकाश में ही विमर्श अन्तर्लीन रहता है। अतः प्रकाश एवं विमर्श दोनों ही विमर्शात्मक अथवा शक्त्यात्मक हैं। उनमें अंशकल्पना की जा सकती है। वामकेश्वर शास्त्र के अनुसार प्रकाश के चार अंश हैं। यथा अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री। विमर्शांश का नाम है शान्ता, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। अम्बिका और शान्ता की सामरस्यावस्था में शान्तभावापन्न पराशक्ति ही परावाक् है। यह आत्मस्फुरण की स्थिति है। उक्त है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला॥
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता॥

जिस समय वह पराशक्ति स्व-स्फुरण को लक्ष्य करती हैं, उस समय वह अम्बिका- रूप को प्राप्त होने से परावाक् कहलाती है। इस आत्मस्फुरणावस्था में समग्र विश्व बीजरूप में, अस्फुटरूप में आत्मसत्ता में विद्यमान रहता है। इसके अनन्तर शान्ता से इच्छा का उदय होने पर अव्यक्त रूप विश्व शक्तिगर्भ में बहिर्गत होता है। इच्छाशक्ति वामाशक्ति से तादात्म्य प्राप्त करते हुए पश्यन्ति वाक्रूप हो जाती है। इसके अनन्तर ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा से अभिन्न है। इसे मध्यमावाक् कहते हैं। यह शक्ति समस्त सृष्टि विश्व का कारण है। ज्ञानानन्तर क्रियाशक्ति रौद्री के साथ एकीभूत होकर वैखरी कहलाती है। प्रपञ्चात्मक वाग्वैचित्र्य ही वैखरी का रूप है।

यह चतुःवाक् परस्परतया मिलित होकर मूल त्रिकोणाकृति महायोनि में परिगत हो जाती है। शान्ता तथा अम्बिका का सामरस्य (परावाक्) ही इस त्रिकोण का केन्द्र है। यह नित्यस्पन्दमय रहता है। इसकी वामरेखा है पश्यन्ति, वैखरी दक्षिण रेखा है। मध्यमा सरल अग्ररेखा है। मध्यस्थ महाबिन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव और शक्ति का आसन है। यह त्रिकोण मण्डल चित्कला के प्रभाव से उज्ज्वल है। इसके बाहर क्रम विन्यस्त रूप से शान्त्यातीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति रूप पञ्च कलाओं का आभामय स्तर विद्यमान है। इस स्तरों की समष्टि ही जगत् का रूप है। अतएव भूपुर से महाबिन्दु पर्यन्त विस्तृत विश्वचक्र को महाशक्ति का विकास कहा जाता है। मध्य त्रिकोण को बिन्दु-विसर्गमय कहते हैं। (तांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार

देवता मात्र का यान्त्रिक रूप वासनाभेद से जगत् का ही रूप है। प्रत्येक यन्त्र का बाह्य चतुष्कोण ही भूपुर है। यह विश्वनगर का प्राकार स्वरूप है। पूर्वादि किसी भी मार्ग से उसमें प्रवेश करते हुए, अन्तरतम् में प्रवेश करते जाना ही साधना है। यन्त्र का केन्द्र- बिन्दु, उस यन्त्र की अन्तिम भूमि है। यहीं साक्षात्कार होता है।) मध्य त्रिकोण की प्रत्येक रेखा को पञ्चस्वरमयी कहते हैं। इस पञ्चदशस्वरात्मक त्रिकोण मण्डल का बिन्दु स्थान विसर्ग कलाओं से आक्रान्त रहता है। इस त्रिकोण के स्पन्दन से अष्टकोण कम्पित होते हैं। यह रौद्री शक्ति का प्रतीक है और शान्त्यातीत कला से उज्ज्वल होता है। इसका प्रत्येक स्तर प्रकाश तथा विमर्श से ओत-प्रोत रहता है। तत्तद् वर्ण (वाचक तथा तत्तद् तत्त्व (वाच्य) का तादात्म्य तत्तद् चक्रांश में प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है। समस्त चक्र में अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णमाला तथा शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वसमूह अभिव्यक्त होते हैं। साधक जिस समय कुण्डलिनी जागरण के अनन्तर उर्ध्वोत्थित होने लगता है अथवा इष्टदेवता के स्वरूपभूत चक्रान्तर्गत प्रविष्ट होने लगता है, उस समय वह इस विश्वचक्र में ही गतिशील रहता है। अकुल से महाबिन्दु पर्यन्त एक विशाल महामार्ग परिलक्षित होता है। इस महामार्ग में जितने भी चक्र हैं, उन-उन सबकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल आज्ञाचक्र पर्यन्त अंश सकल, आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मना पर्यन्त अंग सकल-निष्कल तथा उन्मना के बाद का महाबिन्दु अंश निष्कल कहा जाता है। योगमार्ग के सकलांश में सबसे पूर्व अकुल अथवा विषुवत् मार्ग है। तदनन्तर अष्टदलोपरान्त षट्दलयुक्त कुलपद्म की सत्ता प्रत्यक्ष होती है। इससे अग्रगामी मार्ग को कुलमार्ग कहते हैं। षट्दलकमल के ऊपर मूलाधार और उससे ऊर्ध्व में शक्ति या हृल्लेखा स्थान है। यह अणिमादि देवगण से परिवेष्टित है। यह आधार कमल से ढाई अंगुल ऊर्ध्व पीताभ कर्णिका मध्य में पूर्णतया सुप्रतिष्ठित है। हृल्लेखा से दो अंगुल ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान कमल स्थित है। तदनन्तर मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र (अष्टदल) तथा अन्त में आज्ञाचक्र स्थित है। इस सकल मार्ग में अग्नि, सूर्य, तथा चन्द्र के बिम्ब दिखलायी पड़ते हैं। मूलाधार में अग्निबिम्ब, अनाहत में सूर्यबिम्ब तथा विशुद्ध में चन्द्रबिम्ब का परिदर्शन होता है।

आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व में बिन्दु से उन्मना पर्यन्त की भूमि को क्रमशः बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना तथा उन्मना कहा जाता है। इतना मार्ग सकल निष्कलरूप है। अर्धचन्द्रादि कलायें बिन्दु भेद के अनन्तर क्रमशः मिलती हैं। उन्मना पर्यन्त पहुँचने पर काल की कला, तत्त्व, देवता और मन भी निरुद्ध हो जाता है। इन्हें तांत्रिक परिभाषानुसार रुद्रवक्त्र कहा जाता है। यह अन्तिम भूमि सर्वथा निराकार, उच्चाररहित, शून्यमय तथा विश्वातीत है। इसके पश्चात् महाबिन्दु ही निष्कल भूमि है। इसका नामान्तर है सदाख्य (सदाशिवरूपी आसन)।

यहीं तत्वातीत शिवशक्ति की क्रीड़ा होती रहती है। यह सब योगमार्गीय चक्रभेद के अनुसार वर्णित है। उपासना-क्रम से भी इनका वर्णन हो सकता है। श्री-चक्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीत अवस्था में उन्नीत होने के लिए मार्ग में विभागत्रय का आभास प्राप्त होता है। यथा चतुष्कोण से त्रिकोण पर्यन्त, बिन्दु से उन्मना पर्यन्त तथा महाबिन्दु। दूसरा तथा तीसरा सकल-निष्कल तथा निष्कल मार्ग से भिन्न है। प्रथम विभाग पूर्वोक्त सकल मार्ग का ही नामान्तर है। वासना भेद से स्थान तथा उपाधि में भेद हो गया है। अतः श्रीचक्रान्तर्गत भूपुर, षोड्शदल, अष्टदल, चतुर्दशार, बाह्यदशार, अन्तर्दशार, अष्टकोण तथा त्रिकोण सुषुम्ना पथ पर निम्नस्थ अकुल पद्म से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त में प्रवेशाधिकार मिलने के पश्चात् वासना नहीं रहती और आगे की भूमियों में कोई भेद नहीं रह जाता। यहाँ यह स्मरण रखना चहिये कि साधना के दृष्टिकोण से वास्तव में महाबिन्दु ही विश्व का हृदय है। यही विश्वातीत परमेश्वर अथवा शिवशक्ति का आसन भी है।

महाबिन्दु को शवरूपी सदाशिव भी कहते हैं। इस शव के वक्ष पर चित्कला स्वातंत्र्यमय खेल खेलती रहती है। यह क्रीड़ा परावाक् अथवा परामातृका का विलास है। शुक्ल एवं रक्त बिन्दुरूप प्रकाशविमर्शात्मक काम कलाक्षर के परस्पर संघट्ट से चित्कला अभिव्यक्त हो जाती है। महाबिन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन बिन्दु विभक्त होकर रेखारूप में परिणत होते-होते महात्रिकोणाकृति हो जाते हैं। इसी से शिव से पृथ्वी पर्यन्त षट्त्रिंश तत्त्व से निर्मित विश्व की रचना होती है। तत्वातीत अवस्था में शिव-शक्ति का सामरस्य रहता है। तब विश्वशक्ति के गर्भ में अन्तःसंहृत भाव से विद्यमान रहता है, परन्तु जब पराशक्ति स्वफुरण को स्वयं स्वेच्छा से देखती है, तभी विश्वसृष्टि होती है। इस स्फुरण का दर्शन ही विश्वदर्शन है। विश्वदर्शन ही विश्व की सृष्टि है। अब दृष्टि ही सृष्टि हो जाती है। अनुत्तर दशा में स्वरूपावस्थित विश्व को देख सकना शक्य नहीं है। इसे सृष्टि से अतीत अवस्था कहते हैं। दृष्टि अथवा सृष्टि व्यापार में शिव का कार्य है तटस्थ रहना। उनकी स्वरूपभूता स्वातंत्र्यशक्ति ही सब कुछ करती रहती है। शिव तो अग्निस्वरूप प्रलयानल अथवा संवर्त्तानल स्वरूप कहे जाते हैं। शक्ति विवर्त्तचन्द्ररूपा सोम है। शिव-शक्ति का साम्य तांत्रिक भाषा में बिन्दुरूप से ख्यात है। बिन्दु का नामान्तर है रवि अथवा काम। इससे क्षोभ होने पर (साम्य भंग होने पर) सृष्टि का आविर्भाव होता है। साम्यावस्था में अग्नि तथा चन्द्ररूपी रक्त तथा शुक्ल बिन्दु (अ तथा ह) 'म' रूप में अभिन्न रहते हैं। क्षुब्धावस्था में चित्कला का आविर्भाव होता है। अग्नि के ताप से घृत विगलित हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाशरूप अग्नि के सम्पर्क से विमर्शात्मिका शक्ति का स्राव होने लगता है। इस प्रकार श्वेत तथा रक्त बिन्दुओं के मध्य से हार्धकला का निःसरण होता है। चैतन्याभिव्यक्ति का यही रहस्य है।

इस महात्रिकोण में चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में विश्व का रूप प्रतिभासित होता रहता है। वह स्वरूपतः बीजरूप है और बाह्यतः सृष्टिरूप। पीठ का तात्पर्य है प्रकाश एवं विमर्श का साम्यभाव। उदाहरणार्थ, अम्बिका तथा शान्त्या का सामरस्य रूप है 'कामपीठ'। यह पीठ पीतवर्ण चतुष्कोणाकृति है और आधार स्थान में विराजमान है। इसी का नामान्तर है 'मन'। इस पर बिन्दु तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ते ही स्वयम्भू-लिंग प्रतिच्छवित हो उठता है। यह पीठ महात्रिकोण का अग्रपीठ है। अथवा अग्रकोण है। महात्रिकोण के अन्य कोणद्वय पूर्णगिरि पीठ तथा जालन्धर पीठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनसे प्रतिफलित होने वाला चैतन्य इतरलिंग तथा बाणलिंग कहलाता है। वास्तव में ये दोनों बुद्धि एवं अहंकार के ही प्रतिरूप अथवा नामान्तर ही हैं। देह में इनका स्थान है हृदय तथा भ्रूमध्य। मध्य बिन्दु को उड्डीयान अथवा श्रीपीठ कहा गया है। यह चित्स्वरूप है। इसमें प्रतिबिम्बित ज्योति को परलिंग कहा जाता है, प्रत्येक प्रतिलिंग निर्दिष्ट संख्यक वर्णों से मण्डलाकृति में घिरा हुआ है, परन्तु परलिंग सभी वर्णसमूह से वेष्ठित परिलक्षित होता है। परलिंग ही परमपद का प्रथम स्पन्दन है।

शिव-शक्ति का अहं परामर्शपूर्ण स्वाभाविक प्रतीत होता है, अतः वही पूर्णाह्ता स्थिति मानी गयी है। यह स्थिति निर्विकल्प ज्ञानात्मक है। इसमें स्वातंत्र्यवशात् विभागाविर्भाव होता है। पूर्णाह्ता या परावाक् विभागदशा में ही पश्यन्तादि रूपत्रय धारण करती है। इसके प्रत्येक रूप में स्थूल-सूक्ष्म तथा परभेद के कारण तीन-तीन अवस्थायें उदित हो जाती हैं। यद्यपि परमतत्त्व निरंश प्रकाशरूप है, तथापि उसका मुख्य शक्तित्रय में भेदावभासन होने के कारण विभाग का उदय होने लगता है। इन मुख्य शक्तित्रय का विवरण प्रस्तुत है—

1. परा अथवा अनुत्तरा = यही चित्शक्ति है।
2. परापरा = यही इच्छाशक्ति है।
3. अपरा = इसका नामान्तर है उन्मेषरूपा ज्ञान शक्ति।

इन तीनों का अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वर की पूर्णमयी शक्ति के रूप में आत्म-प्रकाश करता है। इसमें अनुत्तर अथवा चित् 'अ' है। इच्छा 'इ' है और उन्मेष अथवा ज्ञान है 'उ'। यह शक्तित्रय अ, इ, उ रूप त्रिकोणरूप में आत्मप्रकाशन करता है। प्रत्येक का एक क्षोभरूप भी दृष्टिगत होता है। इस प्रकार शक्तियाँ भी तीन के स्थान पर छः हो जाती हैं। अ के क्षोभ से आ, इ के क्षोभ ई और उ के क्षोभ से ऊ होता है। आ आनन्द है, ई ईशानत्व है तथा ऊ ऊनत्व का वाचक है। आनन्दादि शक्तिनिचय क्षुब्धावस्था में भी स्वस्वरूप से स्खलित नहीं होते। अतः मलीनता का संचार भी नहीं हो सकता। अब यही षट्-शक्ति समूह पारस्परिक संघट्ट से अन्य शक्तियों का उन्मेष कराते हैं। ये छः संख्यक स्वर अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ तथा ऊ ही वर्णसन्तति के मूल कहे जाते हैं। यही है षड्देवता तथा सूर्य की मुख्य षड्रश्मि। इनका पास्परिक

संघट्ट ही क्रियाशक्ति रूप है। इससे द्वादश शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। ऋ, ॠ, ऌ ॡ रूप चतुःस्वर नपुंसक कहे गये हैं। इनसे सृष्टि नहीं हो सकती। अतएव सम्पूर्ण शक्ति अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः के ही अन्तर्गत रहती है। यही है प्रधान शक्तिचक्र! इस प्रधान शक्तिचक्र से समन्वित होने के कारण शिव को पूर्णशक्ति कहा जाता है। कहीं-कहीं द्वादश शक्तिसमूह को कालिका की संज्ञा प्रदान की गयी है। श्रीसारशास्त्र में इन द्वादश शक्तिसमूह की संज्ञा है द्वादश योगिनी। सभी द्वादश शक्तियाँ प्रक्षीणमल, शुद्ध तथा उद्रिक्त चैतन्य स्वरूप प्रतिच्छवित होती रहती हैं। इनके ज्ञान क्रियात्मक सामर्थ्य पर कोई आवरण नहीं रहता। चतुःषष्टि (64) योगिनी समूह भी इन द्वादश शक्तियों से ही प्रसवित हैं। इनकी समष्टि है अघोराशक्ति। घोरा तथा घोरतराशक्ति समूह इसी से प्रसवित हैं। सृष्ट्यादि क्रम में द्वादश शक्तिसमूह के पृथक्-पृथक् रूप कार्यरत रहते हैं। अनाख्याक्रम में इनके पृथक् रूपों का ज्ञान होता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि है ही नहीं, वही है अनाख्या निरुपाधिस्वरूप। परासृष्टि में भी यही विभाग विद्यमान रहता है।

स्वरूपगत उपाधिहीनता दो प्रकार से सम्भव है। प्रथमतः उपाधियों के अनुल्लास के कारण तथा उपाधियों के उपशम के कारण। उपाधियों का उपशम पाक से ही होता है। तांत्रिक आचार्यगण के अनुसार मधुपाक तथा हठपाक रूप दो पाक अवस्थित हैं। जो साधक गुरु की आराधना करके समयी एवं पुत्रकादि दीक्षा प्राप्त करते हुए नित्य नैमित्तिक कर्मों में निष्ठा रखते हैं, वे देहपात के अनन्तर सृष्टि प्रभृति उपाधियों से मुक्त हो जाते हैं। क्रमशः सृष्टि आदि उपाधिसमूह के चिदग्नि में भस्म होने के कारण, अचिद् भाव का परिहार होता है और आत्मशक्ति स्फुरित हो उठती है। अब यह क्रम यथोक्त रूप से कहा जा रहा है। ज्ञानाग्नि के उद्दीपन के अनन्तर एवंविध पाक द्वारा सृष्टि आदि पदार्थगत भेद भी उच्छिन्न होने लगता है। इससे सम्पूर्ण विश्व ही अमृतत्व-पूर्ण प्रतीत होने लगता है। दूसरा अर्थ है बोध के साथ तादाम्य की स्थापना। इस अमृतपूर्ण विश्व का भोग अ-आ इत्यादि द्वादश शक्तियाँ करती हैं। वे परबोध (परमेश्वर) के साथ अभिन्नतया परामर्शन करने लगती हैं, क्योंकि समस्त शक्तियाँ अघोरशक्ति की ही प्रकाशस्वरूपा हैं। इस भोग से इन शक्तियों की तृप्ति हो जाती है। अब इन्हें एक-दूसरे की आकांक्षा नहीं रह जाती। वे हृदयस्थ द्योतनमात्र-स्वरूप परप्रकाश या परमतत्व के साथ अभेदरूपेण स्फुरित होने लगती हैं। समस्त शक्तियाँ परमेश्वररूप में विश्रान्त तथा अभिन्न हैं तथापि कृत्य, क्रियावेश, नाम तथा उपासना- भेद के कारण भिन्न-भिन्न भासित होने लगती हैं। अतः जहाँ एक ओर संख्या में द्वादश होने पर भी मिलकर एक हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर कोटि-कोटि भिन्न रूपों में आविर्भूत हो सकती हैं।

●

काम-कला

काम-कला में कामाख्य बिन्दु ही काम है। इस बिन्दु के ज्ञान से शिव-शक्ति सामरस्य होता है। शिव स्थायित्वपूर्ण हैं। शक्ति की सत्ता चैतन्यमय रहती है। इस कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्मिलन अनुभूत होते समय शिव स्थायित्व पूर्ण होने पर भी शक्तिमत्ता के कारण स्थिर नहीं रहता तथा शक्ति गतिशीलत्वपूर्ण चैतन्ययुक्त होने पर भी गतिमान नहीं रह सकती। यही पृष्ठभूमि है। इसे ही स्थिति भी कहते हैं। सृष्टि तथा संहार होता है अग्नि एवं सोम के द्वारा। अग्नि संहारत्व गुणयुक्त है तथा सोम सृष्टिशील है। बाह्य जगत् में भी अग्नि की स्थिति के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है। यही ईंधनत्व है। सोम का आश्रय लिये बिना अग्नि की सत्ता प्रकाशित हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अग्निविहीन स्थिति में सोम भी कार्य नहीं कर सकता। सोम को चन्द्रबिन्दु भी कहते हैं। इस बिन्दु को गलित करने के लिए अग्नि की आवश्यकता रहती है। अग्नि को स्वकार्य हेतु सोम की आवश्यकता है और सोम को कृतकार्य होने के लिए अग्नि का सहाय्य अभीप्सित है। इसे सृष्टि और संहाररूप क्रीड़ा का रहस्यव्यापार भी कहा जा सकता है। सृष्टि एवं संहार महाशक्ति के स्तनद्वय हैं। उनके मस्तक पर लगी कुंकुम की बिन्दी ही स्थितिरूप सूर्य है। सृष्टि एवं संहार की समरस (साम्य) अवस्था में ही स्थिति प्रकाशित होती है। हम सृष्टि एवं संहार न कहकर इस स्थल पर शिव एवं शक्ति कहते हैं। शिव हैं प्रकाश। शक्ति विमर्शरूप से विराजित रहती है। जब इन दोनों की क्रीड़ा साम्यावस्था में होती है, तब वह साम्या-वस्था ही सूर्य रूपा है। इसे कामाख्यबिन्दु कहते हैं। इसी कारण कामाख्य बिन्दुरूपी सूर्य की परिकल्पना महाशक्ति के मस्तकस्थ कुंकुमबिन्दु के रूप में की गयी है।

सूर्यावस्था से निम्न स्तर में अवतरण करने पर हार्धकला का साक्षात्कार होता है। योनिप्रवेश से हार्धकला का ज्ञान होता है। एक ओर हार्धकला है, अन्य दिक् में सोम एवं अग्नि है। अग्नि है प्रकाश तथा सोम है, घृतरूप। अग्नि-ताप से (अग्नि-सम्पर्क से) घृत गलित होने लगता है और बहने लगता है। इस बहने (प्रवाह) को चित्शक्ति संवित भी कहते हैं। संवित् ही सृष्टि का आधार है। इससे 36 तत्त्वों का उदय होता है। इन कुछ तत्त्वों में शिव-शक्ति भी सम्मिलित रहती है। शिवशक्ति का आविर्भाव सृष्टि-मध्य में होता है। कारण यह है कि शिव-शक्ति के अभाव में बिम्ब की सत्ता ही नहीं रह जाती। यहाँ विचित्रता यह है कि शिव-शक्ति का आविर्भाव यहाँ

संवित् से होता है तथा संवित् की पृष्ठभूमि में (संवित् से पूर्व) भी शिव-शक्ति की सत्ता विद्यमान रहती है। इन दोनों शिव-शक्तित्व में भी आधारगत भेद है। एक शिव-शक्ति सृष्टि के अन्तर्गत है। दूसरी शिव-शक्ति सत्तास्थिति के अन्तर्गत है। स्थिति का तात्पर्य है जब शिव-शक्ति सामरस्य में हैं तथा सृष्टि के अन्तर्गत संवित् रूप से उनका प्रवाह होने वाला है। अतः सृष्टिपूर्व अथवा सृष्टि के उत्तर काल में, उभयावस्था में, शिव-शक्ति का आश्रय आवश्यक है। शिव-शक्ति के अभाव में कुछ भी नहीं हो सकता। अकार है शिव तथा हकार शक्ति-रूप और अन्त्यकला स्वरूप विमर्श है। अ तथा ह से अहंबोध होता है। म् ही बिन्दुरूप है।

'अहं' सर्ववर्ण की समष्टि है। यह समस्त शक्तिसमूह का द्योतक है। यह सबको समाश्रित किये रहता है। यह आधार शक्तिरूप से कार्यरत रहता है। उदाहरणार्थ, एक आकर्षण है दक्षिण से तथा अन्य आकर्षण है वाम से। दोनों आकर्षण अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं। दोनों का अप्रतिम बल परस्पर-विरुद्ध दशा में खींच रहा है। दोनों बल समान होने की स्थिति में क्या होगा? यदि दोनों ओर आकर्षण सम मात्रा में है, उस अवस्था में व्यक्ति या वस्तु किसी ओर नहीं जायेगा। यही है शक्त्यावस्था। दक्षिण जाने से वामशक्ति विरोध कर रही है, वाम दिशा में जाने से दक्षिण शक्ति का विरोध उत्पन्न हो जाता है। पृष्ठभूमि में यही हो रहा है। समशक्ति स्थिति ही सामरस्य है। इसे स्थिति कहते हैं। यही सूर्यावस्था है। हार्धकला का तात्पर्य है, ह का अर्ध-विसर्ग। आधा क्यों हैं? आधा इसलिए कि उसके पश्चात् गति निरुद्ध हो रही है। 'क्ष' गति को निरुद्ध कर रहा है। क्ष को कूटाक्षर कहते हैं। कूटाक्षर पर्यन्त जाने पर अपना क्षेत्र समान हो गया। अकार से हकार पर्यन्त आकर गति रुक गयी। अब यहाँ से अग्रगति कैसे हो यह विचारणीय है। अहं का निर्माण होता है। अ + ह + = अहम्। यही सृष्टिबीज है। इसे वाक् कहते हैं। वैखरी का अर्थ है अ से ह पर्यन्त वर्णमाला। इस वैखरी की गति अहं की ओर नहीं है। अतः जीव असमाप्त सृष्टि में चक्रीय गति से घूर्णित होता रहता है, क्योंकि अहंभाव प्राप्त नहीं हो सका। अतः अहंभाव की प्राप्ति से ही गति प्राप्त होती है।

पूर्ण अहंभाव की जागृति के लिए ही शक्ति का विकास किया जाता है। सृष्टि के प्राक्जाल में मातृकास्वरूप की कोई सत्ता नहीं रही। अतः अ—ह का आविर्भाव सृष्टि स्थिति में हुआ है। अ से ह पर्यन्त जीव का आगमन हुआ। देह को अहं मानकर अ से ह के मध्य विचरण करता रहता है। कूटाक्षर 'क्ष' के कारण उसका मिलन अनन्त सृष्टि से नहीं हो पाता। अ से आ का प्राकट्य हुआ। 'अ' स्फुटित सत्ता नहीं है तथापि 'आ' उसका स्फुरणात्मक रूप है। 'अ' से जब एक ओर 'आ' का निर्गम होता है, तभी से स्फुरत्ता का विकास होता है। यही है 'आ'। इस स्फुरण से इच्छा का उदय होने लगता है। स्फुरता के अभाव में इच्छा अव्यक्त ही रह जाती

है, उसका व्यक्तीकरण नहीं होता। 'अ' और 'आ' एक ही है तथापि 'अ' से सृष्टि नहीं हो सकती। 'आ' से सृष्टि सम्भव हो जाती है। 'आ' की सृष्टि के अनन्तर क्या होता है? 'अ' के एक अंश 'आ'रूपी आनन्दावस्था द्वारा एक न्यूनता की सूचना प्राप्त होती है। उक्त है, 'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'। चैतन्य से सृष्टि नहीं होती। वह तो निरपेक्ष प्रकाशरूप है। आनन्द की सूचना 'आ' से मिलती है। आनन्द के उल्लास से क्षोभ होता है। आनन्द क्षुब्ध होने से इच्छा का उदय होने लगता है। इच्छा के अभाव में सृष्टि कैसे होगी? इच्छा के उदय के अनन्तर ईशिता का उदय होता है। अर्थात् 'ई'। इस प्रकार यह आश्चर्यपूर्ण कृत्य क्रमिक रूप से बढ़ता जाता है। जिस भूमि की यह वार्ता है, वह ईश्वर से भी अतीत की स्थिति है। यह परमशिवावस्था है।

हम जिस विश्व की पर्यालोचना कर रहे हैं उसकी सृष्टि कहाँ से होती है? ईश्वर से ही होती है। ईश्वरभूमि से ही विश्वबीज निर्मित होता है। ईश्वर के अभाव में बीज-निर्माण नहीं होता। बीज ही काम है। बीज ही उन्मेषरूप है। उन्मेष अत्यन्त विस्मय-पूर्ण तत्त्व है। ईशितापूर्ण इच्छा (ई) से उन्मेष होता है। उन्मेष के पूर्व (ईरूपी) ईशिता की स्थिति आती है। तदनन्तर उन्मेष (उ) से ऊर्मि (ऊ) का उदय होता है। उन्मेष का तात्पर्य क्या है? उन्मेष का तात्पर्य है जो वस्तु जगत् में नहीं है, वह इच्छा के फल से बीजरूप में निहित रह जाती है। जब इच्छा ही नहीं है, तब बीजरूपता भी नहीं है। मात्र उसकी सम्भावना आनन्दरूपता में सन्निहित रह जाती है। आनन्द में अभाव संचार के क्षण में इच्छा का उदय होता है। इच्छा के उदय के साथ-साथ बीज का निर्माण हो जाता है। आनन्द ही मातृशक्ति है। आनन्द जगन्माता है और प्रकाश में शिवरूपता है। आनन्द के मध्य में जगन्मातृत्व अपने स्वरूप में विद्यमान है। 'अ' है प्रकाश। 'आ' पश्चात् काल में उदित हुआ है। आनन्द में एक अभाव है। अर्थात् मातृत्व ही वात्सल्य का अभावबोध कर रहा है। माँ को सन्तान का अभावबोध है। इस अभाव की पूर्ति के लिए सृष्टिरूप सन्तान का प्रसव होता है। यह अभावबोध ही इच्छारूप है। इस अभाव की पूर्ति होती है इच्छा के माध्यम से। आनन्द का आश्रय लेकर ही इच्छा आत्मप्रकाश करती है। आनन्द-स्थिति पूर्णत्व का भण्डारागार है। 'अ' पूर्णत्व का भण्डार नहीं है। वह पूर्णत्व से भी अतीत है। वहाँ सृष्टि, स्थिति तथा संहार, तीनों एकाकार हैं। 'अ' से सृष्टि नहीं हो सकती। 'अ' से 'आ' का निर्गम होता है। 'आ' है आनन्द। इसमें सबकुछ सन्निहित रहता है। जो कुछ अभीप्सित है, सभी 'आ' से प्राप्त हो सकता है। 'आ' के निर्गमन के साथ इच्छा का संचार होते ही रचना का प्रारम्भक्षण उपस्थित होता है। यह आनन्द की इच्छा है। इच्छा सृष्टि का अंकुर है। सृष्टि की इच्छा के साथ-साथ उन्मेष होने लगता है। जहाँ कुछ भी नहीं था, वहाँ सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है। यही उन्मेष है। अर्थात् इच्छाकारी के ज्ञान में

नामरूप का उदय होने लगता है। (यह ज्ञानशास्त्र ज्ञान नहीं है। यहाँ जो वार्ता चल रही है, उस क्रम में अभी तक ईश्वर का उदय नहीं हुआ है)। जिसे उन्मेष होता है, वही इच्छित एवं उन्मिषित नाम एवं रूप का अनुभव कर सकता है। कारण, वह नाम, रूप अभी प्रकृति के गर्भ में नहीं आ सका है। अभी जो स्थिति वर्णित है, वह प्रकृति से अतीत की अवस्था है। सन्तान-जन्म के पूर्व पुरुष के अन्तर्गत वीर्य का उदय होता है। तत्पश्चात् वह वीर्य स्त्री के गर्भ में स्थापित होता है। अब स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है। समय पूर्ण होने पर प्रसव-प्रक्रिया के पश्चात् ही जगत् में शिशु को देखा जा सकता है। यहाँ भी अभी वही अवस्था जानना चाहिये।

सृष्टि के पूर्व जो उन्मेष है, उसे रूपज्ञान द्वारा ही देख सकना सम्भव है। इसे कहाँ से देखा जा रहा है। इसे आनन्द के ठीक बाहर से देखा जा रहा है, क्योंकि एक बार आनन्दावस्था से इच्छा का उदय हुआ, तदनन्तर उन्मेष को देखने की इच्छा हुई। यह द्वितीय आकांक्षा है। अतः अब उन्मेष सृष्टि मध्य में पतित हो जाता है। तथापि वह देखा जा सके, ऐसा भी तत्त्व नहीं है। अब इस स्थिति में जो आकार भासित होता है, वह है उन्मेष की उर्मि। उर्मि का यह अर्थ है कि जिस तत्व की उपलब्धि स्वरूप- ज्ञान द्वारा हो सकी थी, अब उसमें घनीभूतता का संचार होने लगा। यह ज्ञान की ज्ञेयोन्मुखी स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय एक ही तत्त्व हैं और प्रथमतः उसकी स्थिति ज्ञानरूप में ही रहती है। तथापि उर्मि अवस्था के अनन्तर ज्ञेय आकाररूप हो जाता है। अब ज्ञेयरूपता नहीं है, अपितु ज्ञेय का आकार आविर्भूत हो उठा है। उसे देखा जा रहा है, परन्तु अन्य कोई नहीं देख सकता। अतः ज्ञेय में स्तर उत्पन्न होता है। यह ऊनता अर्थात् 'ऊ' है। अब तत्त्व को प्रकृति का संयोग मिलता है। यह है वीर्य का प्रकृति गर्भ में (स्त्री में) प्रवेश। यह अवस्था है ए, ऐ, ओ, औ। जब प्रकृति गर्भ में वीर्य-स्थापना हो गयी तब कुछ भी करणीय शेष नहीं है। अब प्रकृति का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति उसे पुष्ट करती है। अन्ततः सृष्टि प्रसारित होती है। प्रसव के उपरान्त इसे देख सकते हैं। यह वैंदवी सृष्टि का क्रम है। इसके पश्चात् विसर्गिक सृष्टि होती है। यह जगत् विसर्गिक सृष्टिरूप है।

●

योग-साधना

योगीगण के अन्तर्गत परकायाप्रवेश को योग की श्रेष्ठ विभूति माना जाता है। प्रसिद्धि है कि भगवान् शंकराचार्य ने भी परकायाप्रवेश दिया था। वे अंगुष्ठ स्थान से (पैर के अँगूठे से) वायु को ऊर्ध्वोत्थित करते हुए ब्रह्मरन्ध्र के पथ से निर्गत हुए थे। तदन्तर अमरु नामक राजा के शरीर में प्रविष्ट होकर अंगुष्ठ पर्यन्त व्याप्त होकर स्थित थे। इस देह में स्थित रहकर उन्होंने काम-कला तत्त्व का परिशीलन किया था और तत्त्व के सम्बन्ध में प्रकृष्टज्ञान प्राप्त किया था। इससे प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति करने के पश्चात् वे उस देह के ब्रह्मरन्ध्र पथ से निर्गत होकर पुनः अपने शरीर में ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से प्रवेश कर सके थे। अपनी देह से बहिर्गत होते समय उन्होंने अपने प्राणरहित शरीर को यत्न के साथ रक्षित करने के लिए अपने अन्तरंग भक्तों को नियोजित किया था। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार आचार्यदेव ने विगत प्राण राजा के देह में प्रवेश किया था। काम-कला का ज्ञान उन्हें नहीं था। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। मण्डन मिश्र की पत्नी के साथ शास्त्रार्थ के समय यह ज्ञान आवश्यक था। अतः उन्हें इस योग- कौशल के द्वारा ज्ञानार्जन करना पड़ा।

आचार्य शंकर विषयक परकायाप्रवेश की यह किंवदन्ती कितनी सत्य है, इसे कह सकना कठिन है। किसी-किसी प्राचीन ग्रन्थ में यह वर्णन प्राप्त होता है और किसी विशेष योगविभूति के वर्णन-प्रसंग में प्राचीन साहित्य में इसका निर्देश भी प्राप्त होता है, तथापि इस किंवदन्ती के सम्बन्ध में समालोचक निसन्दिग्ध नहीं हैं। यह भी सम्भव है कि तन्त्रशास्त्रोक्त काम-कला तत्त्व के रहस्य के सम्बन्ध में शांकरवेदान्त की उदासीनता तथा पश्चात्काल में उसका शांकरवेदान्त में समावेश ही पूर्वोक्त किंवदन्ती का मूल है।

यह किंवदन्ती सत्य हो अथवा अमूलक हो, परकायाप्रवेश तो प्रकृतसत्य है। परकायाप्रवेश श्रेष्ठ योगीगण की उच्च क्षमता का निदर्शन है। परकायाप्रवेश का आयोजन विभिन्न प्रकार से हो सकता है। और उनकी प्रक्रिया भी अनेक प्रकार की है। अतः हम इसके प्रयोजन की आलोचना करने के स्थान पर परकायाप्रवेश की प्रणाली की विवेचना करना संगत समझते हैं।

योगशास्त्र में साधारण साधकों के द्वारा अनुष्ठित धारणा नामक प्रक्रिया को देह- धारणा कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। अष्टांगयोग में धारणा उसका एक अंग है। चित्त को स्वदेह के किसी विशिष्ट प्रदेश में आबद्ध रखने का नाम है धारणा। योगमार्ग में प्रविष्ट साधक यह जानते हैं कि धारणा का मूल्य कितना अधिक

है। धारणा से ही अन्तरंग साधना का प्रारम्भ होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग साधन कहा जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि ही अन्तरंग साधना है। हम यहाँ तन्त्रोक्त क्रमानुसार आलोचना कर रहे हैं। अतांत्रिक तथा तांत्रिक बौद्ध साहित्य में परिभाषागत तथा क्रमगत पार्थक्य है। आगमों के भी अनेक पार्थक्य परिलक्षित होते हैं। इन सब पार्थक्य की विद्यमानता में भी तत्त्व स्वरूप के ज्ञान में कोई बाधा नहीं रह जाती।

हृदय भ्रूमध्य-नासाग्र प्रभृति देह के विशिष्ट स्थानों में यथाविधि धारणा करने से विशिष्ट फल प्राप्त हो जाता है। यह समस्त धारणा केवल 'धारणा' शब्द से अभिहित होने पर भी देहधारणा का ही प्रकारभेद-मात्र है। इस देहधारणा से पृथक् भी एक धारणा है। इसे विदेहधारणा कहा गया है। देहावस्थान के समय चित्त अथवा मन भी देह का ही आश्रय लेकर कार्य करते रहते हैं। देह, इन्द्रिय, चित्त आदि अन्तःकरण तथा इनसे ग्रहीत पुरुष (व्यक्ति) भी पारस्परिक रूप से सम्बद्ध रहते हैं। चित्त स्वरूपतः विभु है, परन्तु साधारणतः इसकी वृत्तियाँ देह का आश्रय लेकर देहमध्य में ही प्रकाशित होती हैं। योग के अन्तरंग साधन में प्रवृत्त होते समय चित्त क़ी बहुमुखी वृत्तियों को निरुद्ध करना तथा एकमुखी रूप से प्रवाहित करना चाहिये। प्रत्याहार पर्यन्त की साधना का एकमात्र उद्देश्य है चित्त की बहुमुखी वृत्तियों को निरुद्ध करना, एकमुखी करना। इसके लिए नैतिक संयम तथा आत्मनियंत्रण के साथ देह-प्राण-मन-इन्द्रिय की सहकारिता आवश्यक है। यम-नियम शब्द से जो स्थिति ज्ञात होती है, वह नैतिक जीवन की परिचालना-मात्र है। इसी के उपर आध्यात्मिक जीवन की भित्ति प्रतिष्ठित है। इसके पश्चात् आसनसाधन का मूल उद्देश्य है देह को यथासम्भव स्थिर करना। देह को स्थिर करना ही आसनसाधन है। इसमें कृतकार्य हो जाने पर प्राणशक्ति की स्थिरता से साधना की ओर अग्रगति होने लगती है।

देहस्थैर्य की चेष्टा में समर्थ हो जाने पर, दीर्घकाल में एक आसन पर बैठने का सामर्थ्य हो जाने पर कभी-कभी प्राणशक्ति अपने आप शान्त होने लगती है। प्राण का यह शान्तभाव प्रकट हो जाने पर ही प्राणायाम क्रिया का यथार्थ उपदेश तथा शिष्य में प्राणायाम-क्रिया के माध्यम से प्राण को स्वेच्छया नियंत्रित करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। इस पथ पर चलते-चलते प्राणायाम के प्रभाव से कभी-कभी मन एवं इन्द्रियों की क्षणिक विश्रान्ति भी परिलक्षित होने लगती है। अतः उस स्थिति में चक्षु खुले रहने पर भी दृश्यदर्शन नहीं होता। श्रोत्रेन्द्रिय उन्मुक्त रहने पर भी शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसा ही अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इसे इन्द्रियों की सामयिक उपराम अवस्था कहा गया है। चक्षुद्वय उन्मुक्त हैं, सामने दृश्य वस्तु हैं, तथा सहकारी कारण भी विद्यमान हैं, तथापि दृश्यदर्शन नहीं हो रहा है। इससे यह विदित होता है कि यदि इन्द्रियों का संयोग नहीं है, तब अर्थ का भी संयोग नहीं हो सकता। क्षणकाल के लिए भी प्राण स्तब्ध हो जाने पर यह उभय

सन्निकर्ष संघटित नहीं हो सकता। इसे प्रत्याहार कहते हैं। यह बिना किसी चेष्टा के स्वयमेव हो जाता है। योगाभ्यासी की यह स्थिति हो जाने पर उसे प्रत्याहार की दीक्षा दी जातीं है। अब साधक स्वेच्छानुसार प्रत्याहार में निष्णात हो जाता है। प्रत्याहार सिद्ध होने के साथ-साथ बहिरंगयोग की समाप्ति हो जाती हैं। अब अन्तरंगयोग का प्रारम्भ होता है। यही धारणा है।

हम जिस धारणा की मीमांसा कर रहे हैं, उसका तात्पर्य यह है कि उपराम प्राप्त होने के पश्चात् चित्त को एक निर्दिष्ट दिशा अथवा लक्ष्य बिन्दु की ओर गतिशील करना। यह निर्दिष्ट लक्ष्य ही धारणा का विषय है। इसमें आपाततः अपनी देह का ही कोई अंश ग्रहण करना पड़ता है। धारणा-प्रक्रिया में चित्त क्रियाशील होता है, अर्थात् वृत्तिरूप में परिणत होने लगता है। यह वृत्ति चित्त की ही वृत्ति है। इस वृत्ति का उदय होता है देहावच्छिन्न चित्तप्रदेश में। अतः कह सकते हैं कि देहस्थ प्रदेश में चित्त को वद्ध कर दिया गया।

इस प्रकार की धारणा से अतिरिक्त भी एक धारणा है। इसे विदेहधारणा कहते हैं। विदेहधारणा में चित्तवृत्ति बाह्यतः उत्पन्न होती है, तथापि चित्त देह में ही प्रतिष्ठित रह जाता है। चित्त का परम स्वरूप समग्र ब्रह्माण्ड व्यापक है। यद्यपि इस प्रकार का व्यापकत्व अथवा विभूति चित्त में रहने पर चित्त का परम स्वरूप ब्रह्माण्डव्यापी रहता है, तथापि ऐसी विभूति होने पर भी उसका कोई परिणाम नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस स्थिति में चित्त देह के बाहर कोई भी कार्यसाधन नहीं कर सकता। वर्तमान प्रसंग में चित्त तथा मन एकार्थवाचक हैं। जब चित्त विदेहधारणा में व्यापृत होता है, तब उसका कर्माशय प्रयुक्त बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है। चित्त देह में प्रतिष्ठित है, तथापि उसकी वृत्ति देह के बाहर कहीं भी उद्भूत हो सकती है। उदाहरणार्थ, सूर्य एक विशिष्ट स्थान पर स्थित है, तथापि उसकी किरणमाला दिग्‌दिगन्त में प्रसारित होती रहती है। इस विदेहवृत्ति के लिए शरीर रहना आवश्यक है। अतिश्रेष्ठ योगावस्था प्राप्त होने पर ही देहरहित चित्तवृत्ति का उदय हो सकता है। इससे पूर्व देहरहित चित्तवृत्ति उदित नहीं हो सकती। अतएव विदेहधारणा देहसापेक्ष है। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिये कि विदेहधारणा में चित्तवृत्ति देह के बाहर उत्पन्न होती है। विदेहधारणा को निरर्थक समझना भूल है। इसी के प्रभाव के कारण योगीगण दूरवर्त्ती वस्तु के साथ संसृष्ट होकर उसके प्रतिबिम्ब को धारण कर लेते हैं, अतएव उस वस्तु के साथ देह की उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। चित्त के लिए कुछ भी दूरवर्त्ती अथवा असन्निहित नहीं होता। यद्यपि देहावस्था में चित्त को हम देह में आबद्ध अनुभव करते हैं, परन्तु वस्तुतः वह सर्वव्यापक है। एक प्रकार से वह विश्व के समस्त रूपसमूह को (वस्तुसमूह को) वृत्तिभाव में परिणत कर सकने की योग्यता से युक्त है। विदेहधारणा के प्रभाव से इस प्रणाली द्वारा चित्त का परिणाम आविर्भूत होने लगता है। किसी वस्तु अथवा विषय का अवलम्बन लेकर चित्तवृत्ति उत्पन्न होने पर भी चित्त देह में ही विद्यमान रहता है। चित्तवृत्ति देह से निरपेक्ष

नहीं है। अर्थात् विदेहधारणा में चित्त भी देह में ही अन्तर्भुक्त है। केवल मात्र इसकी वृत्ति देह से बाहर रह जाती है। इसका कारण यह है कि चित्तवृत्ति देहनिरपेक्ष नहीं है। वह देहसापेक्ष है।

साधारण देह तो चित्त देह में ही रहता है और उसकी वृत्ति भी देह में ही रह जाती है। विदेहधारणा में चित्त देह में रहता है, परन्तु उसकी वृत्ति देह के बाहर प्रसारित रहती है। महाविदेह धारणा में चित्त की सत्ता भी देहरहित हो जाती है और उसकी वृत्ति भी देह से बाहर रहती है। इस धारणा को अकृत्रिम धारणा कहते हैं। यह स्वाभाविक धारणा है, विदेहधारणा कृत्रिम तथा कल्पित धारणा है। यद्यपि विदेहधारणा कल्पित हैं, तथापि उससे ही महाविदेहा अनुभूत होती है। महाविदेहा योगी के लिए अत्यन्त सहायक है तथा पूर्णत्व-प्राप्ति का सोपान है। इस धारणा के प्रभाव से ही चित्त का आवरण क्षीण होता है। चित्त का आवरण अर्थात् सत्त्व पर पड़ा आच्छादन। जब तक चित्त पर रजोगुण का आवरण है, तब तक वह स्वच्छ नहीं है, तब तक उस पर आवरण है। योग की परिभाषा में आवरण को क्लेश-कर्म तथा विपाक कहते हैं। ईश्वर सत्त्व में यह आवरण नहीं है। अतः ईश्वरसत्त्व ही प्रकृष्ट सत्व है। इसमें एक ही आधार में मुक्तभाव तथा ऐश्वर्य का प्रकाश रहता है। जब योगी महाविदेह धारणा में दक्ष हो जाते हैं, तब उनका चित्त क्लेश (अविद्या आदि), कर्म (धर्माधर्म परिणाम), त्रिविध विपाक (जन्म-आयु-भोग) मुक्त हो जाता है। ये सभी आवरण चित्त को आवृत्त करके रखते हैं। अतः चित्त इच्छानुरूप विहार नहीं कर सकता। उसे ज्ञान नहीं मिलता।

मन अथवा चित्त की चांचल्यपूर्ण अवस्था में भी चित्त कर्माशय के कारण शरीर से आबद्ध रह जाता है। समाधि प्रभृति के प्रभाव से यह बन्धन शिथिल होता है। इसका कारण यह है कि बन्धन के मूल में स्थित कर्म भी शिथिल हो जाता है। यहाँ पर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि जैसे मनुष्य मार्ग का अवलम्बन लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है, उसी प्रकार चित्त भी मार्ग का अवलम्बन लेकर संचरण करता रहता है। इस मार्ग को नाड़ी कहते हैं। धारणा प्रभृति के द्वारा नाड़ियों को पहचान लेना चाहिये। बन्धन शिथिल हो जाने पर भी नाड़ीज्ञान के अभाव में चित्त को इच्छानुकूल चालित नहीं किया जा सकता। कर्मफल के क्षय से यही लाभ होता है कि चित्त स्वगति में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। इस स्थिति में प्रयोजन होने पर मार्ग का ज्ञान न रहने के कारण प्रयोजनानुरूप चित्तविहार सम्भव नहीं हो सकता।

हम यह कह आये हैं कि विदेहधारणा के समय चित्त की वृत्ति बाहर उल्लसित होती है, तथापि चित्तदेह को छोड़कर बहिर्गत नहीं होता। महाविदेहा में चित्त स्वयमेव निर्गत होने लगता है। चित्त के साथ इन्द्रियों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि चित्त के निर्गमन के साथ-साथ इन्द्रियाँ भी देह से निर्गत हो जाती हैं। स्वभावतः इन्द्रियसमूह चित्त का ही अनुसरण करते हैं। जहाँ चित्त जाता है, वहीं इन्द्रियसमूह भी चले जाते हैं।

●

परकायागमन

इसके पूर्ववर्त्ती प्रकरण में नाड़ी संस्थान का उल्लेख किया गया है। साधारणतः 72 हजार नाड़ियों का वर्णन प्राप्त होता है। वास्तव में नाड़ियाँ अनन्त हैं। ये सब मात्र इसी देह का आश्रय लेकर स्थित नहीं हैं। सत्य तो यह है कि नाड़ीसमूह देह के बाहर भी सूर्य-रश्मि के रूप में समग्र विश्व में व्याप्त हैं। इनका ही आश्रय लेकर लोक-लोकान्तर में जाना पड़ता है। किसी अन्य देह में प्रवेश करते समय भी नाड़ी का ही आश्रय लेना पड़ता है। देह से निर्गमनार्थ भी नाड़ी की ही आवश्यकता पड़ती है। जिन्हे नाड़ी का सन्धान नहीं मिला है, ऐसे व्यक्ति स्वच्छन्दरूप से आकाश-मार्ग में विहार, विचरण नहीं कर सकते। सभी नाड़ीसमूह वायवीय हैं। उनका संस्थान भी भिन्न-भिन्न रहता है। इड़ा तथा पिंगला की शाखा-प्रशाखा रूप से अनगिनत नाड़ियाँ स्थित हैं। इनका कार्य हैं वहन-कार्य में सहायक होना। ऊर्ध्वगमन के लिए सुषुम्ना की सहायता लेनी चाहियें। इन सभी नाड़ियों के विभिन्न स्तर परिलक्षित होते हैं। वाह्य वायुमण्डल भी पूर्णतः नाड़ी-जाल द्वारा आच्छादित रहता है। प्रत्येक नाड़ी भी सूर्य-किरणों की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म है। कोई प्राणवहा है, कोई मनोवहा है। कोई विज्ञानवहा है। इस प्रकार आनन्दवहा नाड़ी की भी स्थिति है।

योगी देहान्तर-प्रवेश के पूर्व नाड़ियों के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन करते हैं, अन्यथा यथायोग्य मार्ग नहीं मिलता। यह सिद्धान्ततः सत्य है, परन्तु कार्यक्षेत्र में अपेक्षाकृत सहज उपाय से ही सफलता प्राप्त हो जाती है। जब चित्त मूलतः शिथिल हो जाता है, तब उसे लक्ष्य से सम्बद्ध करते ही उस लक्ष्य स्थान की प्रापक रश्मि आकाशस्थ वायुमण्डल में स्फुरित होने लगती है। इस रश्मि का एक प्रान्त (भाग) योगी की देह के साथ युक्त रह जाता है और दूसरा प्रान्त लक्ष्य के साथ निबद्ध रहता है। इसी रश्मि का आश्रय लेकर योगी का चित्त (लिंग शरीर) निर्गत होता है और निर्दिष्ट स्थान पर जाता है। योगी का चित्तदेह त्याग करते समय दैहिक संस्कारों को लेकर बहिर्गत होता है। देह में वापस आने के लिए देह के मूल स्थान के साथ चित्त (लिंगशरीर) एक मृणाल तन्तु के समान सूक्ष्म सूत्र के द्वारा स्वयं को युक्त रखता है। अकल्पित (महाविदेह) धारणा में यह आवश्यक है, अन्यथा अपनी देह से बहिर्गत होकर पुनः देह में वापस लौटना सम्भव नहीं हो सकता। ऐसे सूत्र-सम्बन्ध से युक्त देह निर्जीव नहीं होती।

साधारणतः परकाया का तात्पर्य है जीवित व्यक्ति का कार्य। यह कार्य मृतकाया में होता है परन्तु वह सद्योमृत शरीर होना चाहिये।'पुराना मृतदेह परकाया-प्रवेश के

लिए विहित नहीं है। उसके शरीरयंत्र विकृत हो जाते हैं। यद्यपि प्रबल योगेश्वर्ययुक्त योगीगण गलित देह को भी शोधित करके उसमें प्रवेश कर सकते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत न्यून शक्तियुक्त अवस्था में ऐसा कर सकना सम्भव नहीं हो सकता।

हम यहाँ पर जीवित काया में प्रवेश का वर्णन करना उचित समझते हैं। यह प्रवेश-क्रिया अनेक कारणों से आवश्यक-सी हो जाती है। इसके स्थिति-काल का तारतम्य भी प्रयोजनानुसार निश्चित एवं नियमित किया जाता है। इस कायाप्रवेश का प्रयोजन है रोगआकर्षण, अभिनव संस्कार साधना अथवा किसी विशेष कार्य का सम्पादन। उदाहरणार्थ, एक रोगी व्यक्ति है। योगी उसकी काया में प्रविष्ट होकर रोग-यंत्रणा का उपशम तथा रोग का अपसारण कर देते हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि सर्वत्र परकाया का तात्पर्य पूर्ण प्रवेश ही नहीं होता। योगी परकाया में आंशिक रूप से भी प्रवेश करते हैं। वे दीर्घकाल के लिए अथवा स्वल्पकाल के लिए प्रवेश करने में स्वतन्त्र होते हैं। आंशिक प्रवेश के समय चित्त को स्वहृदय से सम्पूर्ण रूप से उन्मूलित करना आवश्यक नहीं होता। केवल अपनी देह के साथ कर्माशयजनित सम्बन्ध को किंचित् शिथिल किया जाता है। आंशिक चित्त निर्गम में महाविदेहधारणा से विदेहधारणा की पृथकता पर ही कार्यसिद्धि की सम्भावना आधारित है। अर्थात् महाविदेह धारणायुक्त योगी आंशिक भावना से ही निर्गमित चित्त द्वारा अनायास जिस कार्य को सिद्ध कर लेते हैं, वह कार्य विदेहधारणा द्वारा प्राणभरी चेष्टा करने पर साधित नहीं हो सकता। यह अत्यन्त रहस्यमय प्रसंग है।

योगीगण विदेहधारणा के द्वारा इच्छा मात्र से दूरवर्ती किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति को प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यह प्रत्यक्ष लौकिक दृष्टि से भी वास्तविक प्रत्यक्ष है, किन्तु इसमें अपने व्यक्तित्व का परिहार नहीं होता। साथ ही अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति के व्यक्तित्व का आरोप भी नहीं होता। जैसे दर्पण में दृश्य वस्तु स्पष्टतः परिलक्षित होती है, उसी प्रकार विदेहधारणा के प्रभाव द्वारा दूरस्थ समस्त वस्तुसमूह अव्यवहित तथा स्पष्टतः दृग्गोचर होता है। इतने पर भी विदेहधारणा में द्रष्टा से दृश्य का अथवा दृश्य से द्रष्टा का व्यवधान समाप्त नहीं हो सकता। अर्थात् द्रष्टा एवं दृश्य का अभेद सम्पादित नहीं हो सकता।

अतः शंका होती है कि इस अभेद सम्पादन का क्या प्रयोजन है? इसका अनेक प्रयोजन है। यहाँ एक मुख्य प्रयोजन का अंकन करना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति मानसिक अथवा शारीरिक यंत्रणा से पीड़ित होता है, तब योगी इच्छामात्र से विदेह- धारणा के माध्यम से उसकी यंत्रणाओं का परोक्षरूपेण अनुभव करने पर भी उसे अपनी स्वयं की यंत्रणा के रूप में नहीं समझ सकता। इस स्थिति में भी पारस्परिक वैयक्तिक भेद अक्षुण्ण रह जाता है। विदेहधारणा के द्वारा योगीगण केवल मात्र पीड़ित व्यक्ति को देख सकते हैं। उसका स्पर्श तथा तादात्म्य-लाभ होता है महाविदेहधारणा के द्वारा। उस स्थिति में योगी पीड़ित व्यक्ति से पृथक् रहकर भी

पृथक् नहीं रह जाते। वे उस क्षय रोगी के साथ सम्पूर्णरूपेण अभिन्न हो जाते हैं। योगी का चित्त उस पीड़ित तथा रुग्ण व्यक्ति के शरीर के विभिन्न द्वारों का अवलम्बन लेकर उसमें प्रवेश कर लेता है। जिस द्वार से प्रवेश करने पर दिव्य ज्ञान का अनुभव कराया जा सकता है, उस द्वार से पीड़ित शरीर में प्रवेश करने पर रोग अथवा पीड़ा-विमोचन का कार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस द्वार से प्रवेश करने पर रोग अथवा पीड़ा-विमोचन होता है, उस द्वार से अनुप्रविष्ट होकर दिव्य ज्ञान नहीं दिया जा सकता। योगी (योगी का चित्त) पूर्वोक्त पीड़ित व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होकर रोगी के चित्त को अपने स्पर्श-मात्र से अभिभूत कर देता है। इसी के साथ रोगी की इन्द्रिय शक्ति भी लुप्त हो जाती है। अब रोगी (पीड़ित) के शरीर का सम्पूर्ण भार योगी का चित्त ग्रहण कर लेता हैं। योगी के चित्त से संश्लिष्ट योगी की इन्द्रियाँ रोगी की लुप्त हो गयी इन्द्रिय शक्ति का स्थान ग्रहण करती हैं। रोगी की चित्तक्रिया तथा इन्द्रियक्रिया अबाधितरूपेण परिचालित होने लगती है। जैसे पहले रोगी अपने नेत्रादि के द्वारा देखता-सुनता था, वैसे ही अब देखने-सुनने लगता है।

अब इस अवस्था में योगी का चित्त रोगी के साथ युक्त होकर रोगी के समस्त अनुभव को स्वयं ग्रहण करने लगता है। यद्यपि इस स्थिति में रोगी (पीड़ित) अपने समस्त अनुभवों (दुःख-कष्ट आदि) को अपना अनुभव मानने लगता है, तथापि वास्तव में वह उसका स्वानुभव कदापि नहीं है। इसके पश्चात् जब योगी का चित्त तथा इन्द्रियसमूह रोगी के चित्त तथा इन्द्रियसमूह से पृथक् हो जाता है, तब रोगी का सुप्त चित्त तथा इन्द्रियसमूह पुनः जाग्रत् हो जाता है। इस स्थिति में पीड़ित (रोगी) में हो रहा व्यापक परिवर्तन प्रत्यक्षगोचर होने लगता है। जिस रोगावस्था से वह अब तक कातर था, अब उस रोग-यंत्रणा का लवलेश भी नहीं रह जाता। योगी का चित्त रोगी के शरीर से निर्गत होकर पुनः अपने शरीर में प्रवेश करता है। योगी रोगी की व्यथा, यंत्रणा, वेदना तथा रोग के संस्कार को स्वदेह में अनुभव करने लगता है। वह योग के द्वारा उसे छिन्न कर देता है।

महाविदेहधारणा से अन्य की काया में प्रविष्ट होकर उसके भोगसमूह को खींचा जा सकता है। यह विदेहधारणा के द्वारा सम्भव नहीं है। जब तक वैयक्तिक पृथकत्व है, तबतक एक व्यक्ति के भोग को अन्य व्यक्ति ग्रहण कर ही नहीं सकता। ईसाई धर्म में इसे, अर्थात् इस प्रकार से परदुःखनिवारकता युक्त प्रकृत ऋणशोधन को विकेरिकल एटेनमेन्ट कहते हैं। गुरुगण भी अन्य का दुःख दूर करते समय इसी प्रकार दुःख का आकर्षण कर लेते हैं। अब यहाँ स्मरण रखना होगा कि इन कर्षित भागों का वरण करने लेने पर भी योगीगण कभी भोगी नहीं हो सकते। एक स्थल पर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि—'स्वात्मसमवेत सुख-दुःख का अनुभव ही भोग है। परात्मसमवेत सुख-दुःख को भोग नहीं कहते। यह बोध की ही एक अवस्था है।' योगीगण महाकरुणा के कारण स्वयं में दूसरे के दुःख का अनुभव

करते हैं। यह उनकी अपनी आत्मा मे समवेत दुःख का अनुभव नहीं है। अतएव योगीगण सुख-दुःख का अनुभव करके भी भोगी नहीं हो जाते।

दीक्षा के प्रभाव से अथवा अन्य प्रयोजन से गुरुगण शिष्य में अनुप्रविष्ट होकर उसे दिव्यज्ञान प्रदान करते हैं। कोई भी शिष्य अपनी लौकिक चेष्टा द्वारा इस दिव्य ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता। इस ज्ञानदान को उसी प्रकार की प्रक्रिया कहते हैं, जैसी प्रक्रिया बीज वपन में होती है। गुरुगण शिष्य में अन्तःप्रविष्ट होकर शिष्य के साथ अभिन्न हो जाते हैं। इस स्थिति में रहकर शिष्य की सत्ता में ज्ञान का संचार किया जाता है। जिस प्रकार परकायाप्रवेश के द्वारा अन्य व्यक्ति के अज्ञानादि को खींच लिया जाता है, उसी प्रकार अपना ज्ञान तथा आनन्द का भी अन्य व्यक्ति में संचार किया जा सकता है।

जब गुरुगण शिष्य में प्रवेश करते हैं, तब वे सामान्यतः अपने मस्तक-पथ से निर्गत होकर शिष्य के मस्तक-पथ से उसके अन्तर में प्रवेश करते हैं। तदनन्तर शिष्य के हृदय से होते हुए उसके मस्तक-पथ से बहिर्गत होकर अपने ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करते हैं। स्व हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त जो 36 अंगुल परिमाण का प्राण-संचार-मार्ग है, उसी पथ से ऊर्ध्व रेचन क्रम से बहिर्गत होकर शिष्य के द्वादशान्त से उसके हृदयपथ में पूरकक्रम से प्रवेश करते हैं। इसके अनन्तर शिष्य के हृदय में समाविष्ट होकर वहाँ कुछ समय पर्यन्त कुम्भक वृत्ति का अवलम्बन लेते हैं। इसके पश्चात् विपरीत क्रमानुसार शिष्यदेह में ऊर्ध्व रेचन करते हुए और अपनी देह के द्वादशान्त से होकर, अधःपूरण वृत्ति का अवलम्बन लेते हुए स्वदेह में वापस आ जाते हैं। अन्य मार्ग का आश्रय लेने पर विशुद्ध ज्ञान का संचार नहीं हो सकता।

महाविदेहा अभ्यास का फल है आवरणों का सर्वतोभावेन क्षीण होना। अब योगी श्रेष्ठ भूमि का लाभ करते हैं। महाविदेहा अभ्यास के कारण ही यह स्थिति प्राप्त होती है। जो महाविदेहा का अभ्यास नहीं करते उन्हें ध्यान एवं समाधि के अभ्यास से क्रमशः प्रज्ञा वैशारद्य की प्राप्ति होती है।

किंवदन्ती है कि कोई-कोई महात्मा परकायाप्रवेश की प्रक्रिया द्वारा अपने दीर्घकालीन कर्म को पूरा करने के लिए मनुष्य की देह में अवस्थान करते हैं। जिन्हें देहसिद्धि नहीं मिलती, वे एक ही देह में दीर्घकालीन अवस्थान नहीं कर सकते। अतः ऐसे योगीगण अन्य व्यक्ति की प्राणरहित देह में प्रविष्ट होकर स्वप्रयोजनानुसार जीवन- यापन करते रहते हैं। उस देह में जीर्णत्व आ जाने पर पुनः अभिनव देह में प्रविष्ट होकर कार्य करते हैं। आजकल भी कतिपय योगीगण के सम्बन्ध में ऐसा ही सुनने में आता है।

कुछ साल पूर्व काशीधाम में एक योगी का दर्शन मिला था, जो परकायाप्रवेश में विशेष दक्ष थे। उनका तत्कालीन देह जन्मकालीन देह नहीं था। वह उनका तृतीय अथवा चतुर्थ देह था। यद्यपि ऐसी किंदवन्ती थी, परन्तु उनसे प्रश्न

करके यथार्थ स्थिति जान सकने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका। भगवान् शंकराचार्य से पहले भी भारतीय साधक परकायाप्रवेश करके दीर्घकाल पर्यन्त स्थित रहते थे। ऐसे एक योगी जैन सम्प्रदाय के महान् तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन थे। ये आजीवक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य थे।

प्राक्कालीन इतिहास से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी ने एक समय किसी सभा में धर्मोपदेश देते समय आचार्य गोशाल के सम्बन्ध में यह बतलाया था कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। इसके साथ-साथ महावीर स्वामी ने यह भी बतलाया था कि यह आचार्य गोशाल पहले कौन थे। इस समय गोशाल भी श्रावस्ती में ही अवस्थित थे। लोगों से महावीर स्वामी का यह मन्तव्य सुनकर वे अत्यन्त दुःखित हुए और इसका प्रतिवाद करने के लिए स्वामीजी के पास आये। वहाँ बहुसंख्यक व्यक्ति उपस्थित थे। गोशाल ने महावीर स्वामी के कथन को अस्वीकार करते हुए अपना स्वतन्त्र परिचय दिया। उन्होंने कहा कि यद्यपि महावीर स्वामी ने उन्हें अपना पूर्व शिष्य मंखली-पुत्र गोशाल कहकर प्रचारित किया है, तथापि वे इस उक्ति को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। गोशाल ने कहा कि वे मंखली-पुत्र गोशाल नहीं हैं, अपितु वे उदायी कुण्डिमान नामक धर्म-प्रचारक हैं। उन्होंने स्वयं को अत्यन्त पुरातन योगी बतलाया। गोशाल ने कहा कि—'मैं एक शरीर में दीर्घकाल पर्यन्त अवस्थान करने के अनन्तर उस शरीर के जराजीर्ण होने पर जिस देह में प्रविष्ट हुआ हूँ, वह मंखली-पुत्र गोशाल की मृत देह थी। यह मेरा सप्तम परकायाप्रवेश का देह है।' वह देह गोशाल का था, अतः महावीर स्वामी ने कुण्डिमान को गोशाल से भिन्न व्यक्ति माना। कुण्डिमान ने कहा कि अभी वे अनेक वर्ष इसी शरीर में रहेंगे। इस उक्ति को महावीर ने स्वीकार नहीं किया था। इस घटना की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी यह सर्वविदित है कि प्राचीन काल से ही योगीगण विभिन्न शरीरों में प्रविष्ट होकर दीर्घकाल पर्यन्त जीवनयापन करते रहते हैं।

योगवाशिष्ठ महारामायण में चूड़ाला तथा शिखिध्वज के उपाख्यान में भी परकायाप्रवेश का प्रसंग अंकित है। रानी चूड़ाला ने आत्मज्ञान होने के अनन्तर जिस प्रणाली से यह कार्य किया था, वह भी उसमें वर्णित है। वह प्रणाली मूलतः कोई भिन्न प्रणाली नहीं है। वर्णना की परिभाषागत् पृथक्ता के कारण वह विभिन्न प्रतीत होती है। साधारणतः जीवगण कुण्डलिनी गृह में अवस्थान करते हैं। देह से बाहर जाने के लिए जीव को रेचक क्रिया के द्वारा कुण्डलिनी को उत्थापित करना चाहिये। तभी वह बाहर जाता है। इसके पश्चात् उसे अन्य शरीर के साथ युक्त करते हैं। जीव जब इस शरीर का त्याग करता है तब यह शरीर निर्जीव हो जाता है। वह स्पन्दनहीन काष्ठवत् हो जाता है। योगवाशिष्ठ के अनुसार देह से निकलकर स्थावर-जंगमादि समस्त पदार्थों में जीव को प्रविष्ट कराकर सिद्धिश्री का उपभोग किया जा सकता है। इसके अनन्तर पूर्वदेह में वापस आया जा सकता है। परदेह का उपभोग करने के

अनन्तर अपने अन्तःकरण को व्यापक करना चाहिये। इससे आत्मसंविति में पूर्णरूपेण स्थिति प्राप्त हो जाती है। रानी चूड़ाला ने निर्विकल्प शिखिध्वज की देह में प्रविष्ट होकर उसमें चेतना का संचार किया था।

जो योगी तथा भक्त सम्प्रदाय से परिचित हैं, वे जानते हैं कि योगक्रिया के प्रभाव से अथवा अन्य किसी आध्यात्मिक शक्ति के कारण योगी अपने आसन से ऊर्ध्वोत्थित हो जाते हैं। ऐसे भी योगी परिलक्षित होते हैं, जो आसन से ऊर्ध्वोत्थित नहीं होते। इसी के साथ-साथ ऐसे योगीगण का भी वर्णन प्राप्त होता है जो आसन से ऊर्ध्वोत्थित होने के साथ-साथ इच्छानुसार शून्यमार्ग में विचरण करने में सक्षम होते हैं।

ऊर्ध्वोत्थान का वास्तविक रहस्य क्या है और इससे क्या आध्यात्मिक उत्कर्ष का कोई सम्बन्ध है, इस प्रसंग पर लोगों की उत्सुकता जाग्रत् रहती देखी जाती है। सामान्य विचारशील व्यक्ति यह शंका करते हैं कि स्थूल देह तो मध्याकर्षण से आबद्ध है। वह नियम का उल्लंघन करते हुए शून्य मार्ग में कैसे विहार कर सकता है? इसके समाधान के पूर्व यह स्मरण रखना होगा कि ऊर्ध्वोत्थान तथा शून्य में विचरण करना, दोनों ही सत्य है। मध्याकर्षण का नियम देह के स्थूलत्व का परिहार करने के साथ-साथ प्रभावकारी नहीं रह जाता। स्थूलत्व का परिहार अर्थात् तमोगुण के आपेक्षिक उत्कर्ष का विनियम। यह योगप्रभाव के साथ-साथ अन्य कारण से भी हो सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जो ऊर्ध्वोत्थित नहीं होते, उन्हें भी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त हो जाती है। इसी के साथ-साथ ऊर्ध्वोत्थान का अधिकार प्राप्त होने पर भी आध्यात्मिक उच्चावस्था प्राप्त होगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

जो प्रत्यक्ष सत्य है, उसका अपलाप नहीं हो सकता। सभी देशों के साधकों में यह एक सुविदित तथ्य है। शून्य में विचरण भी इसी ऊर्ध्वोत्थान का विकसित रूप है। ईसाई धर्मग्रन्थों में और उपासकवर्गीय साधकों के जीवनवृत्त से यह विदित होता है कि प्रार्थना-काल में अथवा भगवत्-चिन्तन-काल में साधक का शरीर प्रभामण्डल से आवेष्ठित हो जाता है। कभी-कभी तो वह कक्ष भी उज्वल आलोक से आलोकित हो जाता है और कोई-कोई भाग्यवान् साधक इस अवस्था में भूमि से उपर उठकर शून्य में कुछ समय के लिए स्थित भी हो जाते हैं। ऐसे अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। इनमें से कतिपय दृष्टान्तों का अंकन किया जा रहा है।

●

अलौकिक वृत्तान्त

एक विख्यात नव प्लाटोनिक दार्शनिक प्रार्थना करते समय भूमि से दस फीट ऊपर उठ जाते थे। इस समय उनकी देह तथा पोषाक भी सुवर्ण की दीप्ति से उद्भासित हो उठती थी। सन्त सेन्ट आगस्टिन ने अपने ग्रन्थ में सेन्ट मोनिका नामक एक साध्वी महिला का उल्लेख किया है। प्रार्थना-काल में सेन्ट मोनिका प्रायः तीन फीट ऊपर उठ जाती थीं। प्रतीत होता था मानों उनके शरीर का कोई सार ही नहीं है। यह चतुर्थ शती की घटना है।

मिश्र की सेन्ट मेरी नामक एक साधिका महिला के जीवन में भी ऐसी घटना परिलक्षित होती है। महिला का पूर्व जीवन उतना अच्छा नहीं था, परन्तु कालान्तर में उनके जीवन में घोर परिवर्तन परिलक्षित होने लगा। उन्होंने अनुतापनल से दग्ध होकर, अपने परवर्त्ती जीवन में (साधक जीवन में) विशुद्ध भाव का आश्रय लिया था। यह कहा जाता है कि वे फिलीस्तीन की मरुभूमि में एकाकी नग्न होकर रहती थीं। उस स्थिति में ज़ीवन-रक्षा के लिए शाक-सब्जी जो कुछ मिल जाता, उसी से निर्वाह करती थीं। एक बार धर्म-प्रचारक फादर जोजिम्यास ने उन्हें अचानक देख लिया। सेन्ट मेरी की नग्नावस्था देखकर फादर ने उन्हें एक वस्त्र का टुकड़ा पहनने के लिए प्रदान किया। कुछ क्षणों के उपरान्त फादर देखते हैं कि सेन्ट मेरी पूर्वाभिमुख होकर प्रार्थना कर रही हैं और उनकी देह पृथ्वी से पाँच फीट ऊपर शून्य में स्थित है।

विशप सेन्ट आवे के विषय में प्रसिद्ध है कि वे गिरजाघर का द्वार बन्द होने पर भी अपने कौशल से अवरुद्ध द्वार को खोल लेते थे। उस समय समस्त प्रहरीगण निद्रा में डूब जाते थे। वे गिरजा के अन्दर मेज पर बैठकर प्रार्थना करते! वे अहोरात्र प्रार्थनारत रहते। एक दिन देखा गया कि उनका देह शून्य में स्थित है और प्रार्थनाकक्ष दिव्य आलोक से आलोकित है। यह घटना षष्ट शताब्दी की है। हंगरी देश के सेन्ट मार्गरेट भी गुड फ्राइडे के उत्सव पर कई बार भूमि से ऊपर उठ जाते थे। अन्य उत्सवों के समय भी उनकी यही अवस्था हो जाती थी!

प्रसिद्ध सन्त फ्रान्सिस भी कई बार रात्रि प्रार्थना-काल में शून्य में ऊर्ध्वोत्थित हो जाया करते थे। कथित है कि एक बार सम्राट् लुई एकादश के आमंत्रण पर उसके पास गये थे। उन्हें नेपल्स नामक नगर में जाना था। नेपल्स में समस्त नगरवासी उनके सम्मानार्थ आये। उस समय वहाँ के सामन्त उन्हें अपने महल में सादर ले गये। रात्रि में इन महात्मा के कमरे में एक छिद्र के द्वारा देखने से यह

विदित हुआ कि वे प्रार्थना कर रहे हैं और एक प्रकाण्ड ज्योति उनके शरीर के चारों ओर देदीप्यमान है। यह देखकर सामन्त अत्यन्त विस्मित हो उठे। यह घटना पन्द्रहवीं शताब्दी की है। स्पेन की विख्यात महिला सेन्ट टेरेसा की भारतीय भक्तियोगिनी मीरा से तुलना की जाती है। सेन्ट टेरेसा कई बार प्रार्थना-काल में शून्य में ऊर्ध्वोत्थित हो जाती थीं। वे दीर्घकाल पर्यन्त शून्य में स्थित रहती थीं। भगवान् से प्रार्थना करने पर ही उनकी देह नीचे उतरती थी।

यह प्रसिद्ध है कि बिशप एक बार सेन्ट टेरेसा के दर्शनार्थ आये। उनकी इच्छा थी कि इनके साथ धर्मालोचना करूँगा। सेन्ट टेरेसा के कक्ष में आने पर देखते हैं कि वे खिड़की के पास शून्य में आसीन हैं। विशिष्ट प्रार्थना-काल में सेन्ट टेरेसा का शरीर ज्योति से उद्भासित होकर शून्य में स्थित हो जाता था। यह 16वीं शती की घटना है। ऐसी ही अनेक घटनायें पुस्तकों में अंकित हैं। वर्त्तमान काल में भी इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं हैं। हमारे देश में भी विशिष्ट योगी तथा भक्तों के जीवन- चरित्र में ऊर्ध्वोत्थान का वर्णन प्राप्त होता रहता है। साधक रामठाकुर अत्यल्प अवस्था में ही साधना में प्रभूत उन्नत अवस्था प्राप्त करने में सफल हो सके थे। उस अल्पावस्था में वे किसी व्यक्ति के यहाँ रसोइये (पाचक) का कार्य कर रहे थे। उस समय उनकी माता जीवित थीं। वे माँ के जीवन-यापन के लिए इस प्रकार का कार्य कर रहे थे। वे दिन तथा रात्रि दोनों समय का कार्य सम्पन्न करते रहते थे और जब स्वामीगण आहारोपरान्त विश्राम अथवा शयन करते, उस समय रामठाकुर अपने कक्ष में आकर साधनरत हो जाते। उनकी यह साधना अत्यन्त गुप्त रूप से चलती रहती थी। किसी को भी इसका किंचित् आभास भी नहीं था।

एक बार मध्यरात्रि में किसी विशेष परिस्थितिजनित कार्य के लिए बुलाने का प्रयोजन आ पड़ा। जो व्यक्ति उन्हें बुलाने गया, उसने बाहर से ही कमरे का जो दृश्य देखा, उसे अब वहाँ खड़े रहने का साहस ही नहीं हुआ! उसने देखा कि ठाकुर का आसन तो नीचे पड़ा है, परन्तु उनकी देह शून्य में स्थित है। वह दौड़कर गृहस्वामी के पास गया और उनसे समस्त विवरण कहा। आश्चर्यचकित गृहस्वामी ने भी अपनी आँखों से यह दृश्य देखा! यह देखकर गृहस्वामी को यह अनुभव हुआ कि बालक केवल पाचक ही नहीं है। यह एक महापुरुष है!। दूसरे दिन से रामठाकुर से पाचक का कार्य लेना बन्द कर दिया गया और उनको मासिक आर्थिक सहायता दी जाने लगी!

इस प्रकार के ऊर्ध्वोत्थान, ज्योति-मण्डल तथा शून्य संचरण की शक्ति श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव, श्री श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी, काठिया बाबा प्रभृति अनेक आधुनिक काल के महापुरुषों में थी। 'गुरु-परम्परा चरित्र' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि महान् तान्त्रिक भास्कर राय भी शून्योत्थित हो जाते थे और उस समय समस्त प्रकोष्ठ उज्वल दीप्ति से आलोकित हो उठता था।

आकाशगमन की शक्ति ईसामसीह ५ [illegible] योगी ओपेलोनियस में भी परिलक्षित होती है। वे भारत आये थे और उन [illegible] मन का वर्णन भक्तों तथा अनुगतों ने किया है। इनकी खेचरी शक्ति के सन्द[illegible] में अनेक अलौकिक घटनायें सुनने में आती हैं। सीमन् मैग्यास पाश्चात्य जगत् के एक अलौकिक योगी के रूप में ख्यात हैं। उन्हें लोग मायावी भी कहते थे। उनमें अनेक अलौकिक विभूतियों के साथ-साथ आकाशगमन एवं विचरण की शक्ति भी दृक्गोचर होती है। योगवाशिष्ठ से विदित होता है कि वीहतव्य, चूड़ाला प्रभृति को आकाशगमन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। पहले चूड़ाला ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया, इसके पश्चात् एकान्त में योगाभ्यास के द्वारा अन्य सिद्धियों के साथ-साथ आकाशगमन का भी अधिकार प्राप्त किया।

आचार्य शंकर तथा गोरक्षनाथ भी शून्यपक्ष पर विचरण करते रहते थे। बुद्धदेव में भी यह क्षमता थी। यह कहा जाता है कि वे श्रावस्ती से होते हुए (आकाश-मार्ग से) सात सौ योजन पर्यन्त गये थे। दत्तात्रेय भी शून्यपथचारी महापुरुष कहे गये हैं। वे नित्य अहोरात्र में ही भारत के विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करके दैनन्दिन कार्य सम्पादन करते रहते हैं। मियाँ मीर कभी-कभी (आकाश-मार्ग से) लाहौर से हिजाद तक जाते रहते थे। वे हिजाद में रात्रि अतिवाहित करने के अनन्तर सूर्योदय के पहले ही लाहौर पहुँच जाते। इस प्रसंग को दाराशिकोह ने अपने औलिया सम्बन्धित प्रकरण में लिपिबद्ध किया है।

एक दिन शेख अब्दुल कादिर जिलानी धर्म-व्याख्या कर रहे थे। वे उस दिन धर्म- व्याख्या करते-करते हठात् ऊर्ध्वोत्थित हो गये। वहाँ उन्होंने कहा—'हे इस्त्राइल- वासी! रुको! इस्लाम धर्म सुनो।' वे शून्य से कुछ समय पश्चात् पुनः नीचे आये और धर्म-व्याख्या करने लगे। किसी के द्वारा प्रश्न पूछने पर उन्होंने कहा—'मैंने हठात् देखा कि खिदर मसजिद के पास जा रहे हैं। मैंने आकाश-पथ से जाकर उनका स्वागत किया और उन्हें इस्लाम धर्म सुनने के लिए आमन्त्रित किया।' शेख जिलानी को आधे घण्टे में ही रोम से ईराक तक पहुँचते देखा गया था। रोम में किसी महात्मा की मृत्यु हो जाने पर उनके लिए अन्तिम प्रार्थना करने शेख जिलानी मात्र आधा घण्टे में आकाश-मार्ग द्वारा रोम जा पहुँचे थे।

प्रसिद्धि है कि गैब्रियेल नामक देवदूत ने एक रात्रि में मुहम्मद साहेब को शय्या- सहित उठाकर सात स्वर्ग तथा नरक का समस्त दृश्य दिखलाया था। उन्होंने मुहम्मद साहेब को नब्बे सहस्र बार अल्लाह का दर्शन कराया। तदनन्तर यथास्थान पहुँचाया। इसमें बहुत ही कम समय लगा था। मुहम्मद साहेब ने वापस आने पर देखा कि वे उसी प्रकार से शय्याशायी हैं।

एक बार मिस्र के सुल्तान ने सूफी महात्माओं की योगविभूति को सुना था। अतः वह राज्य के समस्त विद्वानों तथा साधकों को राजमहल में आने के लिए निमन्त्रित करने

लगा। उन सबके आने पर सुल्तान ने यह जानना चाहा कि कौन किस मात्रा में शक्तिसम्पन्न है। सुल्तान ने पूछा कि—'दो स्वर्ग के बीच जो व्यवधान है, उसे पार करने में 500 वर्ष लगते हैं। प्रत्येक स्वर्ग का विस्तार प्रायः इतना ही है। अतः क्षणमात्र में सातों स्वर्गों को पार कर सकना कैसे सम्भव है? अतएव मुहम्मद द्वारा क्षणमात्र में सातों स्वर्गों में जाने की घटना विश्वसनीय नहीं लगती।' इस प्रश्न का उत्तर देने में सभी असमर्थ से परिलक्षित हुए। परिणामतः सभा भंग हो गयी।

उस समय शेख अहाबुद्दीन अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष थे। किसी कारण से वे इस सभा में नहीं आये थे। जब उन्होंने सुलतान की शंका को सुना, तब वे समाधानार्थ व्यग्र हो उठे। वे तत्काल अत्यन्त तीव्र गति के साथ ग्रीष्म से तप्त भूमि पर चलते-चलते सुलतान के पास आये। सुलतान ने उनका समादर किया। उसने समझा कि शेख साहब भिक्षाटन हेतु आये हैं। अतः उन्होंने शेख से कहा—'आप स्वयं इतना कष्ट सहकर क्यों आये? आपने किसी सेवक को भेज दिया होता!' शेखजी ने कहा कि उनके आने का अन्य प्रयोजन है।

जिस कक्ष में सुलतान के साथ शेख साहब वार्तालाप कर रहे थे, उसमें चारों ओर चार खिड़कियाँ थीं। शेख साहब ने सभी खिड़कियों को बन्द करवा दिया। अब पुनः बातें होने लगीं। कुछ समय के पश्चात् शेख साहब ने एक खिड़की को फिर से खोलने का आदेश दिया। खिड़की खोलते ही एक लाल पहाड़ दिखलायी पड़ने लगा। उस पहाड़ के नीचे अनगिनत अश्वारोही दृष्टिगोचर हो रहे थे। सुलतान ने सोचा कि वे सब अश्वारोही उनके ऊपर आक्रमण करने आ रहे हैं! इस दृश्य से सुलतान आतंकित हो उठे। शेख साहब ने सुलतान को अभयदान देते हुए कहा कि कोई भय नहीं है। उन्होंने स्वयं जाकर उस खिड़की को बन्द कर दिया। कुछ क्षण के उपरान्त उस खिड़की को खोलने पर यह पाया गया कि वहाँ एक भी अश्वारोही नहीं है!

अन्य खिड़की के सम्मुख ही विशाल काहिरा नगर था। अब इस खिड़की को खोला गया। इस खिड़की को खोलने पर यह दृश्य दृष्टिगोचर होता है कि वह विशाल नगर अग्निदग्ध हो रहा है। अग्नि-शिखा प्रलयान्त के समान उठ रही है! सुलतान भयभीत हो उठे! वह खिड़की भी शेख साहेब के आदेशानुसार बन्द कर दी गयी। कुछ क्षणों के उपरान्त खिड़की खोलने पर विदित हुआ कि सब कुछ पूर्ववत् है। कहीं भी कोई दुर्घटना घटी ही नहीं थी!

अब तृतीय खिड़की को खोला गया। देखा गया कि नीलनदी ने जलाधिक्य से भीषण आकार धारण किया है। प्रतीत होने लगा कि कुछ ही क्षणों में यह राजप्रासाद भी जलमग्न होने वाला है! इस बार सुलतान और अधिक भयभीत हो उठे, परन्तु शेख साहब ने आश्वासन देते हुए खिड़की बन्द करा दी। पुनः खोले जाने पर देखा गया कि नील नदी पूर्ववत् संयत तथा प्रशान्त है!

अब चतुर्थ खिड़की खोली जाती है। परिलक्षित होता है कि चतुर्दिक् अन्तहीन मरुभूमि है! उसे पुनः बन्द किया गया। कुछ क्षणों के उपरान्त खिड़की खोली गयी। मरुभूमि का लेशमात्र भी नहीं था! वहाँ सुरम्य उद्यान था! उद्यान अपनी हरीतिमा से नेत्रों को शीतल कर रहा था! अब शेख साहब ने कहा 'आनन्द!'

इसके अनन्तर वह खिड़की पुनः बन्द की गयी। कुछ क्षणों के उपरान्त खोले जाने पर वही मरुभूमि दृष्टिगोचर होने लगी। अब शेखजी बोले—'एक बर्तन में पानी लाओ।' जल लाया गया। शेखजी ने सुलतान को एक गमछा पहनने का आदेश दिया। गमछा पहनने के पश्चात् सुलतान का सिर उस जल-भरे पात्र में डुबाया गया। अब सुलतान देखते हैं कि मानो वे समुद्र के किनारे स्थित एक पर्वत के पास खड़े हैं। सुलतान के मन में क्रोधावेश होने लगा। उन्होंने निश्चय किया कि मिस्र पहुँचकर शेख साहब को उपयुक्त दण्ड दूँगा। इस प्रकार की भावनायें उनके मन में उठने लगीं। कुछ समय के पश्चात् सुलतान आगे बढ़े। वहाँ देखते हैं कि कुछ लोग लकड़ी काट रहे हैं। उन्हें यह स्मरण था कि मैं राजा हूँ। उन्होंने उन लोगों के सामने अपना परिचय गुप्त रखना चाहा। जब उन लोगों में से एक ने सुलतान से परिचय पूछा, तब सुलतान ने अपना परिचय वणिक के ही रूप में दिया। सुलतान ने बतलाया कि उनका जहाज एक समुद्र में डूब गया है, जिसके कारण वे विपत्ति में पड़े हैं। यह सुनकर उन लकड़हारों के हृदय में दया का संचार हुआ, परन्तु उन गरीब लोगों की शक्ति ही कितनी थी? इतने पर भी उनमें से एक ने कपड़ा दिया। इसी प्रकार उन लोगों ने मिलकर सुलतान को जूता, भोजन आदि प्रदान किया। तत्पश्चात् वे सुलतान को पर्वत के उस पार अपने निवास तक ले आये। वहाँ एक नगर था। उस नगर में सुलतान को छोड़ा और विदा लेकर चले गये।

अब सुलतान उस नगर की एक-एक वस्तु देखने लगे। उनके मन में भारी उद्वेग था। वे निरुद्देश्य से उसी नगर में भटकने लगे। भटकते हुए क्लान्ति तथा अवसाद ने आ घेरा। तभी एक कारीगर का घर दृष्टिगोचर हुआ। वे उस घर के पास आकर गृहस्वामी को पुकारने लगे। गृहस्वामी बाहर आया और सुलतान से उसका परिचय पूछा। सुलतान ने पहले की तरह एक वणिक के रूप में अपना परिचय दिया। साथ-साथ लकड़हारों के साथ जो कुछ घटना घटी थी, वह भी बतलायी। कारीगर ने आश्वासन देते हुए कहा—'मैं आपको सत् परामर्श देता हूँ। आप तदनुसार कार्य करें। यहीं पर पास में औरतों के लिए स्नानागार बना है। वहाँ बहुसंख्यक महिलायें स्नानार्थ आती रहती हैं। आप वहाँ उपस्थित रहिये। उन महिलाओं में से जिसके पति नहीं हैं, ऐसी एक महिला आपकी पत्नी होगी।'

अब सुलतान हम्माम के पास आये। वहाँ उन्होंने एक सुन्दरी स्त्री को देखा। उसका पति साथ था। तदनन्तर एक सुन्दर स्त्री आयी। वह भी विवाहिता थी। वह

कन्या सुलतान को घृणा से देखते हुए अन्यत्र चली गयी। इसके पश्चात् एक गुलाम आया। उस गुलाम के अनुरोध पर सुलतान उस स्थान से चलकर एक विशाल महल में आये। यहाँ दो घड़ी प्रतीक्षा करने के उपरान्त देखते हैं कि चार रमणियाँ आ रही हैं। उन चारों के साथ एक अत्यन्त सौन्दर्यमयी नवयौवना बाला थी, जो स्नानागार में सर्वान्त में आयी थी। उसने सुलतान से कहा—'यह महल आपका है। मैं स्नानागार से आकर वेषभूषा की सज्जा कर रही थी। इसी कारण मुझे विलम्ब हो गया। यहाँ जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वह सब आपका है। मैं आपकी दासी हूँ। आदेश दीजिये।' इसके पश्चात् नाऊ को बुलाकर सुलतान की हजामत बनवायी गयी। उन्हें सुन्दर वेषभूषा से सज्जित किया गया। विभिन्न प्रकार के आहार की व्यवस्था की गयी। भोजन के उपरान्त संगीत तथा नृत्यादि के द्वारा सुलतान का मनोरंजन कराया गया। वह बाला वीणा बजा रही थी। यह सब देखकर सुलतान मुग्ध हो उठे।

कुछ समय के पश्चात् एक यहूदी वस्त्र-विक्रेता वहाँ आया। उससे सुलतान ने विभिन्न वस्त्र खरीदे। वे सब सुलतान और उस बाला ने पहने। आनन्दपूर्वक समय अतिवाहित होने लगा। अधिक व्यय करने के कारण सुलतान निर्धन हो गये। इस बीच सुलतान से उस बाला को कई सन्तानों की प्राप्ति भी हुई। कुछ वर्षों के उपरान्त भाग्य का विपर्यय घटित होने लगा। अधिक व्यय करने के कारण सुलतान निर्धन हो गये। अब सुलतान को उस कारीगर का स्मरण हुआ। वे उसके घर जाने को उद्यत होने लगे। इस समय सुलतान अत्यन्त दरिद्र थे। पास में एक पैसा भी नहीं था। इस परिस्थिति के कारण सुलतान विवश हो गये। उन्हें निर्वाहार्थ कुली का कार्य करना पड़ा। इसी अवस्था में एक दिन चलते-चलते समुद्र के किनारे आ पहुँचे। अब उनकी इच्छा थी कि नमाज अदा करने के पहले स्नान करूँ। इसलिए उन्होंने समुद्र में अवगाहन किया। समुद्र में डुबकी लगाते ही उन्होंने देखा कि सामने शेख साहब आसीन हैं। शेखजी को देखते ही उन्हें घटनाक्रम स्मरण हो आया, तथापि पूर्वसंस्कार के कारण शेख साहब पर क्रोध आने लगा। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि वह सब लीला कुछ मिनटों में ही घटित हुई थी। अर्थात् कुछ ही मिनट में उन्हें वर्षों का अनुभव हुआ था। अन्य दरबारियों ने भी इस तथ्य का समर्थन किया कि सुलतान उस जलपात्र में केवल कुछ मिनट ही सिर डुबाये बैठे थे।

सुलतान ने कहा—'अनेक वर्ष मैंने विदेश में पर्यटन किया, विवाह किया, अनेक पुत्र भी हुए, तथापि कुली बनने से भीषण कष्ट का सामना करना पड़ा।' उन्होंने शेखजी की बातों पर विश्वास नहीं किया। सुलतान शेख साहब की हत्या करने के लिए उद्यत हो उठे। यह स्थिति देखकर शेखजी ने उसी जलपात्र में अपना सिर डुबाया। यह निश्चय हुआ था कि सिर निकालते ही सुलतान उनका गला काट देंगे।

शेख साहब उस जलपात्र में सिर डुबाते ही अपनी शक्ति से अन्तर्हित होकर

कुछ ही मिनटों में आकाश-मार्ग द्वारा मकदूनिया जा पहुँचे। वहाँ से उन्होंने सुलतान को पत्र लिखा—'सुलतान! तुमने जलपात्र में सिर डुबाया और उसी में (वर्षों का) का अनुभव कुछ मिनट में ही कर लिया। उन कुछ मिनटों के काल में ही तुमने विवाह किया, कई सन्तान प्राप्त कीं, विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव किया। इसी प्रकार मुहम्मद साहेब ने कुछ ही मिनटों में सप्त स्वर्ग का दर्शन करके, नब्बे हजार बार भगवान् का दर्शन किया था। भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। जिन्होंने शून्य से केवल मात्र एक शब्द के द्वारा इस विशाल सृष्टि का निर्माण किया है, उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।'

●

ऊर्ध्वयोग

प्रकृति का अवयव है सत्व, रजः तथा तमः। इनमें से तमोगुण का धर्म है गुरुत्व एवं आवरण। सत्वगुण का धर्म है लघुत्व तथा प्रकाश। क्रियाशील रजोगुण दोनों के मध्य की अवस्था है। सत्व को तमः में और तमः को सत्व में ले जाने का प्रयत्न करता रहता है। तपस्या, योग, क्रिया, प्रार्थना तथा ध्यान को सत्वगुणाश्रित रजोगुण क्रिया कहते हैं। इसके प्रभाव से सत्व का आधिक्य हो जाता है, जिससे तमोगुण अभिभूत होने लगता है। परिणामतः देह का गुरुत्व कम होने लगता है और क्रमशः प्रकाशमय सत्त्वगुण प्रस्फुटित हो उठता है। इसका फल यह है कि जो आवरण स्थूल देह को आच्छन्न कर रहा था, वह अपसारित हो जाता है और देह भी लघुत्व (हलकापन) प्राप्त करने के साथ-साथ तेजोमय हो जाता है। इस दशा की चरम अवस्था में देह भी निरामय हो जाता है। अब देह निरावरण रूप है। यह लघुत्व प्राप्त होता है सत्वगुणाधिक्य के कारण। इस उत्कर्ष को प्राणायाम, जप, ध्यान आदि साधनाओं द्वारा आयत्त करते हैं। जब तक देह सत्वगुणप्रधान है, तब तक वह तेजोमय अथवा शुद्ध ज्योतिर्मय है। उस पर मध्याकर्षण का प्रभाव अत्यन्त न्यून ही रहता है। इसे ही देह का लघुत्व कहते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि देह वायु-मण्डल में ऊपर उठने की चेष्टा करने लगता है। अब देह की भारहीन स्थिति (लघुत्व) और भी बढ़ने लगती है। इसका परिणाम है देह की ज्योतिर्मयता और मध्याकर्षणरहित अवस्था! इस स्थिति में तमोगुण अत्यन्त अभिभूत हो जाता है। इसे ही देह का ऊर्ध्वोत्थान कहते हैं। जब कुण्डलिनी शक्ति प्रबलरूपेण जाग्रत् होती है, तब ऐसा ही होने लगता है। कुण्डलिनी शक्ति की अनादि सुषिप्त भंग होते ही वह चैतन्य हो उठती है और वह शक्तिरूप में (जाग्रत् शक्तिरूप में) अपना आत्म-प्रकाशन करती है। चैतन्य शक्ति से समन्वित देह को ही चेतनदेह कहते हैं। जब देह की चैतन्यावस्था हो जाती है, तब देह के अणु-परमाणु भी परिवर्तित हो जाते हैं।

कुम्भक क्रिया के कारण भी किसी-किसी का आसन से ऊर्ध्वोत्थान होता है। हमारे चतुर्दिक् जो वायु-मण्डल है, उस वायु से जब हमारी देहस्थ वायु हलकी होती है, तब यह देह स्वभावतः वायु-मण्डल में उत्थित हो जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि देह का उत्थान होने से ही आकाश अथवा शून्य में विचरण नहीं हो सकता। उसके लिए और अधिक उन्नीत स्थिति की आवश्यकता है।

विषय को और अधिक स्पष्ट किया जाता है। विश्वजगत् का आश्रय लेकर

(सृष्टि अवस्था में) दो विरुद्ध शक्ति कार्यरत रहती है। इसी तरह जीव की देह का आश्रय लेकर भी निरन्तर दो परस्पर-विरुद्ध शक्ति की क्रीड़ा चलती रहती है। इन उभय शक्तियों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता परिलक्षित होती रहती है। जब एक शक्ति प्रबल हो जाती है, तब दूसरी शक्ति अभिभूत होती हैं। क्रमशः एक समय ऐसा भी आ जाता है, जब एक ही शक्ति अत्यन्त प्रबल भाव से अधिष्ठित हो जाती है। पुनः जो शक्ति अभिभूत होकर पड़ी थी, वह धीरे-धीरे प्रबल होने लगती है। अभिभूत शक्ति धीरे-धीरे प्रबल हो जाती है। और पहले वाली प्रबल शक्ति धीरे-धीरे लुप्तप्रायः होने लगती है। अब उस अभिभूत शक्ति की प्रधानता हो जाती है और प्रथम शक्ति नाममात्र के लिए ही रह जाती है। ऐसा आवर्त्तनचक्र चलता रहता है। जीवदेह में यह क्रीड़ा निरन्तर परिलक्षित होती है।

जीवदेह की इस क्रीड़ा का प्रत्यक्ष ज्ञानीजन करते रहते हैं। जड़ वस्तुसमूह में भी ऐसा ही होता रहता है। इस आवर्त्तन को कालचक्र का आवर्त्तन कहा जाता है। जो इस आवर्त्तन से छुटकारा पाना चाहते हैं, वे मध्यपथ का आश्रय लेते हैं। मध्यपथ का तात्पर्य है सन्धि। वहाँ दोनों शक्ति का सम्भाव विद्यमान रहता है। जैसे दिन-रात्रि अथवा रात्रि-दिन की सन्धि है, इसी प्रकार देह में भी दोनों विरुद्ध शक्तियों का सन्धि-स्थान विद्यमान रहता है। किसी कौशल के द्वारा इन परस्पर-विरुद्ध शक्ति को साम्यावस्था में उपलब्ध करते ही इस सन्धि का सन्धान मिल जाता है। इसे मध्यम मार्ग की प्राप्ति कहते हैं। इसे ही बुद्धदेव मध्यम प्रतिपद कहते हैं। इसके अभाव में कोई भी योगी योगसम्पदा प्राप्त नहीं कर सकता। इस मध्यम प्रतिपद के प्रभाव से ऊर्ध्वगति होती है। मध्यम पथ की प्राप्ति तथा कुण्डलिनी का उद्बोधन एक ही अवस्था है। यही सत्य मार्ग है। ऊर्ध्वगति की वृद्धि से देह ऊर्ध्व सीमा पर्यन्त उत्थित हो जाती है। इसे मेरुशिखर कहते हैं। यौगिक भाषा में इसे आज्ञाचक्रभेद कहा गया है। परिणाम यह होता है कि अब सहस्रार के मध्यबिन्दु में स्थिति हो जाती है। इस मेरुशिखर का तेज अनन्त आकाश में चारो ओर छिटका रहता है। इसे व्याप्ति कहते हैं। शून्य में विचरण को इस व्याप्ति का ही पूर्वकालीन व्यापार कहते हैं। खेचर अवस्था की पूर्णता के साथ-साथ व्याप्ति स्वभावतः प्रकाशित हो उठती है। संक्षेप में यह कहना है कि विरुद्ध शक्ति के समन्वय के बिना ऊर्ध्वगति सम्भव ही नहीं हो सकती।

योगवाशिष्ठ में उल्लेख है कि आकाशगमन आदि की शक्ति जीवन्मुक्त देह में नहीं होती। वे ऐसी शक्ति नहीं चाहते। यह सब तो वस्तु का स्वभाव है। आत्मज्ञान के अभाव में भी आकाशगमन तथा ऊर्ध्वोत्थान सम्भव है। द्रव्य, मन्त्र, क्रिया तथा कालशक्ति के प्रभाव से ऐसा हो सकता है। द्रव्यशक्ति अर्थात् मणि, औषधि आदि। गुटिकासिद्ध जानते हैं कि यथाविधि निर्मित संस्कारयुक्त पारद गुटिका द्वारा देह की

ऊर्ध्वगति होती है। खेचरी अवस्था भी प्राप्त हो सकती है। मन्त्र अर्थात् मन्त्रशक्ति द्वारा भी आकाश में गति हो सकती है। क्रिया का तात्पर्य है योगाभ्यास। कालशक्ति का प्रभाव भी अचिन्त्य है।

तत्वज्ञ, अतत्वज्ञ भी क्रमानुसार (मन्त्र-द्रव्य-क्रिया द्वारा) ऊर्ध्वगति, आकाश-गमनादि की शक्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। आत्मतत्वज्ञ यह सब नहीं चाहते। नियमित क्रमानुसार साधनादि द्वारा यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देवगण में यह शक्ति स्वभावतः रहती है। पातंजल मतानुसार आकाशगमन के लिए देह तथा आकाश के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध में संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) करना आवश्यक है। जहाँ कहीं भी कोई देह रहती है, वहाँ आकाश (अवकाश) अवश्य है। आकाश-सर्वव्यापक और समस्त वस्तुसमूह अवकाशात्मक कहा गया है। आकाश के साथ देह के व्याप्तिं रूप का जो सम्बन्ध है, उसका चिन्तन करके उस सम्बन्ध को अपनी इच्छा के अधीन कर लेना चाहिये। इसी के साथ देह का गुरुत्व दूर हो जाता है। उसमें हल्कापन आ जाता है। मध्याकर्षण की क्रिया भी क्षीण होने लगती है। इसके अतिरिक्त अत्यन्त लघु पदार्थ में चित्त को समाहित करने से भी देह में लघुत्व आता है। (जैसे परमाणु का चिन्तन करना)। इतना लघुत्व आ जाता है कि अत्यन्त क्षीण मकड़ी के जाले के तार पर भी बैठा जा सकता है। सूर्य-रश्मि में विहार करने की योग्यता आ जाती है। सूर्य-रश्मि समूह का आश्रय लेने से भी आकाशगमन किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सूर्य-रश्मि एक-एक मार्ग है।

●

शून्य विहार

बौद्धाचार्य आकाशगमन तत्व के सम्बन्ध में विशुद्ध आलोचना कर गये हैं। बुद्धदेव की छः अभिज्ञाओं में एक का नाम है ऋद्धि। वस्तुतः प्रथम अभिज्ञा ही ऋद्धि है। यह प्रत्येक योगी को आयत्त हो सकती है। इसके लिए आर्य अथवा अनार्यगत भेदधारणा नहीं हैं। अर्थात् बुद्धोपदिष्ट धर्म का अनुयायी न होने पर भी ऋद्धि सम्भव है। अतः सभी 5 अभिज्ञा की प्राप्ति अबौद्ध को भी हो सकती है। किन्तु षष्ट अभिज्ञा (आश्रवक्षय ज्ञान अथवा साक्षात्कार अभिज्ञा) की प्राप्ति आर्य (बौद्ध) के अतिरिक्त किसी को भी नहीं हो सकती। बौद्धों के समान आकाशगमन की ऋद्धि को तीन श्रेणी में विभक्त किया जाता है।

(क) वहन गति! जैसे पक्षी अपने शरीर के द्वारा आकाश में आरोहण करता है।

(ख) अधिमोक्ष गति! यह योगी के अपने शरीर की गति नहीं है। संकल्प-बल से दूरस्थ वस्तु को निकट लाना इसका अभिप्राय है। इसमें योगी को कहीं जाना नहीं है। लक्षित वस्तु योगी के पास आ जाती है।

(ग) मनोयोगगति! यह गति शास्ता (बुद्ध) की हो सकती है।

वहन गति में अपने शरीर को ले जाना पड़ता है। अधिमोक्ष गति में देह को नहीं ले जाना है, वस्तु ही योगी के पास आ जाती है। जैसे राम को पर्वत के पास नहीं जाना है। पर्वत ही राम के पास आ जाता है। मनोयोग गति अत्यन्त क्षिप्र गति है। इसे मनोजयित्व भी कहते हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने इसे मधु प्रतीक सिद्धि माना है। भाष्यकार के अनुसार यह काया का अनुत्तम गतिलाभ है। सिद्धयोगीगण जिस शक्ति के द्वारा किसी भी क्षण किसी भी दूरवर्ती प्रदेश में अपनी स्थूल सत्ता के साथ प्रकट हो जाते हैं, वही मनोजयित्व है।

पाशुपत सिद्धों ने महेश्वर के परमैश्वर्य को ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति में विभक्त किया है। इसमें मनोजयित्व, कामरूपित्व और विकरणधर्मिता भेद से क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है। सिद्धयोगीगण असात्मक दुःखान्त अथवा महेश्वरता प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें मनोजयित्व प्राप्त हो जाता है। यह स्थिति केवल-मात्र बुद्ध को ही प्राप्त होती है। बौद्धों के अनुसार समाधि ही ऋद्धि है। इसके भी दो भेद हैं जैसे आकाशगमन और इच्छानुसार शरीर-रचना करना!

आजकल भी तिब्बत में कतिपय लामा क्षिप्रगति साधन जानते हैं। यह आकाश-गमन का पूर्वाभास है। तिब्बत में इस प्रक्रिया को लां-गोम् कहा जाता है।

जो इस विधि को जानता है, वह लां-गोम्-पा कहलाता है। आलेक्जेन्ड्रां डेविडनील ने ऐसे तीन सिद्धों का वर्णन किया है। यह वर्णना 'विथ मिस्टिक्स एण्ड मैजीशियन इन तिब्बत' में अंकित है। यह तीव्रगति आकाशगमन का ही पूर्वरूप है। इस प्रकार के गमन में पैर भूमि का स्पर्श नहीं करते। गमनकारी का चित्त लक्ष्य के प्रति एकाग्र रहता है। ऐसे व्यक्ति कुछ दूर चलने के उपरान्त पृथ्वी से ऊपर उठ जाते हैं और वायुमण्डल का भेदन करते हुए, बिना प्रयास के ही तीव्रगति से चलते रहते हैं।

●

आनन्द

स्थूल दृष्टिकोण के अनुसार आनन्द को चतुर्धा विभक्त किया जा सकता है (1) आनन्द (2) परमानन्द (3) विरमानन्द (4) सहजानन्द। कार्य के कारण मन क्षुण्ण हो जाने पर ही आनन्द का उद्‌गम होता है। यह एक प्रकार के भाव का आविर्भाव है। जब यह आविर्भाव शक्ति के साथ मिलित होकर पूर्णत्व को प्राप्त होता है; तब बोधिचित्त भी पूर्ण होने लगता है। इस पूर्णता का स्थान है ललाट। इस आनन्द को परमानन्द कहते हैं। बौद्ध तन्त्रों के अनुसार शरीर का सारांश 'बिन्दु' ही बोधिचित्त है। बोधिबिन्दु का क्षरण उत्तमांग (मस्तक) से होता है। यह क्षरण ही अमृतक्षरण है। इस अवस्था को ज्वाला कहा जाता है। यहीं विरमानन्द है। इसके पश्चात् वाक् एवं चित्त बिन्दु के अवसान-काल में चतुर्बिन्दु का निर्गमन होते ही सहजानन्द आविर्भूत हो उठता है।

योगीगण कहते हैं कि प्रत्येक पक्ष में प्रतिपदा से पञ्चमी पर्यन्त की तिथियाँ (चन्द्रकलायें) आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वीस्वरूपा हैं। इन्हें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता एवं पूर्णा कहते हैं। इन पाँचों में आनन्द पूर्ण होता है। षष्ठी से दशमी पर्यन्त भी पूर्ववत् पृथ्वी से लेकर आकाशस्वरूपा हैं। इनमें परमानन्द पूर्ण होता है। एकादशी से पूर्णिमा तक में पुनः पूर्वोक्त रीति से आकाश से पृथ्वी पर्यन्त के तत्व हैं। इसमें विरमानन्द पूर्ण हो जाता है। अब आनन्द, परमानन्द तथा विरमानन्द की साम्यावस्था आयत्त होती है। यह षोडशकलायुक्त सहजानन्द है। इसमें समस्त धातुओं का समाहार हो जाता है। प्रत्येक आनन्द में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तथा तुरीय भेद से, काय-वाक् चित्त एवं ज्ञान योग रूप चतुर्धा योग की उत्पत्ति होती है। कायानन्द- वागानन्द-चित्तानन्द तथा ज्ञानानन्दरूप आनन्द से संश्लिष्ट योग भी चतुर्धा कहा जाता है। इस प्रकार से यह चार वज्रयोग ही षोडषयोग रूप में परिणत हो जाता है। इनमें से प्रथम योग है काययोग, सोलहवाँ योग है नाद।

●

बौद्धगण का तान्त्रिक योग

हठयोग तथा राजयोग षडंग तथा अष्टांग होता है। बौद्धों के षडंग योग की भी स्थिति इसी प्रकार की है। इसका विवरण 'गुह्यसमाजतन्त्र' में और मंजुश्री-कृत 'कालचक्रोत्तर' में मिलता है। परवर्ती साहित्य में अर्थात् नरोपा-कृत 'सेकोद्येश टीका' में तथा 'कालिकातन्त्र' में भी यह आलोचित है। इसे विद्वान् लोग बौद्धयोग भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कराचार्य ने भी स्वकृत टीका में इसी क्रमानुसार षडंगयोग का उल्लेख किया है। यह टीका अभी भी अप्रकाशित है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि को षडंगयोग कहते हैं। सिद्धि भी दो प्रकार की होती है—सामान्य तथा उत्तम। यौगिक विभूति को सामान्य सिद्धि कहा गया है। सम्यक् सम्बोधि अथवा बुद्धत्व ही उत्तम सिद्धि है। समाजोत्तर तन्त्र के अनुसार षडंगयोग की सहायता से ही बुद्धत्व अथवा सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है। इसके चार उपाय हैं, यथा—सेवाविधान, उपसाधन, साधन एवं महासाधन। महाऊष्णीय बिम्ब की भावना को सेवाविधान कहा गया है। यह बिम्ब त्रैधातुक बुद्धबिम्ब है। अमृत कुण्डलिनी रूप बिम्ब की भावना को उपसाधन कहते हैं। देवताबिम्ब की साधना ही साधन है। विभुरूप में विश्व की भावना ही महासाधना है।

दसों इन्द्रियों का अपने नियम विषय की ओर अनुवृत्त होना ही आहरण है। जब दसों इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर स्वस्वरूप का अनुवर्तन करती हैं, तब वही प्रत्याहार की अवस्था है। प्रत्याहार में जब दसों इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर स्वरूप का अनुवर्त्तन करती हैं, तब वही धारणा की अवस्था है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियाँ विषय-ग्रहण नहीं कर सकतीं। वैराग्य, त्रिकालदर्शन तथा दशधा निमित्त को देखने की शक्ति ही प्रत्याहार है। शुद्ध आकाश में धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र, सूर्य तथा बिन्दु का दर्शन ही दशधा निमित्त दर्शन है। निमित्त दर्शनोपरान्त साधक मन्त्र को अपने अधीन कर सकता है। उसे वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

प्रत्याहार द्वारा विश्वदर्शन के अनन्तर ध्यान प्रारम्भ होता है। यह योग का द्वितीय अंग है। स्थिर (स्थितियुक्त) तथा चर (चलायमान) भाव को पञ्चकाम कहते हैं। पञ्च-बुद्ध प्रयोग के समय समस्त भावसमूह में यही कल्पना करनी चाहिये कि सबकुछ बुद्ध ही है। यह ध्यान का स्वरूप है। ध्यान के पश्चात् प्राणायाम की स्थिति है। मनुष्य का श्वास पञ्चज्ञानमय है तथा पञ्चभूत स्वभावयुक्त है। इसमें एक पिण्डरूप का निश्चल चिन्तन नासाग्र में किया जाता है। महारत्न अवस्था यही है। अक्षोभ्य

प्रभृति पञ्चबुद्धों की स्थिति ही पञ्चज्ञान स्वभाव है। इनका स्वरूप है विज्ञानादि स्कन्ध। वाम एवं दक्षिण नासिका से श्वास का प्रवाह चलता है। यह दोनों प्रवाह एक होकर पिण्डाकृति धारण करता है। इसी पिण्ड को नासिका के आगे स्थिर करना चाहिये। सर्वप्रथम प्राणवायु को मध्यमार्ग में स्थिर करे, तदनन्तर नासाग्र में स्थिर करे। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष कमल की कर्णिका में स्थिर करना चाहिये। इसका कारण यह है कि नासाग्र तथा कमल कर्णिका बिन्दु में समसूत्रता है। महारत्न पञ्चवर्ण है। इसे वाम एवं दक्षिण नासापुट में निरुद्ध करके केवल मध्यमार्ग में चालित करे। सामान्य मनुष्य की प्राणवायु अशुद्ध प्रवृत्तिसमूह का वाहन है। यही संसार का कारण है।

योग की चतुर्थ अवस्था को धारण कहते हैं। अपने इष्टस्वरूप प्राण को हृदय में ध्यान करने के अनन्तर उस ललाट में निरुद्ध करना चाहिये। यह मन का त्राणरूप है, अतः प्राण को ही मन्त्रपद करते हैं। इसे हृदय से कर्षित करके कर्णिका में स्थिर करे। तदनन्तर बिन्दुस्थान ललाट में निरुद्ध करना चाहिये। यही धारणा है। अब निरुद्ध इन्द्रियाँ ही रत्न हैं। अवधूती मार्ग में चित्तप्रवेश के पश्चात् पूर्ववर्णित धूमादि निमित्त समूह प्रतिभासित होने लगते हैं। धारणा का फल है वज्रसत्व में प्रवेश। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न अथवा प्राणवायु नाभिचक्र में चाण्डाली (कुण्डलिनी) शक्ति को जाग्रत् करने लगती है। वज्रमार्ग से महाधारा का अवलम्बन करके क्रमशः उसे उष्णीष चक्र पर्यन्त पहुँचाया जाता है। वह उष्णीष चक्र पर्यन्त पहुँचकर कायादि स्वभाव चारो बिन्दुओं को उस निर्दिष्ट स्थान में ले जाता है। धारणा की सिद्धि हो जाने पर चाण्डाली (कुण्डलिनी) शक्ति स्वभावतः उज्वल हो जाती है।

योग के पञ्चम अंग का नाम अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान के द्वारा प्रतिभासित संवृतिसत्य की भावना को निश्चल किया जाता है। इसका उद्देश्य है संवृत्ति सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से सांवृत्तिक आकार समग्र आकाशव्यापी रूप में परिदृष्ट होने लगता है। इसमें समस्त त्रिकालस्थ भुवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है। इसका फल है प्रभामण्डल का आविर्भाव! जब चित्त विकल्परहित होता है, तब यह प्रभामण्डल परिलक्षित होने लगता है। इस समय रोमकूपों से पञ्चरश्मि का निर्गमन होने लगता है।

योग के षष्ट अंग को समाधि कहते हैं। प्रज्ञोयाय समापत्ति के द्वारा सर्वभाव समाहन करके पिण्डयोग में बिम्ब के अन्तर्गत भावना को अनुधावित करना चाहिये। सम्यक् भावना करने पर अकस्मात् किसी महाक्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति होने लगती है। यही समाधि है। निष्पन्नादि क्रमानुसार व्योम कमल का उद्‌गम हो जाने पर अक्षरसुख का उदय होता है। स्नेह तथा ज्ञान की एकावस्था को विमलावस्था कहते हैं। अब प्रतिभासरूप स्थावर-जंगमात्मक समस्त भाव उपसंहृत (संकुचित) होकर

पिण्डयोग हो जाते हैं। अब पिण्डरूप (परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वरूप) विश्व में भावना को प्रधावित करना चाहिये। जैसे आयुर्वेद के अनुसार समस्त रसों का भावन करने पर एकमात्र सिद्ध रस अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी एकमात्र पिण्डरूप विश्व अवशिष्ट रह जाता है। इस परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वरूप में संवृतिसत्यरूप विश्व की भावना करनी चाहिये। इसका परिणाम है परम महाज्ञान का आविर्भाव अब संवृतिसत्य तथा परमार्थ सत्य का पारस्परिक द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। ये दोनों अद्वयरूपेण प्रकाशित होने लगते हैं। यही है युगन्धर विज्ञान का रहस्य। इस स्थिति में बुद्ध ही परम स्वरूप हैं। वे प्रत्येक आत्मा के परमस्वरूप हैं। समाधिपरायणता से निरावरण-भाव उदित होता है।

मंजुश्री कहते है कि प्रत्याहारादि अंगों के द्वारा वास्तव में शून्यता भावना का ही प्रतिपादन किया जाता है। आकाश में धूमादि निमित्तक्रम के दर्शन को प्रत्याहार द्वारा स्थिर करने से विश्वदर्शन की अवस्था आती है। इस स्थिति में योगी समस्त जगत् का अधिष्ठाता बन जाता है। ध्यान प्रभाव से बाह्यता स्तिमित होती है। चित्त दृढ़ होता है। साथ ही बिम्ब से लग्न चित्त में तत्काल दिव्यचक्षु का उन्मेष हो जाता है। इस प्रकार दिव्य स्तोत्रादि एवं पञ्च अभिज्ञा प्राप्त हो जाती है। जब योगी चन्द्र-सूर्य मार्ग मध्यमा में प्रविष्ट होते हैं और प्राणायाम द्वारा शुद्ध हो जाते हैं तब बोधिसत्वगुण उन्हें देखते हैं। वे ग्राहक चित्त (वज्रसत्व) में धारणा के प्रभाव से शून्यता बिम्बरूप ग्राह्य का समावेश कराते हैं। बिन्दु में धारणा की स्थिति का फल यह है कि प्राण भी गति- शून्य हो जाता है। उस अवस्था में विमल प्रभामण्डल प्रकाशित हो उठता है और रोमकूपों से पञ्चरश्मि का निःसरण होने लगता है। इसे महारश्मिरूप कहते हैं। ग्राह्य एवं ग्राहक चित्त की एकता का फल है अक्षरसुख का उदय। यही समाधि है। समाधि आयत्त होने से अचल एवं निरावरण भाव आता है। इस परमाक्षर ज्ञान को प्रभास्वर ज्ञान कहते हैं। इसके प्रभाव से सर्वतोभावेन आवरण तिरोहित हो जाता है। अतः सत्यद्वय एकीभाव में, अद्वयभाव में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

बौद्धयोग को वाग्योग का प्रकार भेद माना जाता है। प्राकृतिक शक्तिसमूह को जाग्रत् करने के लिए शब्दबीज ही श्रेष्ठ उपाय है। वर्णमातृका (कुण्डलिनी) शक्ति प्रत्येक आधार में प्रसुप्त रहती है। इसे प्रबुद्ध करना चाहिये। प्रबुद्ध शक्ति ही साधक की अन्तर्प्रकृति के साथ मिलकर वैचित्र्य-लाभ करती है। साधक की विभिन्नता के ही कारण मन्त्रों की विभिन्नता का विधान किया गया है। जैसे बीज अंकुरित होकर वृक्ष, पुष्प, फल का रूप धारण करता है, उसी प्रकार शब्दबीज भी मूर्त होकर देव-देवी के रूप में आकारित हो जाता है। मीमांसा मत के अनुसार देवगण मन्त्रात्मक होते हैं। वेदान्तमतानुसार देवता विग्रहवर्ती होते हैं। दोनों मत सत्य है। वक्ता (वाचक) तथा वक्तव्य (वाच्य) का नाम एवं रूप अभिन्न होने के कारण मन्त्र तथा दिव्य विग्रह भी तान्त्रिक दृष्टिकोणानुसार अभिन्न माने जाते हैं।

निरुक्त के दैवत्काण्ड में देवता की साकारता तथा निराकारता का संकेत अंकित है। सर्वत्र ही ऐसा ही मत प्रचलित है। साधक की प्रकृति के अनुसार मन्त्रों का निर्धारण किया गया है। रोग का निर्णय होने पर ही औषधि का निर्णय किया जाता है। पञ्चस्कन्ध पञ्चभूतमूलक है। अतएव मूलतः पाँच भेद परिलक्षित होते हैं। इनका पारिभाषिक नाम है 'कुल'। हेवज्रतन्त्र में कुलवर्णन अंकित है। देवता के प्रकट होने के पश्चात् आवाहन करना चाहिये। जैसे अव्यक्त अग्नि से दीपक जला सकना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अप्रकट देवता का आवाहन नहीं किया जा सकता। आवाहन के करण तथा साधन को मुद्रा कहते हैं। एक-एक प्रकार की मुद्रा आवश्यक होती है। देवतागण प्रकट होने के अनन्तर आकृष्ट होते हैं और आसन ग्रहण करते हैं। मण्डल के केन्द्र में अधिष्ठात्री देवी का स्थान होता है। चारों ओर वृत्ताकार रूप से अनन्त देव-देवी निवास करते रहते हैं।

तान्त्रिक बौद्ध जिसे मुद्रा कहते हैं, वह शक्ति की अभिव्यक्ति अथवा बाह्यरूप है। कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा, तथा समयमुद्रा को मुद्रा के चार भेद कहते हैं। गुरु का वरण करने के उपरान्त शिष्यगण साधनार्थप्रज्ञा को ग्रहण करते हैं। प्रज्ञा ही मुद्रा अथवा नायिका है। यह एक प्रकार से विवाह ही है। इसके पश्चात् अभिषेक क्रिया होती है। तदनन्तर साधक तथा मुद्रा—दोनों मण्डल में प्रवेश करते हैं और योगक्रिया में तत्पर हो जाते हैं। इस स्थिति में आन्तर एवं बाह्य विक्षेपों को दूर करने के लिए समन्त्रक क्रिया की जाती है। अब बोधिचित्त की सृष्टि करना आवश्यक-सा होने लगता है। प्रज्ञा तथा उपाय (साधिकामुद्रा तथा साधक) के पारस्परिक सम्बन्ध से बोधचित्त उदित होता है। इस बोधिचित्त को निर्माणचक्र (नाभिचक्र) में धारण करना चाहिये। यह अत्यन्त कठिन क्रिया है। स्खलन होते ही योगभ्रष्टता आ जाती है। नरकगति होती है। जो नाभिचक्र में इस बिन्दु को धारण कर सकने में असमर्थ रहते हैं, वे सद्-असदात्मक बन्धन में बँध जाते हैं। मन की चंचलता तथा प्राण की चंचलता, बिन्दु के अधीन रहती है। चंचल बिन्दु ही संवृत्ति बोधिचित्त है। स्थिर बिन्दु ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। सर्वान्त में उष्णीष कमल (सहस्रदल) में स्थित महाबिन्दु स्थान पर्यन्त ऊर्ध्वोत्थित हो जाता है। यही है मुक्ति अथवा नित्यानन्द। बिन्दु की स्थिरता ही ब्रह्मचर्य है। स्थिर बिन्दु में योगक्रिया द्वारा क्षोभ का उन्मेष कराया जाता है। विवाह के पश्चात् गृहस्थाश्रम में 'सस्त्रीको धर्मामाचरेत्' का यही वैदिक अभिप्राय है। इससे ऊर्ध्वगति होती है। इस गति की निवृत्ति को महासुख कहते हैं।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक अवस्था है। कर्मपद से यह विदित होता है कि काय, वाक् एवं चित्त की क्रिया। कर्ममुद्रा आयत्त होते ही क्षणभेद में चार प्रकार के आनन्द की उत्पत्ति होने लगती है। अद्वयवज्र ने तृतीय आनन्द को सहजानन्द तथा चतुर्थ आनन्द को विरमानन्द कहा है। परम एवं विरम के मध्य लक्ष्यदर्शन होता है, अतः इसे

क्रमिक रूप से अंकित किया जाता है। यहाँ क्षणभेद का उल्लेख करना आवश्यक-सा है। क्षण चार प्रकार के होते हैं—विचित्र, विपाक, विलक्षण तथा विभर्द। धर्ममुद्रा धर्मधातु स्वरूप है। यह मुद्रा निष्प्रपञ्च,निर्विकल्प, अकृत्रिम, अनादि तथा करुणा स्वभाव युक्त है। यह मुद्रा सहज स्वभाव विशिष्ट है। धर्ममुद्रा स्थिति द्वारा अज्ञान एवं भ्रान्ति विनिवृत्त हो जाती है। साधारण योग साहित्य में देहस्थ वामनाड़ी और दक्षिण-नाड़ी को आवर्त्तमय कहा जाता है। सरल नाड़ी (सुषुम्ना अथवा ब्रह्मनाड़ी) को ज्ञान का माध्यम कहा जाता है। आगमिक बौद्ध साहित्य का भी यही अभिमत है। इसमें ललना तथा रसना नामक पार्श्ववर्त्ती नाड़ियों को प्रज्ञा तथा उपाय मानते हैं।

मध्यमा नाड़ी को अवधूती कहा जाता है। धर्ममुद्रा अवधूती का नामान्तर है। तथता के अवतरणार्थ यह समीपवर्ती कारणरूप है। श्रद्धा के साथ निरन्तर इस नाड़ी में अभ्यास करना चाहिये। अवधूती ही एकमात्र मार्ग हैं। इसमें निरोध का साक्षात्कार मिलता है। जो स्वरूपदर्शन ज्ञान तथा उपादानरहित है, वही सत्यदर्शन है। इस मध्य मार्ग में ज्ञान के अन्तर्वर्त्ती ग्राह्य-ग्राहक विकल्प का अवसान हो जाता है। तृतीय मुद्रा को महामुद्रा कहते हैं। यह निःस्वभाव है। सर्व आवरण विवर्जित है और मध्याह्न गगन के समान निर्मल और स्वच्छ है। इसे सर्वसम्पदाधार कहा गया है। यह निर्वाणस्वरूप भी है। इसमें अकल्पनीय संकल्पों का उदय होता है। इसी में अप्रतिष्ठित मनस्थिति लाभ कर लेता है। योगीगण इसे 'अमृत्यमनसिकार' कहते हैं। इसी का फल है समय अथवा चतुर्थ मुद्रा। समय मुद्रा को अचिन्त्य स्वरूप सम्पन्न कहा जाता है। इस अवस्था में जगत्-कल्याणार्थ स्वच्छ एवं विशिष्ट सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय का (स्वभाव से) वज्रस्वरूप में स्फुरण हो जाता है। इस विश्वकल्याणकारी रूप को तिब्बती बौद्धाचार्य हेरूक संज्ञा प्रदान करते हैं। आचार्यगण इस मुद्रा को ग्रहण करके पाँच प्रकार के ज्ञान की परिकल्पना पाँच प्रकार से करते हैं और इसी मुद्रा से आदर्श ज्ञान, समता ज्ञान प्रभृति का प्रकाशन होता है।

इस प्रसंग में षडंगयोग के अन्तर्गत धूमादि निमित्त सम्बन्धित दश ज्ञान का वर्णन किया जा चुका है। यही है अकल्पित विज्ञानस्कन्ध। इस स्थिति में विज्ञान शून्यताबिम्ब में प्रवृत्ति होती है। ध्यान में यही दश विज्ञान विश्वबिम्बरूपी दश प्रकार के विषयसमूह, विषयी के साथ एकीभूत होने लगते हैं। यह अक्षोम्य भाव कहलाता है। अब शून्यता बिम्ब का दर्शन होने लगता है। यही है प्रज्ञा। यहाँ भाव ग्रहण ही तर्क है और विचार ही निश्चित विधान है। बिम्ब में आसक्ति होने पर प्रीति होती है और बिम्ब के साथ चित्त का एकीकरण हो जाने पर सुख प्राप्त होता है। ये ही पाँच अंग हैं। पाँच प्रकार के प्राणायामों को संस्कारस्कन्ध कहा जाता है। अब दक्षिण तथा वाम स्कन्ध समरस हो जाता है। यही भाव खण्डभाव कहलाता है। इस स्थिति में वाम-दक्षिणरूपी उभय मार्गों का परिहार हो जाता है। अब मध्यम मार्ग में प्रवेश

मिलता है। यहीं से निरोध का सूत्रपात जानना चाहिये। दशधा धारणा ही वेदनास्कन्ध है। दशाधारणा अर्थात् नाभि से उष्णीष कमल पर्यन्त प्राण की पाँच गति और उष्णीष से नाभि पर्यन्त पाँच अगति। धारणा को रत्नपाणी भी कहते हैं। मध्यनाड़ी में काम चिन्तादि दशधा को अनुस्मृति कहा गया है। चिन्ता से तीव्र मूर्च्छा पर्यन्त की दश दशा आलंकारिक है। और यह वैष्णव साहित्य में भी अंकित है। यहाँ दशम दशा का नाम है मृत्यु!

इस प्रकार से विकास की 10 दशा का ज्ञान होता है। बौद्धमतानुसार ये सभी अवस्थायें वज्रावस्था प्राप्त योगी के सत्वविकास का द्योतन कराती हैं। अनुस्मृति के प्रभाव से आकाश में चाण्डाली (कुण्डलिनी) का दर्शन मिलता है। दश प्रकार से वायु निरोध होने के कारण समाधि भी 10 प्रकार की है। समाधि द्वारा ज्ञेय तथा ज्ञान का पार्थक्य जान लेने पर सुखोदय होता है और ज्ञान बिम्ब में पूर्ण समाधानोंदय हो जाता है। षडंग योग ही विश्वभर्त्ता कालचक्र की साधना है। मन्त्र मार्ग द्वारा बुद्धत्व-प्राप्ति का यही मुख्य मार्ग है। कालचक्र क्या है? यह अद्वय-अक्षर-परमतत्व का ही नामान्तर है। काल करुणा से अभिन्न तथा शून्यतारूप है। चक्र का अर्थ है संवृत्तिरूप शून्यता।

अर्थात् जाग्रत् अवस्था क्षीण होने पर बोधिचित्तकाय विकल्पहीन, शान्त हो जाता है। 'का' का तात्पर्य यही है। कायबिन्दु का निरोध करने पर ललाट में निर्माण काय नामक बुद्धकाय का प्रकाशन होता है। स्वप्नावस्था का क्षय ही प्राणलय है। इस अवस्था में वाग्बिन्दु का निरोध होने लगता है। फलतः कण्ठ में सम्भोगकाय का आविर्भाव हो जाता है। यही 'ल' के प्रयोग का तात्पर्य है। सुषुप्ति का क्षय होना ही चित्तबिन्दु का निरोध कहा जाता है। इस अवस्था में हृदय में धर्मकाय प्रकाशित हो उठता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयों में भ्रमण करता रहता है। अतः उसमें चंचलता रहती है और वह तमः द्वारा अभिभूत-सा पड़ा रहता है। इन सबका अपसारण करते ही चित्त का निरोध हृदय में हो जाता है। यही 'च' का अभिप्राय है। इसके पश्चात् तुरीयावस्था का क्षय होता है। इस अवस्था में कायादि समस्त बिन्दु सहज सुख द्वारा अच्युत हो जाते हैं। यही है तुरीयावस्था का विनाश। 'क्र' का अभिप्राय है। अतएव यह स्पष्ट है कि कालचक्र ही चारों बुद्धकाय का समाहाररूप है। यही है प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य। यही ज्ञान और ज्ञेय का भी समाहार है। ज्ञान का तात्पर्यार्थ है अक्षयसुख का बोध। इससे समस्त आवरण क्षयीभूत हो जाते हैं। अनन्त भावमय त्रैधातुक जगत्चक्र अर्थात् समस्त विश्व ही ज्ञेय का अभिप्रेत है। प्रज्ञा शून्यात्मक है। उपाय को करुणात्मक और षड्भिज्ञात्मक कहा जाता है। प्रज्ञा शून्यकरण है, तथापि करुणा सर्वाकार है। इन दोनों के एकत्व को कालचक्र कहते हैं।

कालचक्रतन्त्र में उक्त है कि समस्त विश्व (शुद्ध तथा अशुद्ध रूप) ही चक्रात्मक है। वह अनन्त होने पर भी एक है। जैसे बुद्ध (अथवा शुम्भ) एक हैं,

उसी प्रकार उनका चक्र भी एक है। वास्तव में बुद्ध तथा चक्र अभिन्न हैं। अनन्तरूप, षड्गतियुक्त समस्त सत्व बुद्धगण, क्रोधनिचय, सुरादिवर्ग, करुणा, बोधिसत्वगण—ये सभी अनन्त महाचक्र के अन्तर्गत ही हैं। यही कालचक्र ही आदिबुद्ध है। नामसंगीतितन्त्र में उक्त है:—**अनादि निधनो दुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः।** ऐतिहासिक बुद्धगण इनका ही आत्मप्रकाश है।

साधक के दृष्टिकोण से देखने पर कालचक्र की तीन मात्रा तथा मुद्रात्रय की उपलब्धि होने लगती है। बोधिचित्त की क्षयगति मृदुमात्रा, स्पन्दगति मध्यमात्रा और निष्यन्द गति को अधिमात्रा कहा गया है। इससे समस्त सुखों का उदय हो जाता है, वह कर्ममुद्रा है। स्पन्दसुख का उदय कराने वाली ज्ञानमुद्रा कहलाती है। जिससे निष्यन्द सुखोदय होता है, उसे महामुद्रा संज्ञा प्रदान की गयी है। षडंग योग द्वारा इन तीन मुद्राओं की भावना का उपदेश बौद्धतन्त्रों में प्राप्त होता है।

जो साधना शून्यता बिम्ब की साधना के साथ सादृश्य युक्त थी, उस रहस्य से प्राचीनकाल के लोग परिचित थे। इसका मुख्य उपाय है सेवा। धूमादि दश निमित्त की भावना को सेवा कहते हैं। इस स्थिति में चित्त द्वारा आकाश में निमित्त दर्शन होता है। यह उष्णीष की क्रोधदृष्टि (ऊर्ध्व दृष्टि) से होता है। इसे अनिमेष दृष्टि कहते हैं। रात्रि में चार प्रकार की तथा दिन में 6 प्रकार की सेवा का विधान किया गया है। जब तक बिम्ब का साक्षात्कार नहीं मिलता, तब तक सेवा करना आवश्यक है। यह ललाट की दृष्टि है। इसी का नाम है अमृतपद। यह दृष्टि ही अमृतकुण्डली नामक विद्येश्वर की सृष्टि कही जाती है। इसके प्रभाव से प्राणबिम्ब का दर्शन होता है।

प्राणबिम्ब दर्शन के सत्त्व ही प्राणायाम तथा धारणा की आवश्यकता है। श्रद्धाराग से सृष्टि बोधिचित्तरूप बिन्दु, (इस स्थिति में) अक्षरयोग की उपलब्धि करता है। यह योग क्रमशः गुह्य—नाभि तथा हृदय में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। यह ज्ञान साधना का तृतीय अंग है। अविनष्ट सौख्य अथवा सख्यता के साथ बोधिचित्त के एकत्व को शान्त अथवा सहज स्थिति कहते हैं। इस अवस्था में चित्त का एकत्व अक्षरसुख के साथ अनुभूत होने लगता है। इसे ज्ञानसाधना का चतुर्थ अंग कहते हैं।

बौद्ध तांत्रिक साधना में दो प्रकार का योगाभ्यास विहित है। मन्त्रयान का योगा-भ्यास आकाश में तथा पारमितायान का अभ्यास अभ्यवकाश में किया जाता है। मन्त्रयान की विधि यह है कि सर्व चिन्तामुक्त होकर साधक को पूर्ण अन्धकारयुक्त कक्ष में अनवरत अवकाश की ओर दृष्टि निबद्ध रखनी चाहिये। इसमें यह देखना चाहिये कि धूमादि निमित्त का दर्शन हो रहा है अथवा नहीं। नेत्रों को निष्पलक खुला रक्खे। साथ ही मध्यमा (वज्रमार्ग) में प्रविष्ट रहे। अब क्रमशः उस अन्धकारपूर्ण कक्ष में धूम, मरीचि, खद्योत एवं प्रदीप का प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगता है। इसके अनन्तर मेघमुक्त निर्मलाकाश में गगनोद्भूत महाप्रज्ञा का दर्शन हो जाता है। यह

होता है दीप्त अग्निशिखा के समान। इस ज्ञानज्योति को वैरोचन कहते हैं। चन्द्र तथा सूर्य का भी दर्शन उसी कक्ष में प्राप्त होता है। इसी कक्ष में प्रभास्वर विद्युत् तथा परम कमल का भी दर्शन होता है। बिन्दु भी साक्षात्कृत हो उठता है। किसी के मत से इन निमित्तों का दर्शन रात्रि में करना चाहिये। अन्यमत के अनुसार दिन में दर्शन करना उचित है। अन्त में घट-पटादि बिम्ब का दर्शन होता है। इस बिम्ब में बुद्ध-बिम्ब भी परिलक्षित होता है। इस स्थिति में विषय तथा दृश्य नहीं रह जाते हैं। कल्पना भी शून्य हो ज़ाती है। इस स्थिति में अनेक सम्भोगकाय स्थित रह जाते हैं। इस बिम्ब के साथ युक्त यथार्थ अनाहत ध्वनि भी श्रुतिगोचर होने लगती है। अतः प्रतीत होता है कि रूपाभास से निर्माणकाय का और सत्ताभास से सम्भोगकाय का उदय होता है।

योगी को दिन में स्तब्ध दृष्टि से पूर्वाह्न एवं अपराह्नकालीन मेघहीन आकाश को देखना चाहिये। इस साधना के समय सूर्य की ओर पीठ रक्खे। जब तक अवधूती के अन्दर (सुषुम्ना में) कृष्णरेखा दृग्गोचर नहीं हो जाती, तब तक प्रतिदिन इसी अभ्यास को करते रहना चाहिये। इससे निर्मल किरणसमूह का उदय होने लगता है। यद्यपि यह रेखा बाल के समान क्षीण रहती है, तथापि इसी में पूर्ण त्रैधातुक सर्वज्ञ बिम्ब का दर्शन होने लगता है। यह बिम्ब ही अनाविल-अनन्तवर्ण सर्वाकार विषयहीन स्वचित्त है। सर्वप्रथम यह स्वचित्त इन भौतिक नेत्रों के द्वारा दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर दिव्यचक्षु, बुद्धचक्षु, प्रज्ञाचक्षु तथा ज्ञानचक्षु विकसित हो उठता है। भावना के प्रभाव से सूक्ष्म चक्षुओं द्वारा परचित्त का भी साक्षात्कार किया जाता है। प्रसिद्धि है कि वज्रपाणि ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार षडंगयोग का उपदेश दिया था। उसमें किसी न किसी प्रकार की विलक्षणता भी परिलक्षित होती है।

जब प्रत्याहारदि अंग द्वारा बिम्बदर्शन करने के अनन्तर अक्षरक्षण का उदय होता है, तब नादाभ्यास द्वारा प्राण को बलपूर्वक मध्यनाड़ी में गतिशील करना चाहिये और प्रज्ञाकमलस्थ वज्रपाणि में बोधिचित्त बिन्दु को निरुद्ध करके निष्यन्दरूप से साधनरत रहना चाहिये। यही है तान्त्रिक हठयोग! यह योग मार्कण्डेय प्रवर्त्तित हठयोग से भिन्न है और मस्त्येन्द्र तथा गोरक्षादि सिद्ध पुरुषों द्वारा प्रचारित हठयोग से भी मूलतः भिन्न है।

जो शक्ति नाभि मध्य में द्वादशान्त पर्यन्त तक उच्छलित होती रहती है, उसे निरुद्ध करने पर वह दण्डमात्र में वैद्युतिक अग्नि के समान प्रकट होकर मध्यनाड़ी में मृदुगति से चलने लगती है। वह चक्र से चक्रान्तर में ऊर्ध्वोत्थित होने लगती है। जब वह उष्णीषरन्ध्र का स्पर्श करती है, तब अपानवायु भी ऊर्ध्वमार्ग पर प्रेरित हो जाती है। इसके प्रभाव से उष्णीषकमल का भेदन होता है और परपुर में गति प्राप्त हो जाती है। दोनों वायु का निरोध आवश्यक है। (अर्थात् प्राण एवं अपान का)। यही वज्रयोग है। इसका प्रभाव यह है कि विषय निर्भर मन खेचरत्व प्राप्त कर लेता है। वहाँ तक

अग्रसर होने के अनन्तर यह परिलक्षित होता है कि योगीगण विश्वमाता पञ्च अभिज्ञा स्वभाव से युक्त हो जाते हैं। चित्तप्रज्ञा ज्ञानरूपा है। इसका अभ्यास 10 प्रकार से होता है। यही 'सेक' का रहस्य है। यह विमल चन्द्रमा के समान अथवा आदर्श बिम्ब के समान उपलब्ध होना चाहिये। इसमें मज्जन होता है। इस मज्जन का फल है निर्वाण- सुख में अच्युत सहज चतुर्थ अक्षर की प्राप्ति। यहाँ प्रज्ञा ही ग्राहकचित्त है, ज्ञान ही ग्राह्यचित्त है। यहाँ ग्राहकचित्त के 10 ग्राह्य आदर्श हैं, आभासज्ञान अथवा ग्राह्यचित्त। ग्राह्यचित्त में ग्राहकचित्त का प्रवेश करना ही 'सेक' है। इसमें मज्जन करना चाहिये। इसके द्वारा ग्राह्य विषयों के प्रति अप्रवृत्ति का उदय होता है। षडंगयोग में इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। ध्यान-प्राणायाम तथा धारणा ही मज्जन है। मज्जन द्वारा निर्वाण सुखोदय होने लगता है। अच्युत होना ही सहज, अक्षर अथवा चतुर्थ पथ है। यही है शून्यताकार, सर्वाकार, प्रतिभास लक्षण। इसका कर्ममुद्रा अथवा ज्ञानमुद्रारूप कोई हेतु नहीं है। इससे कोई द्वन्द्व भी नहीं है। इसकी अवस्थिति है बाल-प्रौढ़ आदि स्पन्दन से, सबसे परे! यही बुद्धचक्र अथवा ज्ञानचक्र है। जो आचार्य इसे हृदयंगम कर लेते हैं, वे ही यथार्थ वज्रधर गुरु हैं। बुद्धचक्र का प्रथम रूप है मध्यनाड़ी में प्राण प्रवेश के कारण निमित्तादि का दर्शन। इसे कायवज्र चक्र कहते हैं। दक्षिण-वामनाड़ी की गति बन्द होने पर प्राण भी बद्ध हो जाता है। इस स्थिति में बुद्धचक्र को वाग्वज्रचक्र कहते हैं। वज्र सम्बोधन से बुद्धचक्र का नाम चित्तवज्रचक्र हो जाता है। सर्वान्त में ज्ञानवज्र-चक्र का आविर्भाव होता है।

वज्रयान के अनुसार अभिषेक को सप्तधा कहा गया है। उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रघण्टाभिषेक, वज्रवताभिषेक, नामाभिषेक तथा अनुज्ञाभिषेक को अभिषेक के सप्त स्तर के रूप में अंकित किया गया है। उदकाभिषेक तथा मुकुटाभिषेक से देहशुद्धि सम्पन्न होती है। पट्टाभिषेक एवं वज्रघण्टाभिषेक को वाक्शुद्धि का उपाय माना गया है। नामाभिषेक तथा वज्रव्रताभिषेक से चित्त की शुद्धि सम्पादित होती है। अनुज्ञाभिषेक को ज्ञानशुद्धि का माध्यम माना जाता है। अभिषेक के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वज्रयानमार्गी ग्रन्थों में लिखा गया है। देह पञ्चधातुमय है। उष्णीष से लेकर कटिदेश पर्यन्त पञ्च जन्मस्थान को मन्त्रयोग के माध्यम से अभिषेक द्वारा परिपूत किया जाता है। इसके द्वारा पञ्चधातु की शुद्धि हो जाती है। यही कायशुद्धि है। प्रथम एवं द्वितीय अभिषेक द्वारा धातु एवं स्कन्ध निर्मल हो जाते हैं। मुकुटाभिषेक से पञ्चस्कन्ध अथवा पञ्चतथागत की शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक एवं वज्रघण्टाभिषेक के माध्यम से दश पारमिताओं की पूर्ति होती है। इसी से चन्द्र तथा सूर्य का शोधन होता है। वज्रव्रताभिषेक से रूपादिविषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं। इससे प्राकृत विषयों का नियंत्रण और महामुद्रा की सिद्धि हो जाती है। नामाभिषेक के बाद की अवस्था को प्रतिपादित करने के लिए वज्रशब्द का प्रयोग किया जाता है। सप्तम

अभिषेक का उद्देश्य है बुद्धत्व-प्राप्ति अथवा धर्मचक्रप्रवर्त्तन। परमगुह्य वज्रयान सम्बन्धित उपदेश देने के लिए, परिमिति विहित सत्व के आश्रय के अनुसार संवृति सत्य, परमार्थ सत्य का विभाजन किया गया है। अतः बुद्धत्व निष्पन्न करने के लिए सप्त अभिषेक का विधान है। इन सातों अभिषेकों द्वारा शिष्य के कायादि चारवज्र बुद्ध हो जाते हैं। इस समय उसके हाथ में वज्र अथवा वज्रघण्टा धारण कराया जाता है। संवृत्ति तथा परमार्थरूप से अभिषेक के दो रूप परिलक्षित होते हैं। संवृति के भी दो भेद हैं। इन्हें लोकसंवृति कहा गया है। लोकसंवृति को अधरसंवृति तथा योगीसंवृति को उत्तरसंवृति कहते हैं। उदकादि सप्तभिषेक को लौकिक सिद्धि का सोपान माना गया है। योगीसंवृति के तीन प्रकार के भेद हैं, जैसे कुम्भाभिषेक (कलशाभिषेक), गुह्याभिषेक तथा प्रज्ञाभिषेक। ये सभी लोकोत्तरसिद्धि के सोपान हैं। इन्हें उत्तरसंवृति कहा जाता है। पूर्वसेक के लिए (पूर्वाभिषेक के लिए) मुद्रा की आवश्यकता नहीं है। उत्तरसेक (उत्तराभिषेक) के लिए मुद्रा आवश्यक है। अनुत्तर के सम्बन्ध में कुछ भी कहना उचित नहीं है।

तान्त्रिक उपासना शक्ति की ही उपासना है। प्रज्ञा ही शक्ति है। इसका प्रतीक है त्रिकोण। इसमें छः विशुद्ध धातु विद्यमान हैं। इसके छः गुण भी सर्वविदित हैं; ये हैं, ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैष्णवगण चतुर्व्यूह का वर्णन करते समय वासुदेव को षाड्गुण्यविग्रह मानते हैं। बौद्धागम तथा बौद्धों से इतर शैव तथा शक्ति आगम में भी यही परिलक्षित होता है। शक्ति के प्रतीक त्रिकोण के तीनों कोणों पर एक-एक बिन्दु का समाहार है। कोण का प्रतिबिन्दु दो गुणों से युक्त माना गया है। इसकी समष्टि षड्गुणयुक्त हो जाती है। शक्तियों के चतुष्पीठ के मूल में भी यही तत्व विद्यमान रहता है। यह त्रिकोण क्लेश, काम (मार) प्रभृति का भंजन कर देता है। त्रिकोण का प्रसिद्ध नाम है 'भग'। हेवज्रतन्त्र के अनुसार प्रज्ञा ही भग है। इसका नाम वज्रधर, धातु महामण्डल अथवा महासुखाधाम भी है। इसे एकार अथवा धर्मधातु पदवाच्य माना जाता है।

यह धातु अजड़ है और स्वच्छ आकाशवत्, अवकाशहीन तथा प्रकाशमय है। इसे अपना सिंहासन बनाकर जो आसीन हैं, वे ही भगवान् हैं। वे ही महाशक्ति के अधिष्ठाता हैं।

बौद्धेतर आगमों में एकार को शक्ति का प्रतीक माना गया है। यह त्रिकोण है। अनुत्तर के ऊपर स्पन्दित 'अ', उच्छदित आनन्द 'आ', चित्त—आनन्द-इच्छारूप ई, इन तीनों से यह त्रिकोण बना है। इसे ही 'ए' कहते हैं। विसर्गानन्दमय रूप की वर्णना में इसी 'ए'कार को स्थान दिया गया है। यह उल्लेखनीय है कि मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि में भी 'ए'कार त्रिकोणात्मक है।

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की त्रयी त्रिकोणात्मक है। विसर्गरूप परशक्ति के

आनन्दोदय क्रम से प्रारम्भ करके क्रियाशक्ति पर्यन्त का रूप त्रिकोण ही है। उससे यह त्रिकोण ही उल्लसित होता है। प्रतिनियत उदित होने के कारण शक्ति का रूप परमानन्दमय कहा गया है। योगिनी जन्माधार त्रिकोण से कुटिल रूप कुण्डलिनी शक्ति प्रकट होती है।

बाह्य में दिव्य एकार है। त्रिकोण के मध्य में वं कार है। इसके मध्य बिन्दु में सर्वसुखालय बुद्धरत्न विद्यमान है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रयान्तर्गत धर्म है। अतएव 'ए'-कार को धर्मधातु कहा गया है। बुद्धरत्न भी इसी त्रिकोण (अथवा षट्कोण) मध्यबिन्दु में सन्निहित रहता है।

मन्त्रयान का लक्ष्य है वज्रयोग की सिद्धि। जब तक साधक का आधार योग्यता- सम्पन्न नहीं होता, तब तक साधना सम्भव ही नहीं है। पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर होने के लिए यह योग श्रेष्ठ है। यह महामार्ग का चतुःस्तर है। एक-एक स्तर में पूर्ण योग के एक-एक रूप का आवरण उन्मोचित होता है। चतुःस्तरीय साधना की पूर्णता प्राप्ति के पश्चात् योग पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक स्तर में योगलाभ के पूर्व विमोक्षलाभ करना चाहिये। विमोक्षलाभ का उद्देश्य है कल्पनाविकार तथा आवर्जना से मुक्त होना। ध्यान की सहायता से विमोक्षलाभ होता है और विमोक्ष से योगसिद्धि मिलती है। चतुःस्तरों के कारण विमोक्ष भी 4 प्रकार का होता है, जैसे शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक शक्ति विकसित होने लगती है। अर्थात् एक-एक वज्रयोग में एक प्रकार की शक्ति पूर्ण हो जाती है। शक्ति के विकास से वज्रभाव का उदय होने लगता है। स्थूल दृष्टि से स्वसत्ता को चतुर्धा विभक्त कर सकते हैं, जैसे काय, वाक्, चित्त एवं ज्ञान।

प्रथम वज्रयोग में कायवज्रभाव उदित होता है। इसी प्रकार वाक्वज्रभाव, चित्तवज्रभाव तथा ज्ञानवज्रभाव का उदय होता है। कायवज्र का तात्पर्य है स्थूल जगत् की पूर्णता। समष्टि रूप वज्रभाव को इन चारों का समाहार कहते हैं।

प्रथम वज्रयोग का नाम है विशुद्धयोग। इसके लिए शून्यता नामक विमोक्ष-प्राप्ति आवश्यक है। शून्यता अर्थात् स्वभावहीन स्थिति। यह अतीत एवं अनागत ज्ञेय से शून्य अवस्था है। शून्यता गम्भीर तथा व्यापक होती है। गम्भीर अर्थात् अतीत एवं अनागत का अभाव! साथ ही अतीत एवं अनागत का दर्शन होना, अतः व्यापक! जिस ज्ञान द्वारा यह शून्यता आयत्त होती है, उसे शून्यताविमोक्ष कहा जाता है। इसकी प्राप्ति द्वारा तुरीयावस्था का क्षय होता है और अक्षय महासुख का उदय होने लगता है। करुणा का लक्षण है ज्ञानवज्र। इसका नामान्तर है सहजकाय। अथवा प्रज्ञा अथवा उपाय की साम्यावस्था। इसी का नामान्तर है विशुद्धयोग।

द्वितीययोग को धर्मयोग कहा जाता है। इसके लिए जिस विमोक्ष की अपेक्षा है वह अनिमित्त है। बुद्ध बोधि प्रभृति विकल्पात्मक चित्त ही निमित्त कहलाता है। इस

ज्ञान के फल से विकल्पात्मक चित्त नहीं रहता। अतः इसे अनिमित्तविमोक्ष कहते हैं। इसकी प्राप्ति के साथ-साथ सुषुप्ति का क्षय हो जाता है। नित्य एवं अनित्य से रहित मन्त्रीरूप चित्त उदित हो जाता है। चित्तवज्र ही धर्मकाय है। वास्तव में यह जगत् कल्याण साधक निर्विकल्प चित्त ही है। यह योग, प्रज्ञा तथा उपाय के सामरस्य में अभिषिक्त है। चित्तवज्र को ज्ञानकाय कहा गया है।

तृतीय योग को मन्त्रयोग कहते हैं। इसके लिए अप्रणिहित विमोक्ष आवश्यक है। निमित्तभाव से तर्क का अभाव हो जाता है। वितर्कचित्ताभाव के कारण प्रणिधान का उदय नहीं होता, अतएव इसे अप्रणिहित कहते हैं। अप्रणिधान शब्द के द्वारा 'मैं सम्बुद्ध हूँ' इस प्रकार के भाव का बोध होता है। इस विमोक्ष के प्रभाव से स्वप्नक्षय होता है और आभ्यान्तर से अनाहतध्वनि श्रुतिगोचर हो जाती है। इसी की प्रसिद्धि मन्त्र अथवा सर्वत्वभूतसत् नाम से है। इसी का नामान्तर है मुद्रा। सर्वत्वसत् का अर्थ है मन्त्र द्वारा समस्त सत्व का मोदन करना। मन का त्राण करना ही मन्त्र की उपयोगिता है। इसे वाग्वज्र अथवा सम्भोगकाय कहते हैं। प्रज्ञा तथा उपाय की समरसता ही मन्त्रयोग है। यह मन्त्रयोग सूर्यस्वरूप है।

चतुर्थ योग को संस्थानयोग कहते हैं। इसके लिए अनभिसंस्कार नामक विमोक्ष का प्रयोजन होता है। प्रणिधान के अभाव में अनभिसंस्कार नहीं रह जाता। विज्ञान से उत्पन्न अनभिसंस्कार है श्वेत-रक्त प्राणायाम। इस विमोक्ष के प्रभाव से शुद्धि होती है। इसके प्रभाव से जाग्रदावस्था का क्षय होता है और अनन्तानन्द निर्माणकाय का स्फुरण होने लगता है। इसके द्वारा उपेक्षारूप कायवज्र प्राप्त हो जाता है। रौद्र, शान्तादि रूप के साथ इसका सायुज्य नहीं है। प्रज्ञा-उपाय का सामरस्य ही योग का रूप है। इसकी प्रसिद्धि है कमलनयन संज्ञा से युक्त।

पूर्वोक्त वर्णन में यह स्पष्ट हो जाता है कि चार योगों द्वारा चार अवस्थायें अतिक्रम होती हैं। वज्रयोग का पूर्ण मुख्य फल है निर्मलता अथवा स्वच्छता। तुरीयादि चारों अवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार का मल संश्लिष्ट रहता है। इस मल के संशोधन के बिना पूर्णत्व-प्राप्ति नहीं हो सकती। तुरीयमल का तात्पर्य है रागविशिष्ट इन्द्रिय। सुषुप्तिमल अर्थात् तम, स्वप्न का मल अर्थात् श्वास-प्रश्वास! श्वास-प्रश्वास अर्थात् प्राणो-त्पाद। सत्-असत् एवं अन्यान्य विकल्प। जाग्रत् का मल है संज्ञा अर्थात् देहबोध।

तान्त्रिक योगीगण के मतानुसार वैदिक योग द्वारा पूर्ण मलनिवृत्ति नहीं हो सकती। तान्त्रिक क्रिया के प्रभाव से मलसमूह मूलतः विनष्ट हो जाते हैं। इस बौद्धमत के अनुसार वस्तुमात्र शून्य तथा निःस्वभाव हैं, अतीत तथा अनागत भी नहीं है, इस प्रकार से ध्यान करना चाहिये। इस विधि से जो ध्यान करते हैं, उनका मनोभाव शून्यात्मक हो जाता है। यह अत्यन्त गम्भीर तत्त्व है। यह देश-कालजनित स्थिति से

विभक्त नहीं हो सकता। इस आधार के ऊपर जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है, उसी का नाम है शून्यताविमोक्ष। इसी के प्रभाव द्वारा मोह नाशक निर्विकार आनन्दोत्पत्ति हो जाती है। यही सहजकाय अथवा विशुद्धकाय है।

यहाँ चारों वज्रयोग का संक्षिप्त अवतरण अंकित है। इस विवरण की भित्ति है विमलप्रभा तथा गुह्यसमाज ग्रन्थ। इस योग का उद्देश्य है चैतन्य को आवरणरहित करना। प्रत्येक वज्रयोग एक-एक आवरण को उन्मुक्त, अपसारित करता है। इस एक-एक योग के द्वारा विश्वदर्शन का एक-एक द्वार उन्मुक्त होने लगता है। इस अवस्था का परिभाषिक संकेत है अभिसम्बोधि। चारों योगों के द्वारा चार प्रकार की अभिसम्बोधि उदित होती है और पूर्णताप्राप्ति के अन्तराय दूर हो जाते हैं।

इस अभिसम्बोधि की आलोचना दो प्रकार से की जाती है। उत्पत्तिक्रम और उत्पन्नक्रम के द्वारा। वैदिक धारणा में दोनों क्रमों का परिचय मिलता है तथापि उसका रूप भिन्न है। सम्यक् विश्वदर्शनार्थ संहारक्रम और सृष्टिक्रम का आश्रय लेना होगा। इन्हें अवरोहक्रम तथा आरोहक्रम भी कहते हैं। संहारक्रम ही आरोहक्रम है। सृष्टिक्रम अवरोहक्रम के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीचक्र लेखन-प्रणाली में केन्द्र से परिधि की ओर, अथवा परिधि से केन्द्र की ओर गति होती है। परन्तु बौद्धों में प्रणालीगत विभिन्नता है।

उत्पत्ति क्रम में चारों सम्बोधि का निम्नोक्त क्रम जान लेना आवश्यक है। सर्वप्रथम अभिसम्बोधि की स्थिति है। यह सहजकाय के साथ संश्लिष्ट रहती है। जब माता-पिता के समरसीभूत बिन्दु के साथ जन्मोन्मुख आलय विज्ञान एकत्व-लाभ करता है, तब वह महाक्षण है। इस क्षण में होने वाली सुख संवित्ति को एक क्षण सम्बोधि कहते हैं। इस समय गर्भस्थकाय रोहित मछली के समान एकाकार रहता है। अंग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

तत्पश्चात् पञ्चाकार सम्बोधि की अवस्था आती है। पहली सम्बोधि में काया सहजकाया के साथ संश्लिष्ट थी, परन्तु यह काया धर्मकाय के साथ युक्त रहती है। जब मातृगर्भ में वासनात्मक रूपादि (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) पञ्चसंवित्ति का उदय होता है, तब वह आवरण कूर्म (कछुआ) के समान पञ्च स्फोटात्मक हो जाता है। यह पञ्चाकार महासम्बोधि अवस्था है। अब इस पञ्चज्ञान में प्रत्येक ज्ञान, पञ्चधातु, पञ्चेन्द्रिय तथा पञ्च आयतन वासनाभेद के कारण बीस प्रकार का हो जाता है। अब काया बीस अँगुलियों से युक्त हो जाता है। इसे विंशति आकारसम्बोधि कहते हैं। इसका सम्बन्ध सम्भोगकाय के साथ है। यहीं तक मातृगर्भ में विकास होता है।

अब गर्भ से निष्क्रमण (प्रसव) होता है। इस स्थिति में मायाजाल के समान अनन्तभावों की संवित्ति होती है। ज्ञानक्षेत्र में 20 के स्थान पर अनन्त भेदसमूह का स्फुरण हो जाता है। इसे मायाजाल सम्बोधि कहते हैं। यह अभि-सम्बोधि निर्माणकाय के साथ संश्लिष्ट है। मायाजाल के ज्ञान का उद्भव होने के साथ-साथ उत्पत्तिक्रम

समाप्त हो जाता है। परमशुद्ध सत्ता से लेकर मायाजाल पर्यन्त के स्तर तक अवतरण इसी प्रकार से होता है। वास्तव में गर्भ ही मायाजाल की सृष्टि है। कालतत्व का रहस्य भी यही है। शुक्लबिन्दु तथा रक्तबिन्दु नामक दो कारण बिन्दु भी कार्यबिन्दु के रूप में परिणत हो जाते हैं। सृष्टि को कार्यबिन्दु का विकास कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के पहले केवल मात्र आनन्द ही रहता है। इसे केवल सुख संविति कहते हैं। उपनिषद् में 'आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' से इसका ही वर्णन किया जाता है। महाक्षण की स्थिति ही इस उक्ति का मर्मार्थ है। सृष्टि का मायाजाल अनन्त नागपाश के समान विस्तृत-सा है। सृष्टि में अनन्त आनन्द तिरोहित होने लगता है और विभिन्न दुःखसमूह आविर्भूत होने लगते हैं। प्रत्यावर्त्तन-काल में माया को उच्छिन्न किया जाता है। इससे एक महाक्षण में स्थिति होने लगती है। निर्माणकाय से लेकर सम्भोगकाय तक को आरोह का स्तर कहते हैं। प्रत्यावर्त्तन के समय 'एकक्षणसम्बोधि' विकसित हो जाती है। यह एकक्षणसम्बोधि का अन्तिम विकास कहा जाता है। वास्तव में इस क्षण विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण हो उठती है। इसी कारण योगीगंण गर्भाधान क्षण को ही उत्पत्तिक्षण मानते हैं। अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण अथवा नाड़ीछेदन का क्षण ही उत्पत्ति का क्षण है। इस क्षण में वैखरी माया का स्पर्श होता है।

अब श्वास की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसे प्रकारान्तर से संहारक्रम भी कहा जाता है। भिन्न दृष्टि से देखने पर यही सृष्टिक्रम है। जैसे माया से लेकर ब्रह्मस्थिति तक को एक धारा कहा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मावस्था का विकास भी एक धारा है। इसमें भावव्यञ्जना का क्षेत्र परमात्मा और भगवान् पर्यन्त विस्तृत होने लगता है। मायाप्रभाव से प्रतिदिन 21600 श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती है। प्रत्यावर्त्तन की स्थिति में प्राणवायू शान्त होती है। चित्त भी महाप्राण में स्थिर हो जाता है। अब इन्द्रियों की क्रिया भी समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में दिव्य इन्द्रियों का उदय होता है। स्थूलाभिमान की शान्ति के साथ-साथ दिव्यदेह की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में एक ही क्षण में विश्वदर्शन सम्पन्न हो जाता है। इस ज्ञान को वज्रयोग कहते हैं। इसमें स्वभावकाय की स्थिति रहती है।

यहाँ क्षरबिन्दु की देहरचनात्मक सृष्टि प्रणाली का वर्णन किया गया। अक्षर अथवा अच्युत बिन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक है। इस एक क्षण अभिसम्बोधि स्थिति को सर्वार्थदर्शी वज्रसत्व की स्थिति माना गया है। इसमें श्वास-क्रिया नहीं रहती है। यही महाक्षण बुद्ध का जन्मक्षण है। मनुष्य-मात्र को इसी महाक्षण में बुद्धत्व अथवा पूर्णता की प्राप्ति होती है। यही द्वितीय जन्म है। इसे स्वभावकाय की अवस्था कहा जाता है।

इसके अनन्तर चित्तवज्रयोग की स्थिति आती है। प्रथमतः जो वज्रवस्तु थी,

वही महासत्व के रूप में प्रकट हो जाती है। अब परम अक्षर सुख की अनुभूति होती है। इसे पञ्चाकार अभिसम्बोधि कहते हैं। आदर्शज्ञान-समताज्ञान-पर्यवेक्षकज्ञान-कृत्यानुष्ठान- ज्ञान तथा विशुद्ध धर्मधातु का पूर्णज्ञान ही मुख्य ज्ञान है। द्रव्य आदि पञ्चधातु तथा रूपादि पञ्चस्कन्ध की स्थिति प्रज्ञा तथा उपायात्मक होती है। यह पञ्चमण्डल निरोध स्वभावयुक्त हैं। यह धर्म तथा काल की अवस्था है। इस समय श्वासचक्र पुनः कर्म- प्रवृत्त हो जाता है।

सम्भोगकाय की अभिव्यक्ति होने पर उसे वाग्वज्र रूप से निरूपित किया जाता है। यह सत्व ही महासत्व है। इसी का परिणाम है बोधिसत्व। यह द्वादशाकार पदार्थ बोधिसत्व का अनुग्राहक है। इसे लोकधर्मदेशना कहते हैं। विशति आकार अभिसंस्कार की दशा है। इसमें 5 इन्द्रियाँ, 5 विषय, 5 कर्मेन्द्रियाँ तथा निरावरण लक्षणयुक्त द्वादश संक्रान्ति की स्थिति रहती है।

सर्वान्त में कायवज्र योग की स्थिति है। यही निर्माणकाय है। समस्त सत्व षोडशाकार तत्त्ववेदना के कारण के अनुग्राहक हैं। अनन्त मायाजाल से काया का स्फुरण होता है। समाधि पर्यन्त मायाजाल अभिसम्बोधि रहती है। षोडश आनन्दमय बिन्दु में काया का निरोध हो जाता है।

●

पथ चिन्तन

संसार में जितने भी धर्म हैं सबके प्रवर्त्तक एक ही हैं। देश-काल तथा अधिकारी- भेद के कारण भिन्न-भिन्न पथ का भेद परिलक्षित होता है। ईसाई मतानुसार अनन्त स्वर्ग एवं नरकों की स्थिति है। बौद्धगण भी ऐसा ही मानते हैं। अब भिन्नता का वर्णन करता हूँ। बुद्धदेव जन्मान्तर मानते हैं। जिन देशों में बुद्धधर्म का प्रचार हुआ है, वे सब भी जन्मान्तर मानते हैं। एतद्विपरीत ईसामसीह ने जहाँ धर्म-प्रचार किया था, वह देश इस गम्भीर तत्व को ग्रहण करने में समर्थ नहीं था। वहाँ पर तत्व को हृदयंगम करने योग्य जनमानस का उत्कर्ष नहीं हो सका था। अतः तत्वोपदेश देते समय श्रोता के सामर्थ्य को देखकर उतना ही उपदेश दिया गया, जितना वहाँ का जनमानस समझ सकता था। अतएव आधारगत भिन्नता के कारण उपदेशगत भिन्नता परिलक्षित होने लगती है। शाश्वत स्वर्ग एवं नरक का सिद्धान्त जिसे ईसाईगण स्वीकार करते हैं, वह बौद्धधर्म का ही सिद्धान्त है।

बौद्धों का सिद्धान्त है कि मानव-देह की प्राप्ति ही स्वर्गस्वरूप अवस्था है। और तिर्यक् योनि की प्राप्ति ही नरकावस्था है। मानव-जन्म दुर्लभ है। आज मानव-देह प्राप्त है, परन्तु पुनः मानव-देह ही प्राप्त होगी, यह कहना सम्भव ही नहीं है। यह सब कर्मफलजनित है। अतएव मानव-जीवन प्राप्त होने पर अहिंसा, सत्य, शुचिता तथा आदर्शगत जीवन धारण करने से अनन्त स्वर्ग की प्राप्ति की आशा हो जाती है। मानव-जीवन में ही कर्मसंस्कार का रूपान्तरण हो सकता है। वह अकस्मात् ऊर्ध्वस्वर्ग प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। उसके जीवन-काल में ही समस्त ऊर्ध्वगतिजनित लक्षण-समूह प्रत्यक्षीभूत होने लगते हैं।

यदि यह प्रत्यक्षीभूत नहीं होता, उस स्थिति में यह कहना ही सम्भव नहीं था कि मृत्यु के पश्चात् कौन सी गति होगी? कर्मफल के कारण मानव-योनि के स्थान पर तिर्यक्-योनि अथवा नरक की प्राप्ति भी हो सकती है, अथवा दीर्घकाल पर्यन्त अनुन्नत योनियों में भी स्थिति हो सकती है। यह सब वासना की ही क्रीड़ा है। वासना की तृप्ति कैसे होती है? तन्त्रमार्ग का उपदेश है कि भोग से तृप्ति होती है। इस कलिकाल में केवल-मात्र उपदेश सुनकर ही वासना-त्याग सम्भव नहीं है। अतएव भोग द्वारा कामनाश किया जाता है। यह भोग होता है सिद्धगुरु के संरक्षण में। अन्यथा भोग द्वारा मायाजाल और भी दृढ़ होता जाता है। तान्त्रिक गुरु कैसे होते हैं? कहा गया है कि एक स्थान पर कुछ व्यक्ति मदिरा-पान कर रहे थे। उस समय एक महापुरुष का

आगमन हुआ। उन मदमत्त लोगों की दशा देखकर महापुरुष के हृदय में दया का संचार होने लगा। उन्होंने उन मदमत्त लोगों को मदिरा-त्याग का उपदेश देना व्यर्थ समझा। वे जानते थे कि यह सद्उपदेश उन्हें कभी भी मान्य नहीं हो सकता। वे उनके पास बैठे और उन्होंने किंचित् मदिरा-पान किया। क्रमशः वे और अधिक मदिरा पीने लगे। वे एक कलश के उपरान्त एक-एक कलश मदिरा समाप्त करने लगे। इतनी अधिक मात्रा में मदिरा-पान द्वारा भी उनमें कोई विशृंखलता नहीं आ सकी। वे महापुरुष थे। उनके लिए यह मदिरा ही अमृत में परिवर्तित हो गयी थी।

जो लोग अधिक क्षमताशील होते हैं, उनके प्रति सामान्यजन आकर्षित हो जाते हैं। अतः वे सब मदमत्त व्यक्ति उनका यह अलौकिक कृत्य देखकर उनके प्रति सश्रद्ध होने लगे। उन्हें गुरुजी कहने लगे। इस प्रकार वे महापुरुष उन लोगों के पास नित्य जाने लगे। एक दिन महापुरुष ने कहा—'देखो! मदिरा-पान के पहले, कुछ मदिरा भूमि पर उत्सर्ग करने के पश्चात् पीना।' उन लोगों ने नतशिर होकर महापुरुष की आज्ञा का पालन करना प्रारम्भ किया। इसके कुछ दिनों के उपरान्त वे महापुरुष पुनः आकर बोले—'देखो! एक देवी-मूर्ति की पूजा करके, उन्हें निवेदन करने के अनन्तर मदिरा- पान का प्रभूत फल होता है।' वे लोग ऐसा ही करने लगे। इस प्रकार गुरुजी ने क्रमशः उनका मद्यपान छुड़वा दिया। यही है भोग द्वारा वासना-नाश। परन्तु यह सिद्धगुरु के संरक्षण में ही हो सकता है।

प्रवृत्ति के द्वारा ही प्रवृत्ति की निवृत्ति हो सकती है। इस प्रक्रिया में गुरु की उपस्थिति अनिवार्य है। वैदिक प्रस्थान में भी यही नियमानुवर्त्तिता है। प्रथमतः कर्म, तदन्तर त्याग, सर्वान्त में ज्ञान। कर्मकाण्ड तथा कामनाओं का अन्त नहीं है। अतः वैदिक मार्ग में भी यह व्यवस्था है कि उपाय के द्वारा कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है। मन्त्र है ॐ भूः स्वाहा, ॐ भूर्भुव स्वाहा इत्यादि। अर्थात्, भू आदि स्वर्ग जहाँ कर्मफलों का भोग किया जाता है, वे सब भस्मीभूत हो जायें। यह ज्ञानी की उक्ति है। अतः कर्म के साथ-साथ कर्मत्याग का भी ज्ञान होना आवश्यक है। दुःख है कि आज ऐसी कर्मविधि तथा ऐसे उपयुक्त संरक्षक गुरु का अभाव हो चला है। सृष्टितत्त्व में मूलतः अवस्थान करता है वासना-कामना तथा इच्छा का चक्र। प्रलय-काल में स्वरूप की स्थिति परमात्मा में हो जाती है। उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकना अथवा अनुमान लगा सकना भी सम्भव नहीं है। वह वाक्य-मन-चिन्तन से अगोचर है। अतः उस अवस्था के लिए मनु कहते हैं—'प्रसुप्तमिव सर्वत्रः' अतः एकमात्र 'इव' शब्द के द्वारा उसकी व्युत्पत्ति करने की चेष्टा की जाती है। मात्र आभास ही प्राप्त होता है। इसे भी सम्यक्रूपेण परिभाषित नहीं किया जा सकता, तथापि शास्त्र संकेत देते हैं कि उस समय कोई एक' था। वह प्रथमतः बिन्दुरूप था। वासना के कारण यह बिन्दु खण्ड-खण्ड हो गया। प्रथम खण्ड है बिन्दु। अपर खण्ड है नाद।

बिन्दु अग्नि- स्फुलिंग है और नाद इसका ईंधन है। इस एक स्फुलिंग से असंख्य स्फुलिंग समूह का निर्गमन होने लगता है। अर्थात् एक ही बहु हो जाता है। अतः बहुरूप (सृष्टि) हो जाता है। मूल बिन्दु में नाद (शक्ति) अन्यक्त रहता है। यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। उस समय शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं।

सृष्टि का मूल है इच्छा। इच्छा ही बीजरूप से कार्य करती है। जो इच्छा की जाती है वह आज, कल, अगले वर्ष अथवा अनन्त काल में कभी न कभी पूर्ण हो जाती है। इच्छा का नाश कभी भी नहीं हो सकता। एक बार जो इच्छा की जाती है, वह अनन्त के साथ मिलित होकर वहाँ चित्रित हो जाती है। समयानुसार वह इच्छा चरितार्थ होने लगती है। जो इच्छा जितनी प्रबल है, वह उसी तारतम्य से शीघ्र चरितार्थ होती है। जो इच्छा अपेक्षाकृत निर्बल है, उसे चरितार्थ होने में उतना ही अधिक समय लगता है। जैसे किसी ने घास-भक्षण की इच्छा की, उसके लिए तब तक यह इच्छा अपूर्ण रहती है, जब तक घास खाने वाला शरीर उसे नहीं मिल जाता। ऐसा शरीर देवशरीर, मानव अथवा तिर्यक् भी हो सकता है। अतः सिद्धान्त यह है कि शरीर धारण किये बिना कामना-पूर्ति हो ही नहीं सकती!

रुचि, पूर्वसंस्कार, अधिकार, सम्पत्ति आदि के विभेद के कारण भगवत्-प्राप्ति के उपाय भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कोई पथ आपेक्षिक रूप से सरल होता है, कोई पथ कुटिल तथा दीर्घ कहा गया है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है और यही महाजनगण के व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा समर्थित भी है। अतः साधनपथ के जिज्ञासु तथा साधनरत लोगों के बोधसौकर्य के लिए परमार्थ-प्राप्ति के समस्त उपायों को तीन अथवा चार श्रेणी में विभक्त कर दिया गया है। आधारगत विशिष्टता के कारण एक ही प्रकार की साधना सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकती।

जो उत्तमाधिकारी हैं, उनके लिए जिस उपाय का विधान है, उसका नाम है शाम्भवोपाय। हृदय में चित्त को निहित करके अपनी स्थिति के प्रतिबन्धक विकल्प समूहों को चिन्तन शून्यता के प्रभाव से प्रशान्त करे। अब अविकल्प परमार्श के द्वारा देहादि कालुष्य से स्पृष्ट निज आत्मा के चित् प्रमातृ भाव को पुनः लक्ष्य करना चाहिये। इसका फल है तुरीयातीत (तृतीयादशा) का विकास प्रारम्भ होना। इस प्रकार विकल्प का त्याग सिद्ध होते ही (एकाग्रता के प्रभाव से) क्रमशः ईश्वर-भाव की प्राप्ति होने लगती है। क्षोभ का लय हो जाने पर परमपद के रुद्ध कपाट स्वतः उन्मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानगर्भ स्तोत्र में विश्वजननी के उद्देश्य से इसी श्रेष्ठ प्रणाली की ओर इंगित किया गया है। यथा—'हे मातः! श्रेष्ठ साधकगण मन की समस्त क्रियाओं का परिहार करके अचिरकाल में ही तुम्हारा अनुग्रह पाकर एक दशा की अनुभूति करते हैं। यह अनुभूति समस्त क्रियाकरणों का अनुसरण करने की पराधीनता से मुक्त होने के कारण उज्वल है, अथच इससे अनुपम आनन्दरूप अमृत अविच्छिन्नरूप से क्षरित होता रहता है।'

'श्री मद्भगवद्गीता में उक्त 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा किञ्चिदपि चिन्तयेत्' शाम्भव उपाय के सम्बन्ध में एक दिग्दशन है। जिनमें परमेश्वर की तीव्रतम अनुग्रहशक्ति का संचार हो चुका है, वे केवल मात्र गुरुमुख से आत्मस्वरूप का उपदेश वाक्य सुनकर स्वतः आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में स्थिर एवं दृढ़ निश्चय की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। वे यह अभिज्ञता कर लेते हैं कि किसी भी लौकिक अथवा अलौकिक उपाय द्वारा शिवरूपी नित्यसिद्ध एवं स्वयंप्रकाश आत्मा का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि आत्मा का तो कोई आवरण नहीं है, अतएव उसके आवरण विमोचन का भी कोई प्रश्न उत्थित नहीं हो सकता। एकमात्र आत्मा हीं सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, अतः किसी द्वितीय सत्ता का अस्तित्व नहीं है। इसलिए आत्मतत्व में अनुप्रवेश की भी कोई सम्भावना नहीं है। वे यह स्पष्ट देख लेते हैं कि समग्र विश्व एक चिद्रूपिणी महासत्ता का प्रकाश है। यह सत्ता देश-काल, उपाधि अथवा आकृति से परिक्लिन्न नहीं हो सकती। इसका निर्देश भी शब्द के द्वारा नहीं दिया जा सकता। यह स्वातंत्र्यमय परमतत्व है। यही हमारा प्रकृतस्वरूप है। इसमें समग्र जगत् उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहा है, जैसे दर्पण में मुख प्रतिच्छवित होता रहता है। चित्त में इस प्रकार के विवेक का उन्मेष होने पर अप्रकाश शिवभाव क्षणमात्र में उद्भासित हो उठता है। ऐसे साधक को मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्चा आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती!

यहाँ जिस शाम्भव उपाय की चर्चा की गयी है, उसकी साधकगत योग्यता उत्कृष्ट रहने पर भी, इस प्रकार के विरल साधक के योग्यताक्रम को भी कुछ न्यून ही कहा जाता है। इस प्रकार के श्रेष्ठ साधक अखण्ड मण्डलाकार महाप्रकाश में प्रवेश-लाभ के लिए कुछ न कुछ सहायता की अपेक्षा करते हैं। यह सहायता मिलती है अपनी स्वातंत्र्यशक्ति द्वारा। इस सहायता के प्रभाव से वे निर्विकल्प शिवभाव में स्थिति-लाभ कर लेते हैं। इस अवस्था में स्वात्मा में समग्र जगत् स्वविमर्श रूप में भासित होने लगता है। ऐसे साधक के लिए मन्त्र, पूजा, ध्यान आदि का कोई भी प्रयोजन नहीं है।

मध्यमाधिकार वाले साधकों की स्थिति इनकी तुलना में निम्नस्तरीय होती है। उनके लिए सत्तर्क-सदागम तथा सद्गुरु का उपदेश प्राप्त करना आवश्यक है, जिससे (भावना-बल से) विकल्पों का संस्कार होने लगता है। अत्युत्तम तथा उत्तम अधिकारसम्पन्न साधक के लिए क्रम की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वे क्रमरहित रूप से एक क्षण में ही स्वरूपावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। मध्यम तथा अधम अधिकार वालों के लिए सिद्धि-प्राप्ति क्रमाधीन होती है। मध्यमाधिकार साधक विकल्प संस्कार के लिए अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं करते। उनका विकल्प अपने आप शुद्ध हो जाता है। अतः उनका विकल्प उस स्थिति में प्रबुद्धजीव का चित्तधर्म नहीं रह जाता। वह शुद्धविद्या के अनुग्रह द्वारा साक्षात् भगवत्-शक्तिरूप में परिणत

होता है। उसे भगवत् प्राप्ति के मुख्य उपाय के रूप में स्वीकृति दे दी जाती है। फलतः शाक्तज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। किसी अन्य विरुद्धविकल्प का उदय न होने के कारण शाक्तोपाय के द्वारा ही विकल्प का शोधन सम्पन्न होने लगता है। वह विकल्प शाक्तोपाय से शुद्धि प्राप्त करता है और उसकी गणना अविकल्प रूप में होने लगती है।

जब विकल्प स्वयं को स्वयमेव शुद्ध कर सकने में अक्षम रह जाता है और आत्मशोधनार्थ अन्य किसी उपाय का सहारा लेना पड़ता है, तब यह विदित होता है कि वह साधक अधम श्रेणी के अन्तर्गत है। ऐसी स्थिति में परिमित जड़ सत्ता की सहायता ली जाती है। यह परिमित सत्ता बुद्धि, प्राण, देह अथवा बाह्य वस्तु भी हो सकती है। इनका चयन साधक की व्यक्तिगत स्थिति पर आधारित है। अधम साधकों में जो बुद्धि का अवलम्बन लेकर विकल्पशुद्धि करने का उपक्रम करते हैं, वे ध्यानमार्ग में अग्रसर हो जाते हैं। यहाँ घटना का स्वरूप तथा प्रकारभेद आलोच्य विषय नहीं है। जो स्थूल तथा सूक्ष्म प्राण का आश्रय लेकर विकल्प संस्कारार्थ उद्यत हो जाते हैं, वे तदनुरूप मार्ग पर चलते हैं। स्थूल प्राण की प्राणादि वृत्ति को सामूहिक रूप से उच्चार कहा गया है। यह प्राण की ही क्रिया का नामान्तर है। सूक्ष्म प्राण वर्णात्मक हैं। उसका भी उच्चारण होता है, किन्तु उसकी आलोचना करना लक्ष्य नहीं है। जो साधक अपनी देह का आश्रय लेकर साधन-मार्ग में अग्रसर हो रहे हैं, वे अनेक प्रकार के आसन, बन्ध, मुद्रा, करण प्रभृति का अवलम्बन लेकर विकल्पसंस्कार करते हैं। अधम श्रेणीगत ऐसे भी साधक हैं, जिनका अधिकार अत्यन्त अल्प है। वे अपनी देह का भी आश्रय लेकर साधनरत नहीं हो सकते। वे बाह्य पदार्थ का अवलम्बन लेकर साधना-पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं। इन सब उपायों के द्वारा उनमें यथासमय आणवज्ञान का उदय हो जाता है।

यहाँ जिन उपायसमूह का उल्लेख किया गया है, उनमें से जिन अभ्यासात्मक भावना, उच्चार, करण प्रभृति (देहगत उपायों से) के द्वारा जो साधक पूर्णतत्व में प्रवेश का लक्ष्य बनाते हैं, इनमें कतिपय अवस्था एवं भाव का लक्षण क्रमशः प्रकाशित होने लगता है। इच्छा करने मात्र से ही इन अवस्थासमूह की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग्यता प्राप्त करने के अनन्तर जब साधक में इच्छाशक्ति का उदय होता है, तभी पूर्णत्व का स्पर्श अथवा उसकी ओर उन्मुखता की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में उपर्युक्त लक्षण आत्मप्रकाशन करते हैं। पूर्णत्व का किंचित् स्पर्श होते ही इन लक्षणों का व्यक्त होना प्रारम्भ होने लगता है। इन्हें पूर्णत्व की ही अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

पूर्णत्व का स्पर्श होते ही सर्वप्रथम हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द का उद्रेक प्रारम्भ हो जाता है। स्वात्मा के साक्षात्कार के साथ-साथ एक अपूर्व

चमत्कारमयी अवस्था उदित होने लगती है। इसे हम 'आनन्द' ही कहने के लिए विवश हैं, तदनन्तर जैसे विद्युत् गिरने पर समस्त वस्तुसमूह उसमें दग्ध होकर अपना वर्तमान स्वरूप-आकृति आदि खो बैठते हैं, उसी प्रकार परमतत्व का समावेश क्षणमात्र के लिए होने पर आदिकालीन देहात्मबोध विगलित हो जाता है और चिरन्तन वृद्धावस्था भी कट जाती है। साथ-साथ परमधाम की ओर उन्मुखता वाली एक ऊर्ध्वगति की सूचना मिलने लगती है। इसे उद्‌भव कहा जाता है। यह देहवर्जित अथवा देहातीत भाव ही है। क्षणमात्रकालीन समावेश ही इस उद्‌भव का कारण है। दीर्घकालीन समावेश का फल है पूर्णत्व की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति!

देह और चैतन्यरूपी आत्मा (संवित्) स्वरूपतः भिन्न हैं, तथापि अनादिकालीन काल के अभ्यास के कारण पूर्व-पूर्व जन्म से ही अभिन्नरूपेण प्रतीत होते रहते हैं। यह कह सकना सम्भव ही नहीं है कि यह कितने जन्मों से अभिन्नवत् प्रतीत हो रहा है। उद्‌भवावस्था या उदय हो जाने पर देह और आत्मा का अभेद नहीं रह जाता। उस स्थिति में देह तथा आत्मा पृथक्रूप से अनुभूत होते हैं। यही है विवेकज्ञान।

इसके अनन्तर एक क्षण के लिए चैतन्यरूपी आत्मा स्वरूपवत् प्रकाशित होता है। यह है महावीर्यस्वरूप अह्नता। जब देह (जड़सत्ता) से आत्मा विभक्त हो जाता है, उस स्थिति में आत्मा का अपना बल प्रकाशित हो जाना अवश्यम्भावी है। अब तक अनात्म वस्तु में अहम्भाव (अभिमान) था। अब विवेकलाभ के अनन्तर आत्म-स्वरूप में अहंभाव प्रतीत होने लगता है। अतएव इसके प्रभाव से अनात्म में आत्माभिमान उच्छिन्न होने लगता है। अब देहादिक पदार्थ विनश्वर प्रतीत होते हैं। इनका बन्धन कम्पित हो उठता है। इस अवस्था का पारिभाषिक नामान्तर है कम्प।

अब तक चैतन्य के साथ देह की जो एकता थी (देहात्मबोध था), वह उच्छिन्न होते ही चैतन्योन्मुखता के कारण एक ऐसी अवस्था प्रकट होती है, जिसे लौकिक दृष्टि से निद्रा के समतुल्य माना जाता है। इस स्थिति में बाह्यवृत्ति का उपशम हो जाता है और चित्त में कोई आन्तरानुभव भी नहीं रहता। जब तक आत्मस्वरूप में स्थिति नहीं हो जाती, तब तक यही अवस्था चलती रहती है। आत्मप्रतिष्ठा हो जाने पर एक अन्य अवस्था एवं लक्षण का द्योतन होने लगता है।

यह स्वरूपप्रतिष्ठा वास्तव में परम चैतन्य स्वरूप सत्यपद का अधिष्ठान है। यह सम्पन्न होते ही एक अभिनव साक्षात्कार प्राप्त होता है। अब वह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि जगत् के समस्त पदार्थों का स्वरूप चैतन्यमय है। कोई भी पदार्थ चैतन्य से अलग नहीं है। इस प्रकार सर्वत्र चैतन्य साक्षात्कार के कारण एक महादशा का उदय होता है। इसे आगमशास्त्र घूर्णि कहते हैं। यही है स्पन्दस्वरूपा महाशक्तिमयी पूर्णावस्था की उपलब्धि। इसे अनेक स्थान पर महाव्याप्ति भी कहा गया है। इस अवस्था में अधीष्ठित योगी सर्वदा सृष्टि तथा संहार में निरत रहते हैं और परम ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। इसी का नाम है परमशिव अथवा पूर्णपरमेश्वर।

यह शंका उठना स्वाभाविक है कि देहादि अनात्मवस्तु, आत्माभिमान ही बन्धन है, तथापि यह पूर्ण सत्यकथन नहीं है। आत्माभिमान उदित होने के पश्चात् जो आत्माभिमान अनात्मा में उदित होता है (अर्थात् सर्वत्र आत्मभाव प्रतीत होता है) वह बन्धन कदापि नहीं है। अतः बन्धन दो प्रकार के हैं—आत्मा में आत्माभिमान एवं अनात्मा में आत्माभिमान। अतएव जब सृष्टि के उदय क्षण में परमेश्वर अपने स्वातंत्र्य-बल द्वारा स्वयं को संकुचित करते हुए अणुरूपी पशु बनते हैं, तब उनके इस आणव आवरणरूप संकोच में दो तथ्य स्पष्टतः लक्षित होने लगते हैं। अर्थात् पशुभाव में दो दिशायें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। एक में चिदात्मकबोध अक्षुण्ण रह जाता है। किम्बहुना यही परमेश्वर का स्वरूप है। इस स्थिति में बोध रहने पर भी उसकी अनुगामिनी स्वातंत्र्यशक्ति नहीं रहती। वह निष्क्रिय बोधरूपी चिदणु ही रहता है। यह स्मरण रखना होगा कि यह पशु की अवस्था है। इस प्रकार के पशुजीव में कर्मज संस्कार अथवा माया का मलिन आवरण नहीं रह जाता। केवल मात्र विशुद्धमाया अथवा महामाया का आवरण अवशिष्ट रहता है। उसमें क्रियाशक्ति विकसित रूप में नहीं रहती। अतः ये सभी बोधस्वरूप होने पर भी पशु ही हैं। शिवपदवाच्य नहीं हैं। इन्हें भगवत् साधर्म्यबोध नहीं रहता। दूसरे प्रकार के पशुजीव इनसे भिन्न हैं। यद्यपि इनमें स्वातंत्र्य अक्षुण्ण रहता है, तथापि बोध नहीं रहता। यह है जड़ावस्था। इन सभी बोधहीन क्रियाशील अणुओं को मायागर्भ में कर्मज संस्कार से जड़ित होकर पड़े रहना होता है। ये निद्रित-से पड़े रहते हैं। कालप्रभाव से मायिक सृष्टि के उन्मेषकाल में ये सभी मायिक देह प्राप्त करके कर्मसंस्कारानुरूप फलभोग के लिए भोगायतन देह प्राप्त करते हैं और चतुर्दश भुवनात्मक संस्कारक्षेत्र में विचरण करते रहते हैं।

इन दो प्रकार के पशुभाव के कारण कर्मावरण और मायावरण अभिव्यक्त होता है। अतएव बन्धन का लयक्रम निम्नांकित है—

1. सर्वप्रथम देहादि अनात्मवस्तु से आत्माभिमान का नाश होना।
2. चैतन्यरूपी आत्मा में अभिमान का उदय।
3. आत्मा में आत्माभिमान का नाश।
4. महाव्याप्ति अथवा परमैश्वर्य।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण के स्पर्श के कारण आनन्दानुभव मात्र से दोनों प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति नहीं हो जाती।

यद्यपि देहादि में आत्माभिमान विगलित हो जाने पर आत्मा में ही आत्माभिमान उदित होता है, तथापि वह मात्र एक क्षणकाल के लिए होता है। पुनः व्युत्थान होते ही पहलेवाली अवस्था आक्रान्त कर लेती है। इसके अनन्तर देहादि में आत्माभिमान समग्रतः नष्ट हो जाता है। अब अभिमान का संस्कार भी नष्ट होने लगता है। अन्तिम अवस्था यह है कि उसमें आत्मा में भी आत्माभिमान प्रतिष्ठा प्राप्त

करता है। यही है महाव्याप्ति। कोई-कोई आचार्य भ्रम-कम्पादिक दश अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं। दशम लक्षण अव्यक्त है। इस स्थिति में शिवतत्व में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और भवसागर से मुक्ति मिलती है।

पाँच लक्षणों का उदय हो जाना ही पूर्णता है, परन्तु पृथक्तः एक-एक लक्षण का उदय होने पर उन-उन चक्र के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, तथापि पूर्णता नहीं मिलती। इस अवस्था में चक्र आयत्त हो जाते हैं। देह सर्वव्यापक बोध हो जाने पर भी (अभेदावस्था प्राप्त हो जाने पर भी) निर्दिष्ट कार्य कर सकता है। त्रिकोणादि चक्रों में प्रवेश कर लेने पर आनन्द आदि का एक-एक निर्दिष्ट एवं विशिष्ट अनुभव प्राप्त किया जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि पाँचों लक्षणों का उदय हो जाने पर ही सर्वानुभव प्राप्त हो सकता है। आनन्द की अभिव्यक्ति का स्थल देहस्थ त्रिकोण चक्र है। इसका नामान्तर है योगिनीवक्त्र अथवा अधोवक्त्र। उद्भव नामक लक्षण का विकास-क्षेत्र है कन्द स्थान। इसका विशेष सम्बन्ध नाभि के साथ रहता है। कम्प का उदय स्थान है हृत्चक्र। निद्रा का स्थान है तालु। घूर्णि अथवा महाव्याप्ति स्थल है ऊर्ध्वकुण्डलिनी अथवा द्वादशान्त।

ऊर्ध्वकुण्डलिनी को देह मध्यस्थ ऊर्ध्वनाड़ी का ऊर्ध्वप्रान्त कहते हैं। अधः-कुण्डिलिनी इसकी निम्न सीमा है। इस ऊर्ध्वकुण्डलिनी में शक्ति का संकुचन पूर्णतः हो जाता है। इसके विकास का क्षेत्र है अधःकुण्डलिनी। नासापुटों के क्रमिक ऊर्ध्व स्पन्दनों के द्वारा सूक्ष्म प्राणशक्ति को जगाकर बल से भ्रूमध्य पर्यन्त उत्थित होकर भ्रूभेद करना चाहिये। अब ऊर्ध्वकुण्डलिनी पद प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार शक्ति को प्रगुणित करने से अधःकुण्डलिनी का स्पर्श प्राप्त होने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर स्थित शक्ति ही ऊर्ध्वकुण्डलिनी है। यह प्रसुप्त भुजंग के समान अनुन्मिषित समस्त विश्व को अपने अन्दर धारण करके विराजित रहती है। इसी की भित्ति में विश्व का उल्लास होता है। यही समस्त तत्वों तथा भुवनों का एकमात्र आधार है। महाव्याप्ति स्थान को परमतत्व अथवा मन्त्रभूमि कहा गया है। इसमें प्रवेशाधिकार मिलने पर ब्रह्मपुर में प्रवेश प्राप्त होता है। त्रिशिराभैरव आगम मत से मध्यनाड़ी का अवलम्बन लेकर उदान शक्ति के प्रवाह का आश्रय लेना चाहिये। इससे ऊर्ध्वारोहण होता है और विसर्गान्त द्वादशांत पर्यन्त गति होती है। इसके पश्चात् गति की निवृत्ति की चरमावस्था में सभी प्रकार के आवरणों से रहित तथा विकल्पजालमुक्त मन्त्रभूमि में प्रवेश मिल जाता है। कल्पनाहीन निरावरण चैतन्यस्वरूप ही परमस्वरूप है, प्रथमतः निम्न प्रवाहरूपी अपान का रोध करके ऊर्ध्वाक्षेपरूपी प्राण का वर्जन करना चाहिये। तदनन्तर दोनों के संघर्ष के द्वारा मध्यधाम में गुरु उपदिष्ट प्रणाली से आवर्तन करते हुए मार्गस्थित विभिन्न चक्रों के लंघन का सामर्थ्य प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार चक्र-भेदन करते-करते द्वादशांत भूमि में महाप्रकाशोदय हो जाता है। यह

महाप्रकाश ही नित्योदित आत्मज्ञान के रूप में अवभासित होता है। यहाँ अवभासन का विच्छेद नहीं होता। अतएव यह परमप्रमाता अथवा शिवरूपी निज आत्मा की प्राप्ति है। अन्त में विश्व का उपशम हो जाने पर निःस्तरंग आत्मवृत्ति ही शिवरूप प्रतीत होने लगती है। अब एकमात्र स्वात्मा में विश्रान्ति रह जाती है, अतः यह आत्मवृत्ति सान्ता, एका एवं केवला है। यही है आत्मा का विश्वातीत स्वरूप। यही वृत्ति पुनः अनन्त रूपों में उल्लसित होती है। यही है आत्मा का विश्वमय रूप। यह शिवात्मक है, अतः बाह्यतः स्फुरित होने पर भी यह सर्वदा परम साक्षीरूप से निजस्वरूप में स्थितिशील रहता है। तभी यह कहा जाता है कि आत्मा खण्ड रूप से अनन्त रूपों में प्रकाशित होते रहने पर भी सर्वदा एक और अखण्ड है।

अधिकारभेद से महापथ की अनुभूति विभिन्न प्रकार से होती रहती है। महापथ ही परमतत्व ब्रह्मरूपेण अनुभूत होता है। विशुद्ध योगमार्ग में यही अनुभूति परमात्मा स्वरूप हो जाती है। विशुद्ध भक्तिभाव में परमतत्व भक्ति में स्फुरित हो जाता है। ब्रह्मानुभूति का फल है स्वप्रकाश ब्रह्मरूप में स्थिति-लाभ। इसी प्रकार परमात्मादर्शन और भगवत्दर्शन के फल से चरम अवस्था में तत्तद स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो जाती है। जो क्रम का अवलम्बन लेते हैं, वे एक अनुभूति के अनन्तर अन्य अनुभूति को प्राप्त करते हैं। चरम अनुभूति के पश्चात् स्थिति मिलती है। किसी विशेष अनुभूति में स्थिति-लाभ हो जाने के पश्चात् अन्य अनुभूति की प्राप्ति सहजता से नहीं होती। भगवत्कृपा से तो सबकुछ सम्भव हो जाता है। अतएव यदि कोई किसी स्थिति में आबद्ध है, उसे उस स्थिति से उठाकर अन्य स्थिति में ले जाने की व्यवस्था है।

ब्रह्मानुभूति अभेदात्मक है। जीव एवं ईश्वर का भेद, जीव-जीव में पारस्परिक भेद, जीव-जगत् का भेद, ईश्वर एवं जगत् का भेद, जागतिक पदार्थों का पारस्परिक भेद, इन पञ्च भेदों की अनुभूति ब्रह्मावस्था में नहीं रहती। वह विजातीय तथा स्वगतभेद से रहित है। ब्रह्मानुभूति में किसी भी दृश्य वस्तु का भेद नहीं रहता, अर्थात् पृथक्-पृथक् भेद प्रतीत नहीं होते। स्वप्रकाश शुद्ध चैतन्य अपने आप प्रकाशमान रहता है। वह एक ही चैतन्य द्रष्टा, दृश्य तथा दृष्टिभेद से पृथकीभूत नहीं होता। जहाँ पृथक् दृश्य की सत्ता ही नहीं है, वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि यह दृश्य आन्तर है किंवा बाह्य है। ब्रह्म निराकार, निर्विशेष, निर्गुण, निःशक्ति तथा अव्यक्त है। वह चिरस्थित अपरिणामी और कूटस्थ नित्य है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जाता है। इसमें सत्, चित् तथा आनन्द का कोई पारस्परिक भेद खोजा ही नहीं जा सकता। परमात्मानुभूति ऐसी नहीं है। एक ही देह का आश्रय लेकर व्यष्टिभाव से अथवा समष्टिभाव से जीवात्मा एवं परमात्मा अवस्थित रहते हैं। जीवात्मा की दो अवस्था है। प्रथम को बद्धावस्था तथा द्वितीय को मुक्तावस्था कहा जाता है। मुक्तावस्था वाले जीव को पुरुष कहते हैं। बद्धावस्था का जीव देह अभियान से जड़ित रहता है। वह देहाश्रित

समस्त कार्य को स्वयं में आरोपित कर लेता है और स्वयं ही कर्त्ता बन जाता है। इसका दण्ड उसे मिलता है। वह सुख एवं दुःखरूप कर्मफल का भोग करने के लिए बाध्य है। यह कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ही सांसारिक जीव का धर्म है। जीव मुक्त होते ही यह समझने लगता है कि वह कर्त्ता नहीं है, भोक्ता भी नहीं है। यही है द्रष्टभाव! उसका स्वभाव है प्रकृति की क्रिया का दर्शन करना। अतएव स्वभाव में स्थिति हो जाने के पश्चात् आत्मा साक्षीभावापन्न होकर अपनी प्रकृति की क्रीड़ा देखता रहता है। जैसे मुक्तपुरुष साक्षी होते हैं; वैसे ही परमात्मा भी साक्षी है। यही है दोनों का साधर्म्य। पार्थक्य यह है कि परमात्मा में क्रियाशक्ति है, ज्ञानी में केवल ज्ञानशक्ति ही है। मुक्तपुरुषगण उपासना करते-करते क्रमशः परमपुरुष का धर्म प्राप्त करते हैं और स्वयं भी कूटस्थ अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

बद्धजीव देहाश्रय लेकर कर्म करता है और तदनुरूप फल प्राप्त करता है, किन्तु मुक्तपुरुषगण देहस्थ हृदय प्रदेश में अवस्थान करते हैं। परमात्मा भी उसी प्रकार देहस्थ हृदय प्रदेश में अवस्थान करते हैं। वे देहस्थ शून्य में प्रकाशमान रहते हैं। जहाँ तनिक भी देह-सम्बन्ध नहीं है, वहाँ जीवात्मा पुरुषरूप में अपनी सत्ता, किंवा परमात्मस्वरूप में परमपुरुष की सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। अतः ब्रह्मानुभूति में पुरुष एवं परमात्मा की सत्ता प्रकाशित नहीं रह सकती। इसका कारण यह है कि ब्रह्मानुभूति देहातीतावस्था में ही होती है। परमात्मा का दर्शन ज्योतिरूप में होता है। पुरुषरूप में जीवात्मा के स्वरूप का दर्शन भी इसी प्रकार से होता है। परमात्मा व्यापक ज्योति है। मुक्तपुरुषगण उनके अन्तर्गत खण्ड ज्योतिस्वरूप हैं। उपासना के प्रभाव से इन उभय ज्योतियों का योग होता है। यही जीवात्मा का सायुज्य है। यह ज्ञान की अवस्था न होकर योगावस्था है।

जैसे ब्रह्मानुभूति में आन्तर-बाह्य भेद नहीं है, परमात्मानुभूति में वैसा नहीं होता। यह अनुभूति भीतर ही होती हैं किन्तु भगवदानुभूति इन दोनों (ब्रह्मानुभूति तथा परमात्मानुभूति) से अत्यन्त विलक्षण है। भगवद्स्फूर्ति बाहर होती है। परमात्मदर्शन में ज्योति ही दृश्य है। ब्रह्मदर्शन में दृश्यरूप कुछ भी नहीं रह जाता। भगवद्दर्शन तो दृश्य के पूर्ण प्रकाश को कहते हैं। वहाँ ज्योति रूप नहीं है। भगवान् साकार हैं, ब्रह्म निराकार है। परमात्मा ज्योतिमात्र है। वह साकार भी नहीं हैं और ब्रह्म के समान निराकार भी नहीं हैं। ज्योति भी एक प्रकार का आकार ही है। भगवत् स्मृति में भावमय देह अथवा भावदेहाविष्ट स्थूलदेह की प्रत्येक इंद्रियाँ कार्यरत रहती हैं। अर्थात् भगवान् का रूप है, शब्द है, रसगन्धादि समस्त धर्म अप्राकृत चैतन्यमय हैं, तथापि समस्त वैचित्र्य विद्यमान है। वास्तव में भगवद्स्वरूप में देह, इन्द्रिय तथा आत्मा का कोई पार्थक्य नहीं रहता, अथच अनुभूति में सभी की उपलब्धि होती है। भगवत्स्वरूप चिन्मय है। अतः वह स्थूल दृष्टि से स्थूलवत्, सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्मवत्,

कारणदृष्टि से कारणवत्, महाकरण दृष्टि से महाकारणवत् एवं कैवल्य अथवा शून्यदृष्टि से उसी प्रकार का अनुभूत होता है, तथापि वह जो है, वही रहता है। यह है नित्यसिद्ध देह अथवा आत्मा का सिद्ध स्वरूप। इस अवस्था की प्राप्ति न होने पर परमपद में प्रवेश नहीं हो सकता।

रूप अथवा आकार की स्फूर्ति ज्योति से ही होती है। शुद्ध ज्योति की स्फूर्ति चित्तवृत्ति का निरोध करने से होती है। निराकार (अरूप), निर्गुण, साम्यमय चैतन्य की अभेद-स्फूर्ति विशुद्धज्ञान से होती है। जब तक ज्ञान—भक्ति तथा योग की स्थिति पृथक् रहती है, तब तक परमेश्वर का साक्षात्कार पूर्वनिर्दिष्ट प्रणाली से होना स्वाभाविक है, किन्तु जहाँ मार्गगत सांकर्य विद्यमान रहता है, वहाँ अनुभूति की विशुद्धता (पृथक्ता) नहीं रहती। जैसे यदि योग में भक्ति मिलित है, उस स्थिति में ज्योतिर्मय आकार का दर्शन होता है। भाव अथवा भक्ति के अनुसार कोई भी आकार क्यों न हो, वह ज्योति का ही आकार है। जो ऐसा दर्शन प्राप्त करते हैं, उन्हें भक्तयोगी कहा जाता है। यह दर्शन ध्यानावस्थान्तर्गत हृदय में होता है। यह भक्तिपथ का दर्शन नहीं है, भक्तियुत पथ का दर्शन है। भक्तयोगी के समान योगीभक्त भी होते हैं, वे विशुद्ध भक्त नहीं होते। जिनकी भक्ति में योग मिश्रित है, वे ज्योति-दर्शन प्राप्त करते हैं। वे बाहर अपने इष्टरूप का दर्शन प्राप्त करते हैं, तथापि वह रूप ज्योति द्वारा वेष्टित होता है। विशुद्ध भक्तगण ज्योति का आवेष्ठन नहीं देखते।

ज्ञान, योग तथा भक्तिक्रम में भी एक विशिष्टता है। जो साधक हैं और शुद्ध ज्ञानमार्गी हैं, वे चरम अवस्था में निर्विषय ब्रह्मानुभूति प्राप्त करके ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं। इनके लिए साकारदर्शन अथवा ज्योति-दर्शन मार्ग की अनुभूति से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चरम अवस्था में (इनके लिए) यह सबकुछ भी नहीं रहता! इससे एक कण परिलक्षित होता है। कोई-कोई साकार दर्शन के पश्चात् उस आकार को ज्योति में विलीन होते देखते हैं। अन्त में ज्योति भी निर्विशेष ब्रह्म में तिरोहित हो जाती है। किसी-किसी को प्रथमतः ज्योति-दर्शन के पश्चात् उसी के मध्य में आकारदर्शन भी होता है। शुद्ध ज्ञान के पूर्णत्व के अनन्तर आकार भी नहीं रह जाता। एकमात्र निराकार सत्ता चैतन्यरूपेण अवस्थित रह जाती है।

जो योगी परमात्मा के उपासक हैं, वे चरमावस्था में परमात्मावस्था को प्राप्त होकर उसके स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। परमात्मा ही योगेश्वर हैं। इनकी प्राप्ति ही योग का परम लक्ष्य है। इनके लिए साकार एवं निराकार तो पथ की अनुभूति ही है। साकार अनुभूति मायिक है। अतएव वह निराकार अनुभूति के समय तिरोहित हो जाती है। चरम स्थिति में निराकार भी नहीं रहता। शेष रह जाती है परमात्मानुभूति तथा स्वरूपस्थिति। इनके लिए साकार क्षर है। निराकार अक्षर है और परमात्मा ही पुरुषोत्तम है।

जो शक्तिमार्ग के साधक हैं, उनका लक्ष्य है भगवद्-प्राप्ति। ये भगवत्स्वरूप
में परमाभक्ति की अनुभूति के पहले, मार्ग में, निर्विशेष रूप तथा ज्योतिरूप की
अनुभूति प्राप्त करते हैं। ये दोनों अनुभूतियाँ (इनके लिए) आपेक्षिक ही हैं। भगवद्-
साक्षात्कार के पश्चात् इन दोनों की कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती। ये दोनों
अनुभूतियाँ भगवान् की वशीभूत होकर प्रकाशित होने लगती हैं। शुद्ध ज्ञान भेदन न
होने पर भी ज्योति तथा आकार की प्राप्ति होती है, किन्तु ये सब ज्ञानालोक में
विलीन हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि ज्योति चैतन्य के साथ सत्त्वगुण संश्रव
के कारण और रूप घनीभूत भाव के कारण प्रकाशित हो उठता है। ज्ञानोदय की
स्थिति में सत्त्वगुण निष्क्रिय रहता है और चरम अनुभूति में ज्योति तथा आकार की
सत्ता ही नहीं रह जाती।

शुद्ध ज्ञान का भेदन करने के पश्चात् जिस ज्योति तथा आकार की प्राप्ति होती
है, वह स्वरूप शक्ति का कार्य है। वह त्रिगुण की क्रीड़ा नहीं है। अतः वह
ज्ञानालोक में विलीन नहीं होता। यही नहीं, इस अवस्था में ज्ञान भी मलिन हो जाता
है। ज्ञान तो स्वरूप का प्रकाश-मात्र है। ज्योति एवं आकार तो स्वरूप धर्म का
प्रकाशन है। अतएव इन दोनों पर विशुद्ध ज्ञान का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

यद्यपि महापथ की साधना में नाना प्रकार के भेद हैं, तथापि इसमें प्रवेश से
पूर्व एक अवस्था सबको प्राप्त होती है। वह है श्रद्धा अथवा विश्वास। जब तक हृदय
में यह विश्वास नहीं हो जाता कि एक सत्यवस्तु जगत् में विद्यमान है, तब तक उसके
अन्वेषण की प्रवृत्ति मानव-हृदय में जाग्रत् नहीं हो सकती। यह विश्वास इस जीवन
की अभिज्ञता से अथवा पूर्वजन्म के शुभ संस्कार से भी उदित हो सकता है। यहाँ
तक कि पूर्वजन्म का संस्कार न होने पर भी यह अचिन्त्य भगवत्-कृपा से भी उद्भूत
हो सकता है। यद्यपि विश्वास में भेद एवं कारणभेद होने से विभिन्न उपाय कहे गये
हैं, तथापि विश्वास का स्वरूप एक ओर अभिन्न ही रहता है। मात्रा के तारतम्य से,
प्रकार के वैचित्र्य से, अधिकारभेद से, लक्ष्य का वैशिष्ट्य भिन्न हो सकता है, किन्तु
जब तक विश्वास एवं श्रद्धा प्रकट होकर हृदय में क्रियाशीलता का द्योतन नहीं कराते,
तब तक साधन-पथ पर अग्रसर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक युग में
कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मूल में श्रद्धा की कार्यकारिता
परिलक्षित होती है। पौराणिक तथा तांत्रिक साधना की पृष्ठभूमि में भी श्रद्धा का
अस्तित्व विद्यमान है। योगभाष्यकार भगवान् व्यासदेव श्रद्धा को माता के समान
हितकारिणी बतलाते हैं। योगसूत्रकार ने भी श्रद्धा से वीर्य, वीर्य से स्मृति, स्मृति से
समाधि तथा समाधि से प्रज्ञा अथवा सम्यक् ज्ञानोदय को स्वीकार किया है। गीता में
'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' इस वाक्य में श्रद्धा की सविशेष महिमा का कीर्तन किया
गया है। वर्तमान प्रकरण में श्रद्धा तथा विश्वास समानार्थक हैं।

प्रकृति-भेद से विश्वास विभिन्न प्रकार का हो जाता है। किसी का यह विश्वास है कि इस अनन्त वैचित्र्यमय विश्वप्रकृति के क्रियाकलाप के अन्तराल में एक प्राकृत शक्ति कार्यरत रहती है। किसी की यह धारणा है कि इस विशाल प्रकृति की पृष्ठभूमि में स्थिरा, अपरिणामी, चिन्मय, नित्य तथा विभुरूप एक परमसत्ता विद्यमान रहती है। इसे कोई ब्रह्मरूप से, कोई आत्मा अथवा पुरुषरूप से ध्यान करते हैं। यह सत्ता अखण्ड चैतन्यरूपा है। प्रकृतिराज्य का भेदन करने पर इस चिन्मयी महासत्ता का साक्षात्कार प्राप्त होता है। किसी का यह विश्वास है कि विशाल प्रकृति तथा अपरिणामी चिदात्मक सत्ता की पृष्ठभूमि में एक परमानन्दमयी तथा परम प्रेममयी अखण्ड सत्ता विराजित है। इसे वे लोग सामान्यतः भगवान् कहते हैं। इस तीन प्रकार के विश्वास द्वारा प्रणोदित होकर तीन प्रकार के साधक अपने-अपने विश्वास के अनुरूप भिन्न-भिन्न पथ से तत्वान्वेषणार्थ अग्रसर होते हैं। प्रथम कर्मपथ है, द्वितीय ज्ञानपथ है। तृतीय को भावपथ कहते हैं। इन पथत्रय में अनन्त प्रकार के मिश्रण सम्भव हो जाते हैं। यह साधकों के जीवन की पर्यालोचना से स्पष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि सरल पथ की तरह वक्रपथ भी है और विभिन्न पथों के पारस्परिक सम्मिलन के कारण अनन्त वैचित्र्य उद्भूत हो जाते हैं।

वर्तमान प्रसंग में हम भावसाधना के दृष्टिकोण से आलोचनारत होते हैं। यह ज्ञान अथवा प्राकृत शक्ति-साधना की दृष्टिभंगी की आलोचना नहीं है। ज्ञानी साधक विचार को प्रधान मानकर साधन-पथ पर अग्रसर होते हैं। इसके फल से वैराग्य एवं विवेक ज्ञान की उत्पत्ति स्वयमेव होने लगती है। आत्मसत्ता चित्स्वरूपा है। यह नित्य अपरिणामी तथा देश-काल द्वारा अपरिच्छिन्न है। प्राकृत जगत् में काल के द्वारा क्रमशः एक के बाद एक प्राकृत तत्व का सन्धान करते हुए इन सभी तत्वों में आत्मा के तादात्म्य को दूर करना चाहिये। अर्थात् आत्मसत्ता को अथवा चैतन्य को स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण शरीररूप उपाधि से पृथक् करके शोधन करना चाहिये। इस प्रकार से साधन करते-करते अनात्म से आत्मसत्ता अलग एवं विविक्त होकर निर्मल चिद्रूप में स्फुरित हो जाती है। यद्यपि इसकी नाना प्रकार की पद्धति है, तथापि इसकी मूल धारा है विवेक एवं विचार की धारा। इस चैतन्य सत्ता में विश्रान्ति प्राप्त करना ही इस महापथ के पथिक का मुख्य लक्ष्य रहता है। कोई विचारक इसे कैवल्य अथवा मुक्ति की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति करने पर प्रकृति के चक्र में पुनः पतित होने की सम्भावना नहीं रह जाती।

प्राकृत शक्तिसाधक विश्व की संचालिनी शक्ति की ओर अपना लक्ष्य रखते हैं। वे इस प्रकृति की अन्तरालवर्ती शुद्ध चैतन्य सत्ता को देख सकने में असमर्थ रह जाते हैं। उनके अनुसार प्रकृति में, उसकी ऊर्ध्व भूमि में एक ऐसी स्थिति है, जहाँ से शक्ति का स्रोत निरन्तर प्रवाहित होकर सभी परिणामों का साधन करता रहता है। इस

शक्ति का स्रोत जहाँ से प्रवृत्त होता है, वही स्थान प्राकृत ऐश्वर्य की आदिपीठ है। प्रकृतिगत सभी शक्तियों का प्रस्रवण-केन्द्र भी वही है। जो साधक योग-साधना अथवा अन्य साधनाओं के द्वारा सृष्टि के इस मध्यबिन्दु में प्रवेश कर लेते हैं और उसमें अधीष्ठित हो जाते हैं, उन्हें समस्त प्राकृतिक शक्तिसमूह पर आधिपत्य प्राप्त हो जाता है। यदि शक्ति-साधक का लक्ष्य शक्ति में ही संकेन्द्रित है, उस स्थिति में इस केन्द्र की पृष्ठभूमि में जिस विराट् चैतन्य सत्ता का अस्तित्व है, उसका सन्धान उन्हें नहीं मिल सकता। ऐसे लोग ज्ञान-पथ के पथिक नहीं हैं, अतः इन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ये साधक विशाल शक्ति का सन्धान पाकर यहीं साधनोद्यम का समापन कर देते हैं।

शक्ति अथवा विभूतिप्राप्त साधकगण प्रकृति में स्थित रहते हैं। उन्हें आत्मप्राप्ति नहीं होती। यहाँ जिस भावसाधक की चर्चा अंकित की जा रही है, उनका लक्ष्य प्रकृति अथवा पुरुष कदापि नहीं है। वे ऐश्वर्य अथवा भक्ति-कामना नहीं करते। इनका यह विश्वास है कि प्रकृति एवं पुरुष, दोनों की अधिष्ठाता रूप एक विशाल सत्ता है। उसे प्राप्त करने के लिए खण्डशक्ति अथवा खण्डसाधना का पथ पर्याप्त नहीं होता। भाव के पथिक ही महाभावमय महापथ का सन्धान प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे साधक-गण को भक्तिमार्ग का साधक कहा जाता है। यद्यपि इनकी दृष्टि में परम सत्ता बहिर्मुख तथा अन्तर्मुखरूपी उभय दिक् से प्रकाशित होती रहती है, तथापि ये लोग बहिर्मुखता का आश्रयण करते हैं। इनका मत है कि श्रीभगवान् बहिर्मुखरूप से, परमात्मरूप से, माया के अधिष्ठाता होकर विश्व के सृष्टि-स्थिति-संहार का निरन्तर सम्पादन करते रहते हैं और असंख्य प्रकार से स्वसृष्टि का संरक्षण भी करते हैं। वे उसका शासन भी करते हैं। यह है उनका बाह्य दिक्। जब राजा अमात्यवर्ग से परिवेष्ठित होकर राजसभा में प्रजावर्ग का शासन-कार्य करते हैं, यह भी वैसा ही कार्य है।

श्रीभगवान् के अन्तर्मुख रूप के साथ जागतिक सृष्टि-स्थिति संहार का कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता। यहाँ तक कि अनुग्रह-निग्रहरूपी मौलिक व्यापार से भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। वे अन्तरंग भक्तगण के साथ अनन्त काल पर्यन्त अनन्त प्रकार से रसास्वादन करते और कराते रहते हैं। रसिकगण विचित्र तथा विशाल भावराज्य का भेद करते हुए इस अनन्त रस के मूलकेन्द्र में रसराज और महाभाव का सामरस्य प्राप्त करते हैं। यहाँ श्रीभगवान् की ह्लादिनी-प्रधान अन्तरंगास्वरूप शक्ति की क्रीड़ा होती रहती है।

भावसाधना का मूल यह है कि श्रीभगवान् प्रेममय हैं। अतः प्रेम-पथ का अवलम्बन लेने से ही उनके साथ प्रेम-सम्बन्धयुक्तता आती है। अन्यथा रसास्वादन सम्भव ही नहीं हो सकता। अतएव इस साधना में प्रवृत्त होने के पहले दो स्थितियों की सम्यक् सम्पन्नता आवश्यक है। प्रथमतः अपने प्राकृत देह के साथ तादात्म्य की

विस्मृति और तदनन्तर भावराज्य में प्रवेशाधिकार की प्राप्ति। जब तक स्थूलदेह-सूक्ष्मदेह-कारणदेह पर्यन्त अपनी स्मृति में विद्यमान देह सम्बन्ध रहता है, तब तक भावराज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त ही नहीं हो सकता। गुरु-कृपा से अथवा अपने प्राक्तन सुकृतियों के कारण (योग द्वारा अथवा अन्य किसी भी उपाय द्वारा) अपनी प्राकृत देह के साथ स्वयं को पृथक् करके महासत्ता के प्रति आकर्षण का अनुभव करना होता है। तदनन्तर उस महासत्ता की अनुकम्पा से योग्य पथ-प्रदर्शक प्राप्त होने की आशा जाग्रत् होती है। तत्पश्चात् भावरूपी महापथ में प्रवेश की आशा बलवती हो जाती है। भावसाधना के पहले श्रीभगवान् के साथ अपने भाव सम्बन्धों का निर्णय कर लेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध का निर्णय लेने के पहले सामर्थ्यवान् सद्गुरु की भी आवश्यकता रहती है। गुरु के बिना यह कोई निर्णय नहीं कर सकता कि किस जीव के साथ भगवान् का क्या सम्बन्ध होना चाहिये?

भगवान् एक, अनन्त तथा सत-चित् आनन्दमयस्वरूप हैं। जीव उनका ही चिदणुरूप अंश है। संख्या में जीवगण अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के साथ उनका जो आकर्षण-विकर्षणात्मक नित्य सम्बन्ध है, वह जब तक व्यक्त नहीं हो जाता, तब तक भाव की क्रीड़ा प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। तत्व को और परिष्कार करके कहा जा रहा है। सृष्टि के पहले परमसत्ता शान्त महासमुद्र के समान निस्तरंग रहती है। उसमें किसी प्रकार की चञ्चलता, स्पन्दनादि अनुभूत नहीं होता। उसमें सृष्टि की इच्छा का उन्मेष होने के साथ-साथ यह महासमुद्र किंचित् आन्दोलित होने लगता है। इस आन्दोलन के कारण उसमें लीन तथा अभिन्नरूपेण विद्यमान अनन्त चिदणु समूह स्पन्दन तारतम्यगत मात्रा के अनुसार विभिन्न मात्रा में जाग्रत् हो उठते हैं। ये सभी उस शान्त महासमुद्र में अंशीभूत जलबिन्दु के समान अनन्त अखण्ड चित्सत्ता के कल्पित आणविक भाव ही हैं। यह कहा जा सकता है मानो एक अखण्ड चैतन्य ही स्पन्दन के साथ-साथ इन सब चित्रश्मि तथा चिद्अणुरूप में अपने में ही अस्फुट भावों को प्रकट करता है। ये सभी अणुसमूह चिद्रश्मि के कारण चित्सत्ता से किंचित् व्यवधान प्राप्त करते हुए जीव नाम से अभिहित होते हैं। ये सभी जीव तथा उनका उत्पत्ति केन्द्र (परम चैतन्य) स्वरूपतः अभिन्न है। अर्थात् वह परमसत्ता जैसे प्रकाशात्मक तथा चिन्मात्र है, जीवसत्ता भी उसी प्रकार चिन्मात्र एवं प्रकाशात्मिका है। यद्यपि दोनों में अभेद है, तथापि इस अभेद में किंचित् भेद भी परिलक्षित होता है। स्पन्दन से पूर्व अथवा स्पन्दनातीत जो प्रशान्त सत्ता है, वह निःस्पन्द है। अतएव वहाँ कोई भेद ही नही है। स्पन्दन के पश्चात् जिस चिदणुरूप अंशसत्ता का स्फुरण होता है, उसमें तो कुछ न कुछ भेद रह जाता है। यहीं से सामान्य सत्ता के वक्ष पर विशेष सत्ता का स्फुरण दृष्टिगोचर होने लगता है।

इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सामान्यतः परमात्मा और

जीवात्मा में सजातीय अथवा विजातीय रूप कोई भेद नहीं है, तथापि विशेष दृष्टि से दोनों में एक नित्य भेद अवस्थित रह जाता है। यह भेद केवल परमात्मा अथवा जीवात्मा में ही नहीं है। यह जीवसमूह में पारस्परिक रूप से भी लक्षित होता है। सृष्टि में एक ओर अखण्ड अविभक्त सामान्य सत्ता विद्यमान है, उसी प्रकार दूसरी ओर प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्टता भी है। इसके कारण सृष्टि में एक वस्तु में अन्य वस्तु में भेद रहता है। आदिसृष्टि के समय से ही यह भेद हो जाता है। यह है विशेष का तत्व। इसे अवगत कर लेने पर भावराज्य की साधना तथा लीलातत्व में प्रवेश की साधना का रहस्य ज्ञात हो जाता है। इन सबका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव के साथ मूल आत्मा का एक विशेष सम्बन्ध जड़ित है। मायिक सृष्टि में आने के उपरान्त जब तक जीव बहिर्मुखी है, तब तक यह सम्बन्ध अविज्ञात रह जाता है। वास्तव में संसार जीवन में परमात्मा के साथ बहिर्मुखी जीव का सम्बन्ध प्रेय-प्रेरक भाव में प्रकाशित होता है। अहंकारविमूढ़ जीव कार्यकर्ता है और परमेश्वर है फलदाता। जब विवेक वैराग्यावलम्बन में बहिर्मुखी अवस्था पर्यवसित हो जाती है और जीव परमात्मा के साथ तादात्म्योपलब्धि करता है, तब वह कैवल्यभाव एवं चित्स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। यह है तटस्थ शक्ति से उद्भूत जीवाणुओं का स्वरूपावस्थान। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिये कि अभी पूर्वोक्त विशेष सम्बन्ध का स्फुरण नहीं हुआ है। वास्तव में किसी सम्बन्ध का स्फुरण ही नहीं होता। जो ज्ञानपथ के पथिक नहीं हैं, किन्तु भावराज्य के प्रवेशार्थी हैं, उनके लिए इस विशेष सम्बन्ध का आविष्कार देह रहते ही कर लेना उचित होगा। आचार्य कहते हैं—

श्री वैष्णव सम्बन्ध बिन्दु प्रभु सेवा अधिकार।।
सपनेहुँ पावत नहीं करे कोटि उपहार।।

शुद्ध चिन्मात्र में प्रतिष्ठित जीवगण श्रीभगवान् की विशेषकृपा से अन्तर्मुखी होकर इस विशेष सम्बन्ध को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि यह अवस्था कठिनतर है। जो भी हो, भगवान् से तीव्र अनुग्रहप्राप्त भक्त जीव यह अभिज्ञता प्राप्त कर लेते हैं कि परमात्मा से मेरे अनादि बहिर्मुखी भाव की निवृत्ति होने पर यदि अन्तर्मुखता की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक एक तटस्थ भाव में माया के बाहर स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह तटस्थ भाव कैवल्य का ही नामान्तर है। जागतिक त्रिताप की निवृत्ति हो जाने पर भी यह अवस्था भावराज्य अथवा भगवद्धाम में प्रवेश योग्य न होकर बाधक ही है। अन्तर्मुखता की उपलब्धि होती है श्रीभगवान् की अन्तरंग शक्ति के प्रभाव से।

इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि केवल मात्र प्राकृत जगत् से बहिर्गत होना और नित्य चित्स्वरूप में शान्त हो जाना ही भावुक भक्त का आदर्श नहीं है। जो भावुक हैं, वे ही भविष्यकाल में भाव-साधना में सिद्धि पाकर रसिकपद पर उन्नीत होते हैं। रसिक का उद्देश्य है रसास्वादन। रसास्वादन का बीज है भाव। भाव अथवा

स्थायी भाव के बिना रस की अभिव्यक्ति अथवा उसका आस्वादन ही नहीं हो सकता। अतएव भावुक साधक स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह का विस्मरण करके अथवा विशेषावस्था में त्रिविध देह से मुक्त होकर समर्थ गुरु की कृपा से भावराज्य के महापथ को देखने में समर्थ होकर श्रीभगवान् की परमसत्ता से निर्गत तदनुरूप चिद्रश्मि की सहायता से रसमय परमपुरुष के महापथ पर रसास्वादन करते हुए अग्रगामी होते जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उत्थित होता है कि दिव्यभाव तो अखण्ड है। उसे समझने के लिए उसे कई निर्दिष्ट श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इनमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा प्रीति को प्रधान मानते हैं। भावुक साधक किस भाव के अधिकारी हैं? इस प्रश्न का निर्णय हो जाने पर ही अनन्त भावराज्य में भावुकगण अपना स्थान प्राप्त कर सकते हैं। श्रीभगवान् सबके प्रिय हैं। जो उन्हें जैसे देखता है, वे उसे उसी भाव के अनुरूप दर्शन देते हैं और उसकी आकांक्षा उसी रूप में पूर्ण कर देते हैं। अतः वे एक होने पर भी भावुक साधक की विचित्रता के अनुसार भावगत एवं रूपगत वैचित्र्य से युक्त हो जाते हैं। सभी भाव सबके लिए नहीं हैं और सभी खेल भी सबके लिए नहीं हैं। इस विशेषता का नियामक है पूर्वोक्त 'विशेष' तत्व। जिस जीव के साथ जो सम्बन्ध आदिसृष्टि में स्वभावसिद्ध रूप से प्रकाशित हुआ है, श्रीगुरु की कृपा से वही यथासमय (प्राकृत देह विस्मृत के साथ) भावुक के हृदय में प्रस्फुटित हो उठता है। तदनुसार भावराज्य में प्रवेश के साथ-साथ पूर्वोक्त सम्बन्धानुरूप क्षेत्र-ज्ञान-व्यवधान-सेवा आदि का यथायोग्यरूप से आत्मप्रकाशन होने लगता है।

●

गन्तव्य

जो अभिनव घटना संघटित होकर जगत् का रूपान्तरण करने में प्रवृत्त है, वह आज भी सर्वसाधारण को अज्ञात है और गम्भीर रहस्य से आच्छन्न है। जगत् और जीव अपूर्णता से युक्त हैं। वास्तव में हम जिस सृष्टि से परिचित हैं, वह अपूर्णता से युक्त है। यह अपूर्णता दूर करने की चेष्टा तथा प्रत्येक जीव की पूर्णता प्राप्ति की चेष्टा वस्तुतः एक ही तथ्य है। अभावबोध अपूर्णता से ही होता है। दुःख, शोक, ताप, कलुषितवृत्ति, खण्डभाव तथा उसके खण्डपरिणाम भी उसी अपूर्णता के कारण हो रहे हैं। सृष्टि के पश्चात् से ही इस अपूर्णता का जिस प्रकार अनुभव हो रहा है, उसे दूर करने के लिए चेष्टा भी की जाती है। विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से तथा विभिन्न समय में विभिन्न सम्प्रदाय द्वारा नाना प्रकार के उपाय किये जा रहे हैं। सभी का उद्देश्य है अपूर्णता को दूर करना और जीवजगत् को शान्ति, सुख तथा परम तृप्ति में प्रतिष्ठित करना। दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचार तथा साधना, सब प्रकार के लौकिक प्रयास, इसी एक उद्देश्य द्वारा ही अनुप्राणित हैं।

इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्णत्व-प्राप्ति ही जगत् के सभी क्रियासमूह का एकमात्र लक्ष्यरूप है। अनादिकाल से इन सबका अनुसरण हो रहा है, तथापि आजतक (लौकिक दृष्टि से) यही विचारधारा चल रही है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति पहले जिस प्रकार अलभ्य-सी थी, आज भी वैसी ही है। जगत् के दुःख-कष्ट तथा अभावबोध उसी से विराजमान हैं। दुःख-निवृत्ति, परमानन्द की प्राप्ति, ब्रह्मत्व-लाभ, मोक्ष आदि संज्ञाओं से इसी महालक्ष्य को सम्बोधित किया जाता रहा है, परन्तु आजतक उसकी पूर्ण उपलब्धि नहीं हो सकी है। व्यक्तिगत रूप से कोई-कोई आनन्द, मुक्ति, दुःखनिवृत्ति अथवा ब्रह्मप्राप्ति प्रभृति अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। यह प्रसिद्धि होने पर भी समष्टिगत रूप से समग्र जगत् की दुःख-निवृत्ति साधित नहीं हो सकी है। वास्तव में जबतक सबकी दुःख-निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक किसी एक की दुःख-निवृत्ति सम्यक् रीति से सिद्ध हो सकी है, यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि समग्र सृष्टि से अतीत जो सत्ता है, वह अखण्ड तथा एक है।

सामान्यतः यह परिलक्षित होता है कि किसी उपायविशेष द्वारा अथवा बिना किसी उपाय के ही पद अथवा अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे लोग पूर्णत्व में अवगाहन करने से पहले पथ-प्रदर्शन आदि उपायों के द्वारा अन्यान्य दुःखी लोगों के दुःखमोचन की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा अवस्थाभेदानुसार अनेक प्रकार की हो

सकती है। इसके प्रभाव से संसार-तापित व्यक्ति विशेष दुःख-निवृत्ति प्राप्त करते हैं। दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् वे लोग अपने पथ-प्रदर्शक के समान उच्चावस्था भी प्राप्त कर लेते हैं। अब पथ-प्रदर्शक जीवोद्धार-कार्य से विरत होकर पूर्णत्व के मार्ग पर चल पड़ते हैं। जो व्यक्ति उनसे ज्ञान ग्रहण करते हैं, वे अपने पथ-प्रदर्शक की तरह दुःख-निवृत्ति के कार्य में लग जाते हैं। इस प्रकार से एक-एक करके योग्यता के अनुसार जीवगण इस दुःख तथा अभावराज्य से मुक्ति-लाभ करते हैं। सृष्टि होने के पश्चात्काल से ही जीवोद्धार-कार्य इसी प्रकार से चल रहा है।

परमावस्था में जीव का स्वरूप कैसा रहता है और स्थित रहता है अथवा नहीं, क्या ब्रह्मभाव में स्थिति होती है या अन्य प्रकार की सिद्धावस्था की अभिव्यक्ति होती है, इसकी आलोचना करना यहाँ अप्रासंगिक-सा है। सामान्य दृष्टि से जरामृत्यु से अतीत अवस्था एक है, तथापि उसमें नाना भेदों की विद्यमानता रहती है। रुचि-वैचित्र्य के अनुसार विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। कैवल्य, निर्वाण, परिनिर्वाण, महापरिनिर्वाण, शान्त ब्रह्मपद, शिवत्व, पूर्ण स्वातंत्र्य अथवा परमेश्वरत्व, निर्विकल्पस्थिति, नित्यलीला इत्यादि अनेक अवस्थायें शास्त्रों में वर्णित हैं। मरजगत् में शोकताप प्रभृति से अव्याहति प्राप्त करके जिसका जिस प्रकार का अधिकार है अथवा रुचि है, वे उसी प्रकार नित्यावस्था प्राप्त करते हैं। कोई-कोई नित्यावस्था का भी भेद करने में समर्थ हो जाते हैं।

जो आत्मायें जगत् के हित तथा सुख की चेष्टा में निरत हैं, वे स्वभावतः करुणाविशिष्ट हैं और उनमें परोपकार की भावना रहती है। वे केवल अपने व्यक्तिगत दुःख का विनाश अथवा सुख-समृद्धि प्राप्त करने की कामना नहीं करते। वे स्वयं दुःख एवं क्लेश को स्वीकार करके अन्य के दुःखों को दूर करने में लगे रहते हैं। अध्यात्म-मार्ग में ऐसा ही होता है। बौद्धसम्प्रदाय में प्राक्काल में व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति की ही कामना की जाती थी। जिस ज्ञान द्वारा जगत् की दुःखमयता प्रतीत होने लगती है, दुःख का कारण तथा निवारण ज्ञात होता है, वही सम्यक्ज्ञान है। दुःख-निवृत्ति अर्थात् निर्वाण। यह आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति है। इस स्थिति में लौकिक ज्ञान विलुप्त हो जाता है, और उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इतना होने पर भी हीनयान मार्ग में केवल व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति ही वर्णित है। इस मार्ग द्वारा जगत् की दुःख-निवृत्ति का महापथ प्राप्त हो सकना असम्भव-सा है। जिनकी दुःख-निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् जिन्हें निर्वाण मिल जाता है, उनका पञ्चस्कन्ध ही निरुद्ध हो जाता है। जब वे स्वयं ही नहीं रह जाते, तब अन्य की दुःख-निवृत्ति कैसे कर सकेंगे? जब तक अन्य का दुःख दूर करने की वासना चित्त में प्ररूढ़ नहीं रह जाती, जब तक सम्यक् ज्ञानोदय के साथ-साथ निर्वाण-प्राप्ति अवश्यम्भावी है। अशुद्ध वासना की निवृत्ति के साथ-साथ अर्हत्-अवस्था प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर

स्कन्धनिवृत्ति सम्पन्न होती है। इसी का नामान्तर है निर्वाण। यह जीवन्मुक्त तथा विदेकैवल्यावस्था ही है।

इस स्थिति में स्थायी रूप से परदुःख-निवृत्ति की चेष्टा नहीं की जा सकती। जो अर्हत्भाव को प्राप्त हो जाते हैं, वे अन्य को ज्ञानदान द्वारा शुद्धपथ का प्रदर्शन कर सकते हैं। इसके विपरीत जिनकी स्कन्धनिवृत्ति हो गयी है, उनका परोपकार व्रत मध्यपथ में ही खण्डित हो जाता है। अनेक लोगों का दुःख दूर करने के लिए स्वयं के दुःख को लघु मानते हुए, अन्य लोगों के दुःख को महत्व देना ही होगा। इस स्थिति में स्वदुःख-मोचन की वासना की अपेक्षा परदुःख-मोचन की भावना विशेष बलवती होती जाती है। यद्यपि इस स्थिति में किंचित् अज्ञान विद्यमान रह जाता है, तथापि क्लेश से मुक्ति मिल जाती है। क्लिष्ट अज्ञान तथा अक्लिष्ट अज्ञान में से परदुःखकातर आत्मा में क्लिष्ट अज्ञान की सत्ता नहीं रहती, परन्तु अक्लिष्ट अज्ञान रह जाता है। अक्लिष्ट अज्ञान की विद्यमानता द्वारा ही परहित का कार्य सम्पन्न हो सकता है। परदुःख-मोचन की वासना को शुद्ध वासना कहा गया है। जब तक अक्लिष्ट अज्ञान है, तभी तक यह शुद्धवासना अवस्थित रह पाती है। इस वासना की स्थिति में चित्तनिर्वाण से अव्याहति प्राप्त करता है। जब तक अक्लिष्ट अज्ञान विद्यमान है, तब तक महाज्ञानार्जन की चेष्टा चलती रहती है। इस चित्त को बोधिचित्त अथवा बोधसत्ता कहा जाता है। यह है घनीभूत एवं बिन्दुरूप में परिणत चित्त। जिस परिमाण में इस चित्त का उत्कर्ष प्राप्त होता है, उसी परिमाण में यह निम्नस्थ भूमि का त्याग करते हुए ऊर्ध्ववर्ती भूमि में सञ्चरण करने लगता है। इस प्रकार एक-एक भूमि का परिहार करते हुए ऊर्ध्वतर भूमियों की प्राप्ति करते हुए दशमभूमि की स्थिति में बुद्धज्ञान का उदय हो जाता है। यही है बोधिसत्वजीवन का पूर्णतम आदर्श। इस अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाने पर निर्वाण का भय चिरकालार्थ तिरोहित हो जाता है। इसका कारण यह है कि अब निर्वाण स्वायत्त हो चुका है। दशमभूमि के अधिष्ठाता होकर बुद्ध ही सम्राट् अथवा चक्रवर्ती पद की प्राप्ति करते हैं। बुद्ध के जीवन का एकमात्र व्रत है परोपकार अर्थात् जागतिक जीवों का दुःखभञ्जन। संख्यातीत बुद्धगण अपने-अपने क्षेत्र में अधिष्ठित होकर मृत्यु एवं निर्वाण को छोड़ते हुए (निरन्तर) इस महाकार्य को करते रहते हैं।

यह अत्यन्त उच्च अवस्था है। बुद्ध ही शास्ता, उपदेष्टा अथवा गुरु हैं। अपने शासन-काल में वे साक्षात् भाव से स्वकार्य सम्पादन करते हैं, किन्तु उनका शासन-काल समाप्त हो जाने पर भी उनके स्वरूपगत स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता। संख्यातीत बुद्धगण जीवोद्धार-कार्य में लगे हैं। वे अभी भी जगत् का अज्ञान तथा दुःख-विमोचन करते रहते हैं। इस प्रकार से इस कार्य की समाप्ति कब होगी, यह कह सकना दुष्कर है। यद्यपि जीव का उद्धार-कार्य हो रहा है, परन्तु क्रमिक रूप से

हो रहा है। जितने अधिक जीव इस प्रपञ्च में जन्म ले रहे हैं, उनकी अपेक्षा अत्यन्त न्यून संख्यक ही उद्धार प्राप्त कर रहे हैं। अतएव समस्त जीवसमूह की दुःखनिवृत्ति सम्भव नहीं होती। निरन्तर असंख्य जीवों का आविर्भाव होता रहता है। अतः जैसे यहाँ अनुग्रह-कार्य निरन्तर हो रहा है, उसी प्रकार से जीवों का (जन्मरूप) निग्रह कार्य भी निरन्तर चलता जा रहा है।

वेदान्त में नाना जीववाद की दृष्टि से जीव की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति को पृथक्-पृथक् रूप से वर्णित किया गया है, किन्तु एक जीववाद की दृष्टि से अभी भी मुक्ति नहीं हो सकी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मूल में एक ही जीव है। उसकी मुक्ति ही एकमात्र मुक्ति है। सर्वजीवों की मुक्ति भी इसी एक की मुक्ति के अन्तर्गत परिगणित है। अतः कोई-कोई आचार्य यह कहते हैं कि वास्तविक मुक्ति अथवा मोक्ष अभी भी नहीं हो सका है। अतः हम जिसे मुक्ति मानते हैं, वह तो केवल ईश्वरसायुज्य ही है।

वैष्णव महापुरुष केवल दुःख-निवृत्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होते। वे अपनी साधना का परम लक्ष्य परमानन्दास्वादान मानते हैं। इस आनन्द का आस्वादन रसास्वादन के रूप में नित्यधाम में अनेक प्रकार से होता रहता है। योग्यता के अनुसार शुद्धाभक्ति की महिमा से जीवगण इस लीला-रस का आस्वादन करने में समर्थ हो जाते हैं। भक्त और भगवान् में अनन्त प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध होते रहते हैं। आस्वादन के वैचित्र्य, साधक—भगवान् तया धाम एवं भक्ति के अनन्त वैचित्र्य का रसास्वादन सम्भव हो जाता है। यही है नित्यलीला। जन्म-मृत्यु से परे, यहाँ तक कि निर्वाण तथा महानिर्वाण से परे, आनन्दमयी ह्लादिनी शक्ति के प्रभाव से अनन्तानन्त लीलाओं का आविर्भाव होता रहता है। अतएव नित्यलीला का अवसान कभी भी नहीं होता। भक्तगण भक्ति के प्रभाव से इस आनन्द के विलास का अनुभव करते हैं। वे भक्ति के प्रभाव से तथा कृपा से अपने अधिकार के अनुरूप क्रमशः नित्यलीला में योगदान का अधिकार प्राप्त करते हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि इससे भी जगत् के दुःख का समूल विनाश नहीं होता। इसका कारण यह है कि सभी नित्यलीला में प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं कर पाते। अतः समस्त जीवगण नित्यलीला में प्रविष्ट होने का सौभाग्य नहीं पाते, अतः काल के कबल से छुटकारा नहीं पाते।

जीव तथा जगत् का दुःख महापुरुषों के हृदय को चिरकाल से क्षुब्ध करता रहा है। महापुरुषों में जहाँ और जिस परिणाम में शुद्ध वासना का विकास हो सका था, वे उसी परिमाण में अन्य का दुःख-मोचन करने में समर्थ हो सके थे। इस वासना की निवृत्ति होने के पश्चात् उन्हें निर्वाण मिल जाता है। यह निर्वाण परामुक्तिरूप है। इसके पश्चात् जीवोद्धार-कार्य से उनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रह जाता। इसके अनन्तर अन्य महापुरुषगण जीवोद्धार-कार्य में लग जाते हैं। जब इनकी

भी शुद्ध वासना निवृत्त हो जाती है, तब वे परवैराग्य प्राप्त करके निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार से विभिन्न धाराओं तथा विभिन्न रूपों में जीवोद्धार-कार्य चलता रहता है। कौन किस मार्ग अथवा पद्धति का अवलम्बन लेकर कितने जीवों का किस परिमाण में उद्धार-कार्य कर सका है, यहाँ इसकी आलोचना करना अभीप्सित नहीं है। क्योंकि उद्धारकर्त्ता निमित्त-मात्र है। वास्तविक उद्धारकर्त्ता तो श्रीगुरु ही हैं। अतः यह स्मरण रखना चाहिये कि गुरु अपना कार्य अनलास भाव से निरन्तर करते रहते हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ से यह कार्य गुरुमण्डल के द्वारा अविश्रान्त रूप से सम्पादित होता आ रहा है, तथापि अभी भी जीव दुःखपङ्क से उद्धार प्राप्त कर सकने में अक्षम हैं। अभी भी दुःख की मात्रा एवं दुःखी जीवों की संख्या पूर्वापेक्ष कम नहीं है। अपितु वृद्धिगत होती जा रही है। सर्वजगत् तथा सर्वजीव का दुःख दूर करने के लिए केवल शाखा का ही संस्कार करना पर्याप्त नहीं है, अपितु उसका मूल संस्कार करना आवश्यक-सा है। मूल संस्कार का अर्थ है काल की निवृत्ति। अर्थात् जिस काल के अधीन होकर जीवगण अभाव अथवा यन्त्रणा का भोग कर रहे हैं, उस काल को निवृत्त अथवा आयत्त करने पर ही यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा। अतएव पूर्णरूप से गुरुगण तभी सफल हो सकेंगे, जब काल आबद्ध होगा और गुरुगण के कार्य को बाधित नहीं कर सकेगा।

यह कब सम्भव होगा? जब कभी भी हो, यह सम्भव होकर रहेगा। इस दृष्टि के अनुसार काल का निरोध और उसके द्वारा जनित सृष्टि का निरोध होना भी आवश्यक है। सभी अपने भोगकाल पर्यन्त वर्त्तमान रहते हैं। इसी प्रकार काल का शासन-काल अथवा अधिकार-काल समाप्त हो जाने पर वह स्वभावतः निवृत्युन्मुख हो जाता है। उसका प्रबल ताप अस्तोन्मुख हो जाता है। ऐसी स्थिति में काल को निवृत्ति करते हुए उसे आयत्त करने का अवसर प्राप्त होने लगता है। यह गुरु का कार्य है। जैसे काल का शासन-काल है, उसी प्रकार गुरु का भी शासन-काल है। काल के शासन- काल में गुरु भी काल के अधीन होकर, कालनीति के अनुरूप अपना कार्य सम्पादित करते हैं। काल का लंघन करना, उपेक्षा करना अथवा कालजनित नियम का अनादर करना कालराज्य में सम्भव नहीं हो सकता। ऐसा करने का प्रयत्न करते ही गुरु का स्वकार्य भी व्याहत हो जाता है। इस प्रकार गुरु के शासन-काल में भी काल का प्रभाव नहीं रहता, परन्तु उसका आयत्त भाव से कार्य चलता है। अर्थात् काल भी गुरु की इच्छा के अनुसार चलता रहता है।

यह कब सम्भव होगा? गुरुराज्य स्थापना के पहले अर्थात् अखण्ड गुरु के प्रकटीकरण के पूर्व यह सम्भव नहीं होगा, तदनन्तर यह अवश्यम्भावी है। जगत् के समस्त जीव गुरुराज्य-स्थापना के पश्चात् क्रमशः तृप्ति-पूर्णता तथा परमानन्द-लाभ करके तादात्म्य प्राप्त करेंगे। तब एक अखण्ड गुरु ही अनन्त खण्डवत् विभक्त सत्ता

को स्वकाया में धारण करके सबके साथ अभिन्न रूप से प्रतिभासित होंगे। उसी स्थिति में प्रत्येक जीव पूर्णता प्राप्त करते हुए अपनी सत्ता में तथा अनन्त वैचित्र्य में एक और अखण्डरूप स्वसत्ता के ही आनन्दमय अनन्त विलास का अनुभव करेंगे। तभी गुरु के महान् व्रत की परिसमाप्ति हो सकेगी। जब तक जगत् के किसी भी छुद्र से छुद्र छिद्र में स्थित एक प्राणी भी क्लेश और ताप से तापित होता रहेगा, उसमें अभाव का लेशमात्र भी रहेगा, तब तक इस महाअवस्था का उदय हुआ है,ऐसा नहीं कहा जा सकता।

●

शब्द-महिमा

सभी शास्त्रों में शब्द की महिमा वर्णित है। सृष्टि के मूल शब्द की महिमां सर्वत्र स्वीकृत है। भारत की वैदिक-तांत्रिक तथा अन्य साधनाओं के सिद्धान्त का अन्वेषण करने पर यह ज्ञात हो जाता है, कि ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध आदि साधनाओं में भी शब्द ही मूल है। सृष्टि से अतीत जो महासत्ता स्वप्रकाशरूपेण नित्य विद्यमान रहती है, वह एक दृष्टिकोण से स्पन्दनातीत होने पर भी स्पन्दनमयी है। यह स्पन्दन ही आत्मा का स्वातंत्र्य अथवा पराशक्ति है। यह आत्मा के साथ अभिन्न तथा एकरस रूप में अवस्थान करता है। स्वातंत्र्य का माहात्म्य यह है कि नित्य तथा अभिन्न रूप से रहने पर भी वह भिन्नवत् प्रतीत होने लगता है। एक होने पर भी अनन्त क्रियाविलास करते हुए आत्म-प्रकाशन करता रहता है। यह मूल स्वातंत्र्यरूपा पराशक्ति जिस परम सत्ता के साथ अभिन्न रहती है, वह परमसत्ता ही प्रकाश है। प्रकाश एवं विमर्श एक ही हैं, अथच एक होने पर भी दोनों का अनिर्वचनीय वैलक्षण्य भी है। जब प्रकाश विमर्शरहित होता है, तब उसे स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता। विमर्श का ही प्रभाव है जिसके कारण प्रकाश और अप्रकाश का पार्थक्य ही नहीं किया जा सकता। यह विमर्श का प्रभाव है जिसके कारण यह प्रकाश स्वयं प्रकाश रूप से स्वानुभूत होता है। यह विमर्श आत्मा की महिमा है। यही है महाशक्ति। इस विमर्श का नामान्तर है अहंभाव।

विमर्शरहित प्रकाश में अहंभाव अनुभूत ही नहीं होता। अतः उसे जड़ अथवा अप्रकाश कहते हैं। अहन्ता वर्जित प्रकाश जड़ है। अहन्तायुक्त प्रकाश चैतन्यरूप है। जड़ एवं चैतन्य का ही पार्थक्य है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि वास्तव में कोई भेद नहीं है। दोनों का प्रकाशांश एक ही है। केवल विमर्श के स्फुरण तथा अस्फुरण के कारण जड़-चैतन्य का पार्थक्य निरूपित किया जाता है। इस अहंभाव का कोई भी प्रतियोगी नहीं है। यह अपरिच्छिन्न अहंभाव है। इस स्थिति में अब तक अहं के प्रतिद्वन्द्वी इदंभाव की सत्ता प्रकटित नहीं हो सकी है। अतः यही पूर्णाहन्ता स्थिति है। यही है परमेश्वर का स्वरूप। अद्वैतवादी तांत्रिक इसे परावाक् अथवा शब्द का आदिरूप कहते हैं।

इससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टि के पहले नित्यस्वरूप शब्द ही विद्यमान था। यही प्रज्ञा है। इसे पूर्णप्रज्ञा अथवा महाप्रज्ञा भी कहते हैं। यह समस्त जगत् की प्रसृति है। बुद्ध बोधिसत्व, सिद्धवर्ग, ईश्वर भी इसी की प्रसृति हैं। पूर्णाहन्ता ही पूर्ण

ऐश्वर्यरूप कहा गया है। यही है परमेश्वर अथवा आत्मा का स्वभाव। कोई भी वस्तु स्वभावरहित नहीं है। बोधिसत्व, सिद्धवर्ग ईश्वर भी इसी की प्रसृति हैं। पूर्णाहन्ता ही पूर्ण ऐश्वर्यरूप कहा गया है। अतएव आत्मा भी स्वरूपस्थिति में कभी भी पूर्णाहन्ता से विरहित होकर नहीं रहता। सेन्ट जॉन का यह कथन पूर्णतः सत्य है। The Word Was With God and the Word Was God यहां Word शब्द से मूल शब्द का ही तात्पर्य ध्वनित होता है। यही है शब्दब्रह्म।

सृष्टि-अवस्था में इसी शब्द से अर्थ आविर्भूत होता है। 'अनादिनिधनंब्रह्म' ही शब्द का परमतत्व है। इसी से अर्थ आविर्भूत होते हैं। तदन्तर जगत्‌रूप देश और कालगत् अनन्त वैचित्र्य का प्रतिफलन होने लगता है। आचार्य भर्तृहरि का यह कथन पूर्णतः सत्य है—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं ॥
विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

अद्वैत तन्त्र मतानुसार परावाक् (स्वातंत्र्य) के कारण आत्मा सर्वप्रथम पश्यन्ति रूप में आविर्भूत होता है। इस भूमि में वाच्य-वाचक का पारस्परिक सम्बन्ध विद्यमान रहता है। परावस्था में वाच्य-वाचक भाव तनिक भी नहीं रहता। अतः सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक है। यह अद्वैत भूमि से अतीत स्थिति है, परन्तु पश्यन्ति में वाच्य एवं वाचकरूपी भावद्वय की सत्ता रहती है। दोनों में अभी अभेद सम्बन्ध विद्यमान रहता है। यही है अर्थ एवं शब्द। शब्द वाचक है। अर्थ वाच्य है, अथच दोनों ही अभिन्न हैं। मध्यमा भूमि में वाचक और वाच्य का अभेद होने पर भी किंचित् भेद हो जाता है। इस अवस्था में शब्द से अर्थ पृथक् वस्तु नहीं रहता, तथापि अभिन्न भी नहीं रहता। यही भेदाभेद अवस्था है।

भेदाभेद अवस्था में शब्द ही अर्थरूपेण प्रतीयमान होने लगता है। योगीगण यहीं यह प्रत्यक्ष करते हैं कि शब्द से अर्थ का निष्क्रमण एवं रूपान्तरण कैसे होता है। शब्दोदय के साथ ही उसके वाच्य अर्थ का आविर्भाव होने लगता है। लौकिक शब्द के अर्थबोध के लिए जितने प्राकृतिक नियम परिलक्षित होते हैं, वहाँ किसी का भी प्रयोजन नहीं रहता। शब्दोदय के साथ अर्थ का उदय होने लगता है। इसी प्रकार संहार-अवस्था में अर्थ का उपशम शब्द में हो जाता है। यह मध्यमाभूमि अत्यन्त रहस्यमयी है। इस भूमि में स्थित होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द एवं अर्थ का एक अविनाभाव सम्बन्ध है। शब्द आयत्त हो जाने पर उसके अर्थ की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अर्थ प्राप्त हो जाने पर उसके शब्द का प्रकटीकरण हो जाता है। दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध होने के कारण एक के अभाव में दूसरा नहीं रह सकता। शब्द तथा अर्थ ही नाम एवं रूप हैं।

वैखरी भूमि में शब्द से अर्थ की पृथक्ता सम्पन्न हो जाती है। अब विस्मृति का

उदय होता है, जिसके कारण शब्द को अर्थ में और अर्थ को शब्द में स्वभावतः लौटाया नहीं जा सकता। अब शब्द और अर्थ में भेद-सम्बन्ध सुस्पष्ट होने लगता है। जगत् के अधिकांश जीव इसी भूमि में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतः उन्हें कृत्रिम उपाय के द्वारा शब्द और अर्थ का योजन करना पड़ता है। इस भूमि में संकेत (Convention) के द्वारा शब्द से अर्थबोध करने की आवश्यता आ जाती है। जहाँ (मध्यमा में) शब्द-अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध विलुप्त नहीं है, वहाँ इस Convention की आवश्यकता ही नहीं हैं। पराभूमि में वैखरी भूमि में अवतरण ही सृष्टि प्रक्रिया है। इस प्रकार से मूल परमशब्द ही जागतिक अर्थ ग्रहण करता है। वह परमशब्द क्रमशः एक-एक भूमि का अतिक्रमण करके प्रकाशित होता है। लौटते समय वह विपरीत क्रमानुसरण के द्वारा जागतिक अर्थ से ऊर्ध्वारोहण करते-करते मूल शब्द के रूप में परिणत हो जाता है। मूल शब्द का ज्ञान होते ही जीवत्व की अवस्था उच्छिन्न हो जाती है। और जीव ही परमशिवरूप में नित्यस्वरूप को प्राप्त होकर धन्य हो जाता है।

द्वैतवादी कहते हैं कि चित्शक्ति अथवा परमेश्वर में नित्यसमवेता परमाशक्ति बिन्दु नामक एक शुद्ध अचित् का स्पर्श करती है। बिन्दु क्षुब्ध होकर सृष्टि की सूचना देता है। यही पारमेश्वरी शक्ति ही क्रियाशक्ति के रूप में बिन्दु को क्षुब्ध करती है। इसकी निष्क्रियावस्था में बिन्दु में क्षोभ्य-क्षोभक भाव ही नहीं रहता। बिन्दु ही महामाया अथवा कुण्डलिनी है। जब बिन्दु क्षुब्ध होता है, तब नाद की धारा प्रवाहित होने लगती है। इस प्रसंग में कला-तत्त्व-भुवन, वर्ण-यन्त्र-पद रूप से छः अध्वाओं का आविर्भाव होता है। इनका रहस्य ज्ञात होते ही यह अवगत हो सकेगा कि बिन्दु से शब्द एवं अर्थ की धारा कैसे प्रकटित होती है? बिन्दु में जो जीवसमूह (विवेकज्ञान प्राप्त करके मायातिक्रमण द्वारा सुषुप्तवत्) विद्यमान रहते हैं, उनमें से जिनका मलावरण परिपक्व हो चुका है, वे सृष्टि के आदिक्षण में परमेश्वर के अनुग्रह से जाग्रत् हो उठते हैं। यही है उनका चैतन्य विकास। यह विकास वैन्दवदेह-प्राप्ति के साथ ही होने लगता है। वैन्दवदेह कुण्डलिनी (बिन्दु) से उद्भूत है। विज्ञान सकल नामक अणुसमूह भगवान् द्वारा प्रदत्त दीक्षा के प्रभाव से शुद्धदेह प्राप्त करके अपनी योग्यता के अनुसार अधिकार तथा भोग की प्राप्ति करते हैं।

वैन्दवदेह की प्राप्ति, वैन्दव राज्य-प्राप्ति, अधिकार, सम्पत्ति आदि सबकुछ भगवान् की कृपा का परिणाम रहता है। यह अवस्था मायातत्त्व से परे है। इसके साथ माया अथवा कर्म का किंचित् भी सम्पर्क नहीं रहता। इनमें से प्रधान 8 आत्मा अष्ट मन्त्रेश्वर के रूप में ईश्वरतत्त्व का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं। इनसे निम्न प्रदेश में 7 करोड़ विज्ञानकल लोग मन्त्ररूप से शुद्ध विद्यातत्त्व का आश्रय लेकर स्थित हैं। ये ही भगवान् के जीवोद्धाररूपी महाकार्य के नित्य सहायक भी हैं। इनमें मन्त्रेश्वरगण गुरुरूप से अनुग्रह-कार्य करते हैं, और मन्त्रगण विद्यारूप से गुरु संवर्ग के अधीन

रहकर अनुग्रह-कार्य करते हैं। यही है अपरामुक्ति की अवस्था। जो प्रलया-कल नामक जीवगण प्रलय-काल में मायातत्त्व में सुषुप्त-से पड़े रहते हैं, उनमें से जो मल की परिपक्वता के कारण अधिकतर योग्य हैं, वे भी अनुग्रह प्राप्त करके मन्त्रेश्वररूप में आविर्भूत होते हैं। इनका मायाभेदन नहीं हुआ है, अतएव इनकी मायिक देह भी वर्तमान रहती है।

मायिक देह रहने पर भी इन्हें दीक्षा-प्रभाव के कारण वैन्दवदेह प्राप्त हो जाती है। अतः उन्हें दोनों प्रकार की देह प्राप्त रहती है। ये माया के अन्तर्गत आने वाले जगत् के अधिकारी हैं। ये दोनों प्रकार के मन्त्रेश्वरों के अधीन रहकर जीवोद्धार-कार्य में लगे रहते हैं। इनमें से कतिपय परवैराग्य का उदय होते ही तत्क्षण पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं। इन्हें अधिकारकार्य से छुटकारा भी मिल जाता है। अब इस रिक्त पद पर निम्न भूमि के अधिकारी की पदोन्नति होती है। ये सभी प्रलय पर्यन्त अवस्थित रहते हैं। इनसे जो शुद्धाधिकारी हैं, उनका स्थितिकाल महाप्रलय पर्यन्त है।

जिन 8 ईश्वरों की बात कही गयी है, उनमें से प्रधानतम हैं, अनन्त। ये माया के अधिष्ठाता हैं। इनके संकल्प-मात्र से माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत् का प्रसव करती है। जैसे शिव शुद्ध जगत् के अधिष्ठाता हैं, उसी प्रकार अनन्त मायिक जगत् मायातत्त्व से स्फुरित होता है। शुद्ध जगत् के मूल में शिव की निर्विकल्प चैतन्यशक्ति कार्य करती रहती है। अशुद्ध जगत् की सृष्टि के मूल में अनन्ताख्य ईश्वर की सविकल्प ज्ञानरूपा कल्पना-शक्ति कार्य करती है। जो विशुद्ध चैतन्यशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में बिन्दु को क्षुब्ध करती है, वह बिन्दु से अतीत परनाद है। यह बिन्दु क्षोभ से जनित नाद नहीं है। ईश्वर का सविकल्प ज्ञान (संकल्प में बिन्दु समुत्थित नाद) शब्द से अनुविद चैतन्यमात्र है। अतएव शुद्धजगत् की सृष्टि के मूल में परनादरूप शब्द, शुद्ध- जगत् की सृष्टि के मध्य में अपरनादरूप बिन्दुजन्य शब्द तथा अशुद्ध मायिक जगत्-की सृष्टि के मूल में अपरनाद द्वारा अनुविद्ध चैतन्यरूपी ऐश्वरिक शब्द क्रिया करता है।

सृष्टि के निम्नस्तर में भी इस प्रकार के शब्द से सृष्टिक्रम होते देखा जाता है। शब्द से सृष्टि-प्रणाली की क्रिया को समझने में जो बाधा आती है, उसे अतिक्रम करके चित्त को यथासम्भव संस्काररहित करना चाहिये। तभी इसका रहस्य ज्ञात होता है। अक्षरब्रह्म शब्दात्मक है। ये शब्दब्रह्म हैं। वे स्वरूपतः कलतीत में अतीत हैं, तथापि इनमें स्वरूपानुविद्ध अनन्त शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। ये सभी शक्तियाँ मूल शब्द से पृथक् नहीं हैं। ये स्वरूप से अभिन्न हैं, अतएव इन्हें स्वरूपशक्ति कहते हैं। अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार इन्हें कला कहा जाता है। ये सभी कलायें नित्य हैं और सृष्टि की आदिप्रवर्त्तक हैं। इन नित्यकलाओं से ही विकारात्मक जगत् उद्भूत होता है। इन समस्त कलाओं को समष्टिरूप से महापदवी कहते हैं।

नित्यकला महाबिन्दु का वेष्ठन करके स्थित है। यह निरन्तर मार्गभेद में वामावर्त्त तथा दक्षिणावर्त्त में घूमती रहती है। साधकगण जपकाल में इसका अनुभव करते हैं। इसका नाम है कालचक्र का आवर्त्तन। इस आवर्त्तन के वेग की तीव्रता के अनुसार ही अहोरात्र से संवत्सर पर्यन्त का चक्र धूर्णित होता रहता है। क्षण से लेकर अति महाप्रलय पर्यन्त के कालचक्र के आवर्त्तन के मूल में इस नित्यमण्डल का संचरण रहता है। पञ्चदश नित्या आवर्त्तन में निरन्तर परिक्रमण करती रहती हैं। षोडशी बिन्दुरूप में अवस्थान करती है। मूलचक्र से त्रिकोण तक की स्थिति हो जाने पर विदित हो जाता है कि ये पञ्चदश नित्या ही त्रिकोणमण्डल की तीनों भुजायें हैं। ये तीनों भुजायें समान हैं। प्रत्येक भुजा में 5 नित्या अथवा कलायें स्थित हैं। इस मण्डल के मध्यबिन्दु में जो हैं, वे हैं नित्य प्रकाशमान चिदानन्दरूप षोडशी कला। पञ्चदश कलायें आवर्त्तनशीला हैं। अतएव वे क्षरणधर्मयुक्त हैं। षोडशी के आपूरण से जब तक पञ्चदश कलायें अभिसिंचित नहीं हो जातीं, तब तक उन्हें अमृत-क्षरण सम्भव ही नहीं हो सकता। इस अधःप्रवाह से सृष्टि की सूचना मिलती है। षोडशी कला से होकर एक ऊर्ध्व प्रवाह सप्तदशी की ओर चलता रहता है। कलातीत है। इसका आश्रय लेकर नित्य जगत् का आविर्भाव होता है।

शब्दमयी कला कालाश्रय लेकर क्रमवलम्बन द्वारा अधःरूप से जगत् को प्रकाशित करती रहती है। षोडशीकला शब्दरूप में अपनी सृष्टि को स्वयं ही देखती है। संहार-काल में अर्थ को लीन कर सकने पर यह शब्द क्रमशः पञ्चदशी में पर्यवसित हो जाता है। तदनन्तर कालचक्र-भेदन के द्वारा बिन्दु में स्थान मिल जाता है। गुरुशक्ति का कार्य है कालचक्र से उठाकर बिन्दु पर्यन्त ले जाना। जो सृष्टि काल के अधीन है, उसमें क्रम है। नित्यसृष्टि कालाधीन नहीं है, अतः अक्रम है। दोनों सृष्टि शब्द से उत्थित होती हैं। मन्त्रादि के प्रभाव से देवताओं का आविर्भाव होता है। यह आविर्भाव अनित्यसृष्टि अथवा नित्यसृष्टि—दोनों ही नहीं है। वस्तुतः यह आविर्भाव- काल में ही नित्यसृष्टि की अभिव्यक्ति कहा जाता है। नित्यजगत् की सिद्धसत्ता जपादि के प्रभाव से आवरण हटाते हुए कालराज्य में आविर्भूत होने लगती है। नित्यसृष्टि अनन्तसृष्टि रूपा है। इनके मूल में भी शब्द की ही क्रिया रहती है।

चिदाकाश से चैतन्य शब्द का उत्थान होता है। जब यह शब्द प्रतिध्वनि के रूप में मायिक जगत् के आकाश में उत्थित होता है, तब उस पर मायावरणरूपी पर्दा आ पड़ता है। चैतन्य शब्द की परिणति जड़शब्द के रूप में होने पर भी, इसमें तब तक अविच्छिन्न रहती है, जबतक वायु की क्रिया प्रारम्भ नहीं हो जाती। यहीं तक नाद की गति है। इसके अनन्तर वायुतत्व का आश्रय लेने के साथ ही अन्तराकाश में बाह्यसत्ता का आभास धीरे-धीरे जाग्रत् होने लगता है। अभी भी आन्तरभाव दूर नहीं

हुआ है, तथापि बाह्यमात्र अधिकतर प्रबल होने लगता है। चरम अवस्था में जब अन्तरभाव का लोप हो जाता है, तब एकमात्र बाह्यता ही विद्यमान हो जाती है। इस स्थिति में भेदज्ञानोदय के साथ ही आत्मविस्मृति भी हो जाती है, शब्द तथा अर्थ के प्रकृत स्वरूप पर आवरण पड़ जाने के कारण दोनों में पृथक्ता का आभास मिलने लगता है। शब्द में अर्थ का और अर्थ में शब्द का सन्धान ही नहीं मिलता। इस अवस्था में वर्णात्मक वैखरीरूप प्रकाशित होने लगता है। इसका स्थान है कण्ठ से ओठ तक। 49 वायु के स्वाभाविक कम्पन के तारतम्य के कारण नादरूपी शब्द 49 भागों में विभक्त हो जाता है। समष्टि से लेकर 50 एवं समष्टि के साथ 51। यही वर्णमाला की संख्या मानी गयी है। वर्णमालाओं की सृष्टि तथा अनन्त ज्योति से रश्मियों का उद्गम एक प्रकार से समकालीन क्रियारूप है। ये समस्त वर्ण विषदन्तहीन सर्प के समान अथवा जलहीन मेघ के समान नाममात्र में शब्द के मूलरूप से युक्त होते हैं। इन वर्णो का सम्यक् प्रबोधन करके पारस्परिक संगठन करने से इच्छानुरूप पदार्थ की सृष्टि की जा सकती है। वास्तव में मन्त्रोद्वार भी इसी महातत्व विज्ञान पर ही आधारित रहता है।

महापथ पर प्रवेश के पूर्व चक्षु का उन्मीलन होना आवश्यक है। हम यहाँ प्रचलित गुरुप्रणाम मन्त्र का उल्लेख करना उचित समझते हैं—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥
चक्षुरुन्योलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

तात्पर्य यह है कि जो अज्ञान तिमिरान्ध व्यक्ति के नेत्र को ज्ञानाञ्जन शलाका के द्वारा उन्मुक्त कर देते हैं, वे ही गुरु हैं, उन्हें प्रणाम है।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि जीव अनादिकाल से ही अज्ञानाच्छन्न है। वह स्वरूपतः शिव है। तथापि अपने शिवमय नित्यस्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता। द्वैत तथा अद्वैत दृष्टिकोण से भी जीव का यह अनादिकालीन अविद्या सम्बन्ध कैसे हो सका, इसका निर्णय कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। अपने-अपने दृष्टिकोणानुसार इसका भिन्न-भिन्न उत्तर दिया जाता रहा है। ये सभी उत्तर एक नहीं हैं, तथापि इनमें तत्त्वदृष्टि के अनुसार विशेष पार्थक्य नहीं रहता।

आत्मा स्वरूपतः अखण्ड चैतन्यरूप है। उसमें अनन्तानन्त शक्तिसमूह स्थित हैं। संक्षेप में इन सब शक्तियों को ज्ञान तथा क्रिया में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। अतएव ज्ञान तथा क्रिया का जो अभिन्न पूर्णरूप है, वही है विशुद्ध चैतन्यशक्ति, किन्तु जीवरूपी आत्मा में इस विशुद्ध शक्ति का स्फुरण अनादिकाल से नहीं हो सका है। अतः वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तियुक्त होकर (संसारीरूप में) इस मायिक जगत् में स्वाधिकार के अनुरूप विचरण करता रहता है। यद्यपि

उसकी चैतन्यशक्ति लुप्त नहीं है, तथापि लुप्तवत् पड़ी रहती है। इसी का नामान्तर है, कुण्डलिनी की निद्रा। मनुष्य- जीवन का उद्देश्य है इसे जाग्रत् करना। यह शक्ति जागृत होते ही जीव अपने जीवत्व से मुक्त होकर शिवावस्था में आरोहण कर लेता है।

कुण्डलिनी शक्ति प्रत्येक मनुष्य में मेरुदण्ड के नीचे स्थानविशेष में लुप्त-सी पड़ी रहती है। जागतिक कर्मों द्वारा, अलौकिक पुण्यों के द्वारा भी इस शक्ति को प्रकृष्ट रूप से जगा सकना असम्भव है। योगमार्ग की सभी प्रारम्भिक साधनायें इसे जगाने के लिए अनुष्ठित होती हैं। अधिकांशतः इसका जागरण क्रमिक रूप में ही होता है। कहीं-कहीं अपवाद के रूप में यह अक्रमतः जाग्रत् हो जाती है। षट्चक्र की साधना भी इसे ही जाग्रत् करने के लिए की जाती है। षट्चक्र जागरण के द्वारा कुण्डलिनी क्रमशः चक्रों का भेदन करते हुए आज्ञाचक्रस्थ बिन्दुस्थान में निवृत्त हो जाती है। भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि की साधना भी इसी का नामान्तर है। इन साधनाओं के सम्यक् अनुशीलन द्वारा षट्चक्र-भेदन सम्पन्न होता है और साधक बिन्दुस्थान का अधिकारी हो जाता है। अब मध्याकर्षक नहीं रह जाता है। कर्मसंस्कार का अवतरण तिरोहित हो जाता है और ऊर्ध्व आकर्षण की क्रिया अनुभूत होने लगती है।

प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं अब आत्मा अविद्यासंस्कार से मुक्त होकर शुद्ध विद्या-प्राप्ति के अधिकार से युक्त है। यही शुद्धविद्या ही चैतन्य शक्ति का उन्मेष है। इसका अनुभव गुरु-कृपा से होता है। गुरुप्रणाम स्तोत्र में जिसे चक्षु का उन्मीलन कहा गया है, वह सम्यक्ज्ञानरूपी चक्षु का खुलना है। जो इस दिव्य ज्ञाननेत्रों को खोलते हैं, वे ही प्रकृत सद्गुरु हैं। साधक को अविद्या से अव्याहित प्राप्त होती है और वह अविद्या से मुक्त होकर क्रमशः विद्या से भी मुक्त हो जाता है। अविद्या से मुक्ति के साथ-साथ तृतीय नेत्रों की उज्वल छटा दृष्टि के सम्मुख प्रकाशित हो जाती है।

विशुद्ध आत्मज्ञान ही ज्ञानांजनशलाका है। इसे सदगुरु अनुग्रहकाल में जीवात्मा में संचारित करते हैं। अज्ञान का स्वरूप है स्वात्मा से भिन्नवत् जगत् प्रतीति। वास्तव में जगत् स्वात्मा से भिन्न नहीं है। यह आत्मा का ही तिरोहित प्रकाश है। जब सद्- गुरु के अनुग्रह से शुद्ध ज्ञान का अंकुर हृदय में आरोपित हो जाता है, तब साधक की दृष्टि में द्वितीय का बोध ही नहीं रह जाता। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता के अंशरूप में प्रतीत होने लगती है। समग्र विश्व शिवरूपी आत्मा की शक्ति के रूप में प्रकाशित होने लगता है। यही है दिव्य चक्षु का उन्मीलन।

यह महान् उपलब्धि तभी हो सकती है जब गुरुरूपी आत्मा अपनी शक्ति से कुण्डलिनी को जाग्रत् करते हुए उसे ऊर्ध्व चलित करें। भेदज्ञान की समाप्ति हो जाने के अनन्तर प्रत्येक वस्तु के साथ व्यक्तिगत अभेद सम्बन्ध अनुभूत होने लगता है। अब समस्त विश्व स्व-स्वरूपमय प्रतीत होता है। इसे प्रेम की अभिव्यक्ति कहते हैं। इसके मूल में है गुरु-कृपा से प्राप्त अभेद दृष्टि का उन्मेष। अतः चाहे मलपाक हो जाने से गुरु-कृपा प्राप्त हो अथवा गुरु-कृपा-प्राप्ति से मल का परिपाक हो, इससे ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। प्रज्ञारूपी इस चक्षु के खुल जाने पर महाज्ञान का उदय होता है और जीवन्मुक्ति भी स्वभावतः प्राप्त हो जाती है। यही जीवन की चरम सफलता है। इसका मूल कारण है श्रीगुरु का अनुग्रह। इसी से गुरु-माहात्म्य का महत्व ज्ञात हो जाता है।

●

म. म. पं. गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग * अनन्त की ओर
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान
* दीक्षा * अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान * स्वसंवेदन
भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्ड) * भारतीय साधना की धारा
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि * तांत्रिक साधना और सिद्धान्त
तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन * काशी की सारस्वत साधना

कविराजजी के गुरु का जीवन और दर्शन

योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा *म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस *अक्षयकुमार दत्त गुप्त कविरत्न*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन *नन्दलाल गुप्त*

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का जीवन दर्शन

मनीषी की लोकयात्रा : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा * परलोक तत्त्व * मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक

अन्य संत योगी जीवन चरित

योगिराज तैलंग स्वामी * बाबा नीब करौरी के अलौकिक प्रसंग
शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान * अघोरपंथ और संत कीनाराम * सन्त रैदास
श्री श्री सिद्धिमाता * प्रकाश पथ का यात्री * ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन
महाराष्ट्र के संत-महात्मा * समर्थ रामदास * काशी के विद्यारत्न संन्यासी
भारत के महान योगी (14 भाग : 7 जिल्द) * भारत की महान साधिकाएँ

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 350.00
ISBN : 978-93-5146-071-8
9 789351 460725
www.vvpbooks.com